श्रीद्वारकेशो जयति

(श्री द्वा० ग्र० माला का द्वादश पुष्प)

कांकरोली का इतिहास

द्वितीय भाग

लेखक

प्रो. कण्ठमणि शास्त्री विशारद

प्रकाशक

श्री विद्या-विभाग, कांकरोली

दशाब्दी-महोत्सव
१९९४
के
उपलक्ष्य में

सं० १९९६

प्रथमावृत्ति
१,५००

प्रकाशक
पो० कंठमणि शास्त्री, विशारद
संचालक
श्रीविद्या-विभाग, कांकरोली



मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

"कांकरोली-इतिहास"

का

विषयानुक्रम*

——:०:——

---

* ग्रंथ बढ़ जाने के भय से अवान्तर विषय-सूची नहीं दी गई है, उसका विशेष रहस्य चरित्र पढ़ने से विदित होगा।



"कांकरोली-इतिहास" की चित्र-सूची

एकत्र १० + ३३=४३ चित्र। एकरंगे ३२, तिरंगे ११।

❀ रंगीन चित्र हैं।

कांकरोली-इतिहास का

शुद्धिपत्रक*

भौगोलिक वर्णन—पत्र १ से ३५

पत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	२४	समुदाय	सम्प्रदाय
,,	२५	रेख	रेखा
२५	१२	मगरा	मज़रा
२६	७	(रामसागर)	(रायसागर)

जीवनचरित्र—पत्र १ से २६४.

(प्रथम खण्ड, गत शताब्दियाँ)

पत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२१	को	का
९	१२	१६३४	१५३४
,,	१६	भविष्य	पर भविष्य
१०	४	आशंका	आशंका में
१२	७	को	का
१५	१२	उद्धिष्ट	उद्दिष्ट
१६	१८	इसके	इस
२०	१	अप्रतिभ	अप्रतिम
२२	१६	जाग्रत्	जाग्रत
२३	३	...न्मुखी	...मुखी
,,	२२	वय से	वय में
२७	११	पारण	पारणा
२८	२४	श्रीबिष्णु	श्रीमद्विष्णु
३२	१८	निदेन	निवेदन
३४	२४	माँ लिया	माँग लिया
३८	२५	दंद	दण्ड
४२	६	विराजमान	विराजमान कर
४३	२	अचार्य	आचार्य
४४	२०	प्रतिपादितो:	प्रतिपादित:
,,	२७	कृष्ण	शुक्ल
४६	२०	भव	भवै
,,	२३	यज्ञे यज्ञे	जज्ञे यज्ञे
४९	१७	बाला	वाला
५०	३	गोपीनाथ	गोपीनाथजी
		विट्ठलनाथ	विट्ठलनाथजी
		(अन्यत्र भी)	
,,	८	पधार	पधरा
,,	१६	व्रजभूषणजी महाराज ने	जगनन्द कवि ने सं० १७८१ माह बदी २ सोम के दिन
,,	,,	के साथ	में सात
,,	२०	लीन	सींच
५१	६	...चार्य	...चार्य को

* दृष्टि-दोष एवं मशीन के कारण विज्ञात अशुद्धियों का निर्देश यहाँ किया गया है। जो अवशिष्ट गई हों, पाठक उन्हें कृपया सुधार लें।

पत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१	११	१५६८ आ० कृ० १२,	१५६८ आ० कृ० १२ तथा १५७० आश्विन शु० १० भी मिलता है।
,,	२७	द्विरागमन	यही द्विरागमन
७६	१८	श्रीनाथजी	श्रीनवनीतप्रियजी
७९	,,	१५३५	१५२५
८०	,,	मोटी भैंस	मोटे भैंसा
८१	२	नाम सेवा	रूप-सेवा
	१०	कायस्थ	पटेल
	१९	कृष्णादास से	कृष्णादासके पिता से
८४	(चित्र के नीचे)	१५६७	१५६८
८७	१४	आपने	अपने
,,	२५	का	ने
,,	२६	के	का
,,	२७	प्रामानिक	प्रामाणिक
८९	२३	नरुज्यं	नैरुज्यं
१०९	१५	र० सं० १ पु० ८१	(रचना सं० १७८१)
१२१	४	सं० १६२९ वैशाख कृष्ण	सं० १६३० वैशाख शुक्ल
१२६	५	१६८२	१६६२

१२६ कुण्डली में चाहिए—

४ चन्द्र । १० बृ० । १२ के०

पत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३३	चित्र	१६९६	१७००
१६६	१	अम्बेर भषन,	अम्बर भूषन
२०९	चित्र...		गो० श्रीविट्ठलनाथजी (रोमवाले) प्रा० सं० १८११ पौष कृ० १३ गो० श्रीगोकुलनाथजी (छोटे)
,,	,,		प्रा० सं० १८२१ मार्ग कृ० १४
२१६	२६	क्यास्या	क्यार-याँ
२१७	१४	संकरै	संकर
२४७	२६	ज	जू
२५३	२२	की की	की

२६६ कुण्डली में चाहिये—

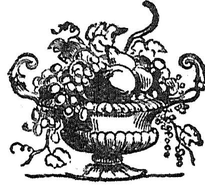
१२ बुध, शनि

जीवन-चरित्र—पत्र १ से प्रारम्भ

(द्वितीय खण्ड, वर्तमान शताब्दी)

पत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	१५	भाण्डार	भण्डार
,,	१६	उसमें	उससे
४३	२६	का	के
४९	१५	लालजा	लालजी
६५	४	उन्हें	उसे
७१	६	देखरेख	देखरेख में
,,	२०	वैद	वेद
७४	१३	से	के
७५	१	१८६२	१९६२
७६	२४	जोड़ा	जोड़ी
,,	२५	के उनके	उनके
८३	१८	से सुचारु	सुचारु
८४	१	दिया	दी
८५	६	लालजी	लालाजी
८८	२३	छोट	छोटे
,,	२९	चिंतक कं	चिन्तकं...

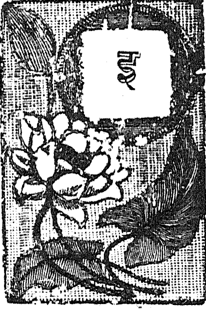
पत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६६	२७	प्रदार्शित	प्रदर्शित	६१	१८	हैं	थे
१०३	१३	महाराणाश्री	महाराणा श्री	६६	१५	सम्मन	सम्मान
६०	२८	लल्जा	लज्जा	६७	१०	महाराजाश्री	महाराजश्री
६१	१४	महाराजा	स्व० महाराजा	,,	१७	उनका	उसका



विशेष—कहीं-कहीं संवतों में एक वर्ष की न्यूनाधिकता प्रतीत होगी, जो चैत्रादि और कार्तिकादि गणना से आ गई हैं। अतः इन दोनो का ध्यान रखकर यथार्थ संवत् जान लेना चाहिए। घटना-क्रम में सर्वत्र चैत्रादि संवत् ही दिया गया है। जन्म-संवत् में कार्तिकादि गणना का सम्मिश्रण कहीं हो गया है।

श्रीद्वारकेशो जयति

प्राक्कथन



तिहास-लेखक मेरे इस कथन को प्रमत्त-प्रलाप भले ही कह बैठें, पर जिसे समय, घटना अथवा संयोग इन नामों से सम्बोधित किया जाता है, उसे मैं 'दैवेच्छा' न कहकर प्रभु की इच्छा कहूँगा। यदि किसी कार्य अथवा वस्तु के निर्देश के लिये कोई सुन्दर शब्द मिलता है, तो हम अपना शब्ददारिद्र्य क्यों प्रकट करें? तात्पर्य यह कि कोई भी कार्य लाख चेष्टा करने पर भी यदि विलम्ब से (उसके समय पर) ही पूर्ण होता है, तो मैं उसे उसी प्रभु की इच्छा पर छोड़ता आया हूँ, जो सर्व-नियामक एवं बुद्धि-प्रेरक है।

मेरे उक्त विश्वास की पुष्टि तब और भी हो गई है, जब असहायता, पर्याप्त साधन-हीनता एवं अल्पज्ञता के विद्यमान होते भी प्रस्तुत कार्य की यथा कथंचित् पूर्ति हो गई है। साहाय्य-प्राप्ति में जहाँ श्वास-रोग के कारण मेरे स्व-शरीर ने समय-समय पर अनभीष्ट प्रत्युत्तर दे दिया था, वहाँ अन्य की कथा ही क्या कहूँ? ग्रन्थ-लेखन की विज्ञता में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि—न तो मैं इतिहास का विद्यार्थी ही रहा हूँ और न अध्ययनशील ही। जीवन के गत चालीस वर्षों में यह पहिला ही कटु अवसर है, जब किसी तलस्पर्शी विद्वान् की इस विषय पर सम्मति लिये विना ही क़लम उठा ली गई है। कुछ भी हो, और जैसा कुछ भी हो, सेवा-भावना से प्रेरित होकर ही प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकवर्ग के समक्ष आज उपस्थापित किया जा रहा है।

सं० १९९४-९५ में प्रस्तुत ग्रन्थ कांकरोली के प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ इन तीन भागों के लेखकों अथवा सम्पादकों ने अपना-अपना कार्य पूरा कर लिया और मुझे परीक्षा-कसौटी के लिये छोड़ दिया, अस्तु। सं० १९९५ के प्रथम दिन से इसका लिखना और साथ ही छपाना भी प्रारंभ हुआ।

शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय में हिन्दी-साहित्य को जो स्थान प्राप्त है, और उसने जो प्रारम्भ से उसे प्रश्रय दिया है, उसकी प्रशंसा हिन्दी-साहित्य के कई इतिहास-लेखकों ने यथास्थान की है, पर दुःख इस बात का है कि—अभी तक उस सम्प्रदाय के द्वारा वास्तविक रूप में उस साहित्य का प्रकाशन नहीं किया गया, जो उसकी अमूल्य निधि होने के साथ राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिये

एक अमर देन है। आज जो भी हिन्दी के उज्ज्वल रत्न 'अष्टछाप' आदि की कृति प्रकाश में आई है वह या तो गुर्जर भाषा-भाषियों के द्वारा ही, जो उसके मौलिक रूप से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, अथवा उन साहित्यिक व्यक्तियों द्वारा, जो साम्प्रदायिक भावनाओं से शुष्क नहीं तो उदासीन अवश्य हैं। ऐसी अवस्था में उस साहित्य-माधुरी से वंचित रह जाना पड़ता है, जो साहित्य-संसार की जीवन-घुटी है।

साहित्य का कोई भी प्राचीन ग्रन्थ किस आन्तरिक भावना, कल्पना किंवा परिस्थिति का प्रतिफल है, यह तब तक ध्यान-पथ में नहीं आ सकता, जब तक कि उस रस में स्वयं भींजने की चेष्टा न की जाय। ऊपर-ही-ऊपर से किसी भावना के काल्पनिक प्रतिरेखा-चित्र खींचने को भल ही सफलता मान ली जाय, पर अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर वहाँ से अमूल्य रत्न निकालकर रखना दूसरी बात है। परिताप है कि इस ओर किसी भी तरफ से चेष्टा नहीं की गई, जहाँ साम्प्रदायिक लेखक अपने सत्य इतिहास के संकलनार्थ प्रायः प्रवृत्त ही नहीं हुए, वहाँ उसके प्रकाशन की बात तो कोसों दूर। ऐसी अवस्था में वही हुआ, जो होना चाहिये अथवा होता आया है।

तत्त्वज्ञ पुरुषों की संख्या करांगुलियों पर परिगणनेय है। उनके सम्मुख किसी भी सिद्धान्त की अच्छाई अथवा बुराई प्रकट होकर भी अपना उतना प्रभाव नहीं जमा सकती, जितना जनसाधारण की भ्रान्त धारणा। इस भ्रान्त धारणा के उत्तरदाता वे लेखक हैं, जो गवेषणा किये विना ही इतिहास-जैसे दुरूह कार्य का संपादन कर डालते हैं। आज सिद्धांतों की सुचारुता पर जितना ध्यान नहीं दिया जाता, उतना ऊपरी उपकरण पर। जिस वस्तु के बाह्य और आन्तर दोनो रूप रमणीय हैं, उसकी ओर जन-समूह का आकृष्ट होना सहज है, पर जो बाह्य ढंग से सर्वथा ही कुचैल और आन्तर अवस्था में मनोरम हो, तो उसकी ओर आकृष्ट होना उन्हीं के लिये संभव है, जो गंभीरता के उपासक हैं। अतः इसकी नितान्त आवश्यकता है कि—किसी भी कार्य को, जो आन्तर स्थिति में मौलिक एवं संग्राह्य है, ऊपर से भी परिमार्जित स्थिति में रक्खा जाय। साम्प्रदायिक लेखकों की इतिहास-लेखन की उदासीनता ने जो जन-धारणा उत्पन्न कर ली है, उससे उनका अहित तो होता ही है, पर समाज और साहित्य का भी।

हमारे इतिहास के प्रति भ्रमात्मक प्रचार अथवा प्रकाशन ने भी अभी तक उन गवेषणाओं को पूर्ण नहीं होने दिया है, जो आज से कितने ही दिन पूर्व हो जानी चाहिए थीं। अद्यावधि हिंदी-साहित्य की खोज का जो इतिहास निकला है या निकल रहा है, वह सन्दिग्ध और ऊपरी टटोल ही है, वास्तव में उसका अधिकांश इतिहास सम्प्रदाय के इतिहास के साथ छिपा हुआ है। कितने ही कवियों और विद्वानों का परिचय तब तक पूरा नहीं किया जा सकता, जब तक सम्प्रदाय और उसके संचालकों (तिलकायितों) के जीवन-चरित्र की गवेषणा न कर ली जाय।

इसी अन्धाधुन्ध का परिणाम है कि आज जगद्विख्यात वल्लभाचार्य-जैसे महापुरुषों का चरित्र भी प्रामाणिक रूप से हिन्दी में उपलब्ध नहीं होता। यह तो ठीक, पर उसके यद्वातद्वा प्रकाशन ने जन-समाज की धारणा को ही बदल दिया है। दृष्टान्त रूप वल्लभाचार्य के चरित्र और सिद्धान्त पर "भारतका धार्मिक इतिहास" लिखनेवाले पं० शिवशंकर मिश्र जहाँ ऊल-जलूल लिखने में नहीं चूके, वहाँ "काशी-नागरी-प्रचारिणी"-जैसी भारत-प्रसिद्ध संस्था भी "हिन्दी-शब्दसागर" में उनके नाम का संक्षिप्त विवेचन देती हुई उसी रंग में बहक गई। जहाँ मूल आचार्य के चरित्र की यह दशा है, वहाँ उनकी वंश-परम्परा के प्रति जनसमाज की सुरुचि-पूर्ण धारणा कैसे उत्पन्न हो सकती है, और उनके सर्वविध उपकारों की स्मृति के लिये कोई·अन्वेषक कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य का जीवन-चरित्र जहाँ तक बन पड़ा है, ऐतिहासिक आधारों पर लिखा गया है और बाद में उनके आत्मजों का। इसके बाद हम अपनी लेख-धारा उसी सम्प्रदाय के तृतीय पीठ की ओर मोड़ देते हैं, जो इतिहास, धार्मिक जगत् और साहित्यिक क्षेत्र में अपनी विशेषता रखता आया है। यदि इसी प्रकार प्रत्येक पीठ का स्वतन्त्र इतिहास प्रकाशित किया जाय, तो समस्त सम्प्रदाय के इतिहास की रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है; और उस पर कोई भी स्वतन्त्र लेखक प्रामाणिक तौर पर कुछ लिखने को उत्साहित हो सकता है। यह कर्तव्य उन-उन पीठाधीश्वरों का है, जो वर्तमान समय में उसके भाग्य-विधाता हैं। इसी दृष्टि से आज तृतीय पीठ का प्रस्तुत इतिहास विद्या-विभाग द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है, जिसमें धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से भी जीवन-चरित्र लिखने की चेष्टा की गई है।

हिन्दी-संसार को यह जानकर हर्ष होगा कि इसी सिलसिले में हिंदी तथा संस्कृत-साहित्य और उसके कुछ अमर रत्नों की खोज की जा सकी है, जिससे बहुत कुछ नवीन प्रकाश पड़ने की संभावना है। हम ऐसे ज्ञात और अज्ञात कई विद्वानों और कवियों का प्रामाणिक परिचय तैयार कर रहे हैं, जो सम्प्रदाय के सेवक होते हुए भी साहित्य-जगत् के भाग्य-विधाता हैं। हिंदी-भक्त कवियों की खोज तो अभी हिन्दी-जगत् में अपूर्ण ही है। इस पर सम्प्रदाय के इतिहास-प्रकाशन द्वारा ही आलोक पड़ सकता है।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में समयाभाव एवं आकार-वृद्धि के भय से साम्प्रदायिक सिद्धांत और उसके प्रारंभिक इतिहास अथच प्रासंगिक अन्य ज्ञातव्य विषयों पर प्रकाश नहीं डाला जा सका है, फिर भी यत्किंचित् रूप से यत्रतत्र उसका समावेश किया गया है। इतिहास-नायकों के संकलित जीवन-चरित्र में प्रायः उन सभी घटनाओं का समावेश किया गया है, जो किसी भी ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित थीं। यद्यपि घटना-क्रम और विशेष परिवर्तन को लक्ष्य

में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकरण विभाग और यथाशक्य प्राप्त सभी घटनाओं का उल्लेख किया गया है, फिर भी बहुत कुछ अंश पूर्ण गवेषणा के अभाव एवं अनुपलब्धि से अवशिष्ट रह गया होगा*। इसी प्रकार पत्र १२० । क से १२० । ज तक कुछ अवशिष्ट अंश स्थानान्तर पर देना पड़ा है। पत्र ५६ पर जो प्राचीन पत्र छपाया गया है, वह 'प्रभुचरित्र-चिन्तामणि'-नामक ग्रन्थ का एक अंश है, जो हमें अब विदित हुआ है।

इतिहास-संकलन में सहायक सामग्री की सूची देकर भूमिका का कलेवर बढ़ाना वृथा है, फिर भी इतना कहना पड़ेगा कि—विद्या-विभाग, सरस्वती-भंडार एवं संस्थान के राजकीय संग्रह से जो उपकरण मिला है, वह १५ प्रतिशत सहायक सिद्ध हुआ है। जीवन-सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें, जो स्थायी इतिहास पर अपनी कुछ भी छाप नहीं छोड़तीं और काल के साथ अन्तर्हित हो जाती हैं, यहाँ नहीं लिखी गई हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के चार भाग हैं, जिनमें कांकरोली और तृतीय पीठ से सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी साहित्य का समावेश हो जाता है। प्रथम भाग—श्रीद्वारकाधीश की प्राकट्यवार्ता, द्वि० भाग—कांकरोली का इतिहास, तृ० भाग—श्रीद्वारकाधीश की सेवा-शृंगार-प्रणाली और चतुर्थ भाग—तृतीय गृह की कीर्तन-प्रणालिका है। इन चारों भागों के लेखक और सम्पादक अलग-अलग हैं। एतद्विषय सभी साहित्य को एकत्र करने के लिये इस समग्र पुस्तक का नाम "कांकरोली" रक्खा गया है। पाठकों के सौकर्य के लिये इसके चारों भाग अलग-अलग भी रक्खे गये हैं और संयुक्त भी। प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ भाग का मुद्रण सं० १९९४ और ९५ में सम्पूर्ण हो गया और लगभग डेढ़ वर्ष बाद यह द्वितीय भाग मुद्रित हो सका है। इस प्रकार

---

* इसी प्रकार का एक वर्णन ग्रंथ के छप जाने पर मिला, जो यहाँ दिया जा रहा है—

अनुसन्धान-पत्र—१५५ परिशिष्ट ३

श्रीव्रजभूषणजी महाराज (प्रथम) का एक शिष्य द्वारकादास का पुत्र वल्लभदास हिंदी-भाषा का कवि हुआ है। उसके बनाये हुए निम्नलिखित छोटे-छोटे ग्रंथ सरस्वती-भंडार, कांकरोली में उपलब्ध होते हैं—

१. श्रीआचार्यजी के सेव्य-स्वरूप को वर्णन, अपूर्ण, पद्यमय, पत्र २ पद्य ७.

२. श्रीवनव्रजलीला, पूर्ण, पत्र २६, पद्य १०५। इसमें उक्त महाराजश्री की सं० १७५७ की व्रजयात्रा का तिथि-वार यथावस्थित वर्णन है।

३. मनोरथ-लीला, इसका नाम 'गोपीमनोरथलीला' भी है। रचना-काल सं० १७६३ मार्ग कृ० ४। इस ग्रंथ में कवि ने व्रजभूषणजी महाराज(प्रथम)कृत द्वारकाधीश के छप्पन भोग मनोरथ का वर्णन किया है, जो इस समय के पूर्व किया गया था, जिसका संवत् नहीं लिखा गया है।

४. स्फुट पद्य, कवित्त तथा दोहा।

इस समग्र ग्रन्थ के लेखन, सम्पादन और प्रकाशन में ढाई वर्ष का समय लग गया, जिसका मुख्य कारण मेरे स्वास्थ्य, एकत्र निवास और किसी अन्य सहायक व्यक्ति का अभाव ही है। ग्रन्थ की रमणीयता के लिये प्राचीन, अर्वाचीन एकरंगे, बहुरंगे ४२ चित्रों का भी यथास्थान सन्निवेश किया गया है। यद्यपि टिप्पणियों के द्वारा—जिनमें अधिकांश ताम्रपत्र, व्यावहारिक पत्र, शिलालेख और आवश्यक सूचनाएँ हैं—ग्रन्थ का कलेवर कुछ बढ़ गया है, तथापि इससे जहाँ विद्याविभागाध्यक्ष वर्तमान तिलकायित महाराजश्री की आज्ञा की पूर्ति होती है, वहाँ प्राचीन ऐतिह्य का प्रकाशन, उसकी वास्तविकता और कुछ शैली का परिदर्शन भी होता है।

ग्रन्थ-प्रकाशन में लौकिक उपकार-स्मरण एक आवश्यक वस्तु है। मुझे सबसे अधिक ज्ञातव्य विषयों का साहाय्य माननीय म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा रचित 'उदयपुर-राज्य का इतिहास' से प्राप्त हुआ है। यद्यपि उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, और वे विद्या-विभाग के नाते इस लेखक के लिये एक अच्छा अभिप्राय लिख गये हैं। मैं इस इतिहास-लेखन के प्रथम प्रयास में उन्हें अपना गुरु मानता हूँ। किसी एकाध स्थल पर मुझे उनके किसी लेख पर कुछ संशोधन करना पड़ा है, जो आवश्यक था, फिर भी उदयपुर-राज्य से कांकरोली का विशेष सम्बन्ध होने के कारण उनका उपकार विस्मृत नहीं किया जा सकता। इच्छा थी कि—प्रस्तुत इतिहास को एक बार उनके दृष्टि-पथ का पथिक बना दिया जाता, पर समयाभाव और ग्राहकों की त्वरा ने ऐसा संयोग आने नहीं दिया। द्वितीय उपकार-स्मरण बाबू विट्ठलदासजी (प्रदेश-भंडार अधिकारीजी) का है, जिन्होंने यथास्थान सन्निविष्ट करने के लिये हमें ताम्रपत्रों की प्रतिलिपियाँ प्रदान कीं। श्रीकृष्ण-भंडार द्वारा प्राचीन रोकड़-बहियों से हमें बहुत कुछ संकेत मिले हैं, जिसमें माणिकलालजी वाशिष्ठ ने अच्छा परिश्रम किया है, तदर्थ धन्यवाद है। संक्षेप में जिन-जिन लेखकों की पुस्तकों का उद्धरण यहाँ लिया गया है, उन सबका उपकार-स्मरण न करना अशिष्टता होगी और साथ ही उन पेशगी ग्राहकों का भी उपकार हमें न भूलना चाहिये, जिन्होंने पहिले से मूल्य जमा कराकर अवांछित विलम्ब सहते हुए भी अपनी धीर वृत्ति का परिचय दिया है। ग्रन्थ के मुद्रक 'गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस' लखनऊ के अध्यक्ष एवं 'सुधा' के यशस्वी सम्पादक श्रीयुत दुलारेलालजी भार्गव तथा मैनेजर महोदय धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने बहुत कुछ कठिनाइयों को दूर करते हुए ग्रन्थ को आवश्यक सजावट के साथ मुद्रित किया है। प्रेस की अथवा हमारी असावधानी से रह जानेवाली अन्य त्रुटियों पर ध्यान न देकर उन्हें संशोधित कर लेने की विनय कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा।

निष्कारण करुणावरुणालय भगवान् श्रीप्रभु द्वारकाधीश का स्मरण करते हुए हम

प्राक्कथन से विराम लेते हैं, जिनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म करुणात्मक अलौकिक कृपा-बल से यह सदनुष्ठान पूरा हो सका है। समय-समय पर अपेक्षित साधनों का सहयोग, जिज्ञासाओं की पूर्ति और अतर्किक प्रमाणवस्तु की उपलब्धि हो जाना आदि कुछ सामयिक अनुभव की ऐसी बातें हैं, जिनसे यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि—"यत्रैवं तत्रैवम्"

काल-चक्र की गति-अनुसार प्रत्येक कार्य की उन्नति किंवा अवनति का परिदर्शन एक विशेष युग में हुआ करता है। सं० १९८५ के प्रारंभ दिवस विद्या-विभाग की संस्थापना हुई थी, जिसे आज लगभग एक पूरा युग होने आया है। उसके विगत समय के अनुष्ठित कार्यकलाप की समीक्षा निष्पक्ष व्यक्ति ही कर सकता है, पर इतना अवश्य है कि उसने इस समय के बीच में कुछ-न-कुछ कार्य किया * और दशाब्दि-महोत्सव के आयोजन द्वारा साहित्य-जगत् से अपना संपर्क बढ़ाया है। इसी उत्सव की स्मृति में प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ भाग सौकर्य-वश प्रथम प्रकाशित किये गये थे, और अब यह द्वितीय भाग भी उपस्थापित किया जा रहा है।

विद्या-विभाग के युग-परिवर्तन के साथ अवश्यम्भावी व्यवस्था-परिवर्तन उसे किसी भी दिशा की ओर अग्रसर कर सकता है। यदि इसके अध्यक्ष महोदय इस प्रवाह का उचित उपयोग कर सकते हैं, तो प्रस्तुत संस्था साहित्य-संगीत-कलात्मक, सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र में जन-समाज का बड़ा उपकार कर सकती है, जो "परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः" का प्रोज्ज्वल दृष्टान्त उपस्थित कर देगा। आगामी युग में श्रीप्रभु विद्या-विभाग को अत्यधिक साधनसम्पन्न, कार्यशील एंव सफल बनावें, यही मंगलमय प्रार्थना है।

कांकरोली
श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण प्राकट्योत्सव
पौष कृष्ण ९ बुध, सं० १९९६
ता० ३-१ सन् १९४०

शुभाकांक्षी—
पो० कंठमणि शास्त्री विशारद
संचालक
विद्या-विभाग, कांकरोली

---

* देखो—विद्याविभाग का मुद्रित एकादशवर्षीय कार्य-विवरण।

कांकरोली का इतिहास

भौगोलिक वर्णन

श्रीद्वारकाधीश प्रभु की नगरी कांकरोली, उदयपुर (मेवाड़) राज्य का एक देवस्थान है। इसका सर्वांशतः भौगोलिक वर्णन मेवाड़ से ही सम्बन्ध रखता है। अतः पहिले मेवाड़ की एतद्विषयक स्थिति का दिग्दर्शन करा देना अप्रासंगिक न होगा।

भौगोलिक स्थिति *

यह देश, जिसे हिन्दी में मेवाड़ और संस्कृत में मेदपाट कहते हैं, राजपूताना के दक्षिणी विभाग में २३.४६ से २५.२८ उत्तर अक्षांश और ७३.१ से ७५. ४६ पूर्व-देशान्तर के बीच फैला हुआ भूभाग है, जिसका क्षेत्रफल १२६६१ वर्गमील है। जब से इसकी राजधानी चित्तौड़ से उठकर उदयपुर में आई, तभी से यह 'उदयपुर-राज्य' इस नाम से भी प्रख्यात हो गया। वास्तव में मेवाड़ अमर भारतवर्ष का हृदय है, जो सर्वदा प्रतिस्पन्दित होता रहा है। इसके उत्तर में अजमेर-मेरवाड़ा और शाहपुरा का इलाक़ा, पश्चिम में जोधपुर और सिरोही-राज्य, नैऋत्य कोण में ईडर, दक्षिण मे डूँगरपुर, बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़-राज्य ; पूर्व में सिन्धिया का परगना नीमच, टोंक का परगना नीवा, हैडा और बूँदी तथा कोटा का राज्य है। ईशान कोण में देवली के निकट जयपुर का इलाक़ा आ गया है।

कांकरोली मेवाड़-राज्य के अधीन एक देवस्थान (ठिकाना) है, जो उसके राजनगर (सम्प्रति राजसमुद्र) ज़िले के अन्तर्गत है। यह उदयपुर शहर से ३६ मील उत्तर-पूर्व में और नाथद्वारा से ११ मील उत्तर में राजसमुद्र की बाँध और किनारे पर २५.४ और ७३.५३ रेखांश पर अवस्थित है। श्रीद्वारकाधीश प्रभु की पुरी होने के कारण जहाँ यह द्वारकापरी का स्मरण कराती है, वहाँ राजसमुद्र समुद्र का और उसमें गिरनेवाली गोमती गोमती नदी का।

इसका नाम 'कांकरोली' और "काँकडोली" इन दोनों रूपों में मिलता है। 'राजप्रशस्ति' नामक महाकाव्य में इसे 'कांकरोली' लिखा गया है और ताम्रपत्र एवं कई शिलालेखों में 'काँकडोली' भी इसका नाम लिखा मिलता है। इसका कारण प्रान्तीय भाषा का 'र' का कठोर उच्चारण 'ड' मालूम पड़ता है।

---

* 'उदयपुर-राज्य का इतिहास' से

राजसमुद्र बनने के पहिले यह एक छोटी-सी आबादी का गाँव था। इस समय का इसका कोई वर्णन इसलिये नहीं मिलता कि—वह किसी घटना से अपना विशेष सम्बन्ध नहीं रखता। 'राजप्रशस्ति' काव्य में राजसमुद्र के निर्माण-प्रकार में कई स्थानों पर इसके नाम का उल्लेख किया है, जिसमें उसके कई कुआँ, बावड़ी और साथ की ज़मीन के तालाब के भीतर आ जाने आदि की बात कही गई है। इसके बाद तालाब के बन जाने पर कांकरोली के समीपवर्ती बन्ध का वर्णन करते हुए उसकी लम्बाई, चौड़ाई, उँचाई और बने हुए मंडप आदि तथा श्रीद्वारकाधीश के विराजने आदि का भी उल्लेख किया गया है।

कांकरोली नगरी के पूर्व में आसोटियागाम है, जो इसमें मौज़े के पट्टे का एक गाम है। उसके आगे कोण में तालेडी नदी आ जाती है। दक्षिण में खालसा के मौज़ा दोहिन्दा की सरहद्द मिल जाती है और पश्चिम में मौज़ा हवाला (कांकरोली का वह भाग, जिसमें आबादी नहीं है) और मौज़ा मंडाया तथा राजनगर ख़ालसा की सरहद्द आ गई है। पश्चिम से लेकर पूर्व तक उत्तर दिशा में विशाल राजसमुद्र तालाब है।

ख़ास कांकरोली का कुल रक़बा १०६५ है, जिसमें ५६३.४ ज़मीन पर खेती होती है। इसकी सारी ज़मीन तालाब से नीचे आ जाने से इसकी आबपाशी का ज़रिया नहर है। खेतों में कुएँ होने पर भी काश्तकार तालाब का पानी ही सिंचाई के काम में लाते हैं। पैदावार में धान, जौ, मक्की, गेहूँ, चना आदि होते हैं, पर रजका ज्यादा बोया जाता है, जो जानवरों के काम आता है। तालाब की नहर से ठिकाने की ज़मीन की जो पिलाई की जाती है, उस पर १५० बीघा को छोड़कर शेष की आवक ख़ालसा में जमा होती है।

पर्वत-श्रेणी

मेवाड़ में अर्वली (आडावल्ली) पहाड़ की श्रेणियाँ अजमेर और मेरवाड़ में होती हुई दीवेर के निकट मेवाड़ में प्रवेश करती हैं। यहाँ इनकी चौड़ाई और उँचाई कम है, पर मारवाड़ के किनारे-किनारे वह बढ़ती गई है। कुंभलगढ़ पर इनकी उँचाई ३५५८ और आगे गोगूँदा से १५ मील उत्तर में ४३१५ फुट तक पहुँच गई है। ये पर्वत-श्रेणियाँ राज्य के वायव्य कोण से लगाकर सारे पश्चिमी तथा दक्षिणी हिस्से में फैली हुई हैं। उत्तर में खारी नदी से लगाकर चित्तौड़ से कुछ दक्षिण तक और चित्तौड़ से देवारी तक समान भूभाग है। दूसरी पर्वत-श्रेणी राज्य के ईशान कोण से देवली के पास से शुरू होकर भीलवाडे तक चली गई है। तीसरी श्रेणी देवली के पास से निकलकर राज्य के पूर्वीय हिस्से में जहाजपुर, बीजोल्या, भैंसरोडगढ़ और मैनाल होती चित्तौड़ से दक्षिण तक जा पहुँची है। इसकी उँचाई २००० फ़ीट से अधिक नहीं है। देवारी से लगाकर राज्य का सारा पश्चिमी और दक्षिणी हिस्सा पहाड़ियों से भरा हुआ है।

पर्वतों में होकर एक देश से दूसरे देश को आने-जाने के तंग रास्ते प्रान्तीय भाषा में 'नाल' कहलाते हैं। इस राज्य में ऐसी कई विकट नाले हैं। १—जीलवाड़ा की नाल, इसे पगल्या की नाल भी कहते हैं। अनुमान चार मील लम्बी, बहुत तंग, मारवाड़ से मेवाड का मार्ग है। २—सोमेश्वर की नाल, देसूरी (मारवाड़) से कुछ उत्तर की ओर है। बहुत लम्बी, विकट होने और जीलवाड़े की नाल खुल जाने से अब प्रायः बन्द है। ३—हाथीगुड़ा की नाल, देसूरी से दक्षिण पाँच मील की दूरी पर है। जहाँ मोरचेबन्द फाटक पर मेवाड़-राज्य के सिपाहियों का पहरा रहता है।

जनसंख्या और धर्म आदि

मेवाड़ की जनसंख्या सं० १९७७ (सन् १९२१) में १३८००६३ थी, जिसमें ७१२१०० पुरुष और ६६७९६३ स्त्रियाँ थीं। कांकरोली और उसके देहात की आबादी गत तीन बार की मनुष्य-गणना से इस प्रकार है—

सन् १९११ में कांकरोली खास में ९५३ मकान आबाद थे, जिसकी ३५८९ जनसंख्या में १७९७ मर्द और १७९२ औरतें थीं। इसी वर्ष देहात के ७८९ मकान आबाद थे, जिसकी ३३५२ जनसंख्या में १७७३ मर्द और १५७९ औरतें थीं। इस प्रकार कुल आबादी १७४२ घरों की थी, जिसमें जनसंख्या ६९४१ थी।

सन् १९२१ में खास कांकरोली में ९१० घरों की आबादी थी, जिसमें १६४६ मर्द और १५७७ औरतें, एकत्र जनसंख्या ३२२३ थी। देहात में ८५४ मकान आबाद थे, जिसमें १८९४ मर्द और १६८७ औरतें थीं। इस प्रकार १७६४ घरों की कुल आबादी में जनसंख्या ६८०४ थी।

सन् १९३१ में कांकरोली खास में ८८५ मकान आबाद थे, जिसमें १७०६ मर्द और १७६२ औरतें, एकत्र ३४६८ जनसंख्या थी। देहात में ९४३ घर आबाद थे, जिसमें मर्द २२८५, औरतें २१२४, एकत्र ४४०९ जनसंख्या थी। इस प्रकार कुल १८३८ घरों की आबादी में ७८७७ जनसंख्या थी।

मेवाड़ के धर्मों में सनातनधर्म के प्रायः सभी सम्प्रदाय विद्यमान हैं, जिसमें वैष्णव-धर्म का बाहुल्य है। जैन और इस्लाम धर्म के प्रायः सभी पन्थों के अनुयायी यहाँ निवास करते हैं। प्रायः सभी जातियाँ और सभी पेशा करनेवाले व्यक्ति यहाँ विद्यमान हैं। पोशाक में खास मेवाड़ी पोशाक का विशेष चलन है, और अन्य सभी प्रकार की पोशाक भिन्न-भिन्न व्यक्ति पहिना करते हैं। भाषा विशेषकर मेवाड़ी, जो हिन्दी का एक अन्यतम रूप है, भीलों की वागड़ा जिसमें गुजराती का अधिक सम्पर्क है, बोली जाती है।

मेवाड़-राज्य-प्रबन्ध के लिये इसके १६ विभाग किये गये हैं, जो ज़िला या परगना कहलाते हैं। वहाँ राज्य का एक हाकिम रहता है, जो दीवानी, फ़ौजदारी और माल के मुक़द्‌मा नियमित अधिकारों से तय करता है, इनकी अपीलों का फ़ैसला उदयपुर में महद्राज-सभा करती है, जिसके अध्यक्ष स्वयं महाराणा हैं।

मेवाड़ - राज्य का प्रबन्ध और सरदार

राज्य के उक्त १६ ज़िला इस प्रकार हैं—

१. गिरवा—गिर्दनवाह—मुख्य स्थान उदयपुर है। शहर उदयपुर के अतिरिक्त इसमें ४८६ गाँव हैं। २. छोटी सादड़ी, जिसमें २०६ गाँव हैं। ३. कपासण, जिसमें १४२ गाँव हैं। ४. चित्तौड़, जिसमें ४४० गाँव हैं। ५. रासमी जिसमें १०० गाँव हैं। ६. भीलवाड़ा, जिसमें २०५ गाँव हैं। ७. सहाडा, जिसमें २७४ गाँव हैं। ८. मांडलगढ़, जिसमें २५८ गाँव हैं। ६. जहाजपुर, जिसमें ३०६ गाँव हैं। १०. राजनगर, जिसमें १२३ गाँव हैं। ११. सायरा, जिसमें ५८ गाँव हैं। १२. कुंभलगढ़, जिसमें १६५ गाँव हैं। १३. मगरा, जिसमें ३२८ गाँव हैं। १४. बागोर, जिसमें ६४ गाँव हैं। १५. आसींद पहिले ठिकाना था, पर ख़ालसा कर लिया गया है। १६. कुआखेडा, एक अलग परगना बना दिया गया है।

ऐसा माना जाता है कि यदि मेवाड़ की भूमि के १३½ विभाग किये जावें, तो उनमें से ७ विभाग जागीरदार और भौम के, ३ शासन के और ३½ विभाग राज्य के ख़ालसे के होते हैं। देवमन्दिर, ब्राह्मण, चारण भाट, यति, संन्यासी आदि को पुण्यार्थ दी हुई भूमि को यहाँ "शासन" कहते हैं, ये लोग न तो कोई हासिल और न कोई नौकरी ही देते हैं।

राज्य के देवस्थानों में एकलिंगजी, नाथद्वारा, कांकरोली आदि मुख्य हैं। इनमें नाथद्वारा और कांकरोली को कुछ स्थानीय शासनाधिकार महाराणा द्वारा प्रदान किये हुए हैं। शेष एकलिंगजी, ऋषभदेवजी, चारभुजाजी, रूपनारायणजी आदि धर्मस्थानों का प्रबन्ध हाकिम देवस्थान के द्वारा होता है।

मेवाड़ में सरदारों की तीन श्रेणियाँ हैं—(१) सोलह, जिसमें निम्नलिखित ठिकाने हैं—१ सादडी, २ बेदला, ३ कोठारिया, ४ सूलंबर, ५ घाणेराव, ६ बीजोल्या, ७ बेगम (बेगूँ), ८ देवगढ़, ६ देलवाड़ा, १० आमेट, ११ गोगूँदा, १२ कानोड, १३ भींडर, १४ बदनौर, १५ बानसी और १६ पारसोली।

महाराणा अमरसिंहजी (द्वि०) ने यह प्रथम श्रेणी नियत की थी। पीछे से महाराणा अरिसिंहजी (द्वि०) ने भैंसरोड, महाराणा भीमसिंहजी ने कुरावड और महाराणा शंभुसिंहजी ने मेजा को इस श्रेणी में और भी सम्मिलित किया, जिससे इनकी संख्या अब १६ हो गई है।



नौचौकी (रायसागर)
कांकरोली

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

(२) द्वितीय श्रेणी के सरदारों की संख्या महाराणा अमरसिंहजी (द्वि०) ने ३२ नियत की थी, जिससे यह बत्तीस कहलाते हैं। सम्प्रति इनकी संख्या ३४ है। पहले नियत की हुई संख्या में से कुछ तीसरी श्रेणी में आ गये हैं और कुछ बढ़ा दिये गये हैं तथा कुछ इलाकों के निकल जाने के कारण दूसरे राज्यों में जा मिले हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—१ हमीरगढ, २ चाँवड, ३ भदेसर, ४ बोहेडा, ५ भूणास, ६ पीपल्या, ७ बेमाली, ८ ताँणा, ९ रामपुरा, १० खैराबाद, ११ महुआ, १२ लूँणदा, १३ थाणा, १४ बंबोरा, १५ जरखाणा (धनेरिया,) १६ कैलवा, १७ बड़ी रूपाहेली, १८ भगवानपुरा, १९ रूपनगर, २० बाबादूलहसिंह, २१ नेतावल, २२ पीलाधर, २३ लीमाड़ा, २४ बाठरडा, २५ बंबोरी, २६ बाबामदनसिंह, अब यह जागीर नहीं रही। २७ सनवाड, २८ करेडा, २९ अमरगढ़, ३० लसाणा, ३१ धरियावाद, ३२ फलीचडा, ३३ संग्रामगढ़ और ३४ विजयपुर।

(३) तृतीय श्रेणी के सरदारों को "गोल के सरदार" कहते हैं, जिनकी संख्या कई सौ है। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के कुछ सरदारों को ताज़ीम दी जाती है और गोल के सरदारों में भी कुछ ताज़ीमी सरदार हैं। राजपूताने के अन्य राज्यों की अपेक्षा मेवाड़ में सरदारों को विशेष मान और हक़ प्राप्त है, जो उनकी समय-समय की राज्य-सेवाओं का फल है।

मेवाड़ में सम्प्रति चित्तौड़ी रुपया का चलन है। जिस पर एक ओर नागरी-लिपि में चित्रकूट, उदयपुर और दूसरी ओर दोस्ति लंधन लिखा हुआ है। जिसके नीचे सं० १९८५ का निर्देश है। 'दोस्ति लंधन' का तात्पर्य "इँग्लैन्ड का मित्र" इस भाव से है, जो अँग्रेज़ी सरकार के साथ अहदनामा होने पर महाराणा स्वरूपसिंहजी ने अपने चलाये हुए सरूपसाही सिक्के पर रक्खा था। सम्प्रति नये रूप में ढलाये जाने के कारण इसका संवत् बदल दिया गया है। इसकी अठन्नी, चवन्नी आदि भी चलती है और ताँबे का पैसा, जिसे भिलाडी और ढींगला भी कहते हैं, प्रचलित है। कल्दार रुपया भी चलता है।

जलवायु और जलाशय राजसमुद्र

मेवाड़ की जलवायु सामान्य रीति से आरोग्यप्रद है। पहाड़ी विभाग के जल में खनिज पदार्थ और वनस्पति का अंश मिला होने से वह भारी होता है। भूमि की उँचाई के कारण शीतकाल में यहाँ न अधिक ठंड पड़ती है और न ग्रीष्म काल में अधिक गरमी ही। वर्षा की औसत २४ इंच और पहाड़ी प्रदेश में २६ के लगभग है। फिर भी मेवाड़ के अन्य स्थानों की अपेक्षा कांकरोली स्वास्थ्य के लिये उत्तम समझी जाती है।

मेवाड़ में साल-भर बहनेवाली नदी एक भी नहीं है। साधारण नदियों में बनास, बेडच, कोटेसरी, खारी, जाकुम तथा बाकल और सोम हैं। तालेडी और गोमती, ये छोटी नदियाँ राज-

समुद्र में आकर गिरती हैं। राज्य में कई बड़े-बड़े तालाब हैं, जिनमें जयसमुद्र और राजसमुद्र विशेष प्रख्यात हैं।

राजसमुद्र, जिसके बाँध और किनारे पर कांकरोली बसी हुई है, भारतवर्ष का एक दर्शनीय ऐतिहासिक विशाल जलाशय है। वास्तव में कांकरोली की शोभा राजसमुद्र और राजसमुद्र की शोभा कांकरोली से है। इसके निर्माण का प्रसंग श्रीओझाजी ने अपने उदयपुर-राज्य के इतिहास * में इस प्रकार दिया है:—

"राजनगर के पास की पहाड़ियों के मध्य में होकर गोमती नाम की नदी गुज़रती थी। उसे रोककर एक विशाल तालाब बनवाने का विचार कर महाराणा अमरसिंह ने बाँध बनवाया, परन्तु नदी के वेग के कारण वह टिक न सका। इसके बाद महाराणा राजसिंह ने अपने कुँवरपदे के समय विवाहार्थ जैसलमेर जाते समय और राज्य पाने के पश्चात् वि० सं० १७१८ मार्गशीर्ष में रूपनारायण के दर्शन को जाते हुए उस मौक़े को फिर से देखकर वहाँ तालाब बनवाने का निश्चय किया।

इसके बनवाये जाने के विषय में कई बातें प्रसिद्ध हैं। कोई कहते हैं कि—विवाह के लिये जैसलमेर जाते समय नदी के वेग के कारण महाराणा राजसिंह को दो-तीन दिन तक वहाँ रुक जाना पड़ा। इसलिये उसने नदी को रोककर तालाब बनवाने का विचार किया। कोई कहते हैं कि—एक पुरोहित, रानी, कुँवर और चारण की हत्या † के निवारणार्थ पुण्य रूप, और कोई कहते हैं कि—दुर्भिक्ष के कारण लोगों की सहायता करने के लिये यह बनवाया गया था। संभव है कि—

---

* उदयपुर का इतिहास भाग २, पत्र ५६६ से।

† इस विषय में प्रसिद्ध है कि कुँवर सरदारसिंह की माता ज्येष्ठ कुँवर सुलतानसिंह को मरवाकर अपने पुत्र को राज्य दिलाने का प्रपञ्च रच रही थी। उसके शक दिलाने से महाराणा ने कुँवर सुलतानसिंह को मार डाला। सुलतानसिंह के मारे जाने पर इस रानी ने महाराणा को विष दिलाने के लिए एक पुरोहित को पत्र लिखा। जिसका भेद खुल जाने पर महाराणा ने पुरोहित और रानी दोनों को मार डाला। इस पर कुँवर सरदारसिंह भी स्वयं ज़हर खाकर मर गया।

एक समय चारण (उदय भाण) ने महाराणा की बुराई में एक कविता सुनाई, जिस पर क्रुद्ध होकर महाराणा ने उसको मार डाला था।

वीर-विनोद (पत्र ४४५) में गदा से मारने का उल्लेख है। महाराणा राजसिंह की भेट की हुई लोहे की एक गदा कांकरोली में विद्यमान है, जो दशहरा के अवसर पर श्रीद्वारकाधीश के पास रक्खी जाती है। इसके लिये ऐसा कहा जाता है कि महाराणा ने इस अप्रिय घटना के बाद यह श्रीद्वारकाधीश को भेट कर दी थी।

अकाल-पीड़ितों को सहायता देने और तालाब के जल से पैदावार बढ़ाने के लिए ही यह बनवाया गया हो।

इसके अलग २ बाँधों की नींव की खुदाई सं० १७१८ माघ बदी ७ को प्रारंभ हुई। बहुत बड़ा काम होने के कारण वह अलग २ सरदारों आदि को सौंपा गया। नींव खुद जाने पर श्रावणादि सं० १७२१ (चैत्रादि १७२२) वैशाख सुदी १३ को पुरोहित गरीबदास के ज्येष्ठ पुत्र रणछोड़राय के हाथ से नींव का पत्थर रखवाकर काम शुरू किया गया *। आगे सिंहस्थ का वर्ष आ जाने के कारण सं० १७२७ (चैत्रादि १७२८) आषाढ़ सुदी ४ को इसमें अन्य स्थान से जल लाकर नाव का मुहूर्त किया गया। वर्षाऋतु में तालाब में गोमती, ताल (ताली) और केलवा की नदियों से जल आने लगा। जिससे उसके भर जाने पर सं० १७३१ श्रावण सुदी ५ के दिन उसमें कारीगरों का बनाया हुआ एक 'जहाज' डाला गया, और सं० १७३२ माघ सुदी ६ को प्रतिष्ठा का कार्य आरंभ हुआ।

अष्टमी को महाराणा ने उपवास, प्रायश्चित्तादि कर नवमी को अपने कुटुम्बियों तथा पुरोहित गरीबदास आदि सहित मण्डप में प्रवेश कर देवताओं का पूजन तथा हवनादि का कार्य आरंभ किया। उस दिन महाराणा ने एकभुक्त रहकर रात्रि-जागरण किया और दूसरे दिन से तालाब की परिक्रमा शुरू की। इस समय डूँगरपुर के रावल जसवन्तसिंह ने उदयसागर की प्रतिष्ठा के दिन परिक्रमा के समय, महाराणा उदयसिंह के पालकी पर सवार होने का उदाहरण देकर महाराणा से पालकी पर सवार हो जाने का निवेदन किया। परन्तु उन्होंने कोई उत्तर न देकर सकुटुम्ब, सपरिकर नंगे पैर चलना ही प्रारंभ किया, इस परिक्रमा में आगे-आगे वेदपाठी ब्राह्मण चलते थे और पीछे समस्त समुदाय। पाँच दिन में १४ कोस की परिक्रमा समाप्त होने पर पूर्णिमा के दिन इसकी पूर्णाहुति की गई। उस दिन महाराणा ने सोने का तुलादान करते समय अपने पौत्र अमरसिंह को भी अपने साथ तुला में बिठाया। इस तुला में १२००० तोले सोना चढ़ा था। इसके बाद उसी दिन सप्तसागर आदि अनेक दान हुए और पटरानी श्रीसदाकुँवरी ने चाँदी की, पुरोहित गरीबदास ने सोने की, उसके पुत्र रणछोड़राय, राव केसरीसिंह, टोड़े के रायसिंह की माता और बारहठ केसरीसिंह ने चाँदी की तुलाओं का

* तालाब के बीच में एक सती का चबूतरा है, जो उसके पहिले का है। तालाब के भरे रहने से वह नहीं दीखता, पर इस वर्ष (१९९६) जल कम हो जाने पर उस पर यह लेख पढ़ा गया है:—

"श्री सम्वत १६६२ वर्षे शके १५५७ प्रवर्तमाने दक्षिणायन गते श्री सूर्ये वर्षारतौ महामांगल्यप्रदे भाद्रवा सुदि ३ दिने बुधवासरे पुरोहित नरु (?) स्त्री सती हुई (?) सखीरारी (?) देवली की श्रीभाई नाथु छतरी कराबी संवत १६६४ वर्षे उदेपुरी ·····रुपइआ १०४० व्र दाय सुध (?) माव बदी"

दान किया। इस उत्सव के उपलक्ष्य में महाराणा ने गरीबदास को १२ गाँव तथा अन्य ब्राह्मणों को गाँव, भूमि, सोना, चाँदी तथा सिरोपाव आदि दिये। अन्य पण्डितों, चारणों, भाटों आदि को ५५२ घोड़े और १३ हाथी तथा सिरोपाव आदि तथा मुख्य शिल्पी को २५००० रुपये दिये गये। अपने मित्र और संबंधी राजाओं के पास यथायोग्य हाथी, घोड़े और सिरोपाव भेजे गये और कार्य की देख-भाल पर नियत कर्मचारियों को भी यथायोग्य पारितोषिक दिया गया। इस उत्सव के दर्शनार्थ बाहर से ४६००० ब्राह्मण तथा अन्य लोग आये, जो भोजन, वस्त्रादि से सन्तुष्ट किये गये। इस तालाब के बनवाने में १०५०७६०८ रुपये व्यय हुए। इसके नौचौकी नामक बाँध पर ताकों में पचीस बड़ी-बड़ी शिलाओं पर २५ सर्गों का 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' खुदवाया गया, जो भारत-भर में सबसे बड़ा शिला-लेख एवं शिलाओं पर खुदे हुए ग्रन्थों में सबसे बड़ा काव्य है। इसकी रचना तैलङ्ग कठोड़ी ग्रामाधिप, मधुसूदनात्मज रणछोड़ भट्ट * ने की थी।

श्रीद्वारकाधीश का मन्दिर

श्रीद्वारकाधीश प्रभु का मंदिर श्रीव्रजभूषणजी (प्र०) के समय सर्वप्रथम मेवाड़ में कांकरोली के पास आसोटिया ग्राम में बनवाया गया। सं० १७२१ में उक्त महाराजश्री ने महाराणा राजसिंहजी से मिलकर आसोटिया में मन्दिर बनवाना शुरू किया और सं० १७२२ में वहाँ एक बावडी बनकर तैयार हुई। इस समय श्रीद्वारकाधीश को मेवाड़ में पधराने की अनुकूलता नहीं मिली। इसका कारण सं० १७१८ का मेवाड़ का वह बड़ा अकाल—जिसका असर लगातार ४-५ वर्ष तक बना रहा और राजसमुद्र का निर्माण था। सं० १७२६ में अहमदाबाद में गो० श्रीव्रजरायजी के द्वारा बालकृष्णजी ठाकुरजी ले जाने के उपद्रव के कारण व्रजभूषणजी (प्र०) को अपने प्रभु की सुरक्षा के लिये मेवाड़ में आने को बाध्य होना पड़ा †। फलतः सं० १७२७ के प्रारंभ में सादडी में कुछ महीने निवास कर भाद्रपद शु० ७ के दिन आसोटिया के मन्दिर में प्रभु को पधराया गया, जोकि इस समय तक बनकर तैयार हो गया था।

---

* कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया हैः—

"आसीद्भास्करतस्तु माधवबुधोऽस्माद्रामचन्द्रस्ततः।
सत्सर्वेश्वरकः कठोडिकुलजो लक्ष्म्यादिनाथस्सुतः॥
तैलंगोस्य तु रामचन्द्र इति वा कृष्णोस्य वा माधवः।
पुत्रोऽभून्मधुसूदनस्त्रय इमे ब्रह्मेशविष्णूपमाः॥ ४२॥
यस्यासीन्मधुसूदनस्तु जनको वेणी च गोस्वामिजाऽ।
भून्माता, रणछोड एष कृतवान् राजप्रशस्त्याह्वयम्॥" १७ सर्ग राज-प्र०

† देखो—व्रजभूषणजी (प्र०) पत्र १४३, प्रस्तुत ग्रन्थ।

सं० १७५१ में अतिशय वृष्टि होने से कांकरोली और उसके आस-पास चारों ओर जल ही जल हो गया। आसोटिया के मन्दिर में भीतर जल पहुँचते देखकर महाराजश्री ने श्रीप्रभु को उसी समय ले जाकर समीप की 'देवल मगरी' पर तीन दिन तक विराजमान किया। यह देखकर आगे के लिये महाराजकुमार अमरसिंहजी ने इसी वर्ष 'कांकरोली का दरीखाना' और 'मगरी ऊपर की हवेली' मन्दिर बनाने के लिये प्रदान कर उसका रुक्का लिख दिया। पर ऐसा मालूम पड़ता है कि—उस समय यह स्थान मन्दिर के लिये पर्याप्त नहीं समझा गया और श्रीद्वारकाधीश आसोटिया में ही विराजे रहे।

इसके बाद गिरिधरजी (द्वि०) के समय जब महाराणा संग्रामसिंहजी के द्वारा कांकरोली का पक्का पट्टा भेट हो जाने पर प्रभु के पधराने का निश्चय किया गया, आवश्यक स्थान और मन्दिर आदि बनवाने पर इसका नाम 'गिरिधरगढ़' पड़ा और सं० १७७६ चैत्र कृष्ण ६ के दिन प्रभु आसोटिया से कांकरोली-मन्दिर में पधारकर विराजे। आसोटिया के मन्दिर के पत्थर, मेहराब, दरवाजा और खम्भे लाकर वर्तमान मन्दिर का शेष भाग तैयार किया गया, अतः वहाँ का मन्दिर उजड़ गया, जो आज भी खँडहर रूप में पड़ा हुआ है।

इसके बाद कांकरोली के मन्दिर में समय-समय पर सुधार होता गया, जिसकी पूर्णता सं० १९८० के आस-पास हुई। जिसमें वर्तमान महाराजश्री और उनके पिताश्री का बड़ा हाथ है। प्रस्तुत मन्दिर दर्शनीय और आकर्षक होने के साथ ही सुदृढ़ है। यदि इसे हम 'अभ्रंलिह प्रासाद' कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। मन्दिर का पूर्वी विशाल दरवाजा और उसकी छतरियाँ तथा नगाड़खाना मेवाड़ में शायद ही अन्यत्र देखने को मिले। वैसे तो कांकरोली तलाब की पाल पर नीचे से ऊपर तक बसती चली गई है, पर मन्दिर तो और भी ऊपर बना है, जो धरातल से देखने पर आसमान से बातें करता मालूम पड़ता है। उसका भव्य दर्शन चार-पाँच कोस की दूरी से सहज ही हो जाता है। तालाब में नाव में बैठकर देखने से तो इसे द्वारकापुरी की उपमा देनी पड़ती है।

उक्त दरवाजे के बाद प्रशस्त 'गोवर्द्धन चौक'-नामक प्रांगण, उसके बाद प्रायः २५ फ़ीट की ऊँचाई पर सिंहपोल, श्रीकृष्ण-भंडार और उससे भी २० फ़ीट की ऊँचाई पर वर्तमान मन्दिर प्रतिष्ठित है। मन्दिर के आगे 'जगमोहन', बाद में चौक, तिवारी और फिर 'निज मन्दिर' बना हुआ है। इसके पीछे प्रभु की समस्त सेवा के अलग-अलग स्थान हैं। मन्दिर की विशालता के कारण कांकरोली में वैष्णवों को जो दर्शन का आनन्द मिलता है, वह नाथद्वारा-जैसे प्रसिद्ध स्थान में भी नहीं। स्वच्छ, शीतल वायु और प्रकाश की प्रचुरता से दर्शन करते समय मन का प्रफुल्लित हो जाना स्वाभाविक है। मन्दिर के ऊपरी मंज़िल पर चढ़कर तलाब, शैल-माला और सस्यश्यामला

वसुन्धरा का जो प्राकृतिक लावण्य देखने को मिलता है, वह अनुपम है। मन्दिर और महाराजश्री के सम्मिलित निवास-स्थल (सुन्दरविलास-प्रासाद) कांकरोली-रूपी अँगूठी में 'नगीना' का काम देता है।

सं० १९८४ मार्ग० कृष्ण ६ के दिन मन्दिर के भीतरी चौक में सफ़ेद पत्थर की ख़ासा जलघरा की तिवारी वीसनगर-निवासी सेठ डोसाभाई मगनलाल तथा मणिलाल लल्लूभाई ने बनवाई और सं० १९८६ श्रावण शु० ८ के दिन अहमदाबाद-निवासी सेठ मगनलाल त्रीकमदास ने गोवर्द्धन चौक के वामपार्श्व में एक विशाल भवन बनवाया, जिसमें नीचे मन्दिर का ख़र्च-भंडार और ऊपर 'विद्याविभाग'-कार्यालय वर्तमान है। वास्तुशान्ति हो जाने पर इसमें श्रीद्वारका-धीश प्रभु को पधराकर सोने के हिंडोला का मनोरथ किया गया था। सं० १९९१ में निजमन्दिर के बगल में 'खासा-भंडार', भोगमन्दिर, रसोईघर आदि इमारतें सेठ डोसाभाई मगनलाल तथा सेठ साँकलचन्द भाई आदि वैष्णवजनों के साहाय्य से तैयार हुईं, जिसमें २८८६६ रुपया लगा। इसके बाद ख़ासा-भंडार का ऊपरी भाग इसी वर्ष शा० सुन्दरजी रुघनाथजी के स्मरण में बनवाया गया।

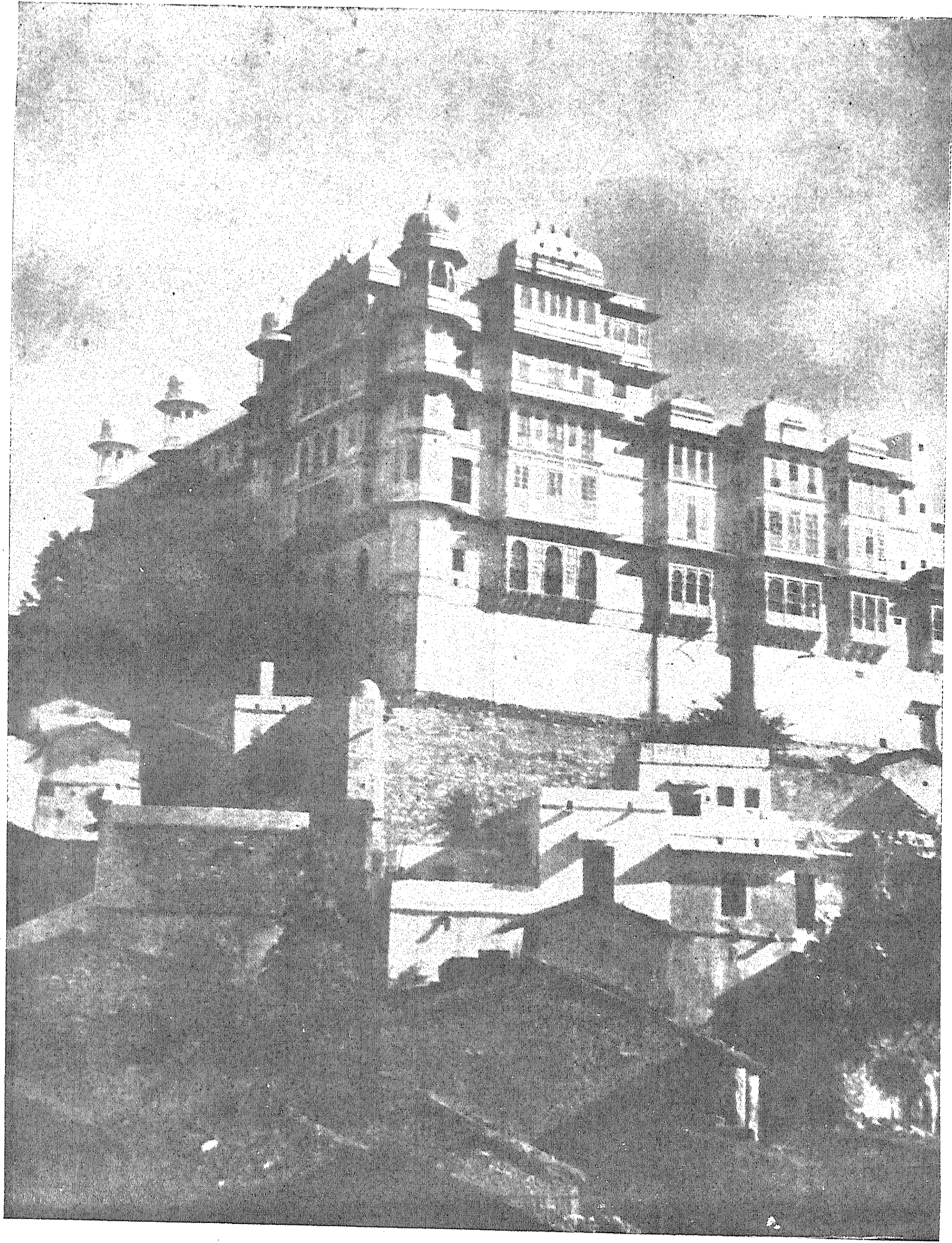
सं० १९९२ में मन्दिर के दक्षिण पार्श्व में विशाल मंडप की भव्य इमारत वर्तमान महाराजश्री ने बनवाई। इसमें सर्वप्रथम आश्विन शु० ८ के दिन श्रीप्रभु द्वारकाधीश का मनोरथ, और बाद में आश्विन शु० १३ को महाराजश्री की धर्मपत्नी का सीमन्त प्रस्ताव बड़े समारोह के साथ हुआ। यह स्थान मांगलिक प्रस्तावों के लिये बनाया गया है, जो पहले कच्चा था। इसमें आवश्यकतानुसार 'द्वा० विश्ववस्तु संग्रहालय' की स्थापना भी की गई है, जिसका उद्घाटन सं० १९९४ में किया गया था।

सं० १९८५ के लगभग सुखपाल का बँगला बीकानेरवाले सेठ किशनगोपालजी बागडी ने बनवाकर श्रीप्रभु के लिये भेट किया। इस स्थान पर अन्नकूट आरोग कर रात्रि को जब श्रीप्रभु की सवारी नाथद्वारा से पधारती है, तब उनका सुखपाल सर्वप्रथम यहीं पधराया जाता है।

पुष्टि-समुदाय की रूप-रेख

पुष्टि-संप्रदाय और भक्ति-संप्रदाय अनादिकाल से प्रचलित है। जिस भक्ति में परंपराप्राप्त श्रीहरि के मंत्रादि का उत्तम दान हो, उसे भक्ति-संप्रदाय वा भक्ति-मार्ग कहते हैं। इस भक्ति-संप्रदाय के चार भेद, प्रकृति-वैचित्र्य होने से अनादि काल से चले आते हैं। इस मार्ग में भी परंपराप्राप्त श्रीहरि के मंत्रों का दान प्रचलित है। अतः इसे पुष्टि-संप्रदाय कहते हैं। पुष्टिमार्ग में चारों वेद, गीता, व्याससूत्र और समाधिभाषा भागवत यह प्रमाणचतुष्टय, और इनसे अविरुद्ध सभी शास्त्रों को भी प्रमाण माना गया है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के अनुग्रह का नाम पोषण (पुष्टि) है।



श्रीसुन्दर-निवास-प्रासाद
कांकरोली

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

इसमें श्रीहरि का अनुग्रह ही साधन और फल है, इसी से इसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। इस मार्ग में अहंता-ममतारूप संसार से मुक्त होना, भगवन्माहात्म्य का ज्ञान, भगवान् का साक्षात्कार, भगवद्भक्ति और भगवल्लीला में प्रवेश, ये सब भगवदनुग्रह के विना नहीं होते। ऐसे अनुग्रह से प्राप्त होनेवाली भक्ति को पुष्टिभक्ति अथवा पुष्टि भी कहते हैं। वह पुष्टिभक्ति चार प्रकार की है, जिसका निरूपण श्रीमद्वल्लभाचार्य ने 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' नामक ग्रंथ में इस तरह से किया है—(१) जिस भक्ति में अनुग्रह द्वारा पहले श्रीहरि तथा उनके समग्र परिकर का यथार्थ ज्ञान होकर फिर सबसे अधिक और अतिशय गाढ़ प्रेम श्रीहरि में हो तथा उनके सिवाय अन्य फल की आकांक्षा न हो, उसे 'पुष्टिपुष्टिभक्ति' कहते हैं, और जिसमें ऐसी भक्ति हो, उसे 'पुष्टिपुष्टिभक्त' कहते हैं। (२) जिसमें कर्म में विशेष रुचि हो किन्तु पुष्टि (अनुग्रह) होने से भगवदुपयोगि कर्म करने का हृदय रहता हो, उसे 'प्रवाहपुष्टि-भक्ति' कहते हैं, और ऐसी भक्ति जिसमें हो, उसे प्रवाहपुष्टिभक्त कहते हैं। (३) जहाँ मर्यादा (वेदादिसाधनमात्र) से विषय-वैराग्यादि होकर भगवद्भक्ति हो, उसका नाम 'मर्यादा-पुष्टिभक्ति' है, और ऐसे भक्त को मर्यादापुष्टिभक्त कहते हैं। (४) जिसमें प्रेममात्र से परिचर्या तथा श्रवणकीर्तनादि साधन किये जाते हों, वह शुद्ध पुष्टिभक्ति है। ऐसे भक्त अतिदुर्लभ हैं। शुद्ध पुष्टिभक्ति साधन-प्राप्य नहीं है, किन्तु भगवदनुग्रह-मात्र से प्राप्य है।

इस लोक और परलोक के मोक्षपर्यन्त सर्व फलों की आकांक्षा न रखकर श्रीहरि में जो मन का एकतान होना, तन्मयता प्राप्त होनी, उसे भक्ति कहते हैं। जैसे श्रीगंगा का प्रवाह सर्व विघ्नों को विध्वंस करता हुआ हरएक क्षण निरंतर समुद्र में गिरता रहता है, इसी तरह लौकिक और वैदिक प्रतिबंधों को दूर कर प्रेम से श्रीहरि के चरणारविन्दों में मन का निरन्तर रहना 'निर्गुण-भक्ति' कहलाता है। इसी भक्ति के नाम फलरूपा, परा, प्रेमलक्षणा, मानसी सेवा इत्यादि हैं। इस प्रकार की मानसी सेवा-प्राप्ति के लिये तनुजा और वित्तजा भक्ति-साधन हैं। इस द्विविध भक्ति में ही नवधा भक्ति का अन्तर्भाव है। श्रवण-कीर्तन तथा अन्य शरीरादि से प्रभु की परिचर्या करना तनुजा सेवा कहलाती है, और द्रव्य से प्रभु के वस्त्र, आभूषण आदि बनवाना तथा उत्सवादि करना वित्तजा सेवा है। इस तरह तनुजा-वित्तजा सेवा का निरंतर अभ्यास रहने से बीजरूप भाव का उद्बोध होता है। उस भाव से प्रभु में प्रेम होता है। यह रतिरूपा प्रथम भूमिका है। इसके आगे पुनः निरंतर अभ्यास चलते रहने से आसक्ति और व्यसन ये दोनों क्रमशः सिद्ध होते हैं। ये तीन प्रेम (निर्गुण-भक्ति) की भूमिका हैं। प्रभु में व्यसन होने से जीव कृतार्थ हो जाता है। व्यसन के पहले ही साधनों का आचरण हो सकता है, उसके आगे सर्वात्मभाव भी

केवल भगवदनुग्रह से ही मिल सकता है। मानसी सेवा अथवा व्यसन का मुख्य फल (चतुर्थ पुरुषार्थ) प्रभु-प्राप्ति है। किन्तु माहात्म्यज्ञान और अहंता-ममता की निवृत्ति ये दो फल स्वतः प्राप्त होते हैं।

प्रभु के निमित्त साधनों का आचरण कर उन्हें वहीं रहने देने को 'अर्पण' कहते हैं। साधन कर प्रभु से कुछ चाहना, साधनों का वहाँ से उठा लेना है। किन्तु अर्पित भक्ति करने से ही भक्ति शब्द का उत्तरार्ध (प्रेम) प्राप्त होता है। इसलिये उत्तम भक्त को किसी प्रकार की कामना न रखकर ही श्रवण, कीर्तन आदि नौ प्रकार के भक्ति-साधनों का आचरण करना चाहिये। इसे ही निष्काम भक्ति कहते हैं। अनादि काल से जिस अहंता-ममता का संबंध देह और देह-संबंधी स्त्री, पुत्रादि किंवा जड़ पदार्थों में हो रहा है, उसका संबंध परात्पर श्रीहरि के साथ कर देना और उसके दोष को निवृत्त कर देना यह ब्रह्म-संबंध है। जिस दिन से (सहस्रावधिकाल से) जीव का ब्रह्म के साथ का संबंध (अंशांशी-भाव) भुलाया गया है, उसी दिन से इसे दोष लग गए हैं। और जिस रोज़ ब्रह्म-संबंध लिया, उसी रोज़ से उस संबंध का पुनः स्मरण होकर वह दृढ़ होने लगा है, यह समझना चाहिये। अनादि काल से जो मुझे प्रभु का विस्मरण और देहादि का अध्यास (अहंता, ममता आदि उलटी समझ) हुआ है, उसका संबंध, मैं आज से स्वयं निर्दोष और अन्य को निर्दोष करने की अपूर्व शक्ति रखनेवाले श्रीहरि के साथ करता हूँ। अर्थात् 'मैं श्रीहरि का अंश-दास हूँ और यह देह-संबंधी स्त्री, पुत्र, गेहादि भी प्रभु के हैं' इस तरह जो आत्मा और आत्मीय पदार्थों का प्रभु के साथ संबंध कराना उसे ब्रह्म-संबंध कहते हैं। अतः वल्लभाचार्य के सिद्धान्तानुसार—आत्मा तथा आत्मसंबंधी सर्व पदार्थों का ब्रह्म के (श्रीहरि के) साथ निवेदनरूप संबंध कराने से सर्व जीवों के देह और आत्मसंबंधी सब दोषों की निवृत्ति होती है। इसलिये सर्व कार्यों में प्रथम सर्व वस्तुओं का प्रभु को अर्पण करना चाहिये। इस तरह शरण-मंत्र और आत्मनिवेदन-मंत्र लेने से जब वैष्णवत्व (सेवा का अधिकार) प्राप्त हो, तभी पूर्वोक्त रीति से प्रभु-सेवा का प्रारम्भ करना चाहिए। जहाँ तक आत्मनिवेदन न किया हो, वहाँ तक वैष्णवता और सेवा का अधिकार भी प्राप्त नहीं होता।

वैष्णवों को एक श्रीकृष्ण परब्रह्म ही सेव्य हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीनों भगवान् के गुणावतार हैं। अक्षर ब्रह्म भी श्रीकृष्ण का अंश है। वेद में अक्षर को भगवान् की त्रिपाद्विभूति कही है, और अन्य देवताओं को उनके अंग कहा गया है। इसलिये सर्वोत्तम एक श्रीकृष्ण ही हैं। उपनिषद् में कहा है कि 'कृष् का अर्थ सत्ता और णकार का अर्थ आनंद है।' इन दोनों के एक होने से कृष्ण का अर्थ 'सच्चिदानंद' है। गीता में सर्वभूतमात्र 'क्षर',

और कूटस्थ 'अक्षर ब्रह्म' कहा गया है, किन्तु 'उत्तमपुरुष' तो इन दोनों से अन्य है, जिसे परमात्मा कहते हैं'। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि 'श्रीकृष्ण तो साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम हैं'।

पुष्टिमार्ग में जितनी भगवन्मूर्तियाँ हैं, वे सब साक्षात् स्वरूपभूत हैं। उन सभी में साक्षात पूर्णपुरुषोत्तम विराजमान हैं, इसलिये वे मूर्तियाँ साक्षात् स्वरूपात्मक हैं। देवाधिदेव के केवल मन्त्राधीन न होने से अपितु केवल भक्ति के उत्कट भावद्वार मूर्ति में उद्भूत होने से पुष्टिमार्ग में आवाहन, विसर्जन आदि मन्त्र-पारतन्त्र्य के कार्य करने में नहीं आते। इसी से उसे प्रतीकोपासना न कहकर स्वरूप-सेवा कहा जाता है। श्रीमूर्ति के हस्त को श्रीहस्त, चरण को चरण-कमल, इस तरह प्रति अवयव को श्रीप्रभु के साक्षात् अवयव माना जाता है। कारण कि ब्रह्म को व्यापक होते भी साकार मानने से श्रीहरिमर्ति को जो वस्त्र-आभूषण धराये जाते हैं, वे साक्षात् श्रीहरि को धारण कराने में आते हैं ※। इस प्रकार इस पुष्टिमार्ग में श्रीवल्लभाचार्य और उनके पुत्र श्रीविट्ठलेश्वरजी के द्वारा सेव्य स्वरूप कई हैं, जिनमें श्रीनाथजी सर्वप्रथम और मुख्य हैं। इसके बाद सात स्वरूप हैं। जिनके द्वारा सम्प्रदाय के सात पीठ स्थापित हुए हैं। जिनका प्रासंगिक आवश्यक वर्णन यथास्थान किया गया है।

श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप और सेवा

श्रीद्वारकाधीश के स्वरूप के विषय में निम्न-लिखित प्रसंग उपलब्ध होता है—सृष्टि के आदि काल में जब नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई और उन्होंने अपने चारों ओर जल ही जल देखा, तब, आश्चर्य-चकित हो जाने के बाद, उन्हें 'तप' इस प्रकार का शब्द सुनाई पड़ा, जिससे उन्होंने तप का अनुष्ठान किया। भगवान् श्रीहरि ने अन्त में प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिये। भागवत द्वि० स्कन्ध में वर्णित इस प्रसंग के चतुर्भुज स्वरूप से श्रीद्वारकाधीश का यह स्वरूप बिलकुल साम्य रखता है।

इसके अनन्तर कर्दम प्रजापति ने जब सरस्वती के किनारे बैठकर तपश्चर्या की, तब भगवान् ने समाधियुक्त क्रियायोग—पूजा-प्रकार—से सन्तुष्ट होकर उन्हें दर्शन दिये थे। यहाँ 'क्रियायोग' का अर्थ सभी टीकाकारों ने पूजा-प्रकार ही लिया है। अतः यह निश्चय होता है कि—कर्दम ऋषि ने स्वरूप की सेवा से श्रीहरि को सन्तुष्ट किया था। उन्हें जिस चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन हुए थे, वह भी इसी प्रकार था †।

इसके आगे जब हम भगवान् कपिल और उनकी माता देवहूति के उपाख्यान की ओर

※ देवर्षि पं० रमानाथ शास्त्रीजी कृत "शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तसार" का आवश्यक अंश।

† (भा० तृ० स्कंध, २१ अध्याय)

आते हैं, तो वहाँ भी भक्तियोग का विधान पाते हैं। इस विधान में भी स्वरूप-सेवा का प्राधान्य था। महर्षि कपिल ने जिस प्रकार का ध्यान माता को बतलाया था, उसमें और श्रीद्वारकाधीश के स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि माता देवहूति ने किसी स्वरूप की सेवा-पूजा के अनुष्ठान से ही परमधाम की प्राप्ति की थी। इनका आश्रम बिन्दु-सरोवर पर था, यह सर्वविदित है। जैसा द्वारकाधीश की प्राकट्य वार्ता—प्रस्तुत पुस्तक के प्र० भाग—में लिखा गया है, श्रीद्वारकाधीश के स्वरूप की प्राप्ति बिन्दुसरोवर से ही हुई है। ऐसा प्रख्यात है कि—इस सरोवर में एक समय भगवान् श्रीहरि के नेत्रकमलों से प्रेमाश्रु-बिन्दु गिरे थे, इस कारण उसी नाम से इसकी प्रसिद्धि हो गई *।

माता देवहूति के बाद ऐसा प्रसिद्ध है कि कुछ समय तक यह स्वरूप बिन्दुसरोवर के अन्तर्गत विराजमान रहा। उक्त प्राकट्य वार्ता पत्र ३ में लिखा है कि—कपिल महर्षि के शिष्यों में एक देवशर्मा और उसके पुत्र विष्णुशर्मा ने बिन्दुसरोवर में से श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप प्राप्त कर पधराया और सेवा की थी। बाद में बहुत समय तक इनके वंशज सेवा करते रहे, और अन्त में किसी सन्तति के अवशिष्ट न रहने पर उन्हीं के कुल की एक वृद्धा स्त्री सेवा करती रही।

इसी समय सूर्यवंशी नाभाग राजा के पुत्र अम्बरीप अपने एकच्छत्र राज्य का शासन करते हुए भी भगवद्भक्ति के लिये लोकविश्रुत हो चुके थे। स्कंन्दपुराण के प्रभास-खंडान्तर्गत अर्बुदखंड के तेरहवें अध्याय में राजा की तपस्या का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि—राजा की एकनिष्ठता की परीक्षा लेने के लिये भगवान् इन्द्र का रूप धरकर सामने उपस्थित हुए। पर राजा ने उन्हें साफ़ जवाब दे दिया कि—मुझे आपसे वर लेने की इच्छा नहीं है। मुझे तो जब भगवान् चतुर्भुज ही वर देंगे, तो लूँगा, अन्यथा कोई स्पृहा नहीं है। भगवान् राजा की इस अविचल निष्ठा से प्रसन्न हो गये और उन्होंने चतुर्भुज स्वरूप से दर्शन देकर राजा की समाधि खुलवाकर वर माँगने को कहा। इस प्रसंग में राजा ने शंख-चक्र-गदाधर-स्वरूप से सर्वदा सन्निहित रहने और नित्य उसकी सेवा स्वीकार करने की प्रार्थना की। जिसे भगवान् ने मानकर राजा की रक्षा के लिये अपने असह्यतेज सुदर्शनचक्र के उपस्थित हो जाने का भी वर दिया। राजा ने घर जाकर एक उत्तम मन्दिर बनवाया और उसमें पूर्वोक्त देवशर्मा के वंश की उस वृद्धा स्त्री से श्रीद्वारकाधीश प्रभु का स्वरूप प्राप्त कर विराजमान किया और राजसी ठाट-बाट से सेवा की। उस समय से श्रीद्वारकाधीश राजा अम्बरीष के सेव्य ठाकुर के रूप से प्रसिद्ध हुए। उक्त वार्ता में† राजा अम्बरीष के बाद प्रभु की

* भाग० तृ० २१, ३६।

† तृ० उल्लास से सप्तम उल्लास तक।

सेवा किस-किसने की, इसका वर्णन किया गया है। जो प्रागैतिहासिक है। इसका अंतिम सारांश यह है कि महाराजा परीक्षित के बाद राजा जनमेजय के समय सौर शर्मा नामक एक ब्राह्मण श्रीद्वारकाधीश के स्वरूप को पधराकर अर्बुदाचल--आबू—पर चला गया और उसने वहाँ बहुत समय तक सेवा की।

उपर्युक्त पौराणिक उद्धरणों में जहाँ कहीं भी चतुर्भुज स्वरूप का वर्णन आया है, वहाँ प्रायः शंख, चक्र और गदा का ही उल्लेख है, जो नीचे के वामहस्त से प्रारंभ किया गया है। इस हिसाब से नीचे के वामहस्त में शंख, ऊपर के वाम हस्त में चक्र और उसके बाद ऊपर के दक्षिण हस्त में गदा की स्थिति आती है। पद्म का अधिष्ठान चतुर्थ नीचे का दक्षिण हस्त खाली ही है, जो वरद मुद्रा प्रदर्शित करता है। क्योंकि वरदान के प्रसंग में नीचे के दक्षिण हस्त का इस स्थिति में होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। बिलकुल यही स्वरूप श्रीद्वारकाधीश प्रभु का है। इनके स्वरूप में मस्तक के ऊपर लम्बशिखराकार किरीट, मुखमंडल के परितः विसारी तेजोमंडल, अर्द्धोन्मीलित लोचन—जो कृपावृष्टि की वृष्टि में तत्पर और योग के अनुसार अन्तर्मुखी मुद्रा के द्योतक हैं—तथाच लम्बमान वनमाला आदि चिह्न हृदयाकर्षक होने के साथ ही साथ शास्त्रीय आधार से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं—हैं। गदा के ऊपर की ओर पीठिका में विराजमान जो चतुर्भुज स्वरूप परिलक्षित होता है, वह वसुदेव-देवकी के सम्मुख कारावास में प्रकट स्वरूप का और चक्र के ऊपर भाग में इसी प्रकार का द्वितीय स्वरूप सृष्टिकर्ता श्रीलक्ष्मी-नारायण के स्वरूप का बोधक है। निचले दोनो हस्तकमलों के नीचे जो दो-दो मिलकर चार स्वरूप हैं, वे सुनन्दन, नन्द, प्रवल और अर्हण यह चार पार्षद अथवा चारों वेद हैं। इस प्रकार की भावना भी है कि यह चार व्यूह हैं और मध्य में स्थित भगवान् स्वयं पूर्णपुरुषोत्तम हैं *।

'वासुदेवादि-चतुर्विंशति मूर्ति-लक्षण' नामक ग्रन्थ में चतुर्भज स्वरूप के चारों आयुधों के प्रकार-भेद से मूर्ति के अलग २ भेद और उनके नाम बतलाये गये हैं।

"हृषीकेशो गदां चक्रं पद्मं शंख च धारयेत्" के अनुसार यह हृषीकेश नामधारी मूर्ति है। इस स्वरूप के माहात्म्य के विषय में गर्गसंहिता में इस प्रकार का उल्लेख है—

श्रीद्वारकानाथमितिस्वरूपं पश्यन्ति ये भक्तजनाः कलौ युगे।
गच्छन्ति ते विष्णुपदं नृदेव ! योगीश्वराणामपि दुर्लभं तत्॥

(द्वारकाखंड, अ० २१, श्लोक ३३)

यह तो हुई पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर स्वरूपवर्णना। इसके साथ जब हम

* श्रीद्वारकाधीश के स्वरूप और उसकी भावना के लिये देखो प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रा० वार्ता का दशम उल्लास और चित्र।

प्राचीन ऐतिहासिक दृष्टि से मूर्तिकला के विषय में तज्ज्ञ विद्वानों के सिद्धान्त का पर्यालोचन करते हैं, तो कुछ प्रमाण इस प्रकार मिलते हैं—

"मथुरा-कला में ब्राह्मण-धर्म-सम्बन्धी देवताओं की मूर्तियाँ" नामक लेख में वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दुस्थानी एकेडेमी के जनवरी सन् १९३७ के अंक में लिखा है—

"परन्तु विष्णु की सबसे पहली विग्रह मूर्ति मथुरा-कला में कुषाण-काल में पाई जाती है। विष्णु की सबसे पुरानी मूर्ति बोधिसत्व मूर्तियों का रूपान्तर है। मुकुट-आभरणधारी बोधिसत्व-मूर्तियों में दो हाथ होते हैं, उन्हीं को चतुर्भुजी बनाने से विष्णुमूर्ति की कल्पना की गई थी। (चित्र सं० ५) विष्णु के दाहिने हाथ में स्थूल गदा और बाएँ में चक्र है, निचला दाहिना हाथ बोधिसत्व की भाँति अभयमुद्रा में है, और बायाँ हाथ शंख के सदृश कुछ लिए है।"

प्रस्तुत लेख के सिद्धान्त-विषय में जब तक पूर्ण ऐतिहासिक खोज न हो जाय, तब तक कुछ कहना विवाद से खाली नहीं है, फिर भी उक्त उपलब्ध मूर्ति-विषयक पौराणिक प्रमाणों के आधार पर मानना पड़ता है कि—इस प्रकार की मूर्ति-निर्माण की कल्पना नवीन (कुषाण-काल की) नहीं है। यह भावना भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से अनुस्यूत है और प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है, जिसकी अधिक निर्भरता पौराणिक काल पर अवलंबित है।

पहले कहा जा चुका है कि—महाराजा जनमेजय के समय—'सौर शर्मा' नामक एक ब्राह्मण आबू पर्वत पर रहकर श्रीद्वारकाधीश की सेवा करता था। प्रा० वार्ता अष्टम उल्लास में लिखा है कि—उस ब्राह्मण के बाद पर्वत पर रहनेवाले कुछ तपस्वियों ने कुछ समय तक सेवा की, और वहाँ से कुछ वर्षों बाद द्वारकाधीश कन्नौज-निवासी नारायण दर्जी के यहाँ विराजमान हुए, जो परम भक्त और विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय का शिष्य था। अनुमानतः इसका समय सं० १५२५ से ५० के भीतर माना जा सकता है। वार्ता के नवम उल्लास में लिखा है कि—श्रीवल्लभाचार्य के समकालीन और उनके सेवक दामोदरदास संभरवाल ने * इसी नारायण दर्जी के यहाँ से श्रीद्वारकाधीश को प्राप्त किया और बहुत समय तक सेवा की थी।

* दामोदरदास संभरवाल क्षत्री 'कन्नौज' के निवासी एक अच्छे धनी-मानी, प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में इनकी वार्ता है*। यह आगे चलकर जब श्रीवल्लभाचार्य कन्नौज आये, तब उनके सेवक-शिष्य हुए। इनका जन्म सं० १५३० के लगभग माना जाना चाहिये। जिस समय यह आचार्य-चरणों के सेवक हुए, उस समय करौली के किसी चन्द्रवंशी राजा के गाँवों की देख-भाल पर नियत थे और प्रधान कहलाते थे।

* दामोदरदासजी के चरित्र और श्रीद्वारकाधीश की अग्रिम सेवा-प्रकार के लिये देखो—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' प्र० भा० पत्र ६५ (वि० विभाग से प्रकाशित) और प्रस्तुत ग्रंथ का प्रथम तथा द्वितीय भाग।

इस समय से द्वारकाधीश की सेवा का वर्णन ऐतिहासिक रूप में क्रमशः उपलब्ध होता आया है, जिसका विशेष वर्णन कांकरोली के इतिहास में श्रीवल्लभाचार्य के चरित्र से वर्तमान समय तक किया गया है।

उत्सवादि

साम्प्रदायिक मधुर भावनाओं के अनुसार सेवा-प्रणाली की रमणीयता के लिये श्रीद्वारकाधीश के यहाँ सर्वदा मंगलमय दिन माने जाते हैं—और वर्षभर में अधिकांश दिनों में उत्सव होते हैं, जिनमें श्रीप्रभु के बड़े शृंगार होते हैं और खूब भोग लगाया जाता है। इन उत्सवों की नामावली प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय भाग में उपलब्ध होगी।

चैत्र मास में संवत्सर के दिन से 'गनगौर' का उत्सव तीन दिन तक मनाया जाता है। इसमें

लगभग १३४८ ई० (सं० १४०५) में अर्जुनदेव ने करौली नगर को बसाकर कल्यानजी का मंदिर बनवाया था। इसके बाद सं० १५६० से १६२६ तक राज्य करनेवाले गोपालसिंह के पूर्व वंशावली का पता नहीं लगता। अतः कहा नहीं जा सकता कि सं० १५४०-६० के भीतर वहाँ का राजा कौन था। फिर भी संभवतः दामोदरदासजी के समय गोपालसिंहजी के पिता का राज्यकाल हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम भाग में लिखा है कि—दामोदरदासजी को रियासती गाँवों की देख-भाल करते समय हस्तिनापुर में कई पशु-पक्षियों की आकृतिवाला एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ था, जिसका कुछ भी अर्थ उनकी समझ में नहीं आया। कन्नौज आकर उन्होंने इन आकृतियों का तात्पर्य कई विद्वान् साधु-संन्यासियों से पूछा, पर कोई भी संतोषकारक उत्तर न दे सका, और वह ताम्रपत्र दामोदरदासजी के पास ही रक्खा रहा।

इस ताम्रपत्र में गिद्ध, एक स्त्री, गर्दभ, अश्व, एक राक्षस, अग्निमंडल और वेणुनाद करती हुई श्रीकृष्ण की आकृति थी और पास में एक सर्प, एक गोल वृत्त, उसके पास खड़ी हुई स्त्री और दो बालक तथा एक स्थासक (हाथ का पंजा) की आकृति अंकित थी। इस ताम्रपत्र का अर्थ श्रीवल्लभाचार्य ने दामोदरदास को समझाया था। इसके बाद वह उनसे दीक्षा लेकर शिष्य हुए और श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर सेवा करने लगे।

एपिग्राफिका इंडिका वा० ३ के अनुसार परमारवंशी राजाओं की मुहर में गरुड़ और सर्प का चिह्न रहा करता था।

"वि० सं० १३१७ में मंडप दुर्ग से प्रदत्त और मान्धाता गाँव में प्राप्त राजा जयवर्मा द्वि० के ताम्रपत्र पर परमारों की मुहर-स्वरूप उक्त दो चिह्न मौजूद हैं।" (भारत के प्रा० राजवंश प्र० भा० पत्र १६४) ऊपर जो गिद्ध का नाम लिखा गया है, वह संभवतः आकृति-साम्य से गरुड़ ही प्रतीत होता है।

श्रीप्रभु के सेवा-श्रृंगार होते हैं और महाराजश्री की बाग में सवारी होती है, जहाँ नर-नारियों का मेला लगता है। वैशाख कृ० ११ को शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के संस्थापक जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य का प्राकट्योत्सव मनाया जाता है। ज्येष्ठ में पूर्णिमा के दिन स्नान-यात्रा का उत्सव होता है, जिसमें भगवान् का वेद-मंत्रों से अभिषेक होता है। इस समय श्रीविग्रह के दर्शन करने का अच्छा अवसर आता है। आषाढ़ शुक्ल २ को बड़े ठाट-बाट से रथयात्रा और शुक्ल ५ को श्रीप्रभु का पाटोत्सव तथा श्रावण में हिंडोलों का उत्सव होता है। श्रावण कृ० १३ के दिन बहुमूल्य सुवर्ण के हिंडोले में प्रभु विराजमान होते हैं। भाद्रपद में जन्माष्टमी और नन्दमहोत्सव का सबसे बड़ा उत्सव होता है, जिसमें हज़ारों यात्री दर्शनार्थ उपस्थित होते हैं। आश्विन मास में विजया-दशमी और शरद् के उत्सव के बाद कार्त्तिक में दीपावली और अन्नकूट के उत्सव का समारोह देखने लायक़ होता है। दीपावली के प्रथम दिन मन्दिर के चौक में गोशाला की गायें आती हैं और 'कानजगाई' का उत्सव होता है। अन्नकूट के दिन प्रातःकाल श्रीद्वारकाधीश अन्नकूट आरोगने लवाजमा के साथ सुखपाल में नाथद्वारा पधारते हैं, और वहाँ से रात्रि को २-३ बजे वापिस कांकरोली। इस समय की प्रभु की सवारी देखने योग्य होती है। शुक्लपक्ष में प्रबोधिनी का उत्सव होता है, और पौष मास की कृष्ण ९ को श्रीविट्ठलनाथजी प्रभुचरण गुसाईंजी का प्राकट्योत्सव मनाया जाता है। माघ मास में वसन्तपञ्चमी से गुलाल के खेल शुरू हो जाते हैं, जो फाल्गुन की समाप्ति तक रहते हैं। होली और दोलोत्सव का समारोह विशेष दर्शनीय होता है—जिसमें भगवान् दोलारोहण कर खूब गुलाल और रंगों से खेलते हैं।

संक्षेप में उत्सवों का यदि सूक्ष्म पर्यालोचन किया जाय, तो इनमें प्राकृतिक सहयोग के साथ कला का परिदर्शन होता है। इन उत्सवों में ब्रजभाषा का कीर्तन साहित्य-संगीत भी सम्मिलित रहता है, जो विशेषकर अष्टछाप के कवियों की अमर रचना पर अवलम्बित है। वास्तव में इसी सम्प्रदाय ने उस साहित्य को प्रश्रय देकर अब भी जाग्रत् और उपयोगी बना रक्खा है—अन्यथा यह आज हमें पुस्तकों में ही लिखा हुआ उपलब्ध होता।

इन उत्सवों के अतिरिक्त वैभव का निदर्शन स्वरूप 'छप्पनभोग' का मनोरथ भी किया जाता है, जिसमें अतिशय द्रव्य का खर्च कर नाना प्रकार के व्यंजन अधिक परिमाण में बनाकर प्रभु को भोग लगाये जाते हैं और उसका दर्शन कराया जाता है। यह कई वर्षों में आर्थिक सुविधा के अनुसार विशेष समय पर किया जाता है।

सार्वजनिक जीवन में कांकरोली में गनगौर, सावन, दशहरा, दिवाली, होली आदि के उत्सव और मेले होते हैं। व्यास-पूर्णिमा और नागपंचमी के दिन व्यायामशाला तथा सभी

अखाड़ों के दंगलों में शारीरिक व्यायाम-कला का परिदर्शन कराया जाता है, जिसमें प्रायः सभी नागरिक भाग लेते हैं।

मन्दिर को प्राप्त गाँव और ज़मीन

देवस्थान कांकरोली में समय-समय पर आकर महाराणा, राजा, महाराजा और जागीरदार आदिकों ने श्रीप्रभु अथवा अपने गुरु महाराजश्री के लिये जो जमीन, जायदाद और गाँव भेट किये थे, उनका यथास्थान वर्णन किया जा चुका है। पर राजनैतिक परिवर्तन आदि से उनमें प्रायः उथल-पुथल हो गई है। जयपुर रियासत के गाँव, मन्दिर, बाग़ और मकान धार्मिक मतभेद के कारण महाराजा रामसिंहजी के समय कांकरोली के अधिकार से जाते रहे, जिसका उल्लेख पुरुषोत्तमजी महाराज के प्रसंग में किया गया है। सम्प्रति निम्नलिखित राज्यों के द्वारा नीचे लिखे गाँव और जमीन प्राप्त हैं, जिनका हासिल प्रतिवर्ष समय-समय पर राज्य द्वारा मिल जाता है, अथवा स्वयं उसके देहात-कचहरी द्वारा उघाया जाता है—

(१) उदयपुर राज्य की ओर से—१. कांकरोली, २. हवाला, ३. आसोटिया मगरा के साथ, ४. एमडी, ५. लवाना, ६. अमलोई, ७. भूखाडा, ८. मेनिया, ९. पेमाखेडा, १०. फियावडी, ११. बारोल्या का खेडा, १२. फूलपुरा, १३. रानीखेडा, १४. पीथावास, १५. तेजपुरा, १६. सांगट, १७. मांडावाडा, १८. जवरक्या, और १९. रूपकुँवरबाई की सराय तथा २०. भटियानी की सराय।

(२) ठिकाना देवगढ़ की तरफ़ से—१. धौकलसिंह का खेडा। २. दौलतपुरा। (३) ठिकाना सादड़ी की तरफ़ से—१. भूपतपुरा। (४) ठिकाना बनेडा की तरफ़ से—१. कीलपुरा। (५) शाहपुरा की ओर से—१ बांसेडा। (६) ठिकाना बेगूँ की तरफ़ से—१. सादी गाँव और छोटी, २. डोलियाँ। (७) ठिकाना बिजोलिया की तरफ़ से—श्रीपुरा। (८) कोटा राज्य की तरफ़ से—१. गणेशपुरा, २. उगरपुरा।

इसके अतिरिक्त कई ठिकानों की ओर से बहुत कुछ जमीनें भी भेट हैं, जिनको 'डोलियाँ' कहते हैं। इन सबकी सालाना उपज चालीस हज़ार रुपया के क़रीब कूती जाती है, जो देहात-कचहरी द्वारा श्रीकृष्णभंडार में जमा होती है। इसी प्रकार बंबई, अहमदाबाद, सूरत आदि नगरों में बड़े २ मकान और हवेलियाँ हैं, जिनका वार्षिक भाड़ा आता है।

देवस्थान कांकरोली का वार्षिक व्यय लगभग डेढ़ लाख रुपया है, जिसकी पूर्ति उक्त गाँवों की स्थायी आमदनी, महाराजश्री के प्रदेश-भ्रमण द्वारा संगृहीत वैष्णवों की सेवा, तथा स्थानीय और बाहर के मकानों के भाड़े आदि से होती है। वैष्णवों की सेवा का अधिकांश भाग होने के कारण महाराजश्री को ५-६ मास सतत प्रदेश-भ्रमण करना पड़ता है। उदयपुर-

राज्य की ओर से महाराजश्री तथा श्रीकृष्ण-भंडार के नाम से आनेवाली बाहरी चीजों पर महसूल माफ़ है, जिसे 'दान' कहते हैं।

तृतीय पीठ के तिलकायितों ने अपने-अपने समय में प्रदेश-भ्रमण और यात्रा करते हुए वैष्णव-धर्म के प्रचारार्थ स्थान-स्थान पर कई मन्दिरों की स्थापना की थी। इनमें से जिनकी स्थापना का समय और संस्थापक तिलकायित का नाम उपलब्ध हो गया है, वह उन-उनके चरित्रों में परिशिष्ट रूप से दिया गया है। एकत्र परिज्ञानार्थ उन सबकी नामावली यहाँ दी जा रही है—

तृतीय पीठ के अन्तर्गत मन्दिर

१—श्रीद्वारकाधीश प्रभु का स्वरूप निम्नलिखित स्थानों में विराजता है, अतः ये मन्दिर 'श्रीद्वारकाधीश का मन्दिर' इस नाम से प्रख्यात हैं—

१ गोकुल, २ मथुरा, ३ अहमदाबाद *, ४ वीसनगर, ५ महसाना, ६ बड़नगर, ७ पाटन, ८ ऊँझा, ९ सिद्धपुर, १० वसई, ११ मानसा, १२ पिलवाई, १३ चराडा, १४ लागणेज, १५ गोझारिया, १६ विलोदरा, १७ कुकरवाडा, १८ टेटुदन, १९ सरहठो (सरढव), २० बीजापुर, २१ पालनपुर, २२ बायड, २३ बावला, २४ महमदाबाद, २५ माकवा (चित्रसेवा है), २६ घोडासर, २७ हलधरवास, २८ कठलाल, २९ बोरसद, ३० सुनाव, ३१ पेटलाद, ३२ तारापुर, ३३ चोपडा, ३४ खंडवा, ३५ औरंगाबाद, ३६ सांगली, ३७ बंबई (चित्रसेवा), ३८ बड़ौदा, ३९ बाघोडिया, ४० जरोद, ४१ कंजरी, ४२ करखडी, ४३ टंकारिया, ४४ डभोई, ४५ डभोई (दो मन्दिर हैं), ४६ संखेडा, ४७ माकनी, ४८ वासना, ४९ नसवाडी, ५० तिलकवाडा, ५१ जम्बू गाँव, ५२ जैतपुर, ५३ पानवड, ५४ धम्बोला, ५५ अलवर, ५६ बेगम (बेगूँ)।

२—श्रीगोवर्द्धननाथजी का स्वरूप नीचे लिखे स्थानों में विराजता है—१ मथुरा, २ पिलवाई, ३ पेटलाद, ४ भादरण, ६ नार, ७ बहादरपुर।

३—श्रीमदनमोहनजी का स्वरूप भिन्न-भिन्न नाम से निम्नलिखित स्थानों में विराजता है—१ धोलका—मोहनजी नागर, २ आनन्द—मदनमोहनजी, ३ आनन्द-दयालु मदनमोहन-जी—आनन्द में दो मन्दिर हैं, ४ सोजीत्रा—मदनमोहनजी, ५ बसो—मदनमोहनजी।

४—श्रीलाडिलेशजी का स्वरूप निम्नलिखित स्थानों में विराजता है—१ सूरत, २ बुरहानपुर।

५—श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य की बैठक निम्नलिखित स्थानों में हैं, जो संस्थान के अधीन है—१ मानसरोवर, २ तगड़ी, ३ भरूच।

---

* यहाँ श्रीद्वारकेशजी (तृ० पुत्र श्रीबालकृष्णात्मज) का सेव्य, श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप विराजता है, जिसे श्रीव्रजभूषणजी ने प्रतिष्ठित किया था। यह अब विदित हुआ है।

६—अन्य विभिन्न स्वरूप निम्नलिखित स्थानों में विराजमान हैं, जिनके मन्दिर उसी नाम से सम्बोधित होते हैं—१ धन्धूका—श्रीश्यामलालजी, २ नडियाद—श्रीरणछोडजी, ३ हालोल—श्रीछगनमगनलालजी।

७—तिलकायितों की बैठकें निम्नलिखित स्थान में मन्दिर में अथवा पृथक्‌रूप में हैं—१, आनन्द और २, बड़ोदा में—श्रीव्रजभूषणजी महाराज की। ३, पेटलाद और ४, डभोई ५, अहमदाबाद में—श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज की।

इस प्रकार एकत्र ८० मन्दिर तथा बैठकें भारत के भिन्न-भिन्न विशेषकर गुजरात के नगरों अथवा गाँवों में विद्यमान हैं, जिनका प्रबन्ध कांकरोली के तिलकायितश्री की आज्ञानुसार वहाँ के वैष्णवों में से नियत किया हुआ एक अधिकारी करता है, जिसे मुख़्तार-पत्र दिया जाता है। इन सबकी वार्षिक आमदनी और ख़र्च वैष्णवों के द्वारा उतना ही हो जाता है, जिससे मन्दिर का संचालन होता रहे। मथुरास्थित राजाधिराज का मन्दिर एक वैभवशाली मन्दिर है, जिसकी अलग स्थायी सम्पत्ति है और जिसका वर्णन श्रीगिरिधरलालजी महाराज (चतुर्थ) के चरित्र में किया गया है।

कांकरोली की श्रीवृद्धि और भवन

वर्तमान शताब्दी के परार्द्ध में कांकरोली में भवन-निर्माण का विशेष काम हुआ। नि० श्रीबालकृष्णलालजी महाराज के समय और रुचि के अनुसार जहाँ मन्दिर को विशाल और भव्य बनवाया गया, वहाँ उनका निवासस्थल भी नवीन रूप में निर्माण कराया गया है। जहाँ आज से पचास वर्ष पूर्व कांकरोली में कोई सफ़ेद, पक्का और छतवाला मकान नजर नहीं आता था, वहाँ आज प्रायः सर्वांश में मकानात पक्के, ऊँचे और नये रूप में तैयार हो गये हैं, जिससे जनता की सम्पन्न अवस्था का पता चलता है।

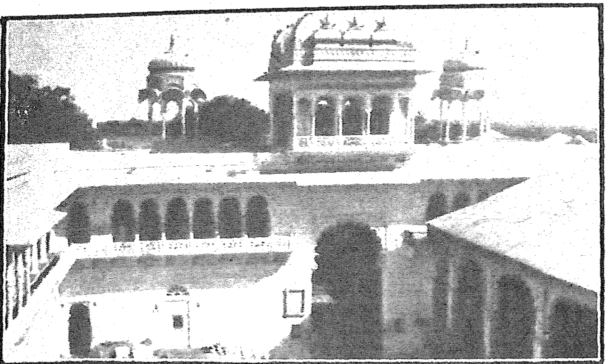
जिस प्रकार जनता ने नवीन मकान बनवाकर नगर की शोभा-वृद्धि की है, उसी प्रकार महाराजश्री के आज्ञानुसार बाहर के कई वैष्णवों ने मन्दिर और आसपास के कई भवन बनवाकर अपने द्रव्य का सदुपयोग किया है। जिससे प्रभु की सेवा-सौकर्य के साथ जनता और यात्रियों के लिये भी आराम हो गया है। वर्तमान शती के इस अर्द्धांश में जिस प्रकार स्थान-निर्माण का कार्य हुआ है, वह इस प्रकार है—

सं० १९५३ में मन्दिर के वामपार्श्व में राजसमुद्र की पाल पर एक धर्मशाला, कच्छ नलिया के निवासी भाटिया सेठ वल्लभदास और लक्ष्मीदास ने बनवाई। इसका निचला भाग कुछ वर्ष पहिले अस्तबल के काम में आने से 'पायगावाली' अथवा 'घोड़ावाली धर्मशाला' के नाम से भी प्रसिद्ध था। सं० १९९५ में इसके नीचे के भाग में डभोईनिवासी शा० दलसुखभाई

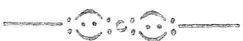
मोतीलाल के स्मरणार्थ कमरे बनवा दिये गये हैं। इसी धर्मशाला के अगले ऊपरी भाग पर—जो अभी तक ख़ाली पड़ा था—सं० १९९३ में अहमदाबाद के सेठ बालाभाई दामोदरदास ने मकान बनवाकर अपनी माता के स्मरणार्थ 'महाकोर भवन' नाम से प्रसिद्ध किया।

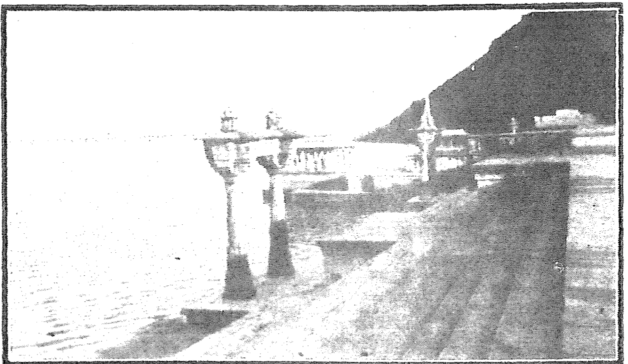
सं० १९५३ में नगर के बाहर वैष्णवों के निवास के लिये धँधूका-निवासी सेठ हरजीवनदास पुरुषोत्तमदास के स्मरणार्थ 'हरजीवन आश्रम' नामक विशाल धर्मशाला बनवाई गई, और सं० १९९४ में उक्त फंड के द्वारा इसका आवश्यक सुधार कराया गया है। सं० १९५८ मार्ग० सुदी ३ के दिन मन्दिर के दक्षिण पार्श्व में 'मनजी केशवजी-धर्मशाला' सेठ केशवलाल ने बनवाई। इन दोनों धर्मशालाओं के बन जाने से मन्दिर के दोनों पार्श्वों की शोभा और उसके समीप ठहरने की सुविधा हो गई है। सं० १९८१ में मन्दिर के गोवर्द्धन चौक में सम्प्रति खर्च-भंडार का अगला हिस्सा श्रीदुर्गाबाई बेटी जवाहरलाल की तरफ़ से कलकत्ता-निवासी मनोहरदास जवाहरलाल ने बनवाया है। इस स्थान पर बहुत वर्षों तक कांकरोली का स्कूल रहा आया। इसी वर्ष मार्ग० शु० १५ के दिन नगर के बाहर गुप्तेश्वर महादेव के समीप एक तिवारी संखेडा-निवासी मास्टर छगनलाल भाई ने अपनी पत्नी के स्मरणार्थ बनवाई। सं० १९८२ भाद्रपद शु० २ के दिन तालाब किनारे का खराश के ऊपर का मकान वीसनगर-निवासी सेठ मथुरादास मगनलाल ने बनवाकर भेट किया। सं० १९९४ में अहमदाबाद-निवासी सेठ नानालाल मनसुखराम ने एक अच्छी धर्मशाला सुखपाल के बँगले के पास बनवाई, जो 'अहमदाबादवाली' धर्मशाला कहलाती है। उक्त सभी धर्मशालाएँ मन्दिर को भेंट की गई हैं, अतः उनका प्रबन्ध और देखरेख उसी के द्वारा होती है।

सं० १९९३-९४ में नगर के बाहर 'श्रीबालकृष्ण विद्या-भवन' नामक भवन स्कूल के लिये बनाया गया है, जिसमें अधिकांश महाराजश्री और अन्य वैष्णव सेठों का द्रव्य लगा है। इसका ऊपरी छत का काम सेठ हरजीवनदास पुरुषोत्तमदास ट्रस्ट फ़ंड के द्वारा होने से इस के नाम के साथ फ़ंड का नाम भी जोड़ दिया गया है। परन्तु जैसा चाहिये, वैसा काम अभी तक नहीं हो पाया है, जिससे वह स्कूल के उपयोग में नहीं आता है। अब पुनः सुधार करा देने पर वह अपने कार्य के योग्य हो सकेगा। इस भवन के निर्माण में लगभग १३ हज़ार रुपया व्यय हो गया है, जिसमें अधिकांश द्रव्य उक्त फ़ंड का ही है। यदि कुछ और द्रव्य लगाकर उसे तैयार नहीं किया जाता है, तो वह एक प्रकार से निरर्थक हो सकता है। यथावस्थित तैयार हो जाने पर यह भी एक दर्शनीय भवन हो जायगा।

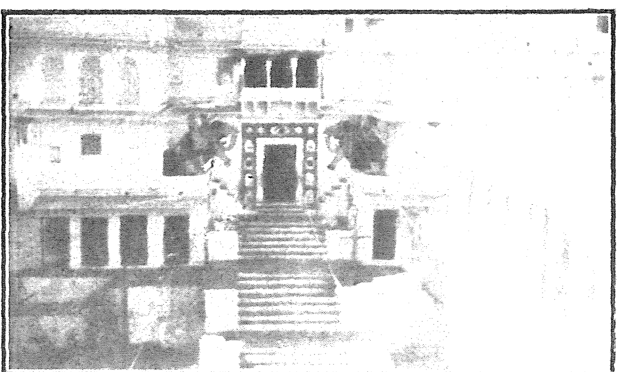


मंदिर का प्रधानद्वार, कांकरोली (भीतरी दृश्य)

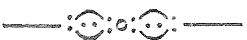




नौचौकी, रायसागर राजनगर—कांकरोली (नि० सं० १७३५)



मंदिर का सिंहद्वार, कांकरोली





विहंगम-विहार, कांकरोली

कांकरोली में श्रीद्वारकाधीश प्रभु के भिन्न-भिन्न ऋतु के अनुसार प्रतिदिन प्रातःकाल से मध्याह्न तक नियमानुसार—मंगला, शृंगार, ग्वाल और राजभोग और मध्याह्नोत्तर—उत्थापन, भोग, संध्या, आरती और शयन, इस प्रकार ८ दर्शन खुलते हैं। इनमें दर्शन-जनित आनन्द-प्राप्ति के साथ ही भक्ति, साहित्य, संगीत एवं व्यावहारिकता-पूर्ण उत्कृष्ट कला का सामञ्जस्य भी दिखलाई पड़ता है। इसी मन्दिर के पास दो और भी मन्दिर हैं, जिन्हें मथुरानाथजी और छोटे द्वारकाधीश का मन्दिर कहते हैं।

दर्शन और दर्शनीय स्थान

राजसमुद्र (रामसागर)—जिसका वर्णन पृथक् किया गया है—के नौचौकी का 'बाँध' कांकरोली से १॥ माइल दूर पश्चिम दिशा में राजनगर के पास है। अब पक्की सड़क और सवारियों के सौकर्य से इसके देखने में अधिक सुभीता हो गया है। संगमरमर पत्थरों से बने हुए इस समग्र बाँध में स्थापत्य कला का अद्भुत दर्शन मिलता है। समस्त छतरियों के विविध दृश्यों की खुदाई इतनी सूक्ष्म, कलापूर्ण और परिष्कृत हुई है कि देखते ही बनता है। वास्तव में यह महाराणा राजसिंहजी की कीर्ति का एक स्तम्भ है। प्रत्येक चौकठे में नौ सीढ़ियाँ एवं नौ चौक होने के कारण इस बाँध को 'नौचौकी' कहते हैं। यहीं 'राजप्रशस्ति' नामक २४ बृहत् शिलाओं पर खुदा हुआ एक २४ सर्गात्मक संस्कृत-काव्य है।

नौचौकी की पश्चिम पहाड़ी पर महाराणा राजसिंहजी का बनवाया हुआ भवन 'प्राचीन महल' के नाम से मशहूर है। उसी की पूर्व पहाड़ी पर 'दयालशाह' नामक 'जैन-मंदिर' है, जिसे इसी नाम के धनवान् राजमंत्री ने सं० १७३२ में बनवाया था। यहाँ एक ओर उत्तुंग तरंगाकुल जलाशय की शोभा मन हर लेती है, तो दूसरी ओर कोसों विस्तृत शस्यश्यामला वसुन्धरा की दिव्यच्छटा स्वर्गीय आनन्द की सृष्टि कर देती है।

राजसमुद्र का पूर्वीय बाँध 'बडीपाल' नाम से प्रसिद्ध है। अब इस पर 'सी-प्लेन ड्रोम' (समुद्री हवाई जहाजों का स्टेशन) बन जाने से इस जलाशय की छटा द्विगुण हो उठी है। प्रायः प्रतिदिन जब विशाल मत्स्याकार वायुयान अपने भैरव शब्दों से आकाश को निनादित करते हुए जल में अवतरित होकर सागर को आन्दोलित करते हैं, तब यहाँ का दृश्य भी "अवशि देखिये देखन जोगू" को चरितार्थ करता है।

इसी पाल के अन्तिम छोर पर एक प्रशस्त 'कमलबुर्ज' छतरी और पास ही 'जलप्रपात' नामक स्थल है, जो जलाशय के लबालब भर जाने पर अपना लीला-लास्य दिखलाता है।

'सुन्दर-निवास', 'विट्ठल-विलास' और 'बड़ा बाग' नामक बाग भी दर्शनीय हैं। पहिले में भाँति-भाँति की वृक्षावली और दूसरे में 'विहंगमविहार' अवलोकनीय हैं।

सुन्दरनिवास बाग के आगे १ मील दूर आसोटिया गाम में श्रीद्वारकाधीश की विशाल

गोशाला है, जहाँ भारत का गोधन, स्वस्थ, पुष्ट और दर्शनीय रूप में विद्यमान होकर नन्दरायजी की गोशाला का स्मरण कराता है। यहीं आगे चलकर मंदिर का वह खँडहर है, जहाँ पहिले श्रीप्रभु मेवाड़ में आकर विराजे थे।

बड़े दरवाजे के पार्श्व में 'गुप्तेश्वर महादेव' नामक एक प्राचीन स्थान है, जहाँ गुफा में भीतर टॉर्च या लाइट ले जाकर शंभु के दर्शन और अधरशिला का अवलोकन करना चाहिये। यह स्थान तालाब बनने और नगरी बसने के पहिले का है।

विद्या-विभाग

'विद्या-विभाग' मंदिर में गोवर्द्धन चौक के उत्तरीय पार्श्वस्थ नवीन भवन में अवस्थित है, जो विशाल भव्य और सुव्यवस्थित एक दर्शनीय संस्था है। साहित्य एवं कला की दृष्टि से भारतीय प्रसिद्ध संस्थाओं में इसकी गणना की जा सकती है। इसके अध्यक्ष स्वयं कांकरोली के वर्तमान महाराजश्री और उपाध्यक्ष उनके छोटे भ्राता हैं, और संचालक इस इतिहास का लेखक है। इस संस्था ने सं० १९८५ में स्थापित होकर थोड़े से समय में ही अपने अन्तर्गत कई संस्थाओं को जन्म दिया है। उनमें से कतिपय विभागों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है, जिनसे यात्री और जनता कांकरोली में मध्याह्न के १२ से ५ बजे तक अपने समय का सदुपयोग कर सकती है।

श्रीद्वारकेश-पुस्तकालय एवं वाचनालय

इस विभाग में कई हजार मुद्रित उत्तमोत्तम पुस्तकें संगृहीत हैं। पुस्तकों का वर्गीकरण आधुनिक ढंग से विषयवार किया है। जिसमें प्रायः सभी विषयों और आवश्यक भाषाओं का सन्निवेश है। वाचनालय में हिन्दी, अँगरेज़ी और गुजराती के प्रायः सभी प्रसिद्ध मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं, जिनसे जनता लाभ उठाती है।

श्रीसरस्वती-भण्डार

इस विभाग में क़रीब ७ हजार प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है। संस्कृत-हिन्दी दोनों भाषाओं में कई उत्कृष्ट और प्राचीनतम ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जो अन्यत्र अप्राप्त हैं। कतिपय ऐसे कवियों के काव्य-ग्रन्थ अप्रकाशित दशा में उपलब्ध होते हैं, जो वास्तव में साहित्य की श्रीवृद्धि करनेवाले हैं। उनके शनैः २ प्रकाशन का आयोजन द्वारकेश-ग्रन्थमाला द्वारा किया जा रहा है, जिसके द्वारा अभी तक १६ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

श्रीद्वारकेश-चित्रशाला

यह विभाग उक्त पुस्तकालय के साथ ही एक दूसरे हॉल में स्थित है। भारतीय चित्र-कला की दृष्टि से यह सराहनीय एवं दर्शनीय है। इसमें हस्तलिखित हजारों चित्र और फ़ोटो-अलबमों का विशाल संग्रह किया गया है, जिसमें सभी आर्ट हैं।

यह विभाग मंदिर के चौक में दक्षिण पार्श्व में अवस्थित है, जिसमें दर्शनीय प्रायः सभी

श्रीद्वारकेश-विश्ववस्तु संग्रहालय

कला-पूर्ण वस्तुओं—प्राचीन विविध मुद्रा, वस्त्र, मूर्ति आदि—का बृहत् संग्रह किया गया है। सम्प्रति इसकी व्यवस्था की जा रही है।

नौचौकी से लौटते हुए नगर के प्रारंभ में दक्षिण पार्श्व में 'व्यायामशाला' मिलेगी,

श्रीद्वारकेश-व्यायाम-शाला

जो महाराजश्री के द्वारा संस्थापित विद्याविभाग की एक अन्तर्गत संस्था है। यहाँ नागरिक बालकों को मानसिक विकास के साथ-साथ व्यायाम की शिक्षा दी जाती है। यहाँ का 'व्यायाम-कौशल' इस प्रकार तैयार किया है, जो बाहर के बड़े-बड़े व्यायाम-प्रेमियों को मुग्ध कर चुका है। बालकों के ज्ञानसंवर्द्धनार्थ इसमें 'ज्ञान-मंदिर' भी स्थापित है। इसी के अन्तर्गत श्रमजीवियों को साक्षर बनाने के लिये एक रात्रि-पाठशाला खोली गई है, जिसमें छोटे-बड़े सभी भाग लेते हैं।

सं० १९९४ में संयोजक-समिति ने उक्त विद्याविभाग का 'दशाब्दी-महोत्सव' बड़े अच्छे ठाट-बाट से मनाया था, जिसमें भारत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों, कवियों और सम्पादकों ने सम्मिलित होकर उसे सफल बनाया था। उक्त संस्था का 'एकादशवर्षीय कार्य-विवरण' प्रकाशित हो गया है, जिससे उसकी कार्यक्षमता पर प्रकाश पड़ता है।

इस मन्दिर की व्यवस्था महाराजश्री के तत्त्वावधान में 'श्रीकृष्ण-भंडार' द्वारा होती है,

स्थानीय प्रबंध, जीविका और शिक्षा

जो एक रूप से ठिकाने की प्रतिनिधि संस्था और समस्त कार्यजात का उत्तरदायी है। ठिकाने के सभी छोटे-बड़े मुहकमे इसी के अन्तर्गत हैं। सेवा, सामग्री, लेन-देन, वैष्णवों का समाधान और आगत-स्वागत सभी इसी के द्वारा स्थापित पृथक्-पृथक् विभागों से किया जाता है। इसकी सब लिखा-पढ़ी श्रीअधिकारीजी 'पारिख द्वारकादासजी पुरुषोत्तमदासजी' इस नाम से परंपरा से होती चली आई है। सं० १९३५ के पहिले, जब नियमानुसार न्यायविभाग की संस्थापना नहीं हुई थी, इसी के द्वारा अपराधियों को आवश्यक सज़ा—आर्थिक दंड रूप—यहीं से दी जाती थी, पर क़लम-बन्दी हो जाने पर सं० १९३६ से दीवानी, फ़ौजदारी आदि के सभी मामलों को तय करने के लिये उदयपुर राज्य द्वारा अदालत—न्यायविभाग की प्रथा क़ायम कर दी गई है।

श्रीकृष्ण-भंडार का समाधान-विभाग एक अच्छा मुहकमा है, जहाँ वैष्णवों से प्रभु के लिये सेवा ली जाती है। इसके द्वारा दर्शनार्थी सभी जनता को बिना मूल्य महाप्रसाद का भोजन दिया जाता है, जो अन्यत्र संप्रदाय के किसी भी मन्दिर में नहीं है। यह प्रथा नित्यलीलास्थ गो० श्रीबालकृष्णलालजी महाराज के द्वारा प्रचलित की गई थी।

शासन-प्रबन्ध के लिये उदयपुर-राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों से यहाँ एक 'ज्युडिशियल कोर्ट' स्थापित है, जो कृष्णभंडार के अन्तर्गत है। मेवाड़-राज्य के 'फर्स्टक्लास पावर' इसे प्राप्त है। दीवानी-फौजदारी के मुक़दमे हाकिम द्वारा फ़ैसल होकर महाराजश्री की सेवा में मंजूरी के लिये पेश किये जाते हैं, जहाँ उनकी फिर से सुनवाई होती है और रियाया के उज्र सुने जाकर यथोचित निर्णय दिया जाता है। यहाँ की अपील उदयपुर में होती है। ऐसे मामलों में, जिनमें खालसा और ठिकाना दोनों का सम्बन्ध रहता है, दोनो स्थानों के हाकिम मिलकर तहक़ीक़ात करते हैं। इस ठिकाने को शासनाधिकार सर्वप्रथम सं० १८६४ में श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज को महाराणा जवानसिंहजी ने एक पत्र में लिखकर प्रदान किये थे। इसके बाद श्रीपद्मावती माजी महाराज के समय में महाराणा सज्जनसिंहजी ने कलमबन्दी की और सं० १९३६ में १० कलमें कांकरोली को प्रदान कीं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया गया है। फिर इन क़ानूनों में यथा-समय संशोधन होते गये, पर महाराणाओं के द्वारा ठिकाने को प्रदत्त अधिकार और गौरव में यथासंभव अनपेक्षित न्यूनता नहीं की गई है।

जनता के जान-माल और मन्दिर की रक्षा के लिये पुलिस और 'महाराजा कांकरोली इनफ़ेंटरी' क़ायम है, जिसमें आवश्यक जवानों की भर्ती है। 'इनफ़ेंटरी' में गोरखा सिपाहियों के आधिक्य से जहाँ कुछ दिखावट आ गई है, वहाँ स्थानीय मनुष्यों की जीविका का एक पहलू कम हो गया है।

कांकरोली के निवासियों के जीविकोपार्जन के दो भाग किये जा सकते हैं—एक मन्दिर और स्थानीय प्रबन्ध-विभाग तथा दूसरा स्वतन्त्र। पहिले के अन्तर्गत मन्दिर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मुहकमों के सेवक-टहलुआ, कर्मचारी और अधिकारीवर्ग, शिक्षक तथा सिपाही और पुलिस के जवान आदि हैं। दूसरे में व्यापारी, कृषक और श्रमजीवियों की गणना की जा सकती है। इन दोनों का पूर्ण सहयोग है। जन-शिक्षा के लिये यदि यह कहा जाय कि यहाँ ४० प्रतिशत साक्षर और शिक्षित व्यक्ति हैं, तो अत्युक्ति न होगी। इसमें अधिकांश वृद्धि गत पचास वर्षों में हुई है और अब शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है।

इस प्रकार कांकरोली में वर्तमान महाराजश्री के समय में बहुत कुछ नवीनता आ गई है।

सार्वजनीन अन्य सुविधाएँ

यद्यपि नगर की सफ़ाई और स्वास्थ्य-रक्षा का प्रबन्ध पुलिस द्वारा होता है, परन्तु अभी तक म्युनिसिपैलिटी की स्थापना न होने से जैसा चाहिये, वैसा उस पर ध्यान नहीं दिया जाता है। महाराजश्री ने जहाँ मन्दिर में एलेक्ट्रिक लगवाकर रोशनी का प्रबन्ध किया है, वहाँ नगर को भी उससे प्रकाश दिया जाता है। इसी एलेक्ट्रिक के कारण नगरवासियों को रेडियो-सिस्टम के द्वारा लाउड स्पीकर से

प्रतिदिन शिक्षा दी जाती है, जिसमें सभी विषयों को समावेश किया गया है। इससे जनता को बड़ा लाभ होता है और वह उससे सर्वविध ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जहाँ तक ध्यान है, मेवाड़ में सर्वप्रथम कांकरोली में ही इस ओर क़दम उठाया गया है।

यद्यपि कांकरोली में तीन-चार प्रसिद्ध वैद्य हैं और वे समय-समय पर जनता की सेवा करते हैं, पर नियमित सर्व उपकरण से संयुक्त एक स्थानीय हॉस्पिटल की अत्यन्त आवश्यकता है। समीपवर्ती राजनगर में उदयपुर राज्य द्वारा स्थापित एक अस्पताल है, जिससे जनता अवश्य लाभ उठाती है, पर दूर होने के कारण जैसा चाहिये, वैसी जन-सेवा वह नहीं कर सकता। कांकरोली में नवलराम शर्मा पालीवाल एक अच्छे प्रसिद्ध निःस्पृह विष-चिकित्सक हैं, जो अपने स्वकीय चिकित्सालय के द्वारा साँपकाटे का इलाज करते हैं। दूर-दूर से हताश व्यक्ति इनके उपचार से जीवित हो गये हैं। इसके लिये एक चिकित्सालय खुलने की आवश्यकता है, जहाँ रोगी को सब प्रकार की सुविधा मिल सके।

कांकरोली में पोस्ट-आफिस महाराजश्रीबालकृष्णलालजी के समय ही स्थापित हो गया था, पर टेलिग्राफ़-आफिस गत वर्ष तक नहीं था, जिससे व्यापारियों के साथ जनता को भी बहुत कुछ असुविधा उठानी पड़ती थी। पर अब वह भी खोल दिया गया है, जिससे एक बड़ी ख़ामी पूरी हो गई है।

इधर गत दो-तीन वर्षों से राजसमुद्र में 'इम्पीरियल एयरवेज सर्विस' का राजसमन्द-स्टेशन खुल गया है, जो करांची और गवालियर के बीच जलीय हवाई जहाजों के ठहरने का काम देता है। भीमकाय एरोप्लेन आकाश में उड़ते हुए आकर जब इस समुद्र के वक्षःस्थल पर विश्राम के लिये उतरते हैं, तब बड़ा ही सुन्दर दृश्य देखने को मिलता है। इसके लिये कंपनी ने कांकरोली के पूर्व में तालाब की पाल पर वर्तमान महाराणा की आज्ञा से अपना कार्यालय प्रतिष्ठित किया है। कुछ दिन पूर्व सुनाई पड़ा था कि यहाँ स्थलीय वायुयानों का भी एक क्लब खोलने का कम्पनी का विचार था। पर वर्तमान यूरोपीय महायुद्ध के कारण वह स्थगित रक्खा गया है। अस्तु। इस प्रकार सीप्लेनों के उतरने से जहाँ राजसमुद्र की शोभा चतुर्गुण हो गई है, वहाँ कांकरोली में आवागमन और व्यापारिक श्रीवृद्धि होने का भी अवसर आ गया है।

नागरिक बालकों और बालिकाओं की शिक्षा के लिये संस्थान की ओर से एक द्वारकेश-स्कूल और एक द्वारकेश-बालिका-विद्यालय है। श्रमजीवियों के लिये व्यायामशाला में एक रात्रिपाठ-शाला भी चलती है। इतना होने पर भी देवस्थान के रूप में एक नियमित संस्कृत-पाठशाला का अभाव अवश्य खटकता है, यद्यपि कुछ विद्यार्थी विद्या-विभाग में संस्कृत का अध्ययन करते है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व कांकरोली आनेवाले यात्रियों के लिये बड़ी कठिनाई थी। चित्तौड़-उदयपुर (यू० सी० आर०) लाइन में सनवाड (सम्प्रति फ़तहनगर) नामक स्टेशन से पैदल मार्ग से लगभग पूरे एक दिन में कांकरोली पहुँच पाते थे। दूसरा मार्ग इसी लाइन में 'मावली' स्टेशन था, जिससे नाथद्वारा होकर यहाँ पहुँचा जाता था, पर अब 'मावली' जंकशन बनाकर उदयपुर-मावली और 'मारवाड़' जंकशन को एक लाइन में मिला दिया गया है। इससे मारवाड़ और गुजरात के यात्रियों को समय और पैसे की बचत हो गई है। इस लाइन के खुल जाने से नाथद्वारा और कांकरोली ये दो स्टेशन अलग-अलग क़ायम हो गये हैं, जिससे यात्रियों को अब कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

कांकरोली के आस-पास मेवाड़ के दर्शनीय स्थानों की यात्रा के लिये मोटर-सर्विस चालू है, जिसके द्वारा नाथद्वारा, एकलिंगजी, उदयपुर तथा चारभुजाजी, ऋषभदेवजी आदि की यात्रा सौकर्य से की जा सकती है। अभी तक कच्ची सड़कों के द्वारा इन स्थानों में यातायात होता था, पर अब पक्की सड़कें तैयार हो रही हैं, जिससे प्रायः दो वर्ष में सभी गन्तव्य स्थलों की यात्रा सौकर्य से की जा सकेगी।

नागरिक जनता के लिये 'कांकरोली-क्लब' नामक संस्था ६-७ वर्ष से स्थापित है, जिसमें हॉकी, वालीबाल, फ़ुटबाल, टेनिस आदि खेल होते हैं, और प्रतिवर्ष दिसम्बर में द्वारकेश-टूर्नामेन्ट किया जाता है, जिसमें मेवाड़ की सभी खिलाड़ी टीमें अपना-अपना क्रीड़ा कौशल दिखलाती हैं।

इस प्रकार समय की अनुकूलता से कांकरोली में प्रायः अब सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं, जिनसे उसकी श्रीवृद्धि होने की पूर्ण संभावना है। समयानुसार जिन कार्यों की आवश्यकता प्रतीत होती है, वह पूरी हो रही है, जिसकी ओर वर्तमान महाराजश्री और महाराणा इन दोनों का पूरा-पूरा ध्यान है। आशा है, कांकरोली इससे अधिक उन्नत होगी और देवस्थानों में अपना भी विशेष महत्त्व सदा की भाँति स्थापित करेगी।

वर्तमान महाराणा

श्रीमहाराणा सर श्रीभूपालसिंहजी जी० सी० एस० आई, के० सी० आई० ई० का जन्म संवत् १९४० फाल्गुन कृष्ण ११ को हुआ। प्रोफ़ेसर मोतीलाल भट्टाचार्य एम्० ए० की अध्यक्षता में इन्होंने अँगरेज़ी का अध्ययन किया। संवत् १९५७ में इनको रीढ़ की बीमारी हुई, जिसके असर के कारण चलना-फिरना भी बन्द हो गया। कई डॉक्टरों और वैद्यों की चिकित्सा करवाई, परन्तु फिर भी एक पैर कमज़ोर रह गया।

संवत् १९७८ श्रावण कृष्ण ८ को महाराणा फ़तहसिंहजी ने अपने बहुत-से शासन के अधिकार इन्हें दिये। महाराणा श्रीभूपालसिंहजी की शासन-सुव्यवस्था से संवत् १९९९ में कपास और

श्री० द्वा० प्रा० वार्ता



श्रीमन्महाराणा मेदपाटेश्वर श्री १०८ श्री
भूपालसिंहजी बहादुर K. C. S. I., G. C. I. E.
उदयपुर, (मेवाड़)।

रघुनाथ पालीवाल एण्ड कं०, कांकरोली (मेवाड़)।

गुलाबपुरे में कपास निकालने और रुई की गाँठें बाँधने के नए कारख़ाने खोले गये और उदयपुर में म्युनिसिपैलिटी की स्थापना की गई और सारे शहर में बिजली की रोशनी पहुँचाने का आयोजन किया गया। हाईस्कूल की पढ़ाई के पीछे विद्यार्थियों को आगे पढ़ने के लिये बाहर जाना पड़ता था, इसलिये उदयपुर में इन्टरमीजियेट कालेज और राजपूतों के लड़कों की शिक्षा के लिये बोर्डिंग-सहित भूपाल-नोबल्स स्कूल खोला गया, जिसमें वे राजपूत लड़के पढ़ते हैं; जो मेयो कालेज का ख़र्चा नहीं उठा सकते। क़र्ज़दार जागीरदारों की जागीरों के लिये 'कोर्ट आफ़ वार्ड्स' (शिशु-हितकारिणी सभा) का अलग महकमा स्थापित किया गया।

संवत् १९८७ ज्येष्ठ कृष्ण १२ को महाराणाश्री भोपालसिंह का राज्याभिषेक हुआ और ज्येष्ठ शुक्ल ६ को राज्याभिषेकोत्सव हुआ। राजपूताने के एजेन्ट गवर्नर जनरल मिस्टर एल० डबल्यू० रेनाल्ड्स ने महाराणा के राज्याभिषेक का अँगरेज़ी सरकार का खरीता पढ़ा और फिर एक भाषण दिया। राज्याभिषेक के उत्सव के उपलक्ष में किसानों को बहुत सी छूट दी गई और उनकी सुविधा के लिये प्रबन्ध किया गया। प्रजा को बेगार का कष्ट उठाना पड़ता था, अतः बेगार की प्रथा बन्द कर दी।

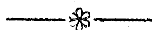
संवत् १९८७ पौष शुक्ल १२ को पंचम जार्ज ने जी० सी० एस० आई० की उपाधि प्रदान की। महाराणा ने जब से राज्य-कार्य सँभाला है, तब से मेवाड़ का बहुत कुछ सुधार और ग़रीबों के बहुत से कष्ट दूर हो गये हैं। कई प्रकार के नये महकमे स्थापित हुए हैं, और यातायात तथा व्यापार की बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं, जिससे मेवाड़ और उसकी प्रजा की बहुत कुछ उन्नति होने लगी है। *

महाराणा कई बार कांकरोली पधारे हैं और उन्होंने महाराजश्री से वैष्णवधर्म की दीक्षा लेकर गुरुघर को सम्मान प्रदान किया है। वर्तमान महाराजश्री और महाराणा का अच्छा घनिष्ठ व्यवहार है। महाराणा की सहानुभूति, प्रजावत्सलता, परोपकार-वृत्ति, उदारता, सहृदयता, शुद्धवृत्ति और गुणग्राहकता आदि प्रसिद्ध हैं, जिससे कांकरोली और मेवाड़ को बहुत कुछ आशाएँ हैं। प्रभु से उनके दीर्घजीवी होने की प्रार्थना कर हम इस लेख से विराम लेते हैं।



* उदयपुर-राज्य के इतिहास के आधार पर।

कांकरोली का इतिहास



प्रथम प्रकरण

श्रीवल्लभाचार्य के पूर्वपुरुष



निवासस्थल—मङ्गलमय, रसस्वरूप, भगवान्, आनन्दकन्द श्रीकृष्ण की लीलाभूमि भारतवर्ष की दक्षिण दिशा में पुण्यतोया कृष्णा नदी के दक्षिण भाग का नाम तैलंग देश है। इसका प्राचीन नाम त्रिलिंग और आन्ध्र देश भी है। इस देश में कालेश्वर, श्रीशैल और भीमेश्वर-नामक तीन पर्वतों पर तीन शिवलिंगों की स्थापना होने के कारण इसका नाम त्रिलिंग अथवा त्रिकलिंग पड़ा। "त्रिकलिंग का अपभ्रंश त्रिलिंग है, अथवा हिंदी-शब्द तैलंग का बनावटी संस्कृत नाम त्रिलिंग है", ऐसा भी किसी-किसी का कथन है।

इस देश का विस्तार श्रीशैल से चोलराज्य के मध्य तक था। इसकी भाषा तैलंगी, आन्ध्र अथवा तेलगु कहलाती है। सम्प्रति उड़ीसा के दक्षिण भाग से लेकर मद्रास से और आगे तक का समुद्र-तटस्थ प्रदेश तैलंगण, तैलंग या तिलगाना कहलाता है।

इस प्रांत में कलिकिल्बिषों के प्रक्षालनार्थ विजय-नाद करती हुई पुण्यसलिला महानदी कृष्णा 'व्योमस्तम्भ-'नामक पर्वत की उपत्यका तथा समस्थल में विहार करती हुई अपनी लास्य गति से चलकर अन्त में सरित्पति समुद्र के विशाल अंक में जाकर अन्तर्हित हो जाती है।

इसी कृष्णा नदी के दक्षिण पार्श्व में 'कांकरवाड' नामक एक ग्राम है। प्रथम यह ग्राम अग्रहार के रूप में था, जहाँ श्रौतस्मार्त-कर्मानुष्ठानशील विद्वान् ब्राह्मणों की एक जाति निवास करती थी। यह जाति परमसंतोषी, यज्ञयागादि-कर्मपरायण रहकर सात्त्विक वृत्ति से ही अपना जीवन-निर्वाह कर पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिये सचेष्ट

रहती थी । यहाँ प्रातः-सायं उच्चारित वेद्ध्वनि को सुनकर एवं गगनोद्गत धूम-राशि का पर्यवलोकन कर कलिकाल दूरतः ही पलायन कर जाता था * ।

वंश—इसी ब्राह्मण-समुदाय में एक ऐसा परिवार था, जो वेलनाट अथवा वेल्ल-नाडु नाम से संबोधित होता था, यह विशाल परिवार परम्परा से वैष्णवधर्म का अनुयायी, यजुर्वेदान्तर्गत तैत्तिरीयशाखाध्यायी, आपस्तम्भ त्रिप्रवरान्वित भारद्वाज-गोत्री था, जिसकी कुलदेवी 'रेणुका' और परात्पर भगवान् रसरूप श्रीकृष्ण ही आराध्य इष्टदेव थे । अमृतवृत्ति से निर्वाह कर नानाविध यज्ञयागादि द्वारा स्वकीय एवं देश का श्रेयःसाधन करते हुए अध्ययन-अध्यापनादि करना ही इस समुदाय का मुख्य कर्तव्य था । इसी पवित्र देवोपम समाज में जगद्गुरु वैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्य का प्राकट्य हुआ, जिनके कर्तव्यशील आचार्यत्व तथा तदनुरूप आचरण से भारतवर्ष परम पवित्र होकर कृतकृत्य हो गया ।

भारत के प्राचीन महापुरुषों के जीवन-चरित्र की पूर्णरूपेण उपलब्धि न होने पर भी श्रीवल्लभाचार्य के पूर्वज जिन महानुभावों का यत्किंचित् परिचय उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है—

१— श्रीयज्ञनारायण भट्ट

श्रीवल्लभाचार्य के वंश के मूलपुरुष 'गोविन्दाचार्य'-नामक एक महान् विद्वान् थे, जिनके पुत्र का नाम 'वल्लभदीक्षित' और पौत्र का 'यज्ञनारायण' था ।

योग्य वय में यज्ञनारायणभट्ट का उपनयन-संस्कार हुआ, पिता ने ब्रह्मचर्य-आश्रम में रखकर गुरुकुल में इनका अध्ययन कराया । यज्ञनारायण ने वेद, वेदान्त तथा अनेक शास्त्रों का यथावत् परिशीलन कर अच्छा पाण्डित्य अधिगत किया ।

अवस्था होने पर देवपुर-निवासी, आत्रेयगोत्री, सुधर्मा-नामक सजातीय विद्वान् ब्राह्मण की 'नर्मदा'नाम्नी कन्या से यज्ञनारायणभट्ट का विवाह हुआ । इन्होंने

---

* नानाशास्त्रार्थ-विज्ञैर्मखविधि-निपुणैर्भूमिदेवैरुपेता,
तीर्थैरालोकमात्रादपहृतदुरितैः सर्वतो या समेता ।
इभ्यैः, सभ्यैरनेकैर्धनजित-धनदैर्मण्डिता दानदक्षैः
पुण्या गुण्यातिधन्या जगति विजयते दक्षिणे दक्षिणा दिक् ॥
(वंशावली)

अग्निहोत्र का नियम लेकर गार्हस्थ्य धर्म के यथावत् परिपालन, यज्ञयागादि कर्म तथा अतिथि-सत्कार में अच्छी ख्याति प्राप्त की।

एकदिन अतिथिरूप से आये हुए द्रविडदेशीय 'विष्णुमुनि'-नामक एक परम भक्त, विरक्त महात्मा से परिचय होने पर उनके आदेश तथा दीक्षा से यज्ञनारायणभट्ट ने श्रीगोपाल-मंत्र की दीक्षा ली, जो विष्णुस्वामी, बिल्वमंगल आदि आचार्यों के द्वारा संप्रदाय-पुरस्सर थी। 'विष्णुमुनि' के आदेश से यह श्रीमदनमोहनजी के स्वरूप का नित्यप्रति अर्चन करने लगे। वैदिक यज्ञानुष्ठान में अतिशय श्रद्धा होने के कारण इन्होंने अन्य यागादि समाप्त कर एकदिन सोमयज्ञ का प्रारंभ किया।

सोमयज्ञ की पूर्णाहुति हो जाने पर मदनमोहनजी ने इनसे वर माँगने के लिये कहा; पर भक्तों को भक्ति के अतिरिक्त और क्या चाहिये? इन्होंने जब कोई वर नहीं माँगा, तब अंत में भगवान् ने प्रसन्न होकर इनके वंश में शत सोमयज्ञों की पूर्ति हो जाने पर पुत्र-रूप में प्राकट्य लेने की अपनी इच्छा अभिव्यक्त की।

यज्ञनारायणभट्ट ने अपने जीवन-काल में ३२ सोमयज्ञ कर असंख्य ब्राह्मणों को भोजन तथा दक्षिणा से संतुष्ट किया, और अपना अधिकांश द्रव्य धर्माचरण एवं तीर्थ-पर्यटन में लगाकर अमर कीर्ति का संपादन किया। इनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'गंगाधरभट्ट' रखा गया। अपने जीवन का ध्येय पूरा कर यह महापुरुष अन्त में यज्ञात्मक भगवान् विष्णु में लीन होकर लौकिक दृष्टि से तिरोहित हो गये।

(यज्ञनारायणभट्ट का समय अनुमानतः पंद्रहवीं शताब्द का प्रथमार्द्ध माना जा सकता है।)

२—श्रीगंगाधरभट्ट सोमयाजी

गंगाधरभट्ट का यथासमय यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ, इन्होंने अपने पिता यज्ञनारायणभट्ट के समीप ही वेदादि शास्त्रों का पठन कर योग्य अवस्था होते तक अच्छी विद्वत्ता समधिगत कर ली थी। योग्य वय हो जाने पर तिरुम्मलभट्ट* की कन्या काञ्चीदेवी के साथ इनका विवाह हुआ।

---

* तिरुम्मल उपनाम त्रिमल्लदीक्षित के विषय में इस प्रकार परिचय मिलता है:—

१—"आपस्तम्बस्यारवेल्लोपनाम्नो धाम्नो भासां कोणपल्लीभवस्य।
तैलंगस्य प्रीतिभाजो गिरीशे काशीवासं कुर्वतो भूरि कीर्तेः॥१॥

भट्टजी ने सर्वशास्त्रों के अध्यापन द्वारा अनेक अच्छे-अच्छे सर्वशास्त्र-विशारद विद्वान् तैयार किए, जिनके कारण इनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। इनका रचा हुआ मीमांसा-शास्त्र का एक ग्रन्थ 'मीमांसा-रहस्य'-नामक ज्ञात हुआ है।

अपने पिता के समान इन्होंने भी अपने जीवन में २८ सोमयज्ञ कर 'सोमयाजी'-नामक उपाधि प्राप्त की। तीर्थयात्रा, शास्त्रचर्चा तथा यागादि का अनुष्ठान करना, यही इनका मुख्य कर्तव्य था। इनके पुत्र का नाम 'गणपतिभट्ट' था।

ऐसा कथानक प्रचलित है कि—एक बार इनके नाम पर कुछ लोगों के संशय प्रकट करने पर इन्होंने कुछ चमत्कार बतलाया, जिससे लोगों को इनके स्वरूप में साक्षात् गंगाधर भगवान् शंकर के दर्शन हुए थे।

तीनों आश्रमों का यथाविधि परिपालन कर अन्त में इन्होंने विद्वत्संन्यास लिया, जिससे यह जनता में ब्रह्मर्षि-रूप से प्रख्यात हुए।

(इनका समय अनुमानतः पन्द्रहवीं शताब्दि के प्रथमार्द्ध और द्वितीयार्द्ध का मध्य भाग माना जा सकता है।)

३—श्रीगणपतिभट्ट सोमयाजी

गणपतिभट्ट ने अपने पितृचरण गंगाधरभट्ट सोमयाजी द्वारा उपनीत होकर वेदादि के गंभीर अध्ययन से कर्मकांड में उत्तम दक्षता प्राप्त की।

राज्ञां मान्यस्यात्र सिंगणभट्टस्यासीत्पुत्रो वल्लभो वेदविद्यः।
तस्यासीरन् सूनवोऽमी त्रिमल्ली, रामो, गोपश्चेति नाम्ना त्रयोऽपि ॥२॥
तेषु त्रिमल्लभट्टेन नाम्ना योगतरंगिणी।
चिकित्सा लिख्यते भूरि ग्रन्थेभ्यः स्वपरार्थिना" ॥३॥ (योगतरंगिणी)

२—"तस्यात्मजः फणिपतिर्वरपाणिनीये, मीमांसकेपि च गुरुः श्रुतिषु स्वयंभूः।
स द्वादशाहचयनान्वित वाजपेय-शोभाधरो भुवि 'तिरुम्मल'दीक्षितोऽभूत् ॥१॥
नाम्ना 'तिरुम्मल' इति प्रथितः पृथिव्यां, तस्यात्मजो भवदनेकगुणौघसिन्धुः।
ज्ञात-श्रुतिस्मृतिपुराणकथा प्रबन्धो यज्ञेषु विभ्रमतिरञ्जदत्वहारी" ॥२॥ (वंशावली)

इससे विदित होता है कि—तिरुम्मलभट्ट के पिता का नाम वल्लभ और पितामह का सिंगण्ण भट्ट था। यह कोणपल्ली-नामक ग्राम के निवासी थे।

'वल्लभ-चरित्र' में इन्हें गोणीपुर-निवासी और वत्सगोत्री लिखा गया है, जो ठीक नहीं है। तिरुम्मलदीक्षित के वंशज बीकानेर में विद्यमान हैं, जो अत्रिगोत्री गोस्वामिभट्ट कहलाते हैं। उक्त तीनों ग्रन्थों का पता और परिचय मेरे मित्र गो॰ जागेश्वरजी द्वारा मिला है। प्रथम ग्रन्थ मुद्रित और शेष हस्तलिखित है।

युवावस्था में स्वग्राम-निवासी वसिष्ठगोत्री पंडित 'केशवभट्ट' की 'अम्बिका' नाम्नी कन्या से विवाह कर इन्होंने गार्हस्थ्यधर्म का स्वीकार और यथासमय ३० सोमयज्ञों का अनुष्ठान किया। समस्तशास्त्रज्ञ अपने अनेक शिष्यों को लेकर इन्होंने दक्षिणदेश का भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर विद्वत्-समाज के साथ शास्त्रार्थ कर ख्याति प्राप्त की।

इस समय दक्षिणदेश में तन्त्रमार्ग का अत्यधिक प्राबल्य हो रहा था, और वैदिक धर्मानुष्ठान का प्रचार मंद पड़ रहा था। अतः इन्होंने तन्मतानुयायी विद्वानों के साथ बहुत समय तक शास्त्रार्थ किया, और अन्त में उनका पराजय कर एक विजयस्तम्भ स्थापित किया था। इनके पुत्र का नाम 'वल्लभभट्ट' था।

गणपतिभट्ट के विषय में भी इनके पिता के समान चमत्कार की बात प्रसिद्ध है। कहते हैं, लोगों को गणपति-रूप में दर्शन देकर इन्होंने अपना नाम अन्वर्थ किया था। इनका शरीर भी गणेशजी के समान ही स्थूल और तुन्दिल था।

गणपतिभट्ट ने कई ग्रन्थ बनाये, जिनमें से 'सर्वतन्त्र-निग्रह'-नामक एक ग्रन्थ मिलता है *।

अनुमानतः १५ वीं शताब्दि के अंतिम चरण में इन्होंने अपने जीवन का कर्तव्य पूरा कर ब्रह्मसायुज्य प्राप्त किया।

४— श्रीवल्लभभट्ट (बालंभट्ट)

वल्लभभट्ट का दूसरा नाम बालंभट्ट भी था, अधिकांश यह इसी नाम से प्रसिद्ध थे। यज्ञोपवीत हो जाने पर इन्होंने अध्ययन कर उत्तम वैदुष्य अधिगत किया। चारों वेद और षट् शास्त्रों पर व्याख्याएँ करने के कारण आगे चलकर इनका नाम 'दशग्रन्थी' भी पड़ गया था।

धर्मपुर-निवासी बह्वृच् मौद्गल्यगोत्री 'काशीनाथभट्ट' की 'पूर्णा' नाम्नी कन्या से विवाह कर इन्होंने दर्शादि सोमान्त सभी यज्ञों का अनुष्ठान किया था।

* जिसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है :—

वेदान् सर्वमतान् मते तु विमतान्यङ्गीकरोतीह किम् ?
सोऽप्यन्यद् व्यवहार-साधकतया मानान्तरं चाश्रयेत्।
आद्ये मूल-विरोधनामितरतो बाधाजुषां दुर्बला—
गीरस्मादनुकूलतैव सुगतिस्त्यागे न मानं पुनः॥ (व० चरित्र)

वल्लभभट्ट ने अनेक शिष्यों को विद्या और धन देकर विद्वान् और सम्पन्न बनाया, जिसके कारण इनकी कीर्ति चारों ओर प्रसृत हो गई थी । अपने जीवन में इन्होंने ५ सोमयज्ञ किये थे । इनके प्रथम पुत्र का नाम लक्ष्मणभट्ट और द्वितीय पुत्र का नाम जनार्दनभट्ट था ।

वल्लभभट्ट ने अनुमातः १६वीं शताब्दि के प्रथम चरण में इहलोक की लीला संवरण कर परमधाम प्राप्त किया ।

५—श्रीलक्ष्मणभट्ट दीक्षित

लक्ष्मणभट्ट का जन्म-काल यद्यपि पूर्णतया निश्चित नहीं है, तथापि सं० १५१० के भीतर वह माना जाना चाहिये । इनके पिता वल्लभभट्ट ने उपनयन-संस्कार कराकर इनके विद्याध्ययन का प्रारंभ कराया । लक्ष्मणभट्ट एक संस्कारी और मेधावी बालक थे, अतः इन्होंने स्वल्प समय में ही वेद, वेदान्त, पुराण तथा शास्त्रों का पूर्ण परिशीलन कर लिया था, जिससे युवावस्था होने तक इनकी गणना विद्वानों में होने लगी ।

युवावस्था में विद्यानगर-निवासी राजपुरोहित 'सुशर्मा' नामक सजातीय विद्वान् की 'इल्लम्मा'-नामक कन्या के साथ बड़ी धूमधाम से इनका विवाह हुआ । विवाह के अनंतर लक्ष्मणभट्ट अपनी सहधर्मिणी के साथ यज्ञयागादि धर्म-कर्म का यथाविधि पालन करने लगे । माता-पिता की सेवा और शास्त्रीय व्यासंग करना ही इन्होंने अपने जीवन का ध्येय बनाया था ।

कुछ समय बाद एक प्रतिपक्षी राजा के आक्रमण से जब 'कांकरवाड' ग्राम एकान्तः उजाड़ हो गया, तो यह अपने पिता के साथ कुटुम्ब को लेकर 'अग्रहार'-नामक ग्राम में जा बसे । कालान्तर में इनके रामकृष्णभट्ट-नामक पुत्र और सरस्वती तथा सुभद्रा-नाम्नी दो कन्याएँ हुईं ।

प्रारंभ से ही भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति की ओर झुकाव होने से यह संसार में अधिक आसक्ति न रखकर महात्माओं का संग अधिक चाहा करते थे ।

एकदिन लक्ष्मणभट्ट यह विचार कर कि—'स्नेहवश माता-पिता संन्यास की आज्ञा नहीं देंगे, अतः यात्रा के मिष से बाहर जाकर एकान्त-वास करना और किसी महापुरुष की सेवा का लाभ उठाना चाहिये'—पिता से तीर्थयात्रा की आज्ञा लेकर घर से निकल गये ।

घर से चलकर यह जनार्दन-क्षेत्र में जाकर 'प्रेमाकर'-नामक एक सिद्ध महात्मा की सेवा करते हुए रहने लगे। अपना पूर्ण परिचय न देने के कारण इन्हें संन्यासाश्रम की दीक्षा तो न मिल सकी, फिर भी साधु-सेवा के अनुराग में मत्त होकर यह वहीं निवास करने लगे। इन्होंने कई वर्ष तक अपनी कोई खबर पिता के पास नहीं भेजी।

इधर अपने पुत्र का कोई समाचार न पाकर वल्लभभट्ट स्वयं भी सकुटुम्ब इनकी खोज के लिये यात्रार्थ चल पड़े, और कुछ समय बाद सौभाग्यतः वहीं जनार्दन-क्षेत्र में जा पहुँचे।

एकदिन यह परिवार महात्मा प्रेमाकर के दर्शनार्थ जब उनके स्थान पर पहुँचा, तब उन्होंने वल्लभभट्ट तथा परिवार के लोगों को प्रणाम करने पर आशीर्वाद दिया। लक्ष्मणभट्ट की पत्नी इल्लम्मागारु के प्रणाम करने पर महात्माजी ने जब उन्हें पुत्रवती होने और सुखी रहने का आशीर्वाद दिया, तो उनकी माता--जो साथ ही यात्रा करने आई थी--ने कहा कि महाराज! इसका पति कुछ समय से यात्रा करने चला गया है, पर अभीतक लौटकर नहीं आया है, अतः आप कृपा कर ऐसा आशीर्वाद दीजिए, जिससे 'पुत्रवती' होने का आपका वचन सफल हो।

महात्माजी ने सान्त्वना देकर कहा कि—शीघ्र ही आप सबके दुःख दूर हो जावेंगे।

संयोग-वश एकदिन प्रेमाकरजी के समक्ष ही पिता-पुत्र का साक्षात्कार हो गया। पिता ने पुत्र को और पुत्र ने पिता को पहिचान लिया। महात्माजी को जब यह वृत्त विदित हुआ, तो उन्होंने लक्ष्मणभट्ट को समझाकर कहा कि—अभी आपके द्वारा भगवान् को कुछ कार्य लेना है। निकट भविष्य में तुम्हारे यहाँ एक ऐसे तेजस्वी बालक का प्रादुर्भाव होगा, जो जगत् को कल्याण-मार्ग को उपदेश प्रदान करेगा। अतः अपने पिता के साथ तुम्हें घर जाना चाहिए।

लक्ष्मणभट्ट भी—'सौ सोमयज्ञों की पूर्ति हो जाने पर स्ववंश में भगवत्प्राकट्य होने' की प्राचीन वार्ता का स्मरण कर—महात्माजी से आज्ञा लेकर अपने ग्राम आ गए, और कुटुम्ब के साथ सुखपूर्वक रहने लगे। उनके पिता वल्लभभट्ट जनार्दन-क्षेत्र में महात्माजी के समीप ही रह गये।

कुछ समय के अनन्तर लक्ष्मणभट्ट के ५ सोमयज्ञ कर लेने पर क्रमशः इनके वंश

में १०० सोमयज्ञों की पूर्ति हो गई। इसके बाद महात्मा प्रेमाकरजी के आदेशानुसार लक्ष्मणभट्ट ने श्रीगोपाल-मंत्र की उपासना का प्रारंभ किया।

कहते हैं, यज्ञ की पूर्ति और गोपालोपासना की समाप्ति हो जाने पर एकदिन स्वप्न में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर लक्ष्मणभट्ट के पुत्र-स्वरूप में प्रकट होने का विचार प्रकट किया, और नवजात शिशु के लिये प्रसादी, ताम्बूल तथा माला प्रदान की। इस स्वप्न का वृत्तान्त लक्ष्मणभट्ट ने जब अपनी पत्नी से कहा, उस दिन से दम्पति किसी मंगलमय दिन की प्रतीक्षा करने लगे *।

एकदिन लक्ष्मणभट्ट के पास कौडिन्यगोत्री 'शंकरदीक्षित'-नामक एक विद्वान् आये और उन्होंने दक्षिण की यात्रा करते हुए उत्तर-भारत में यात्रार्थ चलने का विचार प्रकट किया। इस विचार से लक्ष्मणभट्ट भी सहमत हो गए।

इस वर्ष मकर-संक्रांति-मास में त्रिवेणी-स्नान का विशेष पर्व पड़नेवाला था, अतः यात्रा का लाभ लेने के लिये लक्ष्मणभट्ट के साथ और भी जातीय व्यक्ति तैयार हो गये, जिससे यात्रियों का एक बड़ा समुदाय सज्जित हो गया।

स्त्री, पुत्र, आवश्यक सामान तथा अग्निहोत्र की अग्नि साथ लेकर निश्चित दिन लक्ष्मणभट्ट अपने कई जातीय व्यक्तियों के साथ यात्रार्थ चल दिये। इन्होंने घर, ज़मीन तथा सामान की व्यवस्था का भार अपने भाई जनार्दनभट्ट † को सौंप दिया।

इसप्रकार प्रतिदिन यात्रा और आसपास के तीर्थों में स्नान, दान, ब्राह्मण-

* संप्रदाय क० (पत्र १०)—

"तत्सुत लक्ष्मणभट्ट फिर पंचम मख जब कीन।
जातवेद मुनि तत्त्र फल (४५७३) प्रकट होय वर दीन" ॥ ६ ॥

इसमें जो संवत् दिया है, वह कलि का गत संवत् ४५७३ है, जिससे विक्रम सं० १५२६ का समय निकलता है, जब अंतिम सोमयज्ञ की पूर्ति हुई। संभव है, इस वरदान के कारण ही सं० १५२६ में श्रीवल्लभाचार्य का जन्म मानने का उपक्रम हुआ हो।

इसके आगे काशी-यात्रा के लिये लिखा है—

रामकृष्ण जेठे सुतहिं सौंपि सकल गृह-काम।
रामकृष्ण सेवत रहे वेद वर्ष निज धाम ॥ १२ ॥

यज्ञ-समाप्ति के संवत् १५२६ में वेद (४) वर्ष जोड़ने पर सं० १५३३ में लक्ष्मण भट्टजी ने उत्तर-भारत की यात्रा की, यह सिद्ध होता है, जो अन्य प्रमाण से भी ठीक है। निज वार्ता (प्र० ४०) में चैत्र सं० १५३२ (कार्तिकादि) में काशी जाने का उल्लेख है।

† संप्रदाय क० (पत्र १०) में ज्येष्ठ पुत्र रामकृष्णभट्ट का नाम लिखा है।

भोजनादि करते-कराते हुए कुछ समय बाद लक्ष्मणभट्टजी तथा उनके साथ का परिकर उत्तर-भारत में जा पहुँचा। सं० १५३३ पौषमास की अमावस्या के दिन प्रयाग पहुँचकर इन्होंने सविधि तीर्थकृत्य किया।

एकदिन प्रयाग में 'चम्पारण्य' स्थान के अमात्य कृष्णदास से लक्ष्मणभट्ट का परिचय हुआ, उसने धर्मनिष्ठा देखकर भट्टजी से पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद माँगा। लक्ष्मणभट्ट ने 'तथास्तु' कहकर उसको बिदा किया।

प्रयाग के बाद लक्ष्मणभट्ट यात्रार्थ काशी गये। यहाँ वह अपने सजातीय व्यक्तियों के साथ हनुमान-घाट पर रहने लगे। यहीं उन्होंने सोमयज्ञ के समय संकल्पित ब्रह्मभोज कराया।

काशी में कुछ दिन रहकर लक्ष्मणभट्ट फाल्गुनकृष्ण ६ के दिन चलकर मार्ग में निवास तथा आस-पास के तीर्थ-स्थलों की यात्रा करते हुए फाल्गुन शु० १५ को गया-क्षेत्र पहुँचे। और यहाँ श्राद्ध, पिंडदानादि कृत्य कर सं० १९३४ चैत्रशुक्ल २ को गया से प्रस्थान कर चैत्रशुक्ल ९ के दिन पुनः काशी आये।

लक्ष्मणभट्ट ने ज्योतिष द्वारा जान लिया था कि—उनकी आयु अब बहुत कम रह गई है। 'अपना अन्तिम समय विश्वनाथ-पुरी में ही व्यतीत करना चाहिए' इस विचार से यद्यपि वह भविष्य-जीवन के प्रति निश्चिंत हो गये थे, भविष्य में किसी भगवद्विभूति के पुत्र-रूप में प्रकट होने की विश्रुत कथा के कारण वे सदा चिंतित रहा करते थे। फिर भी काशी में रहकर शास्त्रचर्चा, भगवद्भक्ति तथा साधुपुरुषों के संग को ही भट्टजी ने अपना एकमात्र कर्तव्य बना लिया था*।

काशी में निवास करते हुए एकदिन लक्ष्मणभट्ट तथा अन्य नगर-निवासियों ने सुना कि—यहाँ पर शीघ्र ही यवन-सेना का आक्रमण होनेवाला है, इसके

---

* भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने 'वल्लभीय सर्वस्व' में इनकी संतति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

"इनके तीन पुत्र हुए। बड़े भाई का नाम नारायणभट्ट उपनाम रामकृष्णभट्ट था। यह कुछ दिन पीछे संन्यासी हो गये, तब केशवपुरी नाम पड़ा। मँझले श्रीमहाप्रभुजी श्रीवल्लभाचार्यजी। इनका चरित्र आगे लिखा जायगा। छोटे रामचंद्रभट्ट बड़े भारी विद्वान् थे। वेदान्त, मीमांसा, व्याकरण, काव्य और साहित्य बहुत अच्छा जानते थे। लक्ष्मणभट्टजी के मातुल, जो वसिष्ठगोत्री थे, अपुत्र होने के कारण

परिणाम-स्वरूप होनेवाले विशाल विप्लव से रक्षा करने के लिये नगर-निवासियों तथा यात्रियों को अपना-अपना प्रबन्ध कर लेना चाहिये* ।

लौकिक चिन्ताओं से मुक्त रहकर जहाँ पारलौकिक सुख-प्राप्ति का साधन किया जाता हो, वहाँ किसी प्रकार की अशान्ति की आशंका में होने पर शान्ति के उपासक व्यक्ति कब तक रह सकते हैं ? बस, इसी कारण लक्ष्मणभट्ट काशी से शीघ्र निकल भागने और स्वदेश चले जाने का विचार करने लगे ।

इस समय इनकी पत्नी श्रीइल्लम्मागारू गर्भवती थीं, और उनके गर्भ का सातवाँ महीना चल रहा था+, ऐसी अवस्था और आपत्तिमय वातावरण में विदेश जाना यद्यपि संकट से खाली नहीं था, फिर भी भविष्य की अशान्तिपूर्ण विभीषिका ने भट्टजी को काशी से चले जाने को बाध्य कर ही दिया । वह अपने दक्षिणदेश के यात्रियों के साथ आवश्यक सामान लेकर एक दिन चल पड़े ।

काशी से चलकर यह समुदाय कुछ दिनों बाद जब मध्यप्रदेश के रायपुर-ज़िला के चम्पारण्य-नामक विशाल वन में से होकर गुज़र रहा था, तब सहसा इल्लम्मागारू के उदर में प्रसव-पीड़ा होने लगी । विवश होकर वह एक विशाल शमी-वृक्ष के नीचे गड्ढे में जा बैठीं, जहाँ उनके गर्भ से अष्टममासिक एक बालक उत्पन्न हुआ । समुचित साधनों के अभाव, विपत्तिमय वातावरण एवं प्रवास के क्लेशबाहुल्य का प्रभाव

रामचंद्रभट्ट को अपने घर ले गये । 'कृपा-कुतूहल', 'गोपाललीला महाकाव्य', 'शृंगार-वेदान्त' इत्यादि कई ग्रन्थ इन्होंने बनाये हैं । रामचंद्रभट्ट महाप्रभुजी के विद्याशिष्य थे और अधिकांश अयोध्या में ही रहा करते थे ।"

* इस समय की राजनैतिक अशांति के विषय में आगे 'वल्लभाचार्य-चरित्र' में लिखा जायगा ।

+ संप्रदाय-प्रदीप (पत्र ५१) में इल्लम्मागारू के विषय में इस प्रकार लिखा है—

"एकदा तैलंगदेशाच्छ्रीलक्ष्मणदीक्षितः काश्यां समागतः । तत्र आश्रमक्रमेण गृहाश्रममवाप्य यथोक्तं गार्हस्थ्यं पालयामास । एतस्मिन्नन्तरे तद्धर्मपत्नी कृताधानादिसंस्कारा गर्भं दधार—"

इस प्रतीक के अनुसार मैंने 'संप्रदायप्रदीपालोक' (पत्र ७६) में लिखा था—"कुछ समय के अनन्तर गर्भाधान-संस्कार हो जाने पर उनकी द्वितीय पत्नी श्रीमती इल्लम्मागारू अन्तर्वत्नी हुईं—" ।

शास्त्र के अनुसार एक पत्नी का एक ही बार गर्भाधान-संस्कार होता है । इधर वल्लभाचार्य से पूर्व अन्य संतान होने का भी उल्लेख मिलने से मुझे सं० प्र० के आधार पर लक्ष्मणभट्टजी की द्वितीय पत्नी की कल्पना करनी पड़ी थी और इसीलिये इल्लम्मागारू को द्वितीय पत्नी के रूप में भी लिखना पड़ा था, पर अब कोई अन्य प्रमाण न मिलने के कारण उक्त बात को अप्रामाणिक मानना पड़ता है ।

सद्योजात बालक पर भी पड़ा। माता ने निश्चेष्ट एवं संज्ञाहीन देखकर उसे मृत समझा। और रात्रि के अन्धकार, दैवी भवितव्यता तथा जाने की उतावली ने लक्ष्मण-भट्टजी को भी ऐसा ही परिज्ञान कराया। वह भी विवश होकर बालक को उसी वृक्ष की खोह में पत्तों से ढाँककर पत्नी को साथ लेकर आगे चल दिये*। शारीरिक शिथिलता की परवाह न कर इल्लम्मागारू भी अपने पुत्र-वात्सल्य को हृदय के निभृत कोण में छिपाये हुए परवश होकर साथ हो गईं, और कुछ देर बाद चौड़ानगर में जा पहुँचीं।

जिसदिन इस बालक का जन्म हुआ, उसदिन सं० १५३५ वैशाखकृष्ण ११ की रात्रि का प्रथम याम था।

रात्रि के समय चौड़ानगर में भोजनादि से निवृत्त होकर विश्राम करते समय यात्रियों के कर्णपथ में जब यह समाचार पहुँचा कि--काशी में अब अच्छे प्रकार से शांति स्थापित हो गई है, तब कुछ समुदाय ने दक्षिण की ओर और कुछ ने वापिस काशी ही लौट जाने का निश्चय किया।

लक्ष्मणभट्टजी ने भी कुछ दिनों बाद काशी वापिस लौट जाने का निश्चय किया। प्रातःकाल वे अपनी पत्नी इल्लम्मागारू के साथ गत रात्रि के उस स्थान तक गये, जहाँ प्रसूत बालक को छोड़कर चले आए थे। उसी विशाल वृक्ष के नीचे जाकर उन्होंने जब बालक को ढूँढ़ा, तो उसे जीवित अवस्था में पाकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। दम्पति ने ईश्वर को अनेक धन्यवाद देकर शिशु को उठाकर अपने स्नेहार्द्र वक्षःस्थल से लगाया।

---

* बालक को छोड़कर चले जाने के विषय में सं० कल्प० (पत्र ११) में लिखा है—

"जात सु चंपारण्य मधि भीमरथी-तट पास।
गर्भ गिरयो मुनि मास को, पूरण मुनिथल आस ॥ १६ ॥
प्रगटि अग्नि मुख सों प्रबल दहत आसुरी सृष्ट।
लक्ष्मण द्विज तिय पाय भय, भागे समुझि निकृष्ट ॥ २० ॥
तपत तहाँ श्रीपात, श्रीलक्ष्मण द्विजराज गुरु।
पास गयेहु उठि प्रात, पेख अग्नि उज्वलित वन ॥ २२ ॥

अर्थात् माता-पिता ने उत्पन्न बालक के मुख में अग्नि देखी, अतः वे भय की आशंका से उसे छोड़कर भाग गये। वहीं पर लक्ष्मणभट्टजी के गुरु 'श्रीपात'-नामक एक महात्मा तप करते थे, उन्होंने प्रातःकाल जाकर बालक को उठाया और चौड़ानगर में जाकर खबर दी। उक्त ग्रंथ से यह भी विदित होता है कि भट्टजी ने अपने गुरु के आश्रम में ही बालक के जातकर्मादि संस्कार किये।

नवजात शिशु को लेकर माता-पिता वापिस चौड़ानगर में आए और कुछ-दिन रहकर उन्होंने आवश्यक उपचार करते हुए बालक के शास्त्रोक्त नामकरणादि संस्कार किये। सर्वप्रिय होने के कारण उसका नाम 'श्रीवल्लभ' रक्खा गया।

चम्पारण्य और चौड़ानगर में निवास करते समय कृष्णदास ने लक्ष्मणभट्ट की विशेष सहायता की। यह वही व्यक्ति था, जो पहले प्रयाग में लक्ष्मणभट्ट से मिला था। भट्टजी के आशीर्वाद के अनुरूप कृष्णदास के भी इन्हीं दिनों पुत्र का जन्म हुआ। इस प्रांत को एक सत्ताधारी राज्यकर्मचारी होने के कारण इसने जाते समय लक्ष्मणभट्ट की सुरक्षा का प्रबंध कर इन्हें काशी पहुँचा दिया।

पत्नी के स्वस्थ और प्रवास-कष्टसहिष्णु हो जाने पर लक्ष्मणभट्ट अपने प्रथम निश्चय के अनुसार कुछसमय बाद पुनः काशी आकर रहने लगे।

यहाँ आकर उन्होंने कुछ समय के बाद बालक वल्लभ का उपनयन-संस्कार किया और उसे विद्याध्ययन में लगाया। बालक वल्लभ की बाल्यकाल की चेष्टा, शास्त्रीय प्रतिभा तथा क्रिया-कलापों से लक्ष्मणभट्ट को उसके भगवद्-विभूतिरूप होने का निश्चय हो गया। और, उन्होंने इस बालक के जन्म से अपने जीवन को कृतकृत्य माना।

श्रीवल्लभ की विद्या-समाप्ति के बाद लक्ष्मणभट्ट परिवार-सहित सं० १५४५ मार्ग० कृ० ७ को काशी से यात्रा करने निकले और दक्षिण में जाकर श्रीवेंकटेश्वर बालाजी में सं० १५४६ चैत्र बदी ९ के दिन स्वरूप-मुक्ति को प्राप्त हो गए *।

जब तक श्रीवल्लभाचार्यजी भारत-परिभ्रमण करते रहे, तब तक उनकी माता इल्लम्मागारू अपने भाई जनार्दनभट्ट के पास विद्यानगर में रहीं और बाद में वल्लभाचार्य के गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लेने पर अडेल में जाकर रहने लगीं।

लक्ष्मणभट्टजी के ज्येष्ठ पुत्र 'रामकृष्णभट्टजी' वृद्धावस्था में संन्यासी हो गए और इन्होंने 'केशवपुरी' नाम धारण किया। यह सं० १५६८ में श्रीवल्लभाचार्य के साथ बदरिकाश्रम की यात्रा में गये थे। बदरीनारायण के पुरोहित को प्रदत्त वल्लभाचार्य के वृत्तिपत्र के लेखक रामकृष्णभट्टजी ही हैं। जिससे विदित

* निजवार्ता प्र० १

होता है कि—यह उस समय तक न तो संन्यासी हुए थे और न इनका नाम 'केशवपुरी' ही पड़ा था। वल्लभाचार्य के छोटे भाई रामचन्द्रभट्ट के विषय में लिखा गया है कि—वह अयोध्या में लक्ष्मणभट्ट के मामा के घर रहने लगे थे।

लक्ष्मणभट्ट ने अपने जीवन-काल में यज्ञ-यागादि के कारण कुछ ऋण कर लिया था, जो आगे चलकर वल्लभाचार्य ने चुकाया। इससे यह विदित होता है कि—लक्ष्मणभट्ट के पूर्व-पुरुषों के समय जो सम्पन्न अवस्था थी, वह इनके समय नहीं रही थी।

इस प्रकार अपने ब्राह्मणोचित धर्माचरण से इस भारद्वाज-वंश ने तैलंग-जाति का ही नहीं, प्रत्युत समस्त आर्य-जाति और उसकी आदिभूमि भारतवर्ष का मुख उज्ज्वल करनेवाले एक आदर्श-चरित्र महापुरुष के प्रकटाने का सौभाग्य प्राप्त किया।



द्वितीय प्रकरण

——:o:——

(सं० १५३५ से सं० १६२० तक)

जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य

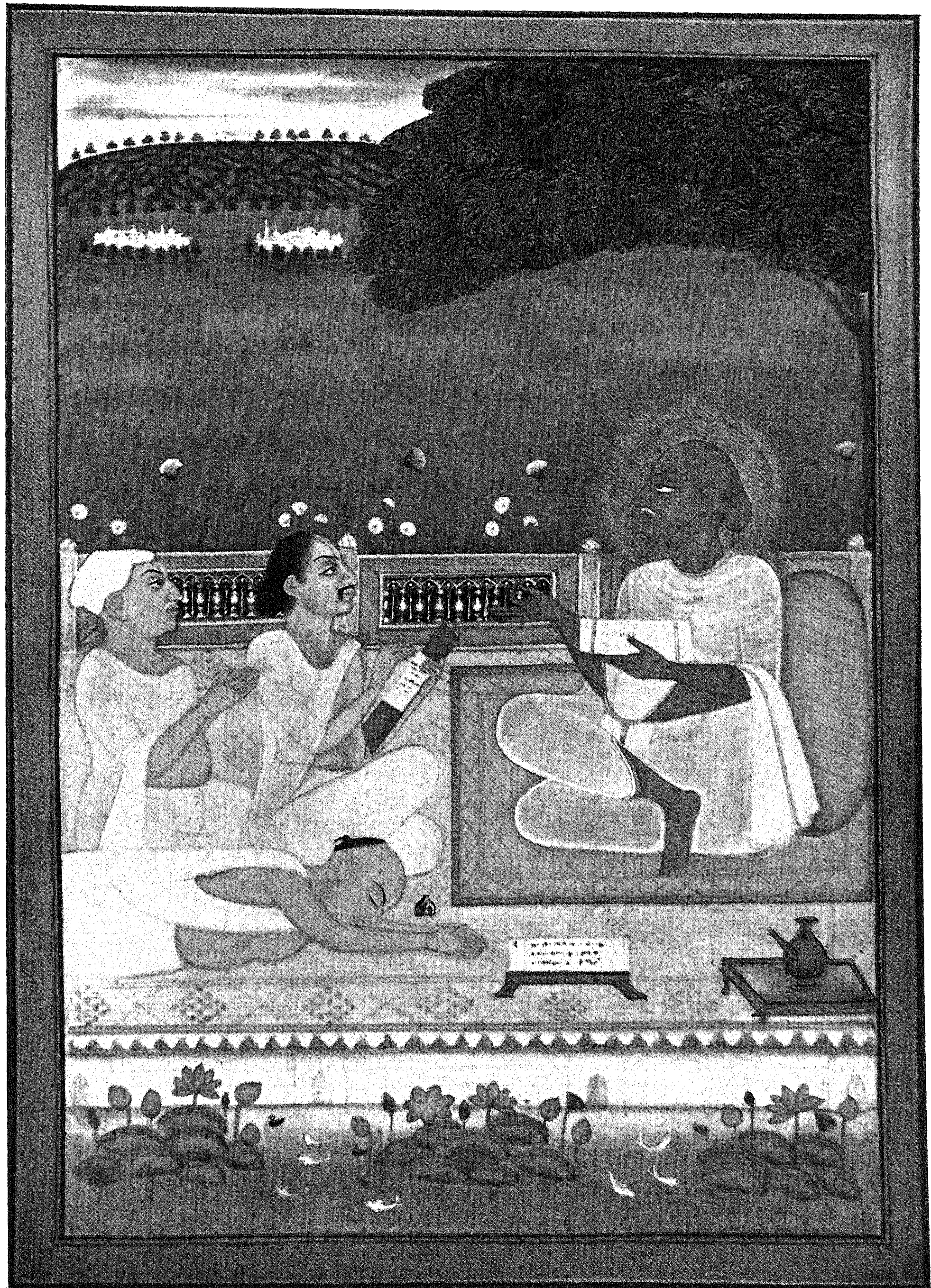
——:o:——

पूर्ववृत्त—श्रीमद्वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मणभट्टजी, जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है—'काँकरवाड़'-नामक ग्राम के निवासी थे, जो तैलंग देश में गोदावरी के किनारे है। यह भारद्वाजगोत्री तैलंग ब्राह्मण थे। तीर्थ-यात्रा और अपने उत्तर-जीवन की सार्थकता के लिये यह दक्षिणदेश से काशी आ बसे थे। सं० १५३४ के अंत में जब लक्ष्मणभट्टजी अपने जातीय बंधुओं के साथ काशी में निवास कर रहे थे, उस समय उनकी धर्मपत्नी श्रीइल्लम्मागारू गर्भवती थीं।

काशी में निवास करते हुए एकदिन लक्ष्मणभट्टजी तथा अन्य नगर-निवासियों ने सुना कि—काशी पर शीघ्र ही यवन-सेना का आक्रमण होनेवाला है, और इसके परिणाम-स्वरूप भावी महान् विप्लव से अपनी-अपनी रक्षा के लिये नगर-निवासियों तथा यात्रियों को प्रबंध कर लेना चाहिए।

भारतवर्ष के तत्कालीन इतिहास के देखने से ज्ञात होता है कि—इससमय दिल्ली में लोदी-वंश का 'बहलोल लोदी'-नामक बादशाह राज्य कर रहा था। सं० १५०७ (सन् १४५०) में उसने दिल्ली फ़तह की और अपनी मृत्यु (सं० १५४५) के पूर्व उसने दिल्ली-राज्य की सीमा हिमालय से लेकर बनारस तक क़ायम कर ली थी। ऐसी अवस्था में यह निर्विवाद माना जा सकता है कि—इसी के समय में काशी पर भी आक्रमण किया गया था।

काशी में उस समय 'दशनामी' साधुओं का विशेष प्राबल्य था, अतः वे सब यवनों से मोर्चा लेने तथा काशी की रक्षा करने के लिये कटिबद्ध हो गये। दोनों पक्षों की घोर लड़ाई होने का समाचार चारों ओर फैल गया।



कृष्णदास मेघन, माधवभट्ट काश्मीरी, दामोदरदास हरसानी

जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी

प्रा० सं० १५३५ वैशाख कृ० ११

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

दिल्ली से प्रतिदिन आगे आनेवाली सेना के समाचारों ने अन्ततोगत्वा नगर-निवासियों को काशी छोड़कर भाग जाने को बाध्य कर दिया। नागरिक मनुष्य अपनी रक्षा के लिये यत्र-तत्र सुरक्षित स्थानों में जाने लगे। लक्ष्मणभट्टजी भी अपने कई सजातीय व्यक्तियों के साथ प्रयाग होते हुए दक्षिण देश की ओर प्रस्थानित हो गये।

प्राकट्य— तात्कालिक राजनैतिक अशांति से उत्पन्न मार्ग की अनेक आपत्तियों का सामना करते हुए लक्ष्मणभट्टजी तथा उनके साथी सं० १५३५ वैशाखकृष्ण ११ के दिन सायंकाल के समय रायपुर (मध्यप्रदेश) जिला के चंपारण्य *-नामक जंगल में से होकर जाने लगे। उपद्रव की आशंका तथा मार्ग के कष्टों के कारण गर्भवती इल्लम्मागारू के उदर में पीड़ा होने लगी। सायंकाल हो जाने के कारण आगे चलकर चौड़ा-नामक नगर में रात्रि को विश्राम करने का पक्का विचार हो गया था, पर परिश्रम के कारण इल्लम्मागारू को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचना भी कठिन हो गया। लक्ष्मणभट्टजी अपनी पत्नी की प्रसव-पीड़ा के कारण एक स्थान पर रुक गये और इनके अन्य साथी आगे चले गये।

प्रसव-पीड़ा के आधिक्य से इल्लम्मागारू एक विशाल वृक्ष के नीचे जा

---

* कई लेखकों ने विना समझे-बूझे इसको विहार-प्रांत का चंपारण्य लिख मारा है। जहाँ श्रीवल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ, वह चंपारण्य मध्यप्रदेश के रायपुर-ज़िला में राजिम-नामक नगर से कुछ दूर पैदल रास्ते पर है। यहाँ श्रीवल्लभाचार्य की बैठक विद्यमान है।

"रायपुर-ज़िला रतनपुर के हैहय-वंशीय राजाओं के राज्य का एक भाग था। रतनपुर के राजाओं ने ३६ क़िलों पर राज्य किया, इसलिये उनका देश 'छत्तीसगढ़' कहलाया। इस वंश के २०वें राजा सूरदेव के समय (लगभग सन् ७५०) से छत्तीसगढ़ दो भागों में बँट गया। इसका छोटा भाई ब्रह्मदेव रायपुर को राजधानी बनाकर दक्षिणीय भाग में राज्य करने लगा। इसके पीछे ६ पुश्त बाद जब रायपुर के राजवंश में कोई नहीं रहा, तब सन् १३६० (सं० १४१७) में रतनपुर के राजा जगन्नाथ-सिंह देव का पुत्र रायपुर का राजा हुआ। जिसके वंशधर महाराष्ट्रों के आने तक स्वतंत्र राज्य करते रहे। सन् १४६० (सं० १५३७) के लगभग राजा भुवनेश्वरसिंह ने रायपुर का क़िला बनवाया" ।—भारत-भ्रमण च० खंड, पत्र १५।

इससे विदित होता है कि उस समय रायपुर में हैहय-वंशीय भुवनेश्वरसिंह राजा वर्तमान था, और इसके समय में ही लक्ष्मणभट्टजी चंपारण्य में आये थे।

बैठीं। यहाँ उनके अष्टम मासिक गर्भ से बालक उत्पन्न हुआ *। अन्धकार में बालक को चेष्टाहीन देखकर उन्हें उसके जीवित होने के कोई लक्षण विदित नहीं हुए।

शिशु को मृतजात समझने के कारण उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह मार्गजनित श्रम और भय के कारण स्वयं ही व्याकुल थीं, इधर असामयिक प्रसव-पीड़ा से और भी शिथिल हो जाने के कारण शीघ्र मुक़ाम पर पहुँचने के लिये वह प्रसूत बालक की कोई विशेष परीक्षा किए बिना ही वहाँ से अपने पति के पास आ गई। शोकाकुल होकर उन्होंने यह समाचार अपने पति को सुनाया।

लक्ष्मणभट्टजी भी इसे दैवइच्छा समझकर विशेष चिंतित नहीं हुए। उन्होंने बालक की देहरक्षा का अन्य कोई साधन न देखकर उसे सूखे हुए पत्तों के ढेर के नीचे रख दिया। दोनो पति-पत्नी इस घटना को भगवदिच्छा जानकर आगे बढ़े और कुछ देर बाद अपने अन्य साथियों से चौड़ानगर में जा मिले। वहाँ जाकर पत्नी के आवश्यक उपचार और भोजनादि से निवृत्त होने पर रात्रि में लक्ष्मणभट्टजी आदि परस्पर वार्तालाप करते हुए आराम करने लगे। रात्रि में नगर से लौटकर आए हुए कुछ व्यक्तियों के द्वारा समागत यात्रियों ने यह समाचार सुना कि—काशी में अब पूर्णतया शांति स्थापित हो गई है और संन्यासियों ने अपने रण-कौशल तथा बल से यवनों को मार भगाया है, तथाच नगर में अब किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका नहीं रही है।

इसके समाचार को सुनकर आगत व्यक्तियों में विचार होने लगा और उनके एक बड़े समुदाय ने पुनः काशी लौट जाने का विचार कर लिया। शेष लोग दक्षिण देश की ओर जाने को तैयार हो गए।

---

* कहीं-कहीं गर्भस्राव और गर्भपात हो जाने की बात लिखी गई है, पर यह प्रामाणिक नहीं है—

"आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः, तत ऊर्द्ध्वं प्रसूतिः स्यात्......"

इस श्लोक के अनुसार इसे प्रसव ही मानना चाहिये।

इसी प्रकार सप्तम मासिक गर्भ से बालक की उत्पत्ति की भी बात है। सप्तम मासिक उत्पन्न बालक अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। अतः मानना पड़ता है कि—पूर्ण अष्टम मासिक गर्भ से इस बालक का जन्म हुआ था।

रात्रि को विश्राम करते समय लक्ष्मणभट्टजी तथा उनकी पत्नी के हृदय में एकप्रकार से विलक्षण आनंद की अनुभूति होने लगी। चारों ओर उल्लासमय वातावरण और मनोमोहक प्राकृतिक दृश्य के परिवर्तन से दम्पति को यह प्रतीत होने लगा कि—गत दिन उत्पन्न हुआ उनका बालक जीवित-अवस्था में विद्यमान है, माता का हृदय शिशु का मुख देखने के लिये लालायित हो उठा।

प्रातःकाल हो जाने पर काशी जानेवाले अपने साथियों के साथ पत्नी-सहित लक्ष्मणभट्टजी गत रात्रि के उस स्थान की खोज करने लगे। विशाल वृक्ष के नीचे उन्हें वह स्थान दीख पड़ा, जहाँ रात्रि को प्रसव हुआ था। इल्लम्मागारू अपने पति और साथियों को कुछ दूर ठहराकर वृक्ष के नीचे पहुँचीं। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि—उसी स्थान पर एक अतिशय सुकुमार, तेजस्वी बालक अपने पैर के अँगूठे को मुँह में रखकर चूस रहा है। वृक्ष के अधस्तन भाग को छोड़कर चारों ओर रात्रि को लगी हुई दावाग्नि से इल्लम्मागारू को बड़ा विस्मय हुआ। उन्हें विदित हो गया कि—इसी अग्नि के कारण रात्रि को यह बालक सुरक्षित रह सका है। प्रेम से उठाकर बालक को उन्होंने छाती से लगाया और अपना अहोभाग्य समझकर करुणावरुणालय श्रीभगवान् को धन्यवाद देती हुई वह अपने पति के समीप आईं। लक्ष्मणभट्टजी तथा साथ के अन्य जन भी इस अवितर्कित ईश्वरीय घटना को देख-सुनकर अतिशय आश्चर्यान्वित और प्रसन्न हुए *।

* श्रीवल्लभाचार्य के जन्म-सम्बन्ध में 'हिंदी-शब्दसागर' में एक बड़ी भद्दी भूल हुई है। पाठक देखें कि इस विषय में वहाँ कितना अनुत्तरदायित्व-पूर्ण अर्थ लिखा गया है—

"वल्लभ—वि० (सं०) अत्यंत प्रिय, प्रियतम, प्यारा। संज्ञा, पु० (६), एक प्रसिद्ध आचार्य, जिनका संप्रदाय वल्लभ-संप्रदाय कहलाता है।

विशेष—इनके माता-पिता का पता नहीं। लक्ष्मणभट्ट-नामक एक दक्षिणीय ब्राह्मण ने चुनारगढ़ के पास एक बालक पड़ा पाया, और उसे अपने घर लाकर पुत्र के समान पाला। फिर वही बालक प्रसिद्ध वल्लभाचार्य हुआ। जब तक लक्ष्मणभट्ट जीते रहे, तब तक वल्लभ उन्हीं के पास अध्ययन करते थे। उनके मरने पर वह विष्णुस्वामी के मंदिर में जाकर शिष्य हुए और काशी में आकर संन्यास लिया। संन्यास छोड़कर ये फिर गृहस्थ हो गए थे। इनके कई पुत्र हुए, जो गद्दियों के मालिक गोस्वामी हुए। इन्होंने राधाकृष्ण की बड़ी आडम्बर-पूर्ण उपासना चलाई और अपना वेदान्त-संबंधी एक स्वतन्त्र सिद्धान्त भी स्थापित किया, जो विशुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस कारण ये वेदांत के चार मुख्य आचार्यों में माने जाते हैं। इनका जन्म सन् १४७६ ई० और मृत्यु सन् १५३१ ई० में हुई। सूरदास आदि अष्टछाप के कवि इन्हीं के शिष्य थे।"

सहसा लक्ष्मणभट्टजी को उस दिन की स्वप्न की बात याद आई, जब उनके कुल में १०८ सोमयज्ञ हो चुकने पर भगवदवतार होने का एक ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था। अपनी संतान के रूप में किसी भगवद्विभूति के प्राकट्य होने का वह शुभ प्रसंग आज उन्हें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगा। बालक की शारीरिक चेष्टा और सामुद्रिक चिह्न देखकर उन्हें निश्चय हो गया कि—यह कोई साधारण जीव नहीं, अपितु एक होनहार महापुरुष है। अस्तु, बालक और उसकी माता की सुरक्षा तथा संस्कार करने के लिये वे चौड़ानगर* में वापिस आकर कुछ दिनों और ठहर गये। उनके कुछ साथी, जो शीघ्र काशी जाना चाहते थे, आगे चल दिये।

इस विषय में यदि थोड़ा-सा भी परिश्रम किया जाता, तो ऐसे विशाल ग्रन्थ में यह त्रुटि न होने पाती। अस्तु। प्रस्तुत विषय में मैंने लिखा-पढ़ी की, तो नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के द्वारा ता० ३-४-१९२८ को निम्न-लिखित उत्तर प्राप्त हुआ—

श्रीयुत पं० कंठमणि शर्मा विशारद,
विद्या-विभाग, कांकरोली।

नागरी-प्रचारिणी सभा,
काशी।

महाशय,

आपका चैत्र शु० १५ का कृपापत्र प्राप्त हुआ। अत्यंत दुःख है कि 'हिंदी-शब्दसागर' में गोस्वामि श्रीवल्लभाचार्य के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उसमें कुछ गड़बड़ हो गया है, और उसके कारण इस सम्प्रदाय के लोगों में असन्तोष हुआ है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरा विचार किसी का हृदय दुखाना, किसी पर आक्षेप करना अथवा साम्प्रदायिक झगड़ों में पड़ना नहीं था, और न है। यह कार्य असावधानी में हो गया है और उसके लिये मुझे दुःख है। कोष के दूसरे संस्करण का काम आरंभ हो गया है और उसके संपादक का ध्यान इस ओर दिला दिया गया है, जिससे वे इसका आवश्यक संशोधन कर दें। कोष की भूमिका लिखते हुए मैं स्थान-स्थान पर हुई अपनी भूलों को स्वीकार करूँगा।

यह तो आपको सर्वथा अधिकार है कि हिंदी-संसार अथवा और जहाँ कहीं चाहें अपने निर्णय को प्रकट करें तथा दूसरों की भूलों का स्पष्टीकरण करें, इसमें मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं।

भवदीय
श्यामसुंदरदास
संपादक, हिंदी-शब्दसागर।

* उस समय राजिम से पूर्व ७ मील दूर चौड़ानगर था, जो अब खँडहर रूप में विद्यमान है। (शु० भ० वर्ष ३ अंक ६ पत्र २४४)

प्राकट्य-काल—श्रीवल्लभाचार्य का प्राकट्य सं० १५३५ शाके १४००, वैशाख मास, कृष्ण पक्ष की ११ के दिन रविवार को धनिष्ठा-नक्षत्र, शुभ योग, बवकरण में हुआ था। दिनगत समस्त घटी और रात्रिगत घटी ६-४४ पर वृश्चिक लग्न में आपका प्रादुर्भाव माना जाता है। *

---

* वल्लभाचार्य के जन्म-काल के विषय में निम्नलिखित प्रमाण मिलते हैं—

१—वल्लभ दिग्विजय में सं० १५३५ का उल्लेख है।

२—सम्प्रदाय-प्रदीप की 'ज' संज्ञक प्रति में इस प्रकार लिखा है—"संवत् १५३५ वर्ष माधवे०"

३—संप्रदाय-कल्पद्रुम—प्रकट भक्ति, मुनि, भाव, फल (४५७६) गत कलि-काल विचार।
माधव कृष्णा ग्यारसहिं पंचकादि रविवार ॥ ३२ ॥

वल्लभाचार्य के जन्म-समय कलि का गत संवत् ४५७६ मिलाने से सं० १५३५ ही आता है।

४—व्रजभूषणजी-रचित वंशावली—संवत् पंद्रह सै बरस पैंतीसा वैसाख।
कहि शुभ तिथि एकादशी प्रकट अँधेरे पाख ॥ ५ ॥

५—प्राकट्य-विषयक प्राचीन श्लोक—(बृहत्स्तोत्र सरित्सागर द्वि० भाग)
अब्दे पाण्डव वह्नि बाण कुमिते १५३५ राधाऽसितैकादशी वस्वृक्षार्क ववे शुभे वृष शनौ राहौ च खे ज्ञे सुते। कर्के सारगुरावलावजरवौ कुम्भे स चन्द्रे कवौ श्रीमद्वल्लभनामधाम जगदुद्धारार्थमेवाजनि ॥ १ ॥

६—निज वार्ता में सं० १५३५ का ही उल्लेख है।

७—गो० द्वारकेशजी-रचित एक कीर्तन—"तत्त्व गुण बाण भुवि माधवासित" सं० १५३५ का ही निर्देश करता है।

८—वल्लभाचार्य की ५२ वर्ष और कुछ मास तक की भूतल की स्थिति जो संवत् १५३५ में जोड़ने पर सं० १५८७ में ठीक बैठती है।

९—सं० १५३५ की अधिकांश प्रसिद्धि।

१०—प्रचलित जन्म-कुंडली द्वारा वर्ष, मास, पक्ष, तिथि और समय-ज्ञान —

वर्ष-ज्ञान—यस्मिन् राशौ भवेत् सौरिस्तस्मात् सार्द्धं च द्वौ समाः।
शनिर्यावद् भवेद् वर्षे तथेज्याश्रितराशितः ॥१॥

मास-ज्ञान—वैशाखे स्थापयेन्मेषं यावद् भानुश्च गण्यते।
तावन्मासे भवेज्जन्म गर्गस्य वचनं यथा ॥२॥

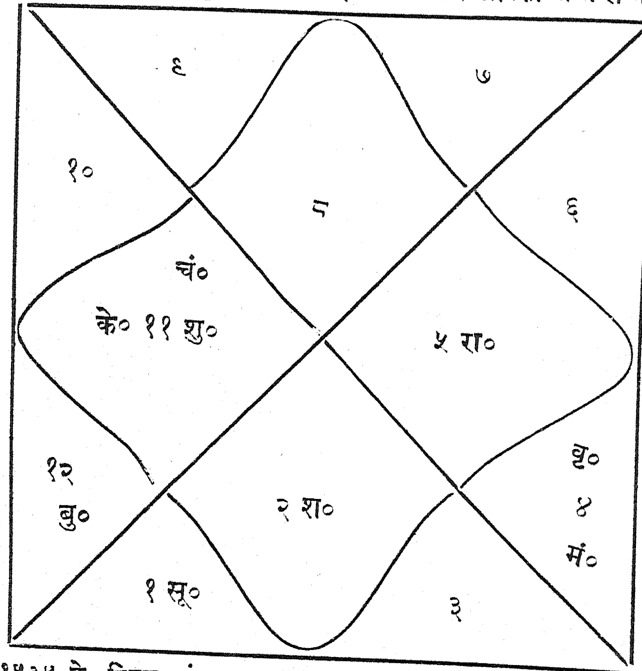
पक्ष-ज्ञान—यस्मिन् राशौ भवेत् सूर्यस्तस्मात् सप्तगृहान्तरे।
शुक्ले चन्द्रे भवेज्जन्म त्वन्यथा कृष्णपक्षकः ॥३॥

तिथि-ज्ञान—यत्र भानुः कुहूस्तत्र सार्द्धं द्वे च तिथीस्मृते।
चन्द्रे यावत् समाख्यातं तिथिज्ञानं मनीषिभिः ॥४॥

समय-ज्ञान—सूर्याक्रान्तस्थभवनाल्लग्नं सप्तगृहान्तरे।
दिने जन्म वदेत् प्राज्ञस्त्वन्यथा निशि जन्म च ॥५॥

यही बालक ईश्वरीय गुण, आदर्श आचरण, अप्रतिभ पांडित्य तथाच लोकहित-चिंतना से विभूषित होने के कारण आगे चलकर श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु के नाम से

इस हिसाब से वल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ वैशाख मास कृष्णपक्ष की एकादशी तदुपरि द्वादशी के दिन सायंकाल के अनंतर हुआ। जन्म-नक्षत्र धनिष्ठा। आपका जन्म-लग्न इस प्रकार है—



११—सं० १५३५ के विरुद्ध सं० १५२९ का उल्लेख केवल कल्लोल-नामक ग्रंथ में मिलता है। वार के विषय में भी गुरुवार और रविवार का उल्लेख मिलता है। श्रीनाथजी की प्रा० वार्ता में गुरुवार और पाठांतर में रविवार का उल्लेख है।

(क) सं० १५२९ के जन्म के विषय में एक प्राचीन पत्र सरस्वती-भंडार, कांकरोली में उपलब्ध हुआ है, जो निम्न-लिखित प्रकार से प्रकाश डालता है—

श्रीवल्लभाचार्य कुलक्रमोयं, यज्ञनारायणः, ततो गंगाधरः सोमयाजी, ततो गणपतिः सोमयाजी, ततो वल्लभभट्टाः, ततो लक्ष्मणभट्टाः, तत्कुलतिलकाः श्री ५ श्रीवल्लभाचार्याः तेषां प्रादुर्भावः सं० १५२९ वर्षे वैशाख बदि ११ शनौ पूर्वभाद्रपदे, मेषसंक्रांति गतांश ८, तत्र शुभदिने, दिनगत समस्त रात्रिगत घटी ६, पल ४४ अस्यां शुभवेलायां श्रीवल्लभाचार्यप्रादुर्भावः श्रीचंपारण्यदेशमध्ये चौडाग्रामे भागीरथीतटे प्रादुर्भावः। श्रीमातृचरणानां नाम इल्लम्माजीति, प्रभूणां स्थितिः वर्ष५६, सन्यासग्रहणं संवत् १५८६ आषाढ़सुदि २ लीलातिरोधानं, संन्यासानन्तरं दिन ४२ स्थितिः श्रीप्रभूणां भ्राता केशवपुरी नाम, रामकृष्णभट्टः, नारायणभट्टः।

(ख) सं० १५३५ की कुंडली के विषय में एक पक्ष का यह भी कथन है कि यह दक्षिण-देश की प्रथा के अनुसार वल्लभाचार्य के यज्ञोपवीत के समय की है।

विश्वविदित हुआ, जिसने यवनोपद्रव से मरणोन्मुखी हिंदू-जाति के जीवन में भक्ति-मार्ग के प्रचार द्वारा एक विलक्षण सुधा-रस का सिंचन किया था।

संस्कार और शिक्षा—इस भावी महापुरुष बालक ने जिस दिन माता इल्लम्मागारू का स्तन्यपान किया, वह सं० १५३५ वैशाख शु० १२ सोमवार का शुभ दिवस था। यथासमय लक्ष्मणभट्टजी ने बालक के यथाविधि जात-कर्मादि संस्कार किये। नामकरण-संस्कार में पिता ने सर्वप्रिय होने के कारण बालक का नाम श्रीवल्लभ रक्खा।*

बालक का हृष्ट-पुष्ट शरीर, मेघवर्ण, सुंदर अथच अलौकिक तेजोवेष्टित प्रसन्न मुखमंडल और मधुर बालचेष्टा देखकर प्रत्येक व्यक्ति का मन उसके प्रति आकृष्ट हो जाता था। अपनी मंद मुसकान और बालचापल्य-सुलभ चेष्टाओं से समीप आगत स्वजन-सम्बन्धियों का चित्त और माता-पिता का हृदय मुग्ध करते रहना वल्लभ का एक स्वाभाविक गुण था।†

कुछ समय बाद लक्ष्मणभट्टजी अपने परिवार के साथ कृष्णदास के भेजे हुए सैनिकों की संरक्षा में काशी जा पहुँचे। वहाँ वे अपने पुराने मकान में सुख-पूर्वक निवास करते हुए अध्ययन-अध्यापनादि द्वारा अपनी जीविका का उपार्जन करने लगे। माता-पिता के उचित निरीक्षण और प्रारंभिक शिक्षा के द्वारा बालक वल्लभ की स्वाभाविक प्रतिभा समय पाकर चमकने लगी। 'पूत के पाँव पालना में' वाली कहावत उनके लिये पूर्णरूपेण चरितार्थ होने लगी।

चार-पाँच वर्ष की वय होने पर वल्लभ का अक्षरारंभ किया गया। उनकी दैवी प्रतिभा ने प्रारंभिक अध्ययन में चमत्कार बतलाकर पुत्रवत्सल पिता के हृदय में एक नये भाव की जागृति की। बालक का अध्ययन के प्रति मनोयोग देखकर लक्ष्मण-भट्टजी विशेष अवधान देकर उसकी शिक्षा-दीक्षा के प्रयत्न करने लगे। जिसका यह

* श्रीवल्लभाचार्य का प्रसिद्धि का नाम श्रीवल्लभ, देवनाम कृष्णप्रसाद, मास-नाम जनार्दन और नक्षत्र-नाम श्राविष्ठ रक्खा गया। (वल्लभ-चरित्र पत्र ७)

† वल्लभाचार्य का शरीर किस प्रकार था, इस विषय में नीचे-लिखी तुक से मालूम पड़ता है—

"सुंदर श्याम सुभग नासिका, मेघ गँभीर मधुर गिरिधारी।"

कृष्णगढ़ के राजमंदिर में विद्यमान प्राचीन चित्र से भी इसकी पुष्टि होती है। यह चित्र होनहार-नामक चित्रकार ने सिकंदर लोदी बादशाह के आदेश से बनाया था।

फल हुआ कि—वल्लभ ने कुछ ही वर्ष में अपना प्रारंभिक अध्ययन समाप्त कर लिया।

यज्ञोपवीत-संस्कार होने के प्रथम-प्रथम वल्लभ ने संस्कृत-साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कारी बालक के लिये केवल दिशासूचन की ही आवश्यकता होती है, उसकी उन्मुखी साहजिक प्रतिभा अपना क्षेत्र स्वयं तैयार करती चली जाती है। वल्लभ की बुद्धि ने भी ऐसा ही कार्य किया। लक्ष्मणभट्टजी के पास आनेवाले साधु, संन्यासी और विद्वान् बालक की इस तीक्ष्ण बुद्धि को देखकर अत्यधिक प्रसन्न होने लगे।

विद्वानों के साहचर्य और विज्ञ माता-पिता की सावधानता ने वल्लभ में थोड़े समय में ही ऐसे गुणों का आविर्भाव किया, जो एक भावी महापुरुष में होने चाहिए। बाल्यावस्था में ही ऐसा बुद्धिवैशद्य देखकर पंडितों ने वल्लभ को बाल-सरस्वती, वाक्पति, वैश्वानरावतार आदि विशेषणों से संबोधित करना शुरू कर दिया।

उपनयन—पुत्र की अवस्था देखकर लक्ष्मणभट्टजी ने उसका वैदिक संस्कार करने का विचार किया। शाणोल्लीढ मणि के समान वल्लभ को एक आदर्श महापुरुष बनाने के लिये उनके हृदय में एक उच्च सद्भावना जाग्रत्हुई। वे उपनयन-संस्कार का प्रबंध करने लगे।

सं० १५४३ चैत्र शुक्ल ९ के दिन वल्लभाचार्य का उपनयन-संस्कार *

*वल्लभाचार्य के उपनयन-काल के विषय में निम्न-लिखित मत प्राप्त होते हैं—'श्रीवल्लभ-नामावली' और 'तदीय सर्वस्व' में ५वें वर्ष का तथा 'सम्प्रदाय-प्रदीप' में आठवें वर्ष का उल्लेख है। 'संप्रदाय-कल्पद्रुम' में इस प्रकार लिखा है—(सं० क० के संवत् कार्त्तिकादि है, अतः चैत्रादि संवत् १४४३ होता है।)

"पेख मुहूरत श्रेष्ठ जब श्रीलक्ष्मण द्विजराय।
किय उपनयन जु वेद-विधि ज्ञाति मध्य हरषाय ॥ २ ॥
अब्द नैन फल तत्त्व भू (१५४२) रामजन्म तिथि पाय।
कृष्णदास सेवक भयेहु तिहिं क्षण भूपति (?) आय ॥३॥
अष्टम वर्ष, अषाढ़ सित, दूज पुष्य गुरुवार।
पढ़न गये गुरु-गेह को पितु आयसु उर धार ॥४॥"

'वल्लभ-चरित्र' (पत्र १२) में सं० १५४२ (कार्त्तिकादि) चैत्र-व्रज वैशाख-कृष्ण ६ का उल्लेख है।

और आषाढ़ शुक्ल २ से वेदाध्ययन प्रारंभ हुआ। उन्होंने ११ वर्ष की अवस्था तक अपनी स्वाभाविक कुशाग्रबुद्धि के बल से वेद, वेदान्त, षट्शास्त्र और आवश्यक पुराणों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा देखकर अच्छे-अच्छे पंडित आश्चर्यचकित होने लगे। थोड़े ही समय में काशी में आपके वैदुष्य की ख्याति हो गई। श्रीविष्णुचित्, गुरुनारायण दीक्षित, माधवेन्द्र यति आदि अध्यापक और पिता लक्ष्मणभट्टजी वल्लभाचार्य की बुद्धि की विलक्षणता को देखकर प्रसन्न होने लगे। उन्हें निश्चय हो गया कि—यह बालक अवश्यमेव एक ईश्वरीय महाविभूति है।*

उक्त प्रमाणों का पर्यवलोकन करने के अनंतर सबसे प्राचीन प्रमाण संप्रदाय प्र० और संप्रदाय क० के आधार पर उपनयन-काल सं० १५४३ चैत्र शु० ६ सिद्ध होता है।

मेधावी बालक का उपनयन ५ वें वर्ष करने का भी शास्त्रों में उल्लेख पाया जाता है, पर प्राचीनता की दृष्टि से प्रामाणिक माने जानेवाले सांप्रदायिक ग्रंथों में इस अवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

* साहसी, पराक्रमी और विद्वान् महापुरुषों को अपनी योग्यता प्रकट करने और विजय प्राप्त करने के लिये अवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ती, वल्लभाचार्य ने भी अपनी छोटी वय में यदि किसी प्रकार का प्रख्यात पांडित्य प्राप्त कर मान्यता अधिगत कर ली, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नीचे-लिखे कुछ विदेशी उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से यह सहज ही विदित हो जाता है—

१. सिकन्दर आजम २० वर्ष की अवस्था में यूनान का बादशाह हुआ और थोड़े ही दिनों में उसने भारत पर विजय प्राप्त कर ली। यह सब कर वह ३३ वर्ष की वय में गत भी हो गया।

२. वाशिंगटन १६ वर्ष में एडज्यूटेंट जनरल हुए, २१ में फ्रांस के राजदूत और २२ में कर्नल बन गए।

३. लैप्टी-नामक व्यक्ति २० वर्ष की वय से फ्रांस की समस्त सेना का संचालक बनाया गया था।

४. गैलीलियो-नामक व्यक्ति ने १८ वर्ष की वय से ही गुरुत्वाकर्षण की शक्ति और सिद्धान्त खोज निकाला था।

५. पील-नामक व्यक्ति २१ वर्ष की वय में ही इँगलिश पार्लियामेंट के मेंबर बना लिए गए थे।

६. एलिज़ाबेथ बैरट ब्राउनिंग १२ वर्ष की वय में ही ग्रीक और लैटिन भाषा के पारगामी विद्वान् मान लिये गए थे।

७. डी क्विंस ने ११ वर्ष की अवस्था में ही उक्त दोनो भाषाओं का पांडित्य प्राप्त कर लिया था।

८. राबर्ट ब्राउनिंग १२ वर्ष की वय में ही अच्छे कवि मान लिये गये थे।

९. कवि काउली-नामक व्यक्ति ने १५ वर्ष की वय में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिख डाला था।

१०. लार्ड मेकाले २० वर्ष में एक अच्छे लेखकरूप में प्रसिद्ध हो चुके थे।

११. नैलसन ने २० वर्ष में लेफ्टिनेंट का पद पा लिया था।

प्रख्याति—गुरु के पास अध्ययन समाप्त कर अपने ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये काशी में यत्र-तत्र होनेवाली शास्त्रार्थ-सभाओं में जब वल्लभाचार्य आने-जाने लगे, तो पण्डितों के सम्मुख बड़ा गंभीर विषय छिड़ने लगा। वेद का रहस्य क्या है? और उसका फलितार्थ किस सिद्धांत पर अवलंबित होता है? आदि विषयों पर जब शास्त्रार्थ चलता था, तो विद्वत्समाज को निश्चित ही वल्लभाचार्य का लोहा मानना पड़ता था। उन्होंने जब विबुध-समाज के आगे अपना 'शुद्धाद्वैत-सिद्धांत' स्थापित करना शुरू किया, तो काशी-नगरी में एक नई ही शास्त्रीय उत्क्रांति होने लगी। विवश और पराजित होकर कई छात्रों, पंडितों तथा संन्यासियों को वल्लभाचार्य के सिद्धांत को मान देना पड़ा, जिसके कारण विद्वत्समाज में एक प्रकार से शुद्धाद्वैत-सिद्धांत की स्थापना होने लगी, जिससे जहाँ-तहाँ प्राधान्यतया यही एक विचारणीय गंभीर विषय बन गया था।

अब वल्लभाचार्य गुरुमुख से आवश्यक विद्याओं का अध्ययन कर विद्वत्समाज का सत्संग और तीर्थाटन द्वारा अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करने का अवसर ढूँढ़ने लगे। इस समय उनकी वय लगभग १०-११ वर्ष की थी। इसी समय लक्ष्मणभट्टजी ने अपना अन्तिम समय समीप जानकर यात्रा करने का विचार किया। दोनो पिता-पुत्र तथा इल्लम्मागारू काशी से संवत् १५४५ मार्ग०कृ० ७ शनि के दिन प्रस्थान कर मार्ग में तीर्थ-यात्रा, स्नान, दानादि और विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर अपने सिद्धांत की विजय-पताका फहराते हुए कुछ दिनों में जगन्नाथपुरी जा पहुँचे।

पुरी का शास्त्रार्थ—सं० १५४५ में पिता के साथ वल्लभाचार्य जगदीशपुरी पधारे। यहाँ उन दिनों मायावादी नास्तिकों के प्राबल्य से पराजित होकर पण्डित-मण्डल चुपचाप बैठा हुआ था। वल्लभाचार्य के वहाँ पधारने पर पण्डितों में बल का संचार हुआ और उन्होंने वहाँ के राजा की अनुमति लेकर मायावादियों के साथ एक दिन

१२. क्लाइव ने २२ वर्ष की उमर में ही भारत में अँगरेज़ी राज्य की नींव जमाना शुरू कर दी थी। यह सब भारत देश से बाहर के दृष्टान्त हैं। भारत की भूमि में उसके संस्कार-प्रणाली के कारण तो इतिहास से अनेक उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं।

शास्त्रार्थ-सभा का आयोजन किया। शास्त्रार्थ में भाग लेने के लिये समय पर पण्डितों का एक बड़ा समुदाय एकत्र हो गया। जगदीश के मंदिर में वैदिक सिद्धांत पर शास्त्रार्थ हुआ और उसमें वल्लभाचार्य को विजय प्राप्त हुई।

अन्त में राजा ने पण्डितों से चार प्रश्न पूछे, जो इस प्रकार थे—

१. मुख्य और प्रामाणिक शास्त्र कौन है ?
२. मुख्य और प्रामाणिक देव कौन है ?
३. कौन-सा मंत्र फलदायक है ?
४. सबसे सरल और उत्तम कर्म क्या है ?

राजा के इन प्रश्नों पर बैष्णवों और मायावादियों में बहुत समय तक वाद-विवाद चलता रहा। अन्त में वल्लभाचार्य ने भक्तिमार्ग के अनुसार इसका निर्णय दिया, जिसे मायावादियों ने स्वीकार न कर आग्रह किया कि—यदि इस सिद्धांत को स्वयं जगदीश मान लें, तो यह सत्य हो सकता है।

'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से—राजा के अनुमोदन कर देने पर पुरोहित श्रीकृष्ण गुच्छिकार के द्वारा एक खाली कागज़, कलम और स्याही जगदीश के मंदिर में रक्खी जाकर सावधानी से पट बंद करदिये गये। कुछ समय बाद दरवाज़ा खोलने पर कागज़ पर यह श्लोक लिखा मिला—

"एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं एको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥"

इसको पढ़कर मायावादियों के होश उड़ गए। उन्हें इस प्रकार की आशा न थी कि—जगदीश के द्वारा भी उत्तर मिल सकेगा। उन्होंने शंका उठाकर कहा कि—हस्तविहीन जगदीश यह श्लोक किस प्रकार लिख सकते हैं ? अब पुनः सुचारु प्रबन्ध कर जगदीश के आगे पत्र रखना चाहिए।

राजा को इस वितण्डावाद पर बड़ा क्रोध आया। गुच्छिकार पुरोहित के समझाने और मायावादियों के पुनः आग्रह करने पर वल्लभाचार्यजी से पूछा गया, तो उन्होंने उत्तर दिया कि—हम आग्रहवादी नहीं हैं, आपको जैसा उचित जँचे करिये। अस्तु मंदिर में अच्छे प्रकार देख-भालकर पुनः पत्र रक्खा गया। थोड़े समय बाद पत्र निकालकर देखने पर उसमें यह लिखा मिला—

"यः पुमान् पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम् ।
यः पुमानीश्वरं द्वेष्टि तं विद्यादन्त्यजोद्भवम् ॥"

इस श्लोक को पढ़कर राजा के क्रोध की सीमा न रही। उसने वादी पण्डित का तिरस्कार कर उसे बाहर निकलवाया, और वल्लभाचार्य को विजय-माला पहनाकर बड़े भक्तिभाव से उनका पूजन किया और भेंट चढ़ाई।*

इस प्रसंग से उपस्थित समुदाय की वल्लभाचार्य पर बड़ी आस्था हो गई।

---

* जगदीशपुरी के इस शास्त्रार्थ का प्रसंग अभी तक जनश्रुति के रूप में ही प्रचलित था, यहाँ तक कि दशदिगंतविजयी श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज ने भी निबंध में इसे इसी रूप में लिखा था। जुलाई सन् १९३४ में कांकरोली-नरेश गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज के साथ पुरी की यात्रा और वहाँ खोज करने पर पंडा गुच्छिकार 'श्रीकृष्ण रघुनाथ दामोदर' के पास प्राचीन पत्रों में वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी का इस प्रकार लेख-पत्र प्राप्त हुआ—

श्रीगोपीजनवल्लभो जयति ।

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ १ ॥
इति श्रीजगदीशेन महाप्रभुकृते स्वयम्। लिखितं पद्यमेतद्धि मायावाद-निवृत्तये ॥ २ ॥
बहिर्मुखो यदा नैव मेने विद्वज्जनातिगः। पत्रं निरूप्यतां भूयः प्राहैनं कृष्णसेवकः ॥ ३ ॥
तदा श्रीवल्लभाः प्रोचुर्वयं नाग्रहवादिनः। त्वन्नः पुरोहितः साक्षी यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४ ॥
गुच्छिकारस्तदा तस्य प्रत्ययार्थं हरेः पुरः। पत्रं संस्थापयामास मसीपात्रं च लेखनीम् ॥ ५ ॥
'यः पुमान् पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम्। यः पुमानीश्वरं द्वेष्टि तं विद्यादन्त्यजोद्भवम्' ॥ ६ ॥
भूयोऽपि जगदीशेन पत्रे विलिखितं त्विदम्। तदा बहिर्मुखो ध्वस्तस्तथा ज्ञातश्च सज्जनैः ॥ ७ ॥
इति श्रुत्वैव सद्वार्तां कृष्णसेवकपण्डितम्। श्रीवल्लभात्मजो गोपीनाथो मन्ये तथाह्यमुम् ॥ ८ ॥
ख रस श्रुति भू (१४६०) संख्ये भासमाने शकेश्वरात्। लिखितं माधवामायां पूर्वेषां संमतं दलम् ॥९॥

आन्ध्रदेशीय—दीक्षित—वल्लभाचार्येण स्वपूर्वपुरुष सोमयाजि गंगाधरदीक्षितादीनां सम्मानितः श्रीमत्पुरुषोत्तमक्षेत्रे श्रीजगन्नाथसपर्या कुशलः गुच्छिकारकृष्णसेवकाख्य सेवापण्डितः, सोमयाजि गंगाधर-दीक्षितादीनां स्वपूर्वपुरुषाणां सम्मानित इति स्वकीयरवधार्य विष्णुपदेन्दु श्रुति धरा शके (१४१०) समागतेन वल्लभदीक्षितेन वृत्तिदलं निरूपितं० श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु वंशसंभूतैः कृष्णसेवकवंशीयाः सम्मान्याः० लिखितं दलमिदं ख रस श्रुति भू मिते (१४६०) शालिवाहनशके वैशाखकृष्णामादिने.

इससे विदित होता है कि—वल्लभाचार्य सं० १५४५ (शक १४१०) और उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथजी सं० १५९५ (शक १४६०) की वैशाख-अमावस्या के दिन वहाँ विद्यमान थे।

निज वार्ता-प्रसंग १५ में पुरी के राजा का नाम 'भोजदेव' लिखा है।

'संप्रदाय-कल्पद्रुम' में जगदीश-यात्रा का संवत् नहीं दिया गया है, वहाँ लिखा है—

एक समय वल्लभाचार्य जगदीशपुरी में एकादशी के दिन दर्शन कर रहे थे। यह सदा की भाँति यहाँ भी एकादशी का व्रत करते थे यद्यपि यहाँ उसके उपवास न करने का रिवाज है। उस दिन जब वल्लभाचार्य जगन्नाथजी की स्तुति करते हुए दर्शन कर रहे थे, किसी जानकार व्यक्ति ने उपवास की परीक्षा के लिये इनके हाथ में महाप्रसाद रख दिया। महाप्रसाद रखनेवाले व्यक्ति का हार्दिक अभिप्राय यह था कि—या तो इनका व्रत भंग होगा, अथवा वह महाप्रसाद को न लेकर उसका अनादर करेंगे। धार्मिक दृष्टि से ये दोनो बातें अपेक्षित न थीं। वल्लभाचार्य इस बात को भाँप गये, और उन्होने उभयविध धर्म की रक्षा के लिये एक उपाय किया।

जगन्नाथजी के दर्शन तथा स्तुति कर उन्होंने महाप्रसाद की स्तुति करना प्रारंभ कर दिया। कहते हैं कि—वह एकादशी की समाप्ति और द्वादशी के पारण-समय तक खड़े-खड़े महाप्रसाद की स्तुति ही करते रहे। अन्त में प्रातःकाल उन्होंने जगदीश के दर्शन कर महाप्रसाद पाया। परीक्षा करनेवाला व्यक्ति इस निर्विरोध धर्माचरण को देखकर गद्‌गद होकर पश्चात्ताप करने लगा। 'विषम परिस्थिति में भी किस प्रकार अपने नियम की रक्षा करनी चाहिये' यह बात वल्लभाचार्य ने अपने विवेक द्वारा कैसे सुंदर ढंग से समझाई, जिससे उनके इस दृढ़ आग्रह और धर्मभीरुता का उपस्थित समुदाय पर अच्छा प्रभाव पड़ा। ※

परिक्रमा का उपक्रम—लक्ष्मणभट्टजी की इच्छा देखकर वल्लभाचार्य पुरी से श्रीवेंकटेश्वर के दर्शनार्थ दक्षिणदेश में गये। इस समय लक्ष्मणभट्टजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र रामकृष्णजी को पत्र लिखकर मार्ग में ही बुला लिया था।

"गंगासागर होयके भुवनेश्वरहिं निहार। दर्शन करि जगदीश के भूप-प्रश्न उर धार ॥ ३८ ॥
उत्तर श्रीजगदीश सों लेख कराय दिवाय। मायावादी द्विजन सों विजय-पत्र नृप! पाय ॥ ३९ ॥"
इसके बाद वहाँ "एकं शास्त्रं०" आदि श्लोक लिखा है।
अतः यह निर्विवाद है कि—वल्लभाचार्य सं० १५४५ में पुरी पधारे और वहाँ शास्त्रार्थ हुआ।
इस पत्र से यह अनुमान होता है कि—यह यात्रा सं० १५४५ के उत्तरार्ध में हुई।
※ नि० वा० प्र० १५

वेंकटेश्वर के दर्शन कर सं० १५४६ चै० कृ० ९ के दिन * लक्ष्मणभट्टजी ने पुत्रों को शिक्षा देकर अपने इहजीवन की लीला सम्पूर्ण की। उनकी और्ध्वदैहिक क्रिया समाप्त हो जाने के कुछ समय बाद वल्लभाचार्यजी माता को लेकर आगे यात्रा के लिये पधारे। ब्रह्मचर्य-आश्रम को ही अपने जीवन का ध्येय मानते और उसी का त्रिविध आचरण करते हुए उन्होंने इसी वेष में यात्रा करना प्रारंभ किया।

समस्त भारतवर्ष की यात्रा कर स्थान-स्थान पर भक्तिमार्ग के प्रचार और शुद्धाद्वैत-सिद्धांत की स्थापना के द्वारा ही वल्लभाचार्य लोक-सेवा और वैदिक सिद्धांत की रक्षा करना चाहते थे। अतः वह अनुकूल समय पाकर और कुछ दिनों बाद माता को अपने मामा के घर विद्यानगर में छोड़कर अपने शिष्यों के साथ विजय-यात्रार्थ चल दिये †।

अविन्तका-यात्रा—सं० १५४६ के अन्त में माहिष्मतीनगरी, ओंकारेश्वर की यात्रा समाप्त कर सं० १५४७ (कार्त्तिकादि सं० १५४६) के प्रारंभ में वल्लभाचार्य अवन्तिका (उज्जैन) पधारे। यहाँ उन्होंने क्षिप्रा में स्नान, दानादि तीर्थकृत्य कर भागवत-पारायण की। महाकालेश्वर के दर्शन कर नरोत्तम-नामक एक विद्वान् ब्राह्मण को अपना पुरोहित बनाया, और उसे चैत्र शुक्ल १ के दिन वृत्ति-पत्र लिखकर प्रदान किया ‡।

उज्जैन से आगे 'सिद्धवट' और 'सांदीपनी' ऋषि के आश्रम जाने पर वहाँ ब्राह्मणों के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। इस समय किसी विद्वान् ब्राह्मण ने वाद में पराजित हो जाने पर वल्लभाचार्य से कहा कि—इस समय यहाँ 'घट

---

* नि० बा० प्र० १

† नि० वा० प्र० १ में सं० १५४८ वैशाख कृ० २ का समय दिया है।

‡ नरोत्तम पुरोहित को जो वृत्ति-पत्र प्रदान किया गया है, उसकी भाषा संस्कृत और लिपि तेलगु है। इसमें इस प्रकार लिखा है—

"श्रीविष्णुस्वामिमर्यादानुगामिना वल्लभेन अवन्तिकायां नरोत्तम शर्मा पौरोहित्येन सम्माननीयः सं० १५४६ चैत्रशुद्ध प्रतिपदि।"

दक्षिणी हिसाब से यह कार्त्तिकादि संवत् है। चैत्रादि सं० १५४७ होता है।

इसमें जो नागरी-अक्षरों में लेख है, वह बाद में किसी पुरोहित द्वारा लिखा गया प्रतीत होता है।

सरस्वती' नहीं है, अन्यथा आपको उसकी विद्वत्ता का सामना करना मुश्किल हो जाता ।

A piece of Handwriting of Shri Vallabhacharyaji as discovered in his letter written in Kanarese to one Narottam, whom he recognised as his family priest—

॥श्रीहरिः॥

॥श्रीमदाचार्यस्य लेखपत्रम्॥

(Translation of a Sanskrit writing written in Kanarese)

Vallabha, the follower of the Maryada (i. e. doctrines) of Shrimad Vishnu Swami honours (recognises) Narottam of Awantika (i. e. Ujeni) as a Purohit (i. e. family religious priest): The Ist day of Chaitra Shudha of Samvat 1546 (22nd March 1490).

Shri Hari.

(This) Lekha Patra (i. e. a deed of document) (is passed) by the great Acharya (Vallabha) to (the above Narottam.)

Issued subject to rule 34 of the High Court (Original side (Rules of 1922. . .)

A true translation.
(Sd.) G. R. WAGLE,
Translator, High Court, Bombay.

शु. म. (अहमदाबाद) आषाढ़ सं० १६८४

घट-सरस्वती-पराजय—'घटसरस्वती'-नामक एक तांत्रिक विद्वान् था, जो शास्त्रार्थ करते समय अपने और प्रतिपक्षी के बीच एक घट रक्खा करता था। कहते हैं, शास्त्रार्थ चलने पर वह अपने सिद्धांत की पूर्ण सत्यता घट से निकली हुई वाणी द्वारा कराया करता था। उस घट में सरस्वती का आवाहन होता था, और वह प्रयोक्ता के वश में होकर उसी के पक्ष की पुष्टि किया करती थी। 'घटसरस्वती' उस समय शास्त्रार्थ करने के लिये उत्तर की ओर गया हुआ था। अतः इस स्थल पर वल्लभाचार्य के साथ उसका शास्त्रार्थ न हो सका।

सं० १५४७ के अन्त में यात्रा करते हुए वल्लभाचार्य बुन्देलखंड में वेत्रवती के तट पर ओड़छानगरी में पधारे। यहाँ उन्होंने एक सुंदर स्थान में निवास कर भागवत की पारायण की। इनके आने का समाचार जब ओड़छा के राजा के पास पहुँचा, तब उसने आगे आकर भव्य स्वागत किया और राजधानी में पधराया। इस समय घटसरस्वती वहीं विद्यमान था, अतः दोनों के शास्त्रार्थ का संयोग यहीं आ उपस्थित हुआ।

एक दिन राजसभा में वल्लभाचार्य एवं घटसरस्वती का शास्त्रार्थ हुआ। आचार्यचरण की विद्वत्ता के सम्मुख घटसरस्वती न ठहर सका। कहते हैं कि—उसने अपने पक्ष की प्रामाणिकता के लिये जब घट-स्थापित सरस्वती से पूछा, तब उसने उस समय कुछ भी उत्तर नहीं दिया। अपना पराजय होता देख 'घटसरस्वती' ने जब एकांत में ले जाकर आवाहित सरस्वती से पूछा, तो उसने कहा कि—मैं अपने पति के सम्मुख किस प्रकार बोल सकती हूँ? वाक्पति होने के कारण श्रीवल्लभाचार्य मेरे पति हैं, अतः उनके सामने तुम्हारा पक्ष नहीं लिया जा सकता।

इससे विवश होकर राजसभा के बीच 'घटसरस्वती' को अपनी पराजय माननी पड़ी।

ओड़छा के राजा ने वल्लभाचार्य की विद्वत्ता से अतिशय आह्लादित होकर उनका सम्मान किया, और एक दिन उसने बड़ी धूमधाम से राजमहल में आचार्य-चरणों को पधराकर शास्त्रोक्त प्रकार से उनका कनकाभिषेक किया।

इस समारंभ के समाप्त हो जाने पर राजा ने वल्लभाचार्य से वैष्णव-धर्म की दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। उसकी इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति देखकर आचार्यचरण ने आज्ञा दी कि—आपकी वंश-परंपरा से जो दीक्षा होती चली आई है, वही ठीक है।

हमारे सजातीय व्यक्ति जो आपके गुरु हैं, उन्हें हमारे समान ही समझकर आप उनका आदर कीजिये * ।

राजा के आग्रह से कुछ दिन और निवास कर वल्लभाचार्य वहाँ से आगे पधारे।

व्रज-यात्रा—यहाँ से आगे चलकर वल्लभाचार्य दन्तवक्त्रपुर (दतिया), भोपालाचल, गवालियर और धवलपुर (धौलपुर) होते राजा मुचुकुन्द की गुफा का निरीक्षण कर सं० १५४८ † के मध्य में मथुरा आये, और यहाँ विश्रान्त-घाट पर निवास कर उन्होंने भागवत की पारायण तथा तीर्थकृत्य किया । कुछसमय बाद समस्त व्रजमंडल की ८४ कोस की सविधि परिक्रमा की, और उसकी नियम-समाप्ति कर दानादि देते हुए 'उजागर' चतुर्वेद-नामक ब्राह्मण को अपना पुरोहित बनाया ।

कहते हैं, एक बार व्रजयात्रा करते हुए जब आचार्यचरण गह्वर वन में ‡ पधारे, तो वहाँ उन्होंने देखा कि—एक आसन्न-मरण अजगर को लाखों चींटियाँ काट-काटकर सता रही हैं । आचार्यचरण को दया आई, और उन्होंने कमण्डलु से भगवच्चरणोदक लेकर उस पर डाला । इस सदनुष्ठान से वह मुक्त होकर सद्गति को प्राप्त हो गया । वह अजगर की तत्कालीन दुर्दशा देखकर बहुत समय तक पश्चात्ताप करते रहे । शिष्यों ने जब इसका कारण पूछा, तो आचार्यचरण ने बतलाया कि—यह पूर्व-जन्म में एक मन्दिर का धनी महन्त था, इसने शिष्य-समुदाय का बहुत-सा द्रव्य अपने भोग-विलास में तो लगाया था, किंतु शिष्यों के उद्धार के लिये उन्हें कुछ भी उपदेश नहीं दिया था । इस कारण से वह इस जन्म में अजगर-देहधारी हुआ और उसके वे सब शिष्य चींटी बने । चींटी बनकर अब उसके शिष्य अपना बदला ले रहे हैं । जो गुरु अपना माहात्म्य बढ़ाकर पाखंड करता और शिष्यों के उपकार का कोई मार्ग नहीं

---

* प्रतापवंशार्णव (पृष्ठ ४६, श्लोक २५ से ४७)—

रामभद्रो यदा राजा राजते वै स्वपत्तने ।
तदा श्रीवल्लभाचार्यः कृपया तु समागतः ।। २५ ।।
प्रसन्नेन तदा राज्ञा सुवर्णेनाभिषेचितः ।। ४० ।।

श्लोक २६ से ३६ तक घटसरस्वती के शास्त्रार्थ का वर्णन है । आगे राजा के परंपरागत गुरु तैलंगजातीय श्रीवत्सगोत्री पं० विद्यादेवजी का नामोल्लेख है, जिनके वंशज आज भी राजगुरु हैं ।

† नि० वा० प्र० २५, नि० वा० प्र० ४०

‡ नि० वा० प्र० १६ में दक्षिणदेश का नाम है ।

निकालता, उसकी यही दशा होती है। अतः गुरुजनों को बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। यह कलिकाल है और इसमें कृत कर्म का फल शीघ्र ही प्राप्त होता है।

ब्रह्म-संबंध—सं० १५४९ फाल्गुन शु० ११ गुरुवार के दिन झारखंड में हुई श्रीनाथजी की आज्ञानुसार— जब वल्लभाचार्य अग्रिम यात्रा स्थगित कर पुनः गिरिराज होकर गोकुल पधारे, तब उनको कलिकाल के जीवों की दयनीय दशा देखकर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। समय के प्रभाव से स्वकीय उद्धार करने में असमर्थन, अथच विविध मार्गों के अनुयायी मनुष्यों की हीनावस्था देखकर उनके उद्धार का सरल मार्ग खोज निकालने के लिये वह अतिशय चिन्ताकुल रहने लगे। ऐसे जीवों के लिये किसी सुलभ मार्ग-निर्देश की जब उन्होंने श्रीभगवान् से प्रार्थना की, उस समय दयामय श्रीहरि ने इनकी इस निष्कारण दयालुता से द्रवित होकर सं० १५५० (कार्तिकादि सं० १५४९) श्रावण शु० ११ गुरुवार के दिन अर्द्धरात्रि में* साक्षात् प्रकट होकर ब्रह्म-संबंध-दीक्षा का उपदेश दिया, और उसके द्वारा जीवों के सर्वविघ्न-दोषों की निवृत्ति होकर भक्ति के द्वारा अपनी प्राप्ति का उपाय बतलाया।

उस समय वल्लभाचार्य ने श्रीप्रभु के कंठ में पवित्रा धारण कराया और मिश्री का भोग लगाया। श्रीभगवान् ने जीवों के उद्धार के लिये जो आज्ञा दी और उसका प्रकार बतलाया था, वल्लभाचार्य ने उसका प्रातःकाल संकलन किया। वही सिद्धान्त इस सम्प्रदाय में 'सिद्धान्त-रहस्य' के नाम से प्रख्यात है।

आचार्यचरणों ने सर्वप्रथम दामोदरदास को आत्मनिवेदन अर्थात् 'ब्रह्म-संबंध' कराया। इसके अनन्तर वह पुष्टिमार्ग की प्रधान दीक्षा हो गई, जिसमें दीक्षित होकर

* ब्रह्म-संबंध का तात्पर्य—भगवान् श्रीहरि के चरणारविंदों में सर्वस्व समर्पण कर अपनी सांसारिक अहंता-ममता को छोड़कर भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् की कृपा प्राप्त करना है। यद्यपि अज्ञानता के कारण कुछ लोगों ने पुष्टिमार्ग का अर्थ हृष्ट-पुष्ट होकर मौज-मज़ा उड़ाना मानकर सम्प्रदाय को बदनाम करने का दुस्साहस किया है, पर जो भागवत-सिद्धांत से अपरिचित नहीं हैं, वे जानते हैं कि 'पुष्टि' शब्द का अर्थ पोषण अर्थात् भगवदनुग्रह है। अतः शास्त्रीय सिद्धांत से जिस मार्ग में सरल रीति से भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने का साधन किया जाय, वह पुष्टि-मार्ग कहलाता है। इसी प्रकार कुछ परोत्कर्षासहिष्णु समालोचक कहलानेवाले व्यक्तियों ने गुरु को सर्वस्व अर्पण करने का नाम 'ब्रह्म-संबंध' मान लिया है। ऐसे व्यक्ति—जो शास्त्रीय ज्ञान से रहित होकर किसी सिद्धांत का मनमाना अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं, अपनी बुद्धि के लिये दयनीय हैं।

असंख्य मानव-समुदाय ने भक्ति-पथ का अनुसरण किया और अपने तथा अन्य व्यक्तियों के प्रशस्त कल्याण-साधन का कार्य किया।*

व्रजयात्रा के समय नीचे लिखी दो घटनाएँ विशेष उल्लेखनीय रूप में साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मिलती हैं--

१--एक दिन जब वल्लभाचार्य स्नान करने मथुरा में विश्रान्तघाट पर जाने लगे, तो वहाँ के जन-समुदाय ने वहाँ जाने का निषेध किया। उनको बतलाया गया कि--विश्रान्तघाट के दरवाज़े पर दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोदी के क़ाज़ी रुस्तमअली ने ऐसा जन्त्र-मन्त्र लटका दिया है, जिसके प्रभाव से उसके नीचे से निकलनेवाले हिन्दू के सिर से चोटी कट जाती और दाढ़ी हो जाती है। तब ऐसा मनुष्य मुसलमान बना लिया जाता है।

आचार्यचरण इस जनश्रुति को सुनकर कुछ मुस्कराये। उन्होंने जनता की इस ग़लत धारणा को उसके मन से निकालने का विचार किया। वह स्नानार्थियों का एक विशाल समुदाय साथ लेकर विश्रान्तघाट के उसी दरवाज़े से पधारे और स्नान कर बिना किसी प्रकार की आशंका-आपत्ति उठाए घर लौट आये। साथ के मनुष्यों ने इसको उनका अलौकिक माहात्म्य समझा, तथापि एकाकी जनों का जाना-आना तो बिलकुल बंद ही हो गया। जनता समझ रही थी कि—जब तक वल्लभाचार्य मथुरा में विराजमान हैं, तब तक इनके प्रभाव से कोई उपद्रव नहीं हो सकता, पर आपके जाते ही जन्त्र-मन्त्र ज़रूर अपना चमत्कार दिखलाएगा।

बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी जब लोगों की भ्रान्त-धारणा नष्ट न हुई, और जनता की ओर से प्रतीकार करने के लिये सतत प्रार्थना होने लगी, तो एक दिन वल्लभाचार्य ने एक जन्त्र-मन्त्र बनाकर दिल्ली के दरवाज़े में बाँध आने को अपने शिष्य को देते हुए कुछ समझा दिया।

इसके कुछसमय बाद दिल्ली से अफ़वाह आने लगी कि वहाँ वल्लभाचार्य के शिष्यों द्वारा लगाये हुए जन्त्र-मन्त्र के नीचे से जो कोई मुसलमान निकलता है, उसके सिर में चोटी हो जाती और दाढ़ी उड़ जाया करती है। दिल्ली में भी इस भ्रम ने अपना चमत्कार दिखलाया। फल यह हुआ कि—बादशाह सिकन्दर लोदी को जब

* नि० वा० प्र० ५

इसकी खबर पड़ी, तो उसने आचार्यचरण के शिष्यों को बुलाकर पूछा। सब वृत्तान्त विदित होने पर बादशाह ने क़ाज़ी के द्वारा मथुरा का जन्त्र हटवा लिया और दिल्ली-दरवाज़े का भी। इस प्रकार की घटना हो जाने के बाद मथुरा-निवासियों का भ्रम दूर हुआ, और वे आचार्यचरण के प्रताप से निःशंक होकर यमुना-स्नानादि करने लगे। यात्रियों के द्वारा चारों ओर वल्लभाचार्य का माहात्म्य फैल गया।*

२--दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोदी को जब वल्लभाचार्य की महानुभावता का परिचय मिला, तो उसने होनहार-नामक प्रसिद्ध चित्रकार को उनका चित्र बना लाने को गोकुल भेजा। वह बड़ा कुशल चित्रकार था। कहते हैं कि—वह घोड़े पर चढ़ा हुआ एक कपड़े की लंबी पट्टी पर क़लम से रेखा खींचता चला जाता था, जो वस्त्र के एक ही तागे पर बराबर खिंचती थी। अस्तु। जब वह वल्लभाचार्य का चित्र बना चुकने पर उनसे मिलाने लगा, तो उसे चित्र में बड़ा अन्तर मालूम पड़ा। इस प्रकार बनाये हुए दो चित्र जब उसे ठीक न जँचे, तब अन्त में उसने विवश होकर श्रीचरणों से उसकी लाज रख लेने की प्रार्थना की, जिस पर वल्लभाचार्य ने तीसरा चित्र बनाने का उसे आदेश दिया। यह चित्र स्वरूप से बिलकुल मिल गया, जिसे देखकर बादशाह बहुत ख़ुश हुआ। कहते हैं—इसके उपरान्त आचार्यचरण की त्याग वृत्ति के माहात्म्य से प्रभावित होकर सिकन्दर लोदी ने वैष्णव-संप्रदाय के साथ किसी प्रकार का ज़ोर-ज़ुल्म न करने की मुनादी पिटवा दी।+

विजयनगर अथवा विद्यानगर—भारत के दक्षिण भाग में विजयनगर एक समृद्धिशाली,

* नि० वा० प्रा० ४०

+ इन चित्रों में से प्रथम संप्रति कांकरोली में और तीसरा असली चित्र कृष्णगढ़ के राजमंदिर में सेवा में विद्यमान है, जो वहाँ के महाराजा ने बादशाह को अपनी वीरता से प्रसन्न कर माँग लिया था। इस चित्र के विषय में नागर समुच्चय में महाराजा सरूपसिंहजी कृष्णगढ़-नरेश का चरित्र लिखने के बाद इस प्रकार लिखा है—इनका जन्म सं० १६८५ वैशाख शु० ११ के दिन हुआ। इन्हीं महाराजा ने काबुल फ़तह करने के इनाम में शाहजहाँ बादशाह से उक्त चित्र माँ लिया था।

"श्रीवल्लभ आचार्य को होनहार के हाथ
चित्र करायो प्रीति कर शाह सिकन्दरनाथ।
वही चित्र अति महर कर कर दीजै बख़्सीस"

इसके बनाने का संवत् १५६७ माना जाता है (शु० भ० श्रावणांक सं० १९८६) सिकन्दर लोदी का राज्य-काल० सं० १५४५ से ७४ तक माना गया है (यवन-रा० वं०)

सशक्त हिंदू-राज्य था, जो सर्वदा बहमनी सुलतानों की टक्कर लेता रहता था। इस राज्य की नींव सं० १३९३ में 'हरिहर' और 'बुक्क'-नामक दो भाइयों ने डाली थी। धीरे-धीरे यह राज्य कृष्णा नदी से कुमारी-अंतरीप तक फैल गया और चोल, पांड्य, उड़ीसा आदि कई प्रांत उसकी राज्य-सीमा के अंतर्गत हो गये। आजकल का मद्रास-प्रांत और मैसूर-राज्य उन दिनों विजयनगर-राज्य केअंतर्गत थे।

१५वीं शताब्दि में इस राज्य की अत्यन्त समृद्धि हुई। यहाँ विद्या और कला-कौशल की अतिशय वृद्धि होने के कारण जनता सुखी और संपन्न थी। उस समय यहाँ वैष्णव-धर्म का खूब प्रचार था। न्याय, शासन तथा प्रबंध की उत्तमता के कारण यहाँ किसी प्रकार की अशांति और उपद्रव होने की आशंका नहीं होती थी।

राज्य की विशाल सेना—जिसमें १० लाख पैदल, ५ हजार हाथी और १ लाख अश्वारोही सैनिक—के आतंक से आसपास के राज्य सदा शंकित और भयभीत रहा करते थे, और इसीलिये किसी पड़ोसी राज्य के द्वारा अशान्ति उत्पन्न होने का कोई अवसर नहीं आने पाता था।

राज्य की राजधानी 'विजयनगर' अथवा 'विद्यानगर' कई मीलों तक बड़े अच्छे, सुंदर ढंग से बसी हुई थी। जिसके चतुर्दिक् दृढ़ प्राकार था। विशाल उच्च भवन, सुदृढ़ राजप्रासाद, गगनचुंबी मंदिर, धवल अट्टालिकाएँ तथा प्रशस्त राजपथ एवंच श्री-संपन्न बाजार इसकी उपमा नहीं रखते थे।

तुंगभद्रा नदी के उत्तर तट पर पूर्व दिशा में बाली-पुत्र अंगद के नाम से पहले यहाँ 'अंगदी'-नामक एक ग्राम बसा हुआ था। इसी स्थल में विद्यानगर के राजाओं ने अपनी विशाल गजशाला स्थापित की थी, जिससे कुछ समय बाद इसका नाम 'आनागुंडी'* पड़ा। (तत्प्रांतीय भाषा में अन=हाथी और गुंडी=स्थान को कहते हैं।)

* 'आनागुंडी'-नामक स्थान अब भी वर्तमान है, जहाँ कृष्णदेव राजा की पुत्री के वंशजों का आधिपत्य है।

विजयनगर में वल्लभाचार्य के समकालीन निम्न-लिखित राजा हुए—

१. विरूपाक्ष ...	सं० १५२२—४३	२. शालुव नरसिंह	... सं० १५४३—४९
३. इम्मडि नरसिंह	,, १५४६—६२	४. तुलुव नरसिंह	... ,, १५६२—६४
५. बीर नृसिंह ..	,, १५६४—६६	६. कृष्णदेव राय	... ,, १५६६—८६
७. अच्युत राय	,, १५८६—६८	अनुमान	(कनकाभिषेक-पत्र ६)

विजयनगर का सबसे प्रतापी राजा कृष्णदेव राय हुआ, जिसका राज्यकाल सं० १५६६ से ८६ तक माना गया है। इसने अपनी राजनीति तथा सेनाशक्ति से राज्य का खूब विस्तार किया। धर्मात्मा, विद्वान्, नीतिकुशल और प्रख्यात योद्धा होने के साथ ही यह शास्त्र का गंभीर तत्त्वज्ञ था, इस कारण यदा कदाच पंडितों की शास्त्रार्थ-सभाओं का आयोजन किया करता था। प्रसिद्ध विद्वानों का सत्कार करना उसका एक सहज धर्म-सा था।

इसी राजा की एक सभा में एकत्रित पंडितों के साथ वल्लभाचार्य का शास्त्रार्थ हुआ, जिसका उल्लेख आगे किया जा रहा है।

राजा कृष्णदेव राय के बाद विजयनगर में योग्य शासक के न होने से उसका पतन प्रारंभ हो गया। आसपास के यवन-राज्यों ने अपना बदला लेने के लिये प्रबल सेनाएँ एकत्रित कीं। 'सदाशिव राय' एक नाममात्र का राजा हुआ। जिसका मंत्री रामराजा ही उस समय का वास्तविक राजा माना जाता था, पर वह घमंडी और ईर्ष्यालु था। नीतिकुशल न होने के कारण आस-पास के मुसलमान बादशाह उसके व्यवहार से अप्रसन्न हो गये और अहमदनगर, गोलकुंडा, बीजापुर के सुल्तानों ने मिलकर विजयनगर पर चढ़ाई कर दी। सं० १६२२ (सन् १५६५) में तालीकोट की लड़ाई में रामराजा हार गया और पकड़कर मार डाला गया। विजय के बाद मुसलमानों ने अपनी साहजिक प्रवृत्ति के अनुसार अत्याचार, लूट और हिंसा के द्वारा विजयनगर को ऐसा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया कि आज उसका केवल नाममात्र अवशिष्ट रह गया है *।

विजयनगर का शास्त्रार्थ—आचार्यचरण जब दक्षिणदेश की यात्रा करते हुए आ रहे थे, तब उन्होंने सुना कि विद्यानगर के महाराजा कृष्णदेव राय ने अपनी राजधानी में पंडितों की

---

* सन् १४४३ (सं० १५००) के लगभग 'अब्दुल रज्जाक'-नामक एक फ़ारस का राजदूत विजयनगर में आया था। उसने अपने यात्रा-वर्णन में विजयनगर-राज्य का अच्छा वर्णन किया है। —'भारतवर्ष का इतिहास'।

पुरातत्त्व-विभाग की खुदाई और अन्वेषण से जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे उस राज्य की समृद्धि का पता चलता है।

उक्त वृत्तांत वी० सूर्यनारायण शास्त्री तथा मि० सुबेल-रचित 'विजयनगर का इतिहास', तथा लल्लूभाई-प्राणजीवनदास-रचित 'वल्लभ-चरित्र'-नामक ग्रंथ से लिया गया है।

एक विशाल सभा बुलाई है, और उसमें कुछ दिनों से वेदान्त पर विविध सिद्धान्त-वादियों का विवाद चल रहा है। वल्लभाचार्य अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन का इसे उचित अवसर समझ माता को अपने मामा के यहाँ रखकर विजयनगर की शास्त्रार्थ-सभा में सम्मिलित हो गये। राजा तथा उपस्थित विद्वत्समाज ने अलौकिक तेज देखकर राजकीय सम्मान किया और उनको ले जाकर एक उच्च आसन पर विराजमान किया *।

---

* विजयनगर की उक्त शास्त्रार्थ-सभा के आयोजन तथा वल्लभाचार्य के वहाँ उपस्थित होने के विषय में निम्न-लिखित प्रकाश पड़ता है—

१—'वल्लभ-चरित्र' (पत्र २६) में—सभा के आयोजन के विषय में इस प्रकार लिखा है—

कृष्णदेव राजा की रानी मध्व-संप्रदाय की अनुयायिनी थी। उसके आग्रह से राजा भी व्यासतीर्थ के द्वारा उक्त संप्रदाय की दीक्षा लेना चाहता था। यह शांकर विद्वानों को सहन नहीं हो सका। परस्पर मन-मुटाव होता देखकर राजा ने शास्त्रार्थ द्वारा किसी एक पक्ष की विजय करानी चाही और अंत में विजयी संप्रदाय का शिष्य बनने का उसने विचार कर लिया। जिसके परिणाम-स्वरूप शास्त्रार्थ के लिये शैव और वैष्णव, दो पक्ष हो गये।

शास्त्रार्थ में एक ओर माध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और रामानुज-संप्रदाय के अनुयायियों का और दूसरी ओर शांकर, शैव, शाक्त आदि सिद्धांत के अनुयायियों का जमघट हो गया। दोनों पक्षों में से वैष्णवों की ओर से व्यासतीर्थ और शांकरों की ओर से विद्यातीर्थ का शास्त्रार्थ चला। इस शास्त्रार्थ में वैष्णवों का पक्ष निर्बल हो रहा था। आगे चलकर शांकरों की विजय और राजा के निश्चयानुसार उनके आचार्य का कनकाभिषेक होने की संभावना होने लगी थी कि—शास्त्रार्थ का समाचार सुनकर वल्लभाचार्य राजसभा में आ उपस्थित हुए। आपके उपस्थित हो जाने से शास्त्रार्थ का दूसरा ही रंग पलट गया।

२—'संप्रदाय-प्रदीप' (पत्र ५६) में—राजसभा में शास्त्रार्थ के सातवें दिन वल्लभाचार्य के आने का उल्लेख है।

३—'वल्लभीय सर्वस्व' (पत्र १०) में—वल्लभाचार्य के राजसभा में आने के पूर्व ६ मास से शास्त्रार्थ चलते रहने का उल्लेख है। पत्र ११ में विष्णुस्वामिसंप्रदाय की गद्दी पर वल्लभाचार्य के आसीन होने और बिल्वमंगल द्वारा तिलक किये जाने का भी लेख है। इसकी टिप्पणी में राजसभा में योग-बल के द्वारा कमण्डलु-प्रक्षेप-पूर्वक अपने आगमन की सूचना देने का भी ज़िक्र है, जो एक प्रकार की जनश्रुति है। वल्लभाचार्य के एक शिष्य का नाम भी कमण्डलु था। संभव है, इसी ने आगे जाकर उनके आने की सूचना दी हो।

४—'वल्लभ चरित्र' (पत्र २७) में—शंकराचार्य विद्यातीर्थ ने वल्लभाचार्य को अपने अर्ध-आसन पर बिठाया।

५—विजयनगर की शास्त्रार्थ-सभा में वल्लभाचार्य ब्रह्मचारी के वेश में पधारे थे। अतः नियमानुसार वह मेखला, कमण्डलु और दण्ड धारण करते थे। दण्ड-धारण की बात से उनके जीवन-चरित्र के

जिस समय वल्लभाचार्य सभा में पधारे, उस समय नास्तिकों और वेद-वादियों में शास्त्रार्थ चलकर वेद-वादियों का पक्ष नीचा गिर रहा था। इस सभा का नियन्त्रण उस समय माध्व-संप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ कर रहे थे। वल्लभाचार्य ने जब आस्तिक-समुदाय का पक्ष नीचा गिरते देखा, तो सभापति से बोलने की आज्ञा माँगी, और इसके बाद उनके साथ शास्त्रार्थ होने लगा। वल्लभाचार्य का बोलना था कि—पंडित-समुदाय में खलबली मच गई। उनके द्वारा नास्तिकों के पक्ष का जिस प्रकार खंडन किया गया, उसे सुनकर समस्त शास्त्रार्थ-सभा चकित हो गई। नास्तिक-समुदाय की एक-दो दिन में बोलती बंद कर उन्होंने अन्त में वेद के वास्तविक रहस्य प्रकट करने के लिये अपने सिद्धान्त की स्थापना शुरू की। इस सिद्धान्त को सुनकर अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी चुप न बैठ सके। फलतः उनके साथ भी शास्त्रार्थ होने का प्रसंग आ उपस्थित हुआ।

शांकर सिद्धान्त के साथ वाद-विवाद उपस्थित होते देख वैष्णव-सिद्धान्त के अनुयायियों ने भी उसमें भाग लेना शुरू किया, जिससे वल्लभाचार्य कुछ समय के लिये चुप होकर शास्त्रार्थ सुनने लगे। इस शास्त्रार्थ में अद्वैतवादियों ने वैष्णव-सिद्धान्त के पक्षपाती पण्डितों के दाँत खट्टे कर दिये, जिससे आगे चलकर उनकी विजय और वैष्णव-सिद्धान्त की पराजय हो जाने का अवसर आने लगा। पर यह वल्लभाचार्य को कब सह्य हो सकता था? अतः उनके साथ शास्त्रार्थ होने लगा। कुछ दिनों में उन्होंने अपने वाग्वैभव के द्वारा वेदान्त के वास्तविक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत की स्थापना कर पर-पक्ष का पूर्णतया खंडन कर दिया।

इनके इस प्रकार के प्रखर पाण्डित्य से सभापति, समस्त वैष्णव और पण्डित-मण्डल बड़ा प्रसन्न हुआ। व्याकरण आदि प्रासंगिक शास्त्रीय वादों में भी वल्लभाचार्य की अबाध गति देखकर लोगों को उनके वास्तविक वाक्पतित्व का अनुभव होने लगा। अन्त में विपक्षियों के निरुत्तर हो जाने पर सभापति व्यासतीर्थ ने अपना निर्णय

विषय में एक ग़लत धारणा फैल गई, जिसके लिये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी 'तदीय सर्वस्व' (पत्र १२) में लिखते हैं—"इसी ब्रह्मचर्य के दंड-धारण पर भ्रम से बहुत-से मूर्ख आक्षेप करते हैं कि श्रीवल्लभाचार्य पहले दण्डी थे, फिर गृहस्थी हुए।"

६—'वल्लभ चरित्र' (पत्र ३०) में—सब मिलाकर २८ दिन और 'वल्लभीय सर्वस्व' (पत्र १०) में सब मिलाकर २७ दिन तक वल्लभाचार्य के साथ शास्त्रार्थ होने का उल्लेख है।

सुनाते हुए शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त की पुष्टि की, और शास्त्रार्थ-सभा में सर्वतःउपरि वल्लभाचार्य की विजय घोषित की ।

इस सभा के प्रारंभ में पण्डित-मण्डल के समक्ष विजयी विद्वान् का राजा की ओर से कनकाभिषेक करने का उद्घोष किया गया था, फलतः राजा कृष्णदेव ने व्यासतीर्थ के अनुमोदन कर देने पर श्रीवल्लभाचार्य के कनकाभिषेक की उद्-घोषणा करवाई, और उसके लिये आगे का दिन नियत किया । राजा ने स्वय-मेव उपस्थित होकर श्रीआचार्यचरणों में प्रणाम कर विनम्र भाव से अपनी कृत-ज्ञता प्रकट की ।

वल्लभाचार्य के प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रभाव से सभा के अनेक विद्वान् उनके सिद्धान्त के अनुयायी हो गये । समागत वैष्णव-समाज तो अपनी इस विजय पर उनका पूरा-पूरा कृतज्ञ हो गया ।

व्यासतीर्थ और बिल्वमंगल—शास्त्रार्थ समाप्त होने के बाद अपना उत्तराधिकारी बनाने के लिये व्यासतीर्थ वल्लभाचार्य के समीप आकर उनकी विद्वत्ता की पूरी-पूरी प्रशंसा करने लगे । व्यासतीर्थ ऐसे ही किसी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विद्वान् को अपने संप्रदाय का आचार्य बनाना चाहते थे, इस सभा में उन्हें वल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य कोई विद्वान् ब्रह्मचारी दृष्टिगत नहीं हुआ था। अस्तु । उन्होंने अपना अभिप्राय वल्लभाचार्य से कहा, जिस पर उन्होंने आभार माना और प्रातःकाल इसका योग्य उत्तर देने की बात कहकर व्यासतीर्थ को बिदा किया ।

व्यासतीर्थ के चले जाने के कुछ समय बाद विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के आचार्य 'बिल्वमंगल' आये, जो वृन्दावन में यौगिक समाधि में स्थित होकर सम्प्रदाय के आचार्यत्व के लिये किसी योग्य पुरुष की प्रतीक्षा कर रहे थे ।

उन्होंने वल्लभाचार्य के समीप आकर अपना अभिप्राय व्यक्त किया और कहा कि—मैंने जब प्रस्तुत प्रसंग में समाधि में भगवान् से प्रार्थना की, तब उन्होंने आपके लिये आज्ञा दी थी। अतः समय आ गया है, जब आपको इस मार्ग का आचार्य बनकर इसकी उन्नति करनी चाहिये । यह सम्प्रदाय बहुत समय से किसी योग्य आचार्य के अभाव में एक प्रकार से उच्छिन्न हो गया है, अतः अब आचार्य बनकर आपको इसकी रक्षा करनी चाहिये ।

वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त और विष्णुस्वामिसम्प्रदाय की बहुत कुछ समानता देख, आन्तरिक प्रभु-प्रेरणा के वशवर्ती होकर बिल्वमंगलाचार्य के द्वारा विष्णुस्वामिसम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया तथाच प्रातःकाल होते ही व्यासतीर्थ को अपना सब वृत्तान्त कहला भेजा * ।

निश्चित दिन राजसभा में बड़े समारोह के साथ श्रीवल्लभाचार्य के कनकाभिषेक-+ उत्सव का आयोजन किया गया । सर्वप्रथम उनकी नगर में विजययात्रा

---

* बिल्वमंगल के विषय में 'संप्रदाय-प्रदीप' (पत्र ३०) में इस प्रकार लिखा है—

१—काशीवासी बिल्वमंगल—जिन्होंने अंतिम जन्म में जयदेव कवि के रूप में जन्म लेकर गीतगोविंद-नामक ग्रथ बनाया । प्रथम जन्म में इनका नाम माधवानल और इनकी पत्नी का नाम कामकंदला था । द्वितीय जन्म में यह बिल्हण और इनकी स्त्री शशिकला नाम से प्रख्यात हुई । तृतीय जन्म में बिल्वमंगल और उनकी स्त्री काशी-निवासिनी एक वेश्या हुई । अंतिम चतुर्थ जन्म में जब यह जयदेव हुए, तब इनकी पत्नी का नाम पद्मावती था ।

२—द्राविडदेशीय बिल्वमंगल—जो विष्णुस्वामिसंप्रदाय के आचार्य हुए । यही वल्लभाचार्य के समीप विजयनगर में उपस्थित हुए थे ।

३—उत्कलदेशीय बिल्वमंगल—जिन्होंने शतश्लोकी गोविंद दामोदर माधवस्तोत्र की रचना की थी ।

नाम-साम्य होने से अभी तक बिल्वमंगल के विषय में एक प्रकार का भ्रम फैला हुआ था, पर 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के द्वारा उक्त भ्रम का बहुत कुछ निराकरण हो जाता है ।

उक्त व्यासतीर्थ विजयनगर की उक्त शास्त्रार्थ-सभा के सभापति थे । इनकी प्रशंसा में सं० प्र० (पत्र ५६) में एक श्लोक में लिखा है—

मायावादिगजानीकनाशने सिंह-विक्रमः
कृष्णद्वैपायनो व्यासो व्यासतीर्थः कलौ युगे ॥ १ ॥

सम्प्रदाय प्र० (पत्र ५६) में—बिल्वमंगल ने स्वप्न में वल्लभाचार्य से समस्त वृत्तांत कहा और व्यासतीर्थ का उत्तराधिकारी न बनकर विष्णुस्वामिसम्प्रदाय की गद्दी सँभालने का भगवदभिप्राय व्यक्त किया ।

विष्णुस्वामी का चरित्र सम्प्र० प्र० के द्वितीय प्रकरण में विशदरीत्या वर्णित है ।

इनके विषय में 'गुजराती' (साप्ताहिक) बंबई का ता० १४-३-२८ का अंक द्रष्टव्य है ।

+ वल्लभाचार्यजी के कनकाभिषेक के विषय में कुछ विपक्षियों के द्वारा जो शंकाएँ उठाई गई हैं, उनका यथेष्ट समाधान निम्नलिखित ग्रंथों में किया जा चुका है—

१—'कनकाभिषेक'– विद्याविभाग, कांकरोली द्वारा प्रकाशित ।

२ – कनकाभिषेक नो इतिहास – लल्लूभाई-छगनलाल देसाई, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित । अब हम उक्त ग्रंथों का उद्धरण न देकर केवल साधक प्रमाणों का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक समझते हैं—

कराई गई, जिसमें आचार्यचरण ब्रह्मचर्याश्रम के नियमानुसार पैदल ही पधारे। उनके स्थान पर शिष्यों ने पालकी में भागवत की पुस्तक पधराई, और बड़े रंग-ढंग

(क) संप्रदाय-प्रदीप चतुर्थ प्रकरण।

(ख) संप्रदाय-कल्पद्रुम—

श्रीवल्लभ प्रभु को जबहिं रत्नपीठ बैठाय।
छिप्र स्वर्ण-अभिषेक किय कृष्णदेव हरषाय॥ १७॥

(ग) श्रीवल्लभाचार्यचरितम्।

(घ) वल्लभदिग्विजय—यदुनाथजी-कृत।

(ङ) कल्लोल—गुसाईंजी के सेवक कल्याणभट्टजी-कृत।

(च) वल्लभाख्यान—,, ,, ,, गोपालदास-कृत।

(छ) निजवार्ता—बैठक-चरित्र—गोकुलनाथजी-कृत।

(ज) श्रीमदाचार्य सकलावतार साम्यनिरूपण—हरिरायजी-कृत।

उक्त प्राचीन प्रमाणों के अतिरिक्त कुछ वर्ष पूर्व गुजरात के सावली नामक ग्राम के प्राचीन कुएँ से एक प्राचीन ताड़पत्र का लेख प्राप्त हुआ था और साथ में कुछ वस्तुएँ भी। यह वृत्तांत 'गुजराती' (साप्ताहिक पत्र, बंबई) सं० १९७९ दीपावली-अंक में प्रकाशित हुआ था। जहाँ-तहाँ त्रुटित होने के कारण उसमें से जो पंक्तियाँ तेलगु लिपि से पढ़ी जा सकी थीं, वे निम्नलिखित हैं—

१—विद्यापत्तनम् श्रीवर नृसिंह वर्म सार्वभौम—स्वस्ति श्रीसामराज्ये मीनमासे ११ लोकगुरु आचार्य चक्रवर्ती श्रीप्रभु वल्लभ हेमाभिषिक्तम्।

२—भट्टारक सप्तदिनाभिषिक्तानन्तर भूमि देव दक्षिणा सपाद लक्ष निष्क रजतमुद्रा निवेदितम्।

३—गो हस्ति वृषभानि कर्माटिकद—

४—द्वादश्या अरुणोदय बेलायां महाराज्ञी पट्टमहिषी माइनाक्षी देवी स्वकरे अभिषेक कृतम्।

५—आचार्य चक्रवर्ती पितृव्यसह राजपरिषदि आसीनम्।

६—करि १५ अश्व २१ वृषभ २८ कुर्म्मादिका १६ गोसवत्सा स्वर्णालंकारसह २७।

७—स्वर्णघट १०८ रजत १२१ ताम्र १३१।

८—कास्या १३५ मृत्तिका २४० स्वर्णरजत कूर्मासन भद्रासन स्वर्णदोलिका छत्र चामर नक्षत्रमालिका कृत्तिका ताड़वृत्त भृंगारक।

९—कटक केयूर कुंडल रत्नालंकार सम म—

रायलु सेनानी रामस्वामी शास्त्री दीपीक कृष्णमूर्ति अमात्य वेंकटनृसिंहदेव—वाल्मीकि लोकेश्वरी टीका आचार्य-चक्रवर्ती-कृत विजयादशमी पूर्ण। श्रीरामलीला कृपा समक्ष प्रेरणा, श्रीमहाभागवत लोकगुरु आचार्यचक्रवर्ती नित्य पाठक्रम, पंचसप्त आवृत्ति पूर्ण कार्त्तिक शु० ११ अब्द १५६५। पट्ट महिषी स्व इष्ट बलराम सह आचार्य चक्रवर्तिनमभिषिच्य स्वदेवं स्वगुरुं समर्पयेत्।

उक्त लेख तेलगु-लिपि में था और उसे एक लिपिज्ञ ने पढ़ा था। संभव है, जीर्ण पत्र होने के कारण लेख स्पष्ट न पढ़ा गया हो और प्रतीत होनेवाली संस्कृत-भाषा की अशुद्धियाँ रह गईं। इतना होने पर

और साज के साथ नगर की परिक्रमा होने के बाद राजसभा में आचार्यचरणों का पधारना हुआ। राजा कृष्णदेव ने अगवानी की, और ले जाकर उनको एक भव्य सिंहासन पर विराजमान किया।

राजसभा में विराजमान हो जाने पर राजा ने आचार्यचरणों का वेदविधि से पूजन किया, और समस्त पण्डित-समाज के बीच में जय-जयघोष के साथ सुवर्ण-मण्डित सिंहासन पर विराजमान वेदमन्त्रोचारपूर्वक सुवर्ण-निर्मित पुष्पों और सुगन्धित द्रव्यों से अधिवासित केशर-युक्त तीर्थ-जलों से उनका अभिषेक कराया गया। *

भी इससे यह विदित हो जाता है कि वल्लभाचार्यचरण सं० १५६५ में भी विद्यानगर में पधारे।

आफा-निवासी पं० जटाशंकर शास्त्रीजी के द्वारा ज्ञात हुआ था कि—इस कनकाभिषेक से संबंध रखनेवाले कुछ कागज़-पत्र आनागुंडी-नामक स्थान की राजमाता के पास हैं, जो राजा कृष्णदेव के वंश में है। उक्त विषय में विद्या-विभाग कांकरोली द्वारा 'कनकाभिषेक'-नामक ग्रंथ प्रकाशित किया गया है।

* कनकाभिषेक के समय-निर्णय के लिये निम्नलिखित विचार पर ध्यान देने की आवश्यकता है—

संप्रदाय क० पत्र २२ और ३४ में वल्लभाचार्य के दो बार विजयनगर जाने का वर्णन है, जिसमें प्रथम उनका कनकाभिषेक हुआ और दूसरी बार उन्होंने राजा कृष्णदेव को विष्णुयज्ञ करवाया।

निजवार्ता प्र० ३३ में लिखा है कि—

"तब आप काशी जाय तहाँ प्रथम विश्वेश्वर तथा विन्दुमाधव के दर्शन करे, पीछे अपनी ससुरार पधारे, और श्राद्धविधि करी, तब आपके संग के वैष्णवन ने ध्वजा ठाडी करि सूचित कियो, जो जिनकों वाद करनो होय सो करै। हमारे गुरुचरण राजा कृष्णदेव की सभा में संपूर्ण मायावादीन कों जीति जयपत्र ले आये हैं।"

यह प्रसंग विवाह के बाद एकत्र निवासार्थ विचार करने और अपनी पत्नी को काशी लेने जाने के समय का है।

इससे यह विदित होता है कि वल्लभाचार्य का विवाह दूसरी यात्रा के मध्य अथवा अंत में श्री-विट्ठलनाथजी के आज्ञा करने पर काशी में हुआ था। वल्लभाचार्य ने अपने १२ वर्ष पूर्ण होने अथवा १३वें वर्ष अर्थात् सं० १५४८ वै० शु० २ (नि० वा० प्र० १)—प्रथम यात्रा का प्रारम्भ किया। तीनों यात्राओं का समय मिलाने पर (१५४८+७+६+६)=प्रायः सं० १५६६, ६७ आता है, जब वल्लभाचार्य का विजयनगर में कृष्णदेव राजा के द्वारा कनकाभिषेक हुआ। राजा कृष्णदेव का राज्यकाल सं० १५६६ से १५८६ है।

उक्त सभी प्रमाणों की एकवाक्यता लगाते हुए यह मानना पड़ता है, कि वल्लभाचार्य का कनकाभिषेक सं० १५६६ के आस-पास हुआ।

अब केवल एक शंका रह जाती है कि यदि ऐसा, है तो सांप्रदायिक ग्रंथों में प्रथम यात्रा के समय कनकाभिषेक होने का उल्लेख क्यों है? इसका उत्तर निम्नलिखित है—

अभिषेक के अनन्तर योग्य वस्त्र-अलंकार आदि धारण कर चुकने के बाद राजा कृष्णदेव ने पुनः अचार्यचरणों का सांगोपांग पूजन किया, और समस्त उपस्थित विद्वत्समाज के द्वारा उनको विष्णुस्वामिसंप्रदाय के आचार्यपद की विरुदावली* अर्पित करते हुए जयघोष किया गया।

१—किसी भी ग्रंथ में कनकाभिषेक होने के ठीक संवत् का उल्लेख नहीं मिलता। अतः उसका ध्यान न रक्खा जाकर लेखकों ने घटना का ही ध्यान रक्खा।

२—वैष्णव लेखकों की भावुक दृष्टि प्रथम अथवा द्वितीय यात्रा में अनेक स्थलों पर शास्त्रार्थ और भक्ति-प्रचार करते रहने पर भी वल्लभाचार्य को इस सम्मान से रहित देखना नहीं चाहती थी, अतः जब कनकाभिषेक की घटना घटी ही थी, तो वे उससे उनको प्रथम यात्रा में ही क्यों वंचित रखने लगे? फलतः सम्मान-प्रदर्शनार्थ एवं अपने आचार्य के लिये साहजिक उत्कर्ष-प्रख्यापन के लिये घटना पर ध्यान दिया गया और संवत् को गौण समझ लिया गया।

प्रस्तुत विषय में अभी विशेष गवेषणा अवशिष्ट है, फिर भी संगति अथवा अनुमान के लिये मुझे यह मानना पड़ा है। अन्य प्रबल प्रमाण मिल जाने पर इसका संशोधन किया जा सकेगा।

* वल्लभाचार्य विष्णुस्वामिमतानुवर्ती थे अथवा नहीं, इस विषय में मतभेद है। जिसके अंगभूत साधक और बाधक दोनों प्रकार के प्रमाण मिलते हैं—

क—साधक प्रमाण—

१—सम्प्रदाय-प्रदीप पत्र ५६ से ६२ तथा १०२-३।

२—भगवत्तत्त्व-दीपिका—

"तत्र विष्णुस्वामि-प्रदर्शितोऽयं मार्गः, तदनवमौ तस्यात्मजौ श्रीगोपीनाथ विट्ठलेश्वरौ। श्रीवल्लभेन स्वीकृत्यश्रीविष्णुस्वामि-प्रदर्शितोऽयं सम्प्रदायस्तयोरुपदिष्टः।"

३—सम्प्रदाय-कल्पद्रुम पत्र २८ - विष्णुसम्प्रदाधिप भये श्रीवल्लभ द्विजराय ॥ २८ ॥

४—'आदौ श्रीपुरुषोत्तमं पुरहरं०' इस श्लोक में निर्दिष्ट आचार्य-परंपरा।

५—प्रचलित कुछ प्राचीन कीर्तन—विष्णुदासः—

"जो पै श्रीवल्लभ प्रकट न होते,
भूतलभूषण विष्णुस्वामिपथ शृंगार-शास्त्र सब रोते।

* * *

वन्देऽहं तं विमल हुताशं,
श्रीलक्ष्मणसुत विष्णुस्वामिपथ श्रुतिवचमण्डन कहै विष्णुदासम्।

६—निबन्धपुष्पिका—श्रीवल्लभाचार्यः—

"इति श्रीकृष्ण-व्यास-विष्णुस्वामि-मतानुवर्ति श्रीवल्लभदीक्षित-विरचिते शास्त्रार्थकथनं नाम प्रथमं प्रकरणम्।"

उस समय जो विरुदावली समर्पित की गई, वह इस प्रकार थी—

'श्रीवेदव्यास विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय-समुद्धारसंभृत श्रीपुरुषोत्तम-वदनावतार सर्वाम्नायसंचार वैष्णवाम्नायप्राचुर्यप्रकार श्रीबिल्वमङ्गलाचार्य साम्प्रदायिकार्पित सम्राजासनाखंड भूमण्डलाचार्यवर्य जगद्गुरु महाप्रभुः श्रीमदाचार्यः। ......"

(वल्लभ-चरित, पत्र ३५)

अनुपम त्याग—अभिषेक हो जाने के बाद राजा ने अभिषेक का समस्त सुवर्ण और पात्रादि वल्लभाचार्य को भेंट कर ग्रहण करने के लिये प्रार्थना की। उन्होंने उसे

७—सं० १५४६ में वल्लभाचार्य का लिखित अवन्तिका के पुरोहित का वृत्तिपत्र।

८—सं० १५६८ में लिखित बदरीनाथ के पुरोहित को दिया हुआ वल्लभाचार्य का वृत्तिपत्र।

९—प्रथमस्कन्ध सुबोधिनीप्रकाश। भूमिका श्लोक ३—श्रीपुरुषोत्तमजीः—

"श्रीगोपीपतिवन्दिने इत्यनेन परंपरया विष्णुस्वामिमतानुवर्ति गोपालोपासकत्वं सूचितम्।

ख—बाधक प्रमाण—

१—श्रीसुबोधिनी तृ० स्क० अध्याय ३२ श्लोक ३७—श्रीवल्लभाचार्यः—

"भेदः पारमार्थिक इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः। ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनः, रामानुजाश्चेति। तमो रजः सत्त्वैर्भिन्नाः अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः।

इसी एकमात्र बाधक प्रमाण को लेकर विष्णुस्वामिसम्प्रदाय से भेद बतलाया जाता है, पर हम इसको तथाकथित बाधक प्रमाण मानते हैं। तथाकथित इसलिये कि इसके "अस्मत्प्रतिपादितश्च" से जो वल्लभाचार्य का अभिप्राय लिया जाता है, वह भ्रम है। यह "स्वरूपं ते चतुर्विधं" इस पद की टीका है, अतः "अस्मत्०" शब्द से तात्पर्य भगवत्प्रतिपादित से है न कि श्रीवल्लभाचार्य-प्रतिपादित भक्ति-मार्ग से। हमारे इस कथन की पुष्टि आगे के वाक्य —"एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितोः" से होती है।

'तुष्यतु०' न्याय से यदि इस वाक्य से भेद मान भी लिया जाय, तो वह मूल भक्ति-मार्ग से नहीं, किन्तु पुष्टिमार्ग से विष्णुस्वामिमार्ग का विभेद माना जा सकता है।

इसमें यह मानना पड़ेगा—

१—वल्लभाचार्य ने बिल्वमंगल के द्वारा जिस भक्तिमार्ग सम्प्रदाय के उद्धार का भार लिया, वह प्राचीन परंपरा से प्राप्त श्रीविष्णुस्वामी का ही था। प्रारंभ में उन्होंने इसी सम्प्रदाय का प्रचार किया, और वे कृष्णदेव राजा की सभा में इसकी गद्दी पर विराजमान हुए।

२—गोकुल ठकुराणी घाट पर भगवान् कृष्ण ने प्रकट होकर श्रावण कृष्ण एकादशी को जब पुष्टिमार्ग के अनुसार जीवों के उद्धार का मार्ग चलाने का उपदेश दिया, तब से पुष्टिमार्ग की इस लोक में प्रवृत्ति हुई। इससे विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इससे वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग और विष्णुस्वामि का भक्तिमार्ग अलग-अलग माना जा सकता है। परन्तु भक्तिमार्ग में भेद मानने का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। भेद मानने पर उपर्युक्त साधक प्रमाणों का खंडन होता है, जिसका कोई भी उत्तर नहीं दिया जा सकता।

स्वीकार न कर उपस्थित निर्धन विद्वानों और ब्राह्मणों में वितरण करवा दिया। आचार्यचरणों की इस अनुपम त्यागवृत्ति से समाज के ऊपर अकथनीय प्रभाव पड़ा, जिससे चारों ओर उनकी स्तुति होने लगी।

राजा कृष्णदेव आचार्यचरणों का यह त्याग देखकर गद्गद हो गया। उसके हृदय में उनके प्रति प्रथम से भी अधिक श्रद्धा ने स्थान कर लिया। राजा ने समीप उपस्थित होकर जब शिष्य बनने की प्रार्थना की तब वल्लभाचार्य ने उसे वैष्णव-धर्म की दीक्षा दी।

दीक्षा ग्रहण कर राजा ने सोने के थाल में १००० स्वर्ण-मुद्राएँ रखकर भेंट कीं। आचार्यचरणों ने उसमें से केवल सात मुहरें लीं, जिनसे आगे चलकर यात्रा करते समय गिरिराज में श्रीनाथजी के लिये नूपुर, और शेष में से आधी मुहरों से पंढरीपुर की यात्रा में श्रीविट्ठलनाथजी ठाकुरजी के लिए स्वर्ण की कटिमेखला बनवाई गई। आधे द्रव्य से अपनी माता द्वारा पिता के समय का ऋण चुकवाया जाकर कुछ द्रव्य उन्होंने यज्ञ-यागादि के विनियोगार्थ पृथक् रखवा दिया।

राजा कृष्णदेव को वैष्णव-धर्म का उपदेश * देकर उन्होंने अपनी यात्रा का प्रारंभ किया। माता को अपने मामा के यहाँ रखकर दक्षिण-यात्रार्थ विजयनगर से चलकर उन्होंने सब तीर्थों की यात्रा की और स्थान-स्थान पर विद्वत्समाज के सम्मुख शास्त्रार्थ द्वारा अपने सिद्धान्त और भक्ति-मार्ग की स्थापना की। जहाँ २ उन विद्वानों से वार्तालाप होता, वहाँ २ उनकी उन पर अवश्य छाप पड़ती, जिससे शुद्धाद्वैत का अतिशय प्रचार होने लगा। वल्लभाचार्य की विद्वत्ता, शास्त्रार्थ, धर्म-प्रचार एवं अलौकिकता से प्रभावित होकर अनेक पंडित, विद्यार्थी, साधु, सन्त, महन्त उनके शिष्य होने लगे। भारत में चारों ओर उस समय उनकी ही विजय-वैजयन्ती फहराने लगी।

---

* आचार्यचरण ने राजा कृष्णदेव को इन दो श्लोकों के आधार पर उपदेश दिया था—

आश्रित्याश्रम-धर्ममत्र भवता स्थेयं प्रजा रक्षता
सेव्यः श्रीरमणः सदा हरिजनैः कार्याधिका संगतिः।
आजीव्यं विदुषां विधाय जगतां योज्याश्च ते शिक्षणे
दीनानां दयया, नयेन, विनयैः कीर्तिर्विधेया चला। १।

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनं। इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्। २।

द्वारका-यात्रा—एक समय दक्षिण-यात्रा समाप्त कर वल्लभाचार्य पश्चिम-यात्रार्थ पधारे, और यहाँ भी भक्ति का प्रचार कर लोक का उद्धार किया। द्वारकापुरी में उनका संन्यासियों के साथ गीता-विषय पर अनेक दिनों तक विवाद चला और अंत में उन्होंने विजय प्राप्त कर गीता का वास्तविक रहस्य समझाया।

बदरीनाथ-यात्रा—पश्चिम-भारत की तीर्थयात्रा कर वे संवत् १५६८ ज्येष्ठ मास में उत्तरापथ बदरिकाश्रम में पधारे। यहाँ के समस्त धामों में भ्रमण कर उन्होंने अपने सिद्धांत का प्रचार किया और कुछ समय रहकर सुबोधिनी का प्रवचन किया। यहाँ व्यास-आश्रम में जाने पर उनको एक दिन भगवान् वेदव्यास के सहसा दर्शन हुए। जहाँ उन्होंने उनके समक्ष अपनी कुछ शंकाएँ रखकर उनका समाधान कराया।

वेदव्यास के दर्शन तथा परिचय का उल्लेख वल्लभाचार्य ने अपने पुरोहित को दिये हुए वृत्तिपत्र में किया है *। इस प्रकार उत्तर-यात्रा समाप्त कर उन्होंने पूर्व भारत की यात्रा की।

---

* बदरीनाथ के पुरोहित वासुदेव तैलंग को जो वृत्तिपत्र लिखकर प्रदान किया, वह इस प्रकार है—
"श्रीबालकृष्णवात्सल्यनिष्ठानिमग्नमानसः श्रीवेदव्यास विष्णुस्वामिमतानुवर्त्यः श्रीवल्लभाचार्यः ॥"
(श्रीवल्लभाचार्यजी के उपरि लिखित हस्ताक्षर तेलगु-लिपि में है)

गोभिर्वृतं प्रकृति-सुन्दरमन्दहास-भासा समुल्लसित मञ्जुलवक्त्रबिम्बम्।
श्रीनन्दनन्दनमखण्डितमण्डलाभं बालार्यमश्रियमहं हृदि भावयामि ॥ १ ॥

ग्रामे 'कांकरवाल' नाम्नि विमले देशे तथा दक्षिणे
पञ्च द्राविडभूसुरान्वय-भवस्तैलंगजाति-प्रथैः।
भारद्वाजकुलैरलंकृत—गुणापस्तम्ब—सूत्रैस्तथा
गृह्यैराश्रित तैत्तिरीयविटपैर्यः सोमयज्ञः कृतः ॥ २ ॥

यज्ञे यज्ञे यज्ञनारायणोऽस्मिन् साक्षाद्विष्णुर्विप्रवंशावतंसः।
तस्माल्लोके सोमयाजीति वाच्यः प्राचां रक्षन कीर्तिमार्तिं च धुन्वन् ॥ ३ ॥

तस्मात् जातः सोमयाजी पदान्तः सिन्धोश्चन्द्रः श्रील गंगाधराख्यः।
तस्मान्मान्यः श्रीगणेशाभिधानस्तस्माच्छ्रीमान् वल्लभोऽजायतात्र ॥ ४ ॥

ततोभवल्लक्ष्मणभट्टनामा महानुभावो विदुषां वरिष्ठः।
श्रीवल्लभाचार्यवरस्ततोऽभून्नराकृतिर्ब्रह्मनिगूढ तत्त्वः ॥ ५ ॥

श्रीनाथजी का प्राकट्य—वल्लभाचार्य प्रथम यात्रा करते हुए जब सं० १५४९ में झारखंड में विद्यमान थे, उस समय सहसा उनको फा० शु० ११ गुरुवार के दिन श्रीनाथजी की इस प्रकार की आंतरिक आज्ञा हुई कि—आप व्रज में आकर मेरा प्राकट्य करिये। श्रीनाथजी की इस इच्छा को प्रधान महत्त्व देकर वल्लभाचार्य ने अपनी यात्रा बीच में ही स्थगित कर दी और गिरिराज में श्रीनाथजी का प्राकट्य कर पुनः यहीं से यात्रा करने का विचार किया।

ऐसा विचार कर वह शीघ्र ही झारखंड से अपने शिष्यवर्ग के साथ व्रज को रवाना हुए और कुछ समय बाद मथुरा पहुँचकर वहाँ भागवत की पारायण की। पारायण समाप्त कर वे परिक्रमा करते हुए गिरिराज की तलहटी में आन्योर

तं वैष्णवं सकलसम्मत सम्प्रदायं यो वल्लभाह्वयतया वितनोतुमिच्छन्।
बाल्ये विहाय निजदेशमुदारवेशः श्रीमद्व्रजे स्वयमुवास स मन्दहासः॥ ६॥

वृन्दावनान्तर-महीरुहराजिरम्यं श्रीगोकुलेन विमलेन च शोभमानम्।
आमन्द यामुन-तरंगसमीरणाढ्यं गोलोकतोऽधिकममंस्त च तं सुरार्च्यम्॥ ७॥

तत्र स्वयंवर-समागत हृद्य विद्या-विद्योतमान-विभवो भवतापहीनः।
श्रीगोकुले चिरकृतस्थितिरात्मसंस्थः श्रीनन्दनन्दनमुपाचरदार्यभावः॥ ८॥

विद्वद्भिः किलकृष्णदासकमुखैः शिष्यैरनेकैर्वृतः।
सोऽहं श्रीबदरीवनान्तमगम शुक्रे (ज्येष्ठ) शकाब्दे तथा
देवाम्भःपति भू १४३३ मिते सह नरं नारायणं वीक्षितु (१४३३+१३५=१५६८ सं०)
तत्र 'व्यासमुनीश'-संगतिरभूदाकस्मिकी मे शुभा॥ ९॥

अत्र श्रीवासुदेवाख्यः पौरोहित्ये वृतो मया, तैलंग-वंश-संभूतः स्वाध्यायाचारचंचुरः॥ १०॥

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभूणां नियोगतो बुद्धिमतां विभाव्यः।
'श्रीरामकृष्णाभिधभट्ट एतं लेखं व्यतानीत्पुरतश्च तेषाम्॥ ११॥

× × ×

वल्लभाचार्य ने दोबार बदरिकाश्रम की यात्रा की। एक बार सं० १५६८ ज्येष्ठ मास में और दूसरी बार कभी वामनद्वादशी पर। एक बार में उन्होंने 'वामबाहुकृत०' (युगलगीत) की सुबोधिनी और दूसरी बार "आत्मत्वाद्भक्तवश्यत्वाद्" (भ्रमरगीत २९) पर प्रवचन किया। यह आधा श्लोक उनको व्यासजी द्वारा प्राप्त हुआ था। जिसकी टीका उन्होंने पहले ही कर ली थी। "अनुग्रह" चैत्र १९९४।

नामक ग्राम में जा पहुँचे, और वहाँ व्रजवासी सद्दू पांडे के घर के आगे चबूतरे पर डेरा डाला। वार्ता-प्रसंग चलने पर यहीं उनको श्रीनाथजी के विषय में प्राचीन वृत्त विदित हुआः—

सं० १४४६ श्रावण कृष्ण ३ रविवार के दिन प्रातःकाल गिरिराज पर्वत में सहसा श्रीनाथजी की ऊर्ध्व वामभुजा का प्रादुर्भाव हुआ। इस समय किसी भी व्यक्ति को इसकी खबर न हुई। श्रावण सुदी ५ नाग-पंचमी के दिन एक व्रजवासी अपनी गाय खोजता हुआ जब गिरिराज पर पहुँचा, तो वहाँ उसने ऊपर की ओर निकली हुई केवल भुजा के दर्शन किये।

किसी मूर्ति की इस प्रकार निकली हुई भुजा देखने के लिये प्रतिदिन व्रजवासियों का समूह आने लगा, और सब लोग अपनी श्रद्धा-भक्ति के कारण दूध-दही चढ़ाकर उसकी पूजा करने और मानता मानने लगे। इस प्रकार प्रतिवर्ष नाग-पंचमी के दिन वहाँ एक बड़ा मेला लगने लगा। धीरे-धीरे देवदमन, श्रीनाथजी अथवा श्रीगोवर्धन-नाथजी की चारों ओर प्रख्याति होने लगी, और कालक्रम से शनैः-शनैः श्रीनाथजी के स्वरूप का भी प्रादुर्भाव होने लगा।

जिस दिन वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ—सं० १५३५ वैशाख कृष्ण ११, उसी दिन मध्याह्नकाल में श्रीनाथजी के मुखारविंद का भी प्राकट्य हुआ और लोगों ने उपस्थित होकर बड़ा उत्सव मनाया। व्रजवासी लोग श्रीनाथजी की बड़ी भक्ति-पूर्वक आराधना करने लगे। उस समय से व्रज में श्रीनाथजी का नाम देवदमन, इंद्रदमन और नागदमन रूप में प्रख्यात हुआ। आन्योर-निवासी सद्दू पांडे प्रतिदिन अपनी गाय का उत्तम दूध ले जाकर श्रीगोवर्द्धननाथजी को भोग लगाने लगा।

कुछ समय बाद गौडिया-सम्प्रदाय के वैष्णव माधवानन्द-नामक एक विरक्त साधु व्रज की यात्रा करते हुए आन्योर में आये। यहाँ सद्दू पांडे और अन्य व्रजवासियों के द्वारा उनको श्रीनाथजी के दर्शन हुए। वह बड़े भावुक और भगवत्सेवापरायण भक्त थे। अतः श्रीनाथजी के दर्शन कर प्रेम से गद्गद हो गये। उन्होंने बड़े प्रेम से श्रीनाथजी की सेवा की और मोरचंद्रिका तथा गुंजा की माला पहिनाकर भोग

लगाया। माधवानन्द स्वामी इस प्रकार वहाँ रहकर प्रतिदिन श्रीनाथजी की सेवा करते हुए भगवन्नामोच्चारण द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करने लगे।

सं० १५४९ फा० शु० ११ के दिन झारखंड में हुई व्रज आने की प्रेरणा के कारण वल्लभाचार्य कुछ दिनों में गिरिराज आ गये। यहाँ आकर उन्होंने सद्दू पांडे द्वारा सब वृत्तान्त सुना और श्रीनाथजी के दर्शन कर कुछ समय बाद उनका पाटोत्सव किया, तथाच सेवा-शृंगार का क्रम बाँधकर अप्सरा-कुंड पर निवास करनेवाले रामदास-नामक व्यक्ति को सेवा का भार सौंपा।

कुछ समय बाद वल्लभाचार्य ने श्रीगिरिराज पर एक छोटा-सा मंदिर बनवाया और उसमें श्रीनाथजी को विराजमान कर अपनी यात्रा के लिये प्रस्थान किया। उन्होंने अपनी यात्रा झारखंड से स्थगित की थी, अतः वहीं जाकर पुनः यात्रा का प्रारंभ किया।

वल्लभाचार्य समय-समय पर जब अपनी यात्रा समाप्त करते, तब वह गिरिराज आकर श्रीनाथजी की सेवा और प्रबंध करते थे। सं० १५५६ चैत्र शु० २ को पूर्णमल्ल नामक खत्री को श्रीनाथजी के मंदिर बनाने की आन्तरिक प्रेरणा हुई। उसने गिरिराज आकर श्रीनाथजी के दर्शन किये और वल्लभाचार्य से आज्ञा लेकर मन्दिर बनवाने का विचार प्रकट किया। आगरा के 'हीरामन'-नामक एक मिस्त्री से मंदिर का नक़्शा बनवाया गया, जिसे वल्लभाचार्य ने शिखर वाला होने पर भी श्रीनाथजी की इच्छा जानकर बनवाना स्वीकार कर लिया।

सं० १५५६ वैशाख शु० ३ के दिन गिरिराज पर श्रीनाथजी का नवीन मंदिर बनना प्रारंभ हुआ। पूर्णमल्ल के पास मंदिर-निर्माण के लिये जो द्रव्य था, वह खर्च हो गया, अतः कुछ समय बाद उसका बनना बंद हो गया और मंदिर अधूरा ही रह गया। पूर्णमल्ल ने पुनः व्यापार द्वारा धन एकत्र किया और मंदिर का काम फिर से शुरू हुआ। इस प्रकार बीस वर्ष में (सं० १५७६ वैशाख शु० ३ के दिन) श्रीनाथजी का मंदिर बनकर तैयार हुआ और वल्लभाचार्य ने गिरिराज आकर श्रीनाथजी को विराजमान किया। उस समय उन्होंने भक्त और विरक्त बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथजी की सेवा सौंपी। मंदिर के प्रबंध के लिये कृष्णदास को अधिकारी, और कुंभनदास को कीर्तनिया नियत कर वल्लभाचार्य अपने स्थायी निवासस्थल चरणाट चले गये।

इस बीच में कई बार आकर उन्होंने श्रीनाथजी की सेवा की और अपनी पत्नी, माता और पुत्रों को श्रीनाथजी के चरणस्पर्श कराकर सेवामार्ग की शिक्षा दी। आचार्यचरणों के अनन्तर उनके पुत्र गोपीनाथ तथा उनके बाद विट्ठलनाथ ने श्रीनाथजी की सेवा का प्रकार और वैभव बढ़ाकर पुष्टिमार्ग का एक आदर्श स्थापित किया।

अन्य सेव्य स्वरूप—वल्लभाचार्य को अपनी यात्राओं के समय विशेष स्थानों पर कई भगवद्विग्रह प्राप्त हुए, जिन्हें उन्होंने योग्य वैष्णवों के पास आग्रह पर उनके सेवा के लिये पधार दिये। आचार्यचरण ने जहाँ कथावार्तादि के द्वारा भगवन्नामसेवा का प्रकार प्रकट किया, वहाँ भगवत्स्वरूपों की सेवा स्थापित कर स्वरूपसेवा का भी क्रम प्रचलित किया। श्रीमथुरेशजी, श्रीविट्ठलनाथजी श्रीद्वारकाधीशजी आदि दस स्वरूप उनके द्वारा सेव्य होकर वैष्णवों के घर विराजमान हुए, जो पीछे से श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा उनके सात पुत्रों में बाँट दिये गये, और जिनके नाम से सम्प्रदाय के सात पीठ स्थापित हुए। इन स्वरूपों * की प्राकट्य-वार्ता तथा चरित्र द्वारा वल्लभाचार्य की सेवा-भावना पर प्रकाश पड़ता है, ग्रंथ-विस्तार-भय से जिसका यहाँ वर्णन करना अभीष्ट नहीं।

---

* इस विषय में श्रीव्रजभूषणजी महाराज ने स्वरचित वंशावली के साथ स्वरूपों के आगमन के विषय में इस प्रकार लिखा है—

अत्रिम्मा यह नाम है श्रीवल्लभ की सासु। उनके गोकुलनाथजी ठाकुर पहिले पासु ॥२४॥
विट्ठलेशसुर रायजी पाछे आये जानि। गिरिचरणा ढक चोहटे सपन दियो मन मानि ॥२५॥
ले आये आचारजी थापे निज गृह बीच। सेवा में तत्पर भये महाभक्ति रसलीन ॥२६॥
माता श्रीआचार्य की इलमगारु तिहि नाम। मदनमोहनजी प्रथम तहाँ बैठे पाट सुघाम ॥२७॥
गज्जन खत्री धावना वास कालपी गाम। आये प्रभु आचारजी नवनीत प्रिय नाम ॥२८॥
करनावलि तट टूटि के प्रकटे मथुरानाथ। तिनके श्रीआचारजी पाट घरे निज हाथ ॥२९॥
खत्री दामोदर लखे जाति सुसंभरवार। अंबरीष अवतार है चिंतन भक्ति अपार ॥३०॥
तिनहिं द्वारिकानाथजी बैठे पाट उदार। श्रीवल्लभ गृह माँह वे लीला करत अपार ॥३१॥
भूमि महावन बीच ते प्रगटे गोकुलचद। नारायण ब्रह्मचारि को सौंपे प्रभु सुखकंद ॥३२॥
प्रभु श्रीविट्ठलनाथ के खेलन को हरि रूप। द्वारिकेशजी संग हैं बालकृष्णजी भूप ॥३३॥
भंडारिन के सेवि हैं श्रीनटवरजी राय। असौकर्य ते राखियो श्रीमथुरेश सुहाय ॥३४॥
सात गुसाईं दश प्रभु सेवत चित्त लगाय। तिनको कुल विस्तार ते श्रीगोकुल सरसाय ॥३५॥

विवाह और संतति—अपनी दूसरी बार की यात्रा में वल्लभाचार्य ने बाधित होकर काशी आकर सं० १५६०-६१ में अपना विवाह किया। बात यह थी कि वह विवाह न कर ब्रह्मचर्य-आश्रम द्वारा ही अपने जीवन का कर्तव्य पूरा करना चाहते थे, पर ऐसा न कर सके। उनको यात्रा के समय श्रीविट्ठलनाथजी ने पंढरीपुर में विवाह करने की आज्ञा प्रदान करते हुए कहा कि—आपके अनन्तर भक्ति-मार्ग के प्रचारार्थ किसी योग्य उत्तराधिकारी की आवश्यकता है। इस भगवदाज्ञा के कारण वल्लभाचार्य इच्छा न होते हुए भी काशी जाकर विवाह करना पड़ा।

उनके श्वशुर का नाम मधुमंगल, सास का नाम अत्रिम्मा और पत्नी का नाम श्रीमहालक्ष्मी था *।

आगे चलकर आचार्यचरण के निम्न-लिखित पुत्र-रत्न प्रकट हुए—

१—गोपीनाथजी प्राकट्य सं० १५६८ आश्विन कृ० १२

२—विट्ठलनाथजी ,, ,, १५७२ पौष कृ० ९

ये दोनो महानुभाव बड़े ही विद्वान्, सदाचारी और प्रख्यात आचार्य हुए हैं। इनमें से प्रथम गोपीनाथ का सं० १६२० के लगभग नित्य-लीला में प्रवेश हो गया, और बाद में उनके अनुज विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय का

* नि० वा० प्र० २८ के अनुसार आचार्यचरण की द्वितीय यात्रा की पूर्ति का समय सं० १५६०-६१ निकलता है, अतः इसी बीच में विवाह मानना चाहिये।

सं० कल्पद्रुम (पत्र ४२) में आपके द्विरागमन का समय सं० १५६५ वै० शु० ३ दिया है, जो कार्त्तिकादि है, अतः चैत्रादि सं० १५६६ वै० शु० ३ के दिन आपका द्विरागमन हुआ, जो विवाहानन्तर शास्त्रीयरीत्या ठीक है। इस हिसाब से आदर्श आचार्य के ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि २४ वर्ष बराबर निकल आती है।

इस चरित्र के अंत में मुद्रित परिशिष्ट से विवाह के समय आचार्यचरण की अवस्था १६ और इनकी पत्नी की ६ वर्ष बतलाई है, जो अप्रामाणिक जचती है।

विवाह के समय श्रीवल्लभाचार्य की पत्नी की वय कम-से-कम ८ वर्ष मानने से उनका जन्म सं० १५५३ के आस-पास होना चाहिये। सं० १५६६ में द्विरागमन के समय इनकी वय १३ के करीब आती है, द्विरागमन का उचित काल है। इसके दो वर्ष बाद सं० १५६८ आश्विन कृष्णा १२ को प्रथम पुत्र गोपीनाथ का जन्म हुआ। इस समय नि० वार्ता प्र० ३५ के अनुसार वल्लभाचार्य की अवस्था ३२ वर्ष थी और इनकी पत्नी की १६ वर्ष के आस-पास।

सं० कल्पद्रुम में आचार्यचरणों के श्वशुर का नाम 'मधुमंगल' लिखा है, और 'वल्लभ-चरित्र' में 'देवव्रत'। संभव है, संन्यासाश्रम स्वीकार करने पर 'देवव्रत' नाम पड़ा हो।

आचार्यत्व स्वीकार किया। उन्होंने सर्वत्र भ्रमण, प्रचार और शास्त्रार्थ कर शुद्धाद्वैत-सिद्धांत की स्थापना की और शु० संप्रदाय के सात पीठ स्थापित किये।

कृष्णचैतन्य से सम्मिलन—वल्लभाचार्य भक्तिमार्ग के प्रचारक अन्य आचार्य, सन्त, महन्त तथा महात्माओं के साथ आदरभाव और पूर्ण घनिष्ठता रखते थे। भक्ति-प्रचार का उद्देश होने के कारण सैद्धान्तिक मत-भेद को वह महत्त्व नहीं दिया करते थे।

एक बार जगन्नाथपुरी में चैतन्य महाप्रभु से मिलाप होने पर दोनो आचार्यों में बड़ा प्रेमपूर्ण वार्तालाप हुआ। इस मित्रता का परिणाम यह हुआ कि--वे एक दूसरे को भगवद्रूप मानने लग गये। एक बार भगवन्नामोच्चारण का प्रसंग छिड़ने पर वल्लभाचार्य ने चैतन्य महाप्रभु से प्रश्न किया कि--आपके मार्ग में नाम का क्या माहात्म्य है? इस पर चैतन्य महाप्रभु ने कहा कि--हमारे यहाँ जो एक बार भी भगवन्नाम ले लेता है, वह बड़ा ही पुण्यात्मा है, और एक बार भी नाम ले लेने से उसका उद्धार हो जाता है। इसी प्रसंग में चैतन्य महाप्रभु के प्रश्न करने पर वल्लभाचार्य ने कहा कि—हमारे यहाँ बैल के सींग पर राई ठहरे इतने समय भी यदि भगवन्नाम न लिया जाय, तो आसुर भाव का आवेश हो जाता है। अतः भगवन्नाम से कदापि विमुख न होना चाहिये।

इस प्रश्नोत्तर पर दोनों आचार्य एक दूसरे के सिद्धान्त पर बहुत प्रसन्न हुए। इन दोनो के व्यवहार और वार्तालाप से शिष्य-समुदाय पर भी बहुत अच्छा असर पड़ा।

एक बार चैतन्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के समीप ऐसे समय आये, जब भोजनादि से सब लोग निवृत्त हो गये थे। वल्लभाचार्य ने अपनी पत्नी से चैतन्य को भोजन करवाने के लिये कहा। उन्होंने भोजन तो शीघ्र बना लिया, पर अब वह ठाकुरजी को भोग लगाने के विषय में बड़ी असमंजस में पड़ गईं। कारण यह था कि—ठाकुरजी का अनवसर हो चुका था और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तानुसार न तो विना समय हुए ठाकुरजी को जगाया ही जा सकता था और न अनप्रसादी भोजन ही परोसा जा सकता था। विलंब होने का कारण जब वल्लभाचार्य को विदित हुआ, तो उन्होंने पत्नी के द्वारा चैतन्य के सम्मुख भोजन की पातल परोसवाकर भोजन कराते हुए कहा कि—इनके हृदय में विराजमान साक्षात् श्रीकृष्ण स्वयं ही प्रथम आरोग लेंगे।

इस कथन को सुनकर उपस्थित वैष्णवों को कृष्ण चैतन्य की महानुभावता विदित हुई और वे उनको भी एक अलौकिक महापुरुष मानने लगे। भोजन और वार्तालापादि कर कुछ समय बाद चैतन्य वल्लभाचार्य से बिदा होकर यात्रार्थ चले गये।

काशी का शास्त्रार्थ—विवाह हो जाने के अनंतर वल्लभाचार्य ने जब अपनी तीनों यात्राएँ समाप्त कर विधिवत् गृहस्थाश्रम की पालना के लिये एक स्थान में निवास करना आवश्यक समझा, तब उन्होंने प्रयाग के समीप अडेल-नामक ग्राम में अपना आश्रम बनवाया और कई सजातीय व्यक्तियों को भी वहीं लाकर रक्खा। कहते हैं, उस समय इस तैलंग-जातीय समुदाय का निवास-स्थल 'देवर्षि'-नामक ग्राम कहलाता था।

कुछ समय बाद अडेल छोड़कर वह काशी के पास 'चरणाट'-नामक ग्राम में जाकर रहने लगे। जब चरणाट में प्रतिदिन काशी से शास्त्रार्थ के लिये विद्वान् आने लगे, तब उन्होंने कुछ दिनों के लिये काशी जाना उचित समझ शिष्यों-सहित वहाँ के लिये प्रस्थान कर दिया।

काशी पधारने पर अनेक पंडित उसके पास विवाद करने आने लगे। उनमें जो प्रखर विद्वान् होते, उनसे वह स्वयं शास्त्रार्थ करते और साधारण पंडितों से शिष्य-समुदाय का शास्त्रार्थ चलता। अन्त में शास्त्रार्थ की एक नवीन प्रणाली निकाली गई। वैदिक सिद्धान्त का एक पत्र लिखकर प्रतिदिन श्रीविश्वेश्वर के दरवाज़े पर लगाया जाने लगा। जो पत्र आगे चलकर 'पत्रावलंबन'*- नामक ग्रन्थ-रूप से प्रख्यात हो गये। इससे काशी-क्षेत्र में हलचल मच गई, जिसके फलस्वरूप

* पत्रावलंबन ग्रन्थ की रचना के विषय में द० दि० विजयी श्रीपुरुषोत्तमजी ने उक्त ग्रन्थ की टीका के प्रारंभ में इसका निर्देश किया है।

वल्लभाचार्यचरण ने पत्रावलंबन में अन्त में इस प्रकार लिखा है—

काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु।
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा॥ ३८॥
न भयं तेन कर्तव्यं ब्रह्मणानामियं गतिः।
डिंडिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि॥३९॥
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः।

इससे ज्ञात होता है कि तृतीय यात्रा-समाप्ति के बाद 'पत्रावलंबन' ग्रन्थ का निर्माण हुआ, जिससे इसकी रचना का समय अनुमान से सं० १५६८ माना जा सकता है।

उक्त समय की पुष्टि निजवार्ता प्र० ३३ से भी होती है।

संन्यासी उपेन्द्राश्रम आदि विद्वानों के साथ कितने ही दिनों तक इस विषय में शास्त्रार्थ चलता रहा पर अन्त में वल्लभाचार्य ने सबका सन्तोष कर विजय-लाभ किया।

८४ बैठक और शिष्य—वल्लभाचार्यचरण ने अपने १३वें वर्ष (वै० कृ० २ सं० १५४८) से प्रथम यात्रा का प्रारंभ किया, जो सं० १५५४ वै० शु० ३ के दिन ७ वर्ष में पूर्ण हुई। द्वितीय यात्रा सं० १५५५ चै० शु० २ से और तृतीय सं० १५६१ में शुरू हुई। इस तरह उनको अंतिम दो यात्राओं में छै-छै वर्ष का समय लगा। इस प्रकार झारखंड से श्रीनाथजी के प्राकट्यार्थ गोकुल और द्वितीय यात्रा में पंढरीपुर से काशी विवाहार्थ आने-जाने का समय मिलाते हुए आपकी तीनों यात्राएँ सं० १५६८ के अंत तक पूर्ण हो चुकी थीं। यात्रा-समाप्ति के समय वल्लभाचार्य की अवस्था ३०-३१ वर्ष की थी *।

इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में समस्त भारत की तीन बार यात्रा की और स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ, उपदेश तथा भक्ति-मार्ग का प्रचार किया, और उत्तम स्थानों में कुछ समय रहकर भागवत की साप्ताहिक पारायण कीं। भारत में इनके भागवत-पारायण के स्थान एकत्र ८४ है, जो 'बैठक' नाम से प्रसिद्ध है। राजनैतिक अशांतिमय वातावरण में कष्ट उठाकर—इस प्रकार अपने त्याग, अलौकिक तेज और सेवा-भाव से भारतीय जनता का जो उपकार किया गया है, वह भुलाया नहीं जा सकता। शुद्धाद्वैत-सिद्धांत की स्थापना कर उन्होंने जगत् के सम्मुख जो अनुपम वैदिक रहस्य रक्खा है, वह विद्वानों का एक विचारणीय विषय और उनके लिये अलौकिक देन है।

आचार्यचरण के जीवन में उनके अनेक शिष्य हुए, जिनमें ८४ वैष्णव ऐसे हैं, जिनका आदर्श मिलना अत्यंत कठिन है। कई लोग इस प्रकार की शंका उठाया करते हैं कि—वल्लभाचार्य को अपने जीवन में बहुत कम सफलता मिली, जिससे उनके केवल ८४ ही शिष्य हो सके। ऐसे व्यक्ति इतिहास से अनभिज्ञ हैं। उन्हें ध्यान नहीं है कि—इस '८४ वैष्णव की वार्ता' का संकलन पीछे से उनके पौत्र गोकुलनाथ-जी ने किया है, और उसमें चुन-चुनकर आदर्शरूपेण इन ८४ वैष्णवों को ही स्थान दिया गया है। जिसके द्वारा आचार्यचरण के अनेक उच्च कोटि के शिष्यों का जीवन-चरित्र विदित हो सकता है।

* नि० वा० प्र० १, २८, ४०।

वल्लभाचार्य ने जहाँ पंडित-समाज के आगे शास्त्रार्थ द्वारा शुद्धाद्वैत-सिद्धांत की स्थापना की, वहाँ उन्होंने सर्व-साधारण के लिये भक्ति-भागीरथी का ऐसा निर्मल प्रवाह बहाया, जो यवनोपद्रव से अशांत मानव-जीवन को शांति-सुधा से आप्लावित कर सका। इस प्रवाह के चलाने में हिंदी-साहित्य के देदीप्यमान रत्न सूरदास जैसे कई महानुभाव भी सम्मिलित थे, जिनकी न तो उपमा दी जा सकती है और न जिनका उपकार ही भुलाया जा सकता है। यवन-साम्राज्य में व्रजभाषा-द्वारा हिंदी-साहित्य की रक्षा और प्रचार का सारा श्रेय वल्लभाचार्य के चरणों में ही समर्पित किया जा सकता है। इनके तथा इनके पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्य मिलाकर ही अष्टछाप को स्थापना की गई थी। *

संन्यास—वल्लभाचार्य को अपने जीवन का कार्य समाप्त कर शीघ्र ही स्वधाम में आने के लिये श्रीहरि की आज्ञा हुई, पर अपना अवशिष्ट कार्य समाप्त न हो सकने के कारण उन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार की प्रथम आज्ञा गंगासागर-संगम पर और दूसरी आज्ञा मधुवन में हुई। पर जब अंतिम बार तीसरी आज्ञा हुई, तो वह उसकी उपेक्षा न कर सके। यही कारण है कि—इनकी रचित सुबोधिनी चतुर्थ स्कंध से नवम पर्यंत पूर्ण न हो पाई। ऐहिक जीवन के कार्य की समाप्ति समझकर उन्होंने शास्त्रानुसार संन्यास लेने का विचार किया और अपनी पत्नी से आज्ञा माँगी, पर वह स्नेह-वश न मिल सकी, जिससे कुछ समय के लिये उनको अपना विचार स्थगित कर देना पड़ा।

---

* श्रीद्वारकानाथजी ने अष्टछाप के कवियों को भगवान् श्रीकृष्ण के अष्टसखा मानकर एक पद बनाया, जो इस प्रकार है—

सूरदास सो तो कृष्ण तोक परमानंद जानो।
कृष्णदास सो ऋषभ छीतस्वामी सुबल बखानो॥
अर्जुन, कुंभनदास, चतुर्भुजदास विशाला।
विष्णुदास सो भोजस्वामी, गोविंद श्रीदामाला॥
अष्टछाप आठों सखा श्रीद्वारकेश परमान।
जिनके कृत गुन-गान करि निज जन होत सुजान॥१॥

वर्तमान हिंदी-साहित्य में अष्टसखा के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है, जो ८४ वैष्णव की वार्ता, अष्टसखा के चरित्र तथा अन्य प्रामाणिक गवेषणा द्वारा तैयार किया गया है। अतः जिज्ञासा होने पर वहाँ से जान लेना चाहिए।

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि कुछ स्वयंभू लेखकों ने वल्लभाचार्य के विषय में यह लिख दिया है कि—यह पहले संन्यासी हो गये थे, और बाद में इन्होंने संन्यास छोड़कर गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया।

ब्रह्मचर्याश्रम के समय इनका विवाह न करने का विचार था, पर भगवान् श्रीविट्ठलनाथजी की आज्ञा से विवाह करना पड़ा। इसी भ्रम तथा अज्ञानता के कारण इनके चरित्र में इस प्रकार की ग़लती की गई है। वल्लभाचार्य ने अपने जीवन में एक बार ही संन्यास लिया और उसे यथावस्थित निभाया।

एक दिन जब वल्लभाचार्य अडेल में अपने निवास-स्थल में बैठे थे, घर के चारो ओर अग्नि का प्रकोप हो गया। इस उपद्रव को देखकर इनकी पत्नी ने घर छोड़कर बाहर निकल जाने की प्रार्थना की। उन्होंने इस बात को ही संन्यास के लिये पत्नी की आज्ञा मान ली। सं० १५८७ ज्येष्ठ कृ० १० के दिन अडेल से वह प्रयाग आये और यहाँ नारायणेंद्रतीर्थ स्वामी से सविधि संन्यास लेकर कुछ दिनों में काशी पधारे।

आसुर व्यामोह-लीला—संन्यास लेकर वह काशी में हनुमान-घाट पर निवास करने लगे, और वहाँ एक मास से अधिक समय तक योग का आचरण किया। नित्यलीला में पधारने का समय निकट आया जानकर इनके दोनो पुत्र तथा कई शिष्य दर्शनार्थ काशी आये और उन्होंने अपने कर्तव्य के विषय में उनसे आज्ञा माँगी।

उस समय श्रीमदाचार्यचरणों ने वाक्-संन्यास धारण कर लिया था, अतः उन्होंने दोनो पुत्रों को लिखकर कुछ श्लोक दिये, जो आगे चलकर 'शिक्षा-श्लोक' के नाम से प्रख्यात हुए। कहते हैं—इस समय भगवान् ने स्वयं प्रकट होकर उनके दोनो पुत्रों को विश्वास दिलाया था कि—यदि मेरे विषय में तुम्हारा अटल विश्वास है, तो अपनी कृतार्थता में तुम्हें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये।

वल्लभाचार्य मध्याह्न के समय भगवच्चरण-विनिःसृता भागीरथी की धारा में पधारे और वहाँ खड़े होकर वह भगवान् श्रीकृष्ण के ध्यान में लीन हो गये। कुछ समय के अनंतर उन्होंने जल-समाधि ली, और लोकदृष्टि से अंतर्हित हो गये। उसी क्षण गंगाजी की धारा में से एक प्रज्वलित अग्नि का पुंज उद्गत हुआ, जो ऊपर अंतरिक्ष में कुछ समय तक जाते-जाते विलीन हो गया। जिस दिन उन्होंने इस मर्त्यलोक का

परित्याग कर भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश किया, वह संवत् १५८७ के आषाढ़ शुक्ल द्वितीया तदुपरांत तृतीया का दिन था। इस तिरोधान को संप्रदाय में 'आसुर व्यामोह-लीला' कहते हैं।

ग्रन्थ-रचना—आचार्यचरण ने शुद्धाद्वैत-सिद्धांत के प्रकाशन के लिये जो ग्रंथ लिखे, उनसे उनके अगाध पाण्डित्य का पता चलता है। उनमें सरल, किंतु गंभीर भाषा में वेद-वेदान्त और पुराणों का सार भरा हुआ है। अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये वह प्रस्थानचतुष्टय * को प्रमाण मानते थे, और वेद के लिये तो उनकी इतनी आस्था थी कि वह उसके लिये कहा करते थे, कि—वेद का एक अक्षर भी वृथा नहीं है। उसका वास्तविक रहस्य प्रकट करने के कारण वल्लभाचार्य भगवन्मुखाग्नि वैश्वानरावतार वाक्पतिरूप से प्रसिद्ध थे। उन्होंने जिन ग्रंथों की रचना की है, वे प्रधानतया ये हैं—

१—षोडश ग्रन्थ, जिनमें सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, और यह प्रकीर्ण ग्रन्थ कहलाते हैं।

२—पत्रावलम्बन, जिस पर काशी का शास्त्रार्थ हुआ था।

३—सुबोधिनी, श्रीभागवत की आध्यात्मिक भावापन्न गंभीर टीका और कारिकाएँ।

४—अणुभाष्य, उत्तर मीमांसा-भाष्य।

५—पूर्व मीमांसाभाष्य, जैमिनीय सूत्रों पर भाष्य।

६—श्रुतिगीता।

७—गायत्रीभाष्य।

८ भगवत्पीठिका।

९—निबन्धत्रय, शास्त्रार्थ, सर्वनिर्णय तथा भागवतार्थप्रकरण तथा उनकी टीका।

१०—शिक्षाश्लोक।

११—सेवा-विवरण।

१२—अन्य स्फुट अष्टक-स्तोत्र-संग्रह आदि।

इन ग्रन्थों का परिशीलन करने से वल्लभाचार्य के सर्व-शास्त्रीय प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय मिलता है। जिन शास्त्रों का उन्होंने निर्माण किया है, वे सिद्धांत-

---

* वेदाः, श्रीकृष्ण-वाक्यानि, व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥ शा० निबन्ध

प्रतिपादन की शैली से एक नये ही तरीके से लिखे गये हैं। इनकी भाषा और भाव की शैली वास्तव में अनुपम है, जो अवलोकन करने से ही अपना स्वारस्य प्रकट करती है। *

परवर्ती विद्वानों ने विस्तृत भाष्य और टीका-टिप्पणियाँ बनाकर आचार्यचरणों के ग्रन्थों का आशय अभिव्यक्त किया है। वास्तव में बिना टीका-टिप्पणी के उनके सिद्धान्त का गूढ़ रहस्य समझ में भी नहीं आता।

सनातन-धर्म के चारों सम्प्रदायों में परवर्ती आचार्य होने के कारण वल्लभाचार्य ने सब भाष्यों की तुलनात्मक समालोचना करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ऐसा अवसर अन्य आचार्यों को अधिगत नहीं हुआ, अतः वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त का अध्ययन करने के पहिले विद्वानों को अन्य शास्त्रों का गंभीर ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है।

व्यास-सूत्रों पर वल्लभाचार्य द्वारा रचित एक बृहद् भाष्य का भी थोड़ा-सा अंश मिलता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि उनका रचित बहुत-सा ग्रंथ-समुदाय आगे चलकर दक्षिणदेश में चला गया। यह प्रसंग उस समय हुआ, जब इनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथजी का नित्यलीला में प्रवेश हो गया, और कनिष्ठ पुत्र विट्ठलनाथजी का आधिपत्य हुआ। अस्तु। जो कुछ भी ग्रन्थ-राशि उपलब्ध होती है, वही वैष्णव-समाज के लिये मनन और अध्ययन के लिये बहुत अधिक है। संप्रति उनके प्राप्त समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन हो गया है।

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य ने हिंदू-जाति पर जो उपकार किया है, वह अप्रतिम है, और वास्तव में निष्पक्ष होकर समालोचना की जाय, तो उनके उपकारों से हम भारतवासी कभी उऋण नहीं हो सकते, फिर वैष्णवसमुदाय की तो कथा ही क्या कहना। †

---

* ऐसा प्रसिद्ध है कि आपके बनाये हुए छोटे-मोटे कुल ३५ ग्रन्थ हैं। (सं० क०)
कहीं-कहीं चौरासी ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है।

† आचार्य चरणों का चरित्र इतना विस्तृत है कि वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ-रूप में लिखा जाना चाहिए। प्रस्तुत चरित्र में मुख्य ऐतिहासिक घटनाओं का ही उल्लेख किया गया है, और माहात्म्य-वर्धक चरित्र छोड़ दिये गये हैं। इस चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बातें परिशिष्ट-रूप में आगे दी जा रही हैं।—लेखक

परिशिष्ट—१

एक प्राचीन पत्र*

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

आविर्बभूव योऽस्माकमीशः कल्याणकृत्सताम् ।
सोऽव्याच्छ्रीवल्लभ विभुः करुणाम्बु-महार्णवः ॥ १ ॥

अथास्मत्प्रभूणां श्रीवल्लभाचार्याणां पितुर्नाम, श्रीमल्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति मातुर्नाम श्रीमदेल्लमगारदेवीति । चम्पकाहण्यमधि जन्म । ततःपरमानन्दकालेन जातकर्मादयः सोपवीत-ब्रह्मव्रत-धारण-पाणिग्रहणान्ताः संस्कारा स्वार्थीकृताः ॥ परिग्रह-नाम तु महालक्ष्मीति यथार्थमेवैतत् ।

तदनु लक्ष्मणभट्टास्त्वैहिकामुष्मिकफल-विभवसौभाग्याः परमानन्दकालेन परमानन्दतामायुः । अस्मत्प्रभवस्तु स्वपरिग्रहसहिताः स्वजननीसहिताः, तीर्थवर प्रयागीय यमुनापारे वेणीमाधवाधिष्ठितग्रामे स्थितिं कृतवन्तः । महाप्रभवस्तु षोडशवर्षात्मक वयोऽनुग्राहकरूपेण स्थिताः, परिग्रहे तु षड्वर्षात्मकी स्थितिः ।

एवं श्रीमदडेलग्रामे स्थितानामस्मत्प्रभूणां कर्ण-पथमेकः प्रसङ्गस्तद्विषयतामाप । स च नुपसर्गादासुरसर्ग-सम्भूत जिनसिद्धान्त-जयरूपो विद्यानगरीयराज-संसदि रामानुजमाध्वमत-प्रातिकूल्येन प्रवृत्तस्तदानीन्तनैरुमापतिवृत्ति - नमन - पण्डितैरासुरैः स्वानु-गुणकालसम्पादितबलोच्चैः साकारब्रह्मवाद-विदूषणपरैः साधितः । सभापतिरपि पापरूप प्रारब्धभोगरूप तन्मतानुगुणतामाप ।

अथ तत्पत्नी तु भगवद्भक्त-पराजयमसहमाना भगवन्तमेकमनाः सती सस्मार । ततो भगवान् भक्तवात्सल्येन वैदिकमत-रक्षणशीलः "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहमिति" सत्यप्रतिज्ञत्वा-

* यथोपलब्ध यह प्राचीन पत्र सरस्वती-भंडार-विद्याविभाग, कांकरोली में विद्यमान है। इसकी लिपि और पत्र दोनों प्राचीन हैं। लेखक तथाच रचयिता का नाम प्राप्त नहीं होता।

च्छ्रीवल्लभाभिधं स्वास्याग्निमचिन्त्यानन्तशक्तिरूपं, विरुद्धधर्माश्रयमतितीक्ष्णस्वभाव-मनुक्षणमनुवचनमासुर-मतमर्दनशीलमतुलतेजस्कं, निजजनजीवन-जलदं, मायावाद-विद्रावणे विद्यानगरे प्रेषणेन भावयामास ॥

ततः श्रीमद्वल्लभप्रभवस्तद्राज-संसदि मायावाद-तिरस्कृति-रणशौर्यौद्धत्य-दौत्य-सूचकं निजकर-कमण्डलमाक्षिप्य राजद्वार-स्थिता बहिस्स्थितास्तिर्यगुत्क्षिप्तवन्तः । ततस्त-दाकाशमार्गेण रविविम्बमिव भाव्यर्थानुभावकमभाव्यर्थानुभावकमतुलदुरित-नाशन पटु सभायामापतत् । तदवलोक्य संसदि पण्डितजनः सर्वोऽपि तत्पतिरपि तद्राश्चर्यमाच-क्षाणः 'कुतएतदागात्कस्येद'मिति सन्दिग्धचेतसोऽपि वस्तुस्वभावान्नूनमेतन्महापुरुष-सम्बन्धि भवितुमर्हतीति विज्ञाय, राज्ञा 'पश्यतां' पश्यतां अत्र द्वारे के तिष्ठन्ति केषा-मेतत्कमण्डलमिति जिज्ञासया पुरुषः प्रेषितः ।

ततो राजसम्बन्धाः स्थितमग्निमालोक्य प्रश्नाऽसमर्थे तस्मिन्स्वत एवोत्तरं दत्त-वन्तः—"श्रीवल्लभाभिधेये मयि स्थिते न कोऽपि वैष्णवः पराजितो भवति मायावादिभ्यः" इति वचनसमकालं राजसभायां प्रविष्टाः ।

तदनु यथा दितिज-दनुज-समरपराभूताऽमरगण - संरक्षणायात्तचक्रनारायण-दृक्पात-जनितस्वेदभेदाकुलिततिरोहिता सुरतेजस्को दितिज-गण इव मायावादिनः ।

अथ तत्पीयूष-पोषितो निजपतिर्नायकोत्साहौद्धत्यनन्तनमिवाकुर्वाण आदित्य-गण इव भगवत्सेवकाश्चासन् । तदन्वस्मत्प्रभुभिरपि हरिमन्दिराङ्कितभालानालोक्य तद्विपरीतांश्चान्यान्परिहृत्य तानतिस्वीकर्तुं तेष्वेव स्थितिः संपादिता ।

अथ सम्पन्नायां तस्यां नयजं वागधीशत्वमाविष्कुर्वद्भिरसमत्कुल-परिवृढ महाराजा-धिराजैः, श्रीश्रीश्रीमद्वल्लभदेवैर्मायावाद-विखण्डनपुरस्कृतैः, पूर्वोत्तरमीमांसा-निर्णाय-काजस्रभारती - विभवैर्भगवन्मत-प्रवर्तनाय-कलिकालजलधि-कल्लोलास्फालितादित्य-सर्ग-सम्भूतजनानुकम्पया चाशेषश्रुतिस्मृतिपुराणादिचतुर्विद्यारूपः स्ववाग्विभवः प्रकटीकृतः । परं निजस्वभाव वशादविरलनिजज्वालसन्ततिभिरिवन् शक्त्यादि वृत्तिभिर्मायावाददाव-दाहेत्थं लौकिक इति कतिचिदहोरात्रैर्नरसिंहवन्नशान्तता बभूव ।

अथ तन्मध्ये केनचिद् व्याकरण-विचारणाय "स्थानिवदादेशोनल्विधा" वित्यु-पन्यस्ते द्वादशदिनानि स्वतस्तदूहापोहैरर्चिषः प्रादुर्भूताः, फणिभाषितादपि, स्वतन्त्राश्च ।

तदेतदमानुषं चरित्रमिति सर्वोऽपि विद्वज्जनः सराजः परमाश्चर्यतामाप ।

राजा तु तिरोहिताऽसुरपक्ष आविर्भूतदैवधर्मो भगवन्तं श्रीवल्लभं कनकस्नानेन समाराधयामास । अथ तत्रैव कश्चिदाढ्यो ब्राह्मण "अहं श्रौतेन विधिना यक्ष्ये तत्रोपद्रष्टित्वं स्वामिभिः कर्तव्य"मिति विज्ञापिते, शतकृत्वग्निहोत्र - दर्शपौर्णमासादिभिराधानैर्वै कृतैगवृहस्पतिसवान्तवाजपेयादिभिस्तद्विज्ञापनां सार्थीकृतवन्तः ।

तदनु स्नानोदक-वित्तेन भूयसा दारिद्र्य-विद्रावणेन ब्राह्मण-कन्योद्वहनेनौपनयनादिभिर्बहूनां सत्कारमाविष्कुर्वद्भिरस्मत्परिवृढैस्तत्र किञ्चित्कालं स्थितम् ।

तत्र माध्वरामानुजैः साम्प्रदायिकैः पण्डितप्रवरैर्भगवदनुभावितैरस्मन्मतस्वीकरणेनाचार्यत्वमाविष्कुर्वद्भिः श्रीमद्भिर्वर्तितव्यमिति विज्ञापिते, यावत्परमकाष्ठापन्नवस्त्विच्छाविचारेण विलम्बितं, तावन्मध्ये तेनैव पुण्डरीकपुरसंस्थितेन श्रीविठ्ठलेनाज्ञप्तं यद्भवद्भिरितो गन्तव्यं, स्वकर्तव्यस्य च करणात्तु कार्तार्थ्यविसम्पन्न......।

अथास्मत्प्रभवस्तेनैव मार्गेण समागन्तुमुद्युक्ताः श्रीविठ्ठलनाथे स्वर्णकटिसूत्रं समर्प्य ततो मथुरायामागताः । ततो मधुवनीय तीर्थव्रत-समालोकनेन निजानन्दमुद्भावयन्तो वृहद्वनमुपागताः ।

ततस्तद्वनोपान्ते श्रीयमुना-तटोपरिभागेऽश्वत्थ-मूलखण्डेषु श्रावणशुक्लैकादश्यां पालाशीय पुटके शालिग्राम-शिलां तुलसीदलैः सम्पूज्य, तुलसीदलभृत पुटकमपरमन्यत्राधाय कार्पाससौत्रपवित्रान्यपरपुटके निधाय, रात्रावधिष्ठाप्य जागरणमाकुर्वद्भिरस्मत्प्रभुभिः संस्थितम् ।

अथ तत्र भगवान् श्रीगोपीजनवल्लभः स्वतन्त्रं भक्तिमार्गं प्रकटीकर्तुं सलीलः शमीवृक्ष-मूलान्महानिशायामाविर्बभूव ।

प्रकटिते तस्मिन्ननुराग एव सर्वत्राच्छादितो सौरभभ्रमरवासितमेव जगदाविर्बभूव भृङ्गादि-समुपगीतसमादिभिः । श्रीवल्लभानां तु न मनागपि वचनसमर्थिता बभूव ।

सदानन्दः परः साक्षात्प्रपञ्चोऽपि तथाविधः ।
प्रकटे परमानन्दे श्रीवल्लभगृहं गते ॥

तदा भगवान्स्वयमेवागत्य स्वकरेण चिबुकं धृत्वा, श्रीवल्लभ ! भगवत्प्राकट्यं ममैव स्वास्यात्कृतमस्ति मत्प्रिये विष्णुस्वामिमार्गे भवद्भिराचार्यैरात्मनिवेदन-पूर्विका मत्सेवा जीवेषु संसाधनीया, तेन न जीवोद्धारणे विलम्बः ।

तदनुक्तीदृशं तदिति प्रश्ने, हरिणा तदैव तेषां समर्पणं कारितं, स्वस्मिन्नर्पित पवित्राणि कण्ठे परिधीय सिताखण्डं श्रीवदने निक्षिप्य तेष्वेव प्रभुः सम्प्रविष्टः।

ततः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः प्रातरेव विभवद्विगुणाः स्वस्वरूपेण वाचा चरित्रैराचरणेन शास्त्रप्रकटनेन च जीवान् कृतार्थीकृतवन्तः। एवमहर्निशं स्थितिः।

भक्तिमार्गप्रकटनं मनसा वचसा स्वतः। वपुषा भक्तहृदये राजते श्रीप्रिय-प्रियः ॥१॥
सलीलो भगवान्कृष्णो गोपीनां हृदयङ्गमः। यथाऽऽविष्कुरुते लीलां तथा श्रीवल्लभे विभौ॥२॥
प्रविष्टः प्रकटानर्थान्कुरुते गोकुलाधिपः। अतएव हरेर्लीला सेवैवेति विनिर्णयः ॥३॥
तान्कुर्वन्राजतेऽस्माकं पतिः श्रीवल्लभाभिधः। वयं सर्वात्मना तस्मिन्कृतार्थत्वमुपागताः॥४॥

परिशिष्ट—२

ओड़छा

(अनुसन्धान-पत्र ३१)

'ओड़छा-गजेटियर' में वल्लभाचार्य के समसामयिक इन राजाओं का उल्लेख है—

१. मलखानसिंह सं० १५२५ से १५५८। २. रुद्रप्रतापसिंह सं० १५५८से १५८८।

"रुद्रप्रताप ने सं० १५८८ वै० शु० १५ सोमवार के दिन ओड़छा बसाया। सं० १५९६ में क़िला बन जाने पर गढ़कुंडार से राजधानी उठकर पूर्णरूप से ओड़छा में आई।" (बुन्देलखंड का इतिहास, ना० प्र० पत्रिका, पत्र ४४५)

इससे ज्ञात होता है कि—मलखानसिंह अथवा रुद्रप्रतापसिंह के समय वल्लभाचार्य का वहाँ पधारना हुआ। उस समय ओड़छा राजधानी न होकर साधारण नगर के रूप में वर्तमान था।

परिशिष्ट—३

कनकाभिषेक

(अनुसन्धान-पत्र ४२, टिप्पणी में)

शास्त्रार्थ तथा कनकाभिषेक के संबंध में मुरलीधरदास ने 'वल्लभचरित्र' में इस प्रकार लिखा है—

"अन्यदिवसे प्रातर्नित्यकर्मानुष्ठानानन्तरं शिष्येण सह विशाख ? (विद्यारण्य) नगर-राजसभां प्रविवेश ।

× × ×

असूयादग्धमातुलोऽपि सभासीनजनैस्सर्वैः भूपालेन चाप्यवशो भूत्वा प्रत्युत्थाय सम्मानयामास । राज्ञा भृशं मानितो भूत्वा रत्नासने उपविवेश । तत्पूर्वं तत्र विद्वज्जनैः कृतचर्चायामवैष्णवजयमशृणोत्, स्वयं तदसहमानः राज्ञा च प्रार्थितः साक्षाद्बलदेव इव भागवतशास्त्रार्थचर्चया रिपुसमूहं जित्वा 'कृष्णराय' नामकेन तेन भूपालेन कनकाभिषेकं प्राप्यापि, स्वमतस्थापनमात्रैकप्रयोजनत्वात् भगवदितर-निस्पृहत्वं विशदयन् तीर्थयात्रार्थं प्रस्थितः, राज्ञो मुदे चतुष्पञ्चनिष्कमात्रं स्वीकृतवान् ।"

(Sources of Vijayanagar History)

परिशिष्ट—४

अडैल

(अनुसंधान-पत्र ४३)

"त्रिवेणी क्षेत्र के सामने यमुना के दक्षिणीय तट पर अरैल (अडैल) एक प्रसिद्ध स्थान है। यह बहुत पुरानी जगह मालूम होती है। परंतु खेद है कि—इसका इतिहास अत्यंत अंधकारमय है।

कहते हैं, इसका पुराना नाम अलर्कपुरी था। दूसरी दन्त-कथा यह है कि—यह स्थान इला के नाम पर बसाया गया था, जिसके वंश में प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) के चंद्रवंशी नरेश हुए।

अरैल में वल्लभ-सम्प्रदाय का एक पुराना मठ है, जिसकी चर्चा महाप्रभु चैतन्य के देशाटन में आई है। जब वह प्रयाग आए थे, तो वहाँ भी जाकर कुछ दिनों ठहरे थे।" (प्रयाग-प्रदीप पत्र २५४)

× × ×

"सन् १४९९ ई० (सं० १५५६) में सिकंदर लोदी के समय में कड़ा आज़म हुमायूँ को जागीर में मिला। इसी के लगभग (सं० १५५७ अनुमान) बंगाल के सुप्रसिद्ध वैष्णवधर्म के प्रचारक महाप्रभु चैतन्य प्रयाग आए थे"। (प्रयाग-प्रदीप पत्र ३०)

महाप्रभु वल्लभाचार्य और महाप्रभु कृष्णचैतन्य के सम्मिलन के विषय में यह भी प्रसिद्ध है—

"वल्लभाचार्य ने जब सुना कि—कृष्णचैतन्य प्रयाग में आए हैं, तब वे अडैल से आकर उनसे मिले। कृष्ण-कथा की जब चर्चा चली, तो परस्पर दोनों में घनिष्ठता हो गई। एक दिन वल्लभाचार्य ने अपने घर अडैल में भिक्षा के लिये कृष्णचैतन्य को पधराया। जब सब लोग नाव पर बैठकर यमुना-पार जा रहे थे, कृष्णचैतन्य भक्ति में विह्वल होकर नाव पर ही नाचने लगे, और नाव में से यमुना में कूद पड़े। शीघ्र ही प्रयत्न कर उन्हें निकाला गया, और सावधानी से वल्लभाचार्य ने उन्हें अपने स्थान पर पहुँचाया। यहाँ चैतन्य को भगवत्प्रसाद लिवाकर भक्ति-चर्चा की और कुछ दिन अपने यहाँ रखकर उन्हें प्रयाग में यथास्थान वापिस पहुँचा दिया"। (चैतन्य-चरितावली पत्र ८५ से ८८)

इससे विदित होता है कि वल्लभाचार्य और कृष्णचैतन्य का एक बार मिलाप सं० १५५७ के लगभग अडैल में भी हुआ था।

परिशिष्ट—५

यात्रा-समय

(अनुसन्धान-पत्र—२४ में टिप्पणी)

१ यदुनाथ दिग्विजय में वल्लभाचार्य-चरण की तीनों यात्राओं का समय इस प्रकार दिया गया है—पत्र ४४ से ४९।

प्रथम यात्रा—९ वर्ष में पूर्ण।

अनुमानतः सं० १५४९ अथवा ५० से सं० १५५८ अथवा ५९ तक।

द्वितीय यात्रा—५ वर्ष में पूर्ण—

अनुमानतः सं० १५५८ अथवा ५९ से सं० १५६३ अथवा ६४ तक।

तृतीय यात्रा—५ वर्ष में पूर्ण।

अनुमानतः सं० १५६३ अथवा ६४ से सं० १५६८ अथवा ६९ तक।

२ सम्प्रदाय कल्पद्रुम में यात्रा का समय इस प्रकार दिया है, पत्र २६ से ३५

प्रथम यात्रा—वर्ष ७ में पूर्ण, प्रारंभ सं० १५४७ कार्तिकादि ४०।

१५४८ चैत्रादि। मुनि-तृतीया।

द्वितीय यात्रा--वर्ष ६ में पूर्ण, प्रारम्भ सं० १५५४ कार्तिकादि।
(१५५५ चैत्रादि) ज्ये० शु० २ रवि।
तृतीय यात्रा—वर्ष ६ में पूर्ण, प्रारंभ सं० १५६० कार्तिकादि।
(१५६१ चैत्रादि) अक्षय तृतीया।
इस हिसाब से १५६८ सं० के लगभग तीनों यात्राएँ पूरी हो जाती हैं।

परिशिष्ट—६

८४ बैठकों का सं० परिचय ❋

(अनुसन्धान-पत्र २४)

१ गोकुल—गोविन्दघाट पर। यहाँ सं० १५५० श्रा० शु० ११ के दिन प्रथम वार गोकुल आने पर ब्रह्म-सम्बन्ध की आज्ञा हुई, और श्रीभगवान् को पवित्रा पहिराए।

२ गोकुल—भीतर की बड़ी बैठक। यहाँ निवास करते थे। एक दिन यहाँ कृष्णचैतन्य महाप्रभु का शिष्य श्यामानन्द वल्लभाचार्य की परीक्षा लेने आया, जो चमत्कार देखकर दंग रह गया।

३ गोकुल—शय्या-मन्दिर की बैठक। यहाँ एक योगी दर्शनार्थ आया और उसने गोकुल बसने और सात मन्दिर बनने की भविष्यवाणी कही, और कहा कि--मुझे यहाँ गुफा में समाधि से कोई उठावे नहीं। आचार्यचरण ने वचन दिया, पर कुछ समय बाद सं० १६४७ में यहाँ श्रीद्वारकाधीश का मन्दिर बना, और योगी यहाँ से चले गये।

४ वृन्दावन—वंशीवट के पास। यहाँ प्रभुदास जलोटा खत्री को स्थल का

❋ प्राचीन 'बैठक चरित्र' की पुस्तक से विदित होता है कि जहाँ-जहाँ वल्लभाचार्य ने भागवत-सप्ताह की, और कुछ अलौकिक माहात्म्य बताया, वहाँ बैठक स्थापित हुई, इनमें से कुछ आचार्यचरण के समय में ही प्रसिद्ध हो गई। ८४ संख्या के लिये ऐसा प्रसिद्ध है कि—महाप्रभुजी ने ८४ प्रकार की भक्ति की स्थापना की है, जिससे प्रेम, आसक्ति और व्यसन-रूप से त्रिविध निर्गुण और सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण के सगुण भेदोपभेद से ८१ प्रकार की भक्ति अपने इन ८४ शिष्यों के द्वारा प्रकट की। उसीके निदर्शक यह चौरासी स्थल हैं। जिनसे आचार्यचरण का जीवन-चरित्र बहुत कुछ विदित होता है। आपकी अधिकांश बैठकें छोंकर के वृक्ष के नीचे थीं और हैं। विशेष वृक्ष का स्थान-स्थान पर उल्लेख कर दिया है।

माहात्म्य बताकर बिना स्नान किये ही सखडी प्रसाद खिलाया। श्रीकृष्णचैतन्य के सेवक गोपालदास गोडिया को शालिग्राम की शिला में ही मूर्ति स्वरूप के दर्शन कराये। यह ठाकुरजी राधारमण नाम से आज भी वृन्दावन में विराजमान हैं।

५ मथुरा—विश्रान्तघाट पर। उस समय यहाँ आस-पास स्मशान था, जिसे हटाने के लिये वल्लभाचार्य ने कृष्णदास मेघन द्वारा अपने कमण्डलु से जल छिड़कवाया, जिससे बाद में असकुण्डा से लेकर सूर्यकुण्ड तक बस्ती बस गई।

यहाँ एक क़ाज़ी (रुस्तमअली) ने विश्रान्तघाट पर 'जन्त्र-मन्त्र' लगवाया, जिसके लिये प्रसिद्ध था कि इसके नीचे जाने से हिंदू चोटी कट जाने और दाढ़ी हो जाने से मुसलमान बना लिये जाते थे। आचार्यचरण ने जनता के इस भ्रम को मिटाने के लिये वासुदेव छकड़ा और केशव भट्ट के द्वारा इसके विपरीत एक जन्त्र-मन्त्र दिल्ली के दरवाज़ों में लगवाया, जिसके आतंक से विवश होकर बादशाह ने दोनों स्थानों के उक्त जन्त्र हटवा दिये।

सं० १५५० आश्विन बदी (कार्तिकादि सं० ४९ भाद्र बदी अमान्त) १२ के दिन उजागर चतुर्वेदी को पुरोहित बनाया और व्रजयात्रा का प्रारम्भ किया।

६ मधुवन—कृष्णकुण्ड के ऊपर, कदम्ब के नीचे।

७ तालवन—कमोदवन। यहाँ किसी भगवत्स्वरूप के न होने से भागवत की पारायण नहीं की और आगे कमोदवन में पारायण की।

८ बहुलावन—कृष्णकुण्ड के ऊपर उत्तर दिशा में वट-वृक्ष के नीचे। यहाँ के ब्राह्मणों की प्रार्थना पर वल्लभाचार्य ने मुसलमान हाकिम को चमत्कार दिखाकर बहुला गाय की पूजा प्रारम्भ कराई।

९ राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड—राधाकुण्ड में स्वामिनीजी के महल के पास। यहाँ एक महीना निवास किया। 'भुजमगुरुसुगन्धं०' इस भागवत-श्लोक की सुबोधिनी का प्रवचन किया।

१० मानसी गंगा—घाट के ऊपर। यहाँ ६ महीना पूर्व से श्रीकृष्णचैतन्य बैठकर भगवन्नाम का जप कर रहे थे, महाप्रभुजी के आने पर उनसे मिले।

११ परासोली—चन्द्र-सरोवर से कुछ दूर।

१२ आन्योर—सदू पांडे के घर में। यहाँ आचार्यचरण को सदू पांडे के द्वारा श्रीनाथजी के प्राकट्य का समाचार विदित हुआ और उनका आविर्भाव कर सेवा-मार्ग प्रचलित किया (सं० १९५०)।

१३ गोविन्दकुण्ड—यहाँ श्रीकृष्णचैतन्य को 'कृष्ण-प्रेमामृत'-नामक ग्रन्थ प्रदान किया।

१४ सुन्दर शिला--गिरिराज। यहाँ श्रीनाथजी का दीपावली और अन्नकूट का उत्सव किया।

१५ गिरिराज--श्रीनाथजी के मन्दिर के दक्षिण भाग में एक चौतरी। यहाँ सेवा करने के बाद विराजते थे। यहाँ प्रबोधिनी तक रहे। (यह बैठक प्रकट नहीं है।)

१६ कामवन—सुरभिकुण्ड या श्रीकुण्ड। यहाँ रहनेवाले एक ब्रह्मपिशाच का मोक्ष कराया।

१७ गह्वरवन, बरसाना--कुण्ड के ऊपर। यहाँ एक अजगर को देखा, जिसे बहुत-से चींटे काट रहे थे। महाप्रभुजी ने जल सींचकर उसका मोक्ष किया। सेवकों के पूछने पर बतलाया कि--यह वृन्दावन का एक महन्त था, जिसने अपने शिष्यों से धन लिया पर उनके उद्धार का कोई मार्ग नहीं बतलाया आज उसके शिष्य इस रूप में उससे बदला ले रहे हैं। *

१८ संकेतवट—छोंकर के वृक्ष के नीचे, कहीं-कहीं श्याम तमाल के नीचे होने का भी निर्देश मिलता है।

१९ नन्दगाम। मानसरोवर के ऊपर। यहाँ ६ मास तक निवास किया। यहाँ घोड़ों के एक सौदागर के शिष्य बनने की प्रार्थना पर वल्लभाचार्य ने उसे आज्ञा दी कि—अगले जन्म में भक्तिमार्ग में तुम्हारा ग्रहण होगा। आगे चलकर यह 'नवानगर' में एक मोची के घर पैदा हुआ, तब उसका नाम 'संगजीभाई' पड़ा और श्रीगुसाईंजी का शिष्य हुआ। †

२० कोकिला-वन—कृष्णकुण्ड के ऊपर। यहाँ एक मास तक विराजे, निम्बार्कसम्प्रदाय के चतुरानागा नामक एक साधु और उसके साथियों के आग्रह करने पर आचार्यचरण ने उन्हें भोजन कराया, और प्रार्थना करने पर कहा

* यहाँ से आगे प्रेम-सरोवर में एक बैठक विद्यमान मानी जाती है, पर इसका उल्लेख प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक में नहीं मिलता।

† इसके आगे करहला स्थान में भी बैठक विद्यमान है, पर प्राचीन पुस्तक में इसका चरित्र कुछ भी नहीं मिलता।

कि—कुछ वर्षों के बाद हमारे वंशज तुम्हें अपना शिष्य बनावेंगे। आगे चलकर यह श्रीगोकुलनाथजी का प्रसिद्ध सेवक हुआ। *

२१ भांडीरवन—यहाँ मध्वाचार्य-सम्प्रदाय के महन्त व्यासतीर्थ मिले, जिन्होंने कहा कि—मेरे सम्प्रदाय में बड़े-बड़े राजा और लाखों सेवक हैं, मेरे ही शिष्य माधवेन्द्र तीर्थ और उनके कृष्णचैतन्य हैं। मेरा घर दक्षिण में है, आपको मैं अपनी गादी देना चाहता हूँ। आचार्यचरण ने दूसरे दिन उत्तर देने की बात कहकर उसे बिदा किया। रात्रि को व्यासतीर्थ को किन्हीं चार व्यक्तियों ने आकर भय दिखलाया, जिससे वल्लभाचार्य को शिष्य बनाने का विचार उन्हें छोड़ देना पड़ा। †

२२ मानसरोवर—यहाँ वल्लभाचार्य ने दामोदरदास को अलौकिक दर्शन दिये। यहाँ से जाकर गोकुल में नन्दमहोत्सव किया, जिसमें वृक्ष में चादर बाँधकर नवनीतलालजी को पालना झुलाया।

---

* इसके आगे चीरघाट में बैठक विद्यमान है, पर उसका वर्णन नहीं मिलता।

† यदि यह प्रसंग सं० १५५० की इसी व्रजयात्रा का है, तो उससे यह अनुमान होता है कि—इस यात्रा के बाद कभी (द्वितीय अथवा तृतीय यात्रा में) वल्लभाचार्य का कनकाभिषेक हुआ। कनकाभिषेक को यदि इस यात्रा के प्रथम मानते है, तो व्यासतीर्थ का दुबारा यहाँ इस तरह का विचार प्रकट करना असंगत जँचता है, क्योंकि विजयनगर में कनकाभिषेक के बाद ही वल्लभाचार्य के पास उनके जाने का उल्लेख पाया जाता है। वहाँ शिष्य न बन सकने का वल्लभाचार्य का आन्तरिक अभिप्राय विदित हो जाने पर फिर व्यासतीर्थ को क्या आवश्यकता थी कि—वे भांडीरवन में पुनः मिलने पर इसी बात को उनसे कहते ?

भांडीरवन के बाद विजयनगर में इसी बात को पुनः कहने की आवश्यकता के विषय में भी यही प्रश्न किया जा सकता है, पर उसका समाधान यह हो सकता है कि—यहाँ वल्लभाचार्य ने व्यासतीर्थ को स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया है, किंतु उनके पास जाकर किसी ने रात्रि को भय दिखाने की शरारत की है, जिससे उस समय उन्हें चुप हो जाना पड़ा है। पर उन्होंने जब अपने सभापतित्व में वल्लभाचार्य का सम्मान होते देखा, तो वे अपने लोभ का संवरण न कर सके और उनके पास जाकर उन्होंने पुनः अपना मन्तव्य प्रकट किया। व्यासतीर्थ को अब इस प्रकार की आशा हो रही थी कि मेरे सभापतित्व और व्यक्तित्व का वल्लभाचार्य पर अच्छा प्रभाव पड़ गया है। परंतु बिल्वमंगल के कारण उन्हें अन्त में निराश होना पड़ा।

इस कारण अन्य प्रमाणों की तरह इससे भी कनकाभिषेक के समय-परिवर्तन की एक प्रकार से पुष्टि होती है।

यहाँ से विश्रान्तघाट, मथुरा में आकर व्रजयात्रा पूरी की और उजागर चौबे को पुरोहित बनाकर १०० रुपए प्रदान किये *।

२३ सूकरक्षेत्र, सोरमजी अथवा सोरमघाट—यहाँ कृष्णदास मेघन के मन्त्रोपदेष्टा गुरु ने कृष्णदास से वल्लभाचार्य के अग्निस्वरूप होने में शंका प्रकट की, जिस पर उन्होंने हाथ में अग्नि रख उनका माहात्म्य बतलाया।

यहाँ वल्लभाचार्य के बड़े भाई केशवपुरी परिक्रमा करते हुए आये, जिन्होंने जल पर चलने का योगसिद्धि-चमत्कार बतलाया। वल्लभाचार्यजी ने भगवत्सेवा के आगे इसे नगण्य समझा और उनकी यह सिद्धि छीन ली। जिससे वे जाते समय गंगाजी में डूबने लगे, उस समय वल्लभाचार्यजी ने उन्हें हाथ पकड़कर निकाला। (सम्भवतः सं० १५६८ के बाद)

२४ चित्रकूट—कान्तानाथ पर्वत के समीप। यहाँ भागवत के बाद १६ दिन वाल्मीकिरामायण का पारायण किया।

२५ अयोध्या—सरयू के तीर गुसाईंघाट पर।

२६ नैमिषारण्य, गोविन्दकुण्ड के ऊपर। यहाँ "नैष्कर्म्यमप्यच्युत०" इस भागवतश्लोक की व्याख्या सुनाई।

२७ काशी—सेठ पुरुषोत्तमदास के घर। यहाँ वल्लभाचार्य ने सर्वप्रथम नन्द-महोत्सव किया था। बाद में कुछ दिन रहकर यहाँ शंकर-सिद्धान्त का खण्डन-स्वरूप पत्रावलम्बन और व्याससूत्र के ऊपर अणुभाष्य ग्रन्थ बनाया। तथा अपने पुत्रों के अधिकांश जनेऊ और विवाह के संस्कार किये। (अनुमानतः सं० १५६८ पत्रावलम्बन का रचनाकाल)

२८ काशी—हनुमानघाट पर। यहाँ संन्यास लेकर एक मास रहे और 'संन्यास-निर्णय' ग्रन्थ बनाया। सं० १५८७ आषाढ़ शु० २ के दिन गंगाजी की मध्य धारा में अन्तर्हित हो गये।

२९ हरिहरक्षेत्र—गंगाजी और गल्लकी नदी के संगम पर। यहाँ सेठ भगवानदास के घर पर वल्लभाचार्य ने अपनी पादुकाएँ पधरा दीं। आसुरव्यामोहलीला के बाद

* वल्लभाचार्यजी ने भारत की तीन परिक्रमा की है, उसी प्रकार तीन बार व्रजयात्रा भी। अतः इन चरित्रों में समय-भेद की भी सम्भावना है।

जब वैष्णवों को उनके विरह का अतिशय दुःख हुआ, तब यहाँ पर ही उन्हें एक बार प्रकट दर्शन हुए।

३० जनकपुर—मानिक तालाब के ऊपर भगवानदास के बाग़ में। यहाँ केवलराम नागा और उसके ५०० साधुओं को भोजन कराया, और यहीं भगवानदास को शिष्य बनाया था, यहाँ एक वर्ष रहे।

३१ गंगासागर—कपिलावन में कपिलकुण्ड के ऊपर। यहाँ ६ मास रहे, और तृतीय स्कन्ध की सुबोधिनी पूर्ण कर आगे पधारे। यहाँ कृष्णदास मेघन ने मुरमुरा लाकर खिलाए। (यहाँ नित्यलीला में आने की प्रथम बार भगवदाज्ञा हुई थी)

३२ चम्पारण्य—मध्य-प्रदेश ज़िला रायपुर। यहाँ सं० १५३५ वैशाख कृष्ण ११ उपरान्त १२ को वल्लभाचार्य का प्राकट्य हुआ था।

३३ चम्पारण्य—दूसरी बैठक। यहाँ सं० १५३५ वैशाख शु० के दिन वल्लभाचार्यजी की छठी का पूजन हुआ। यहाँ काशी के माधवानन्द ब्रह्मचारी और पुष्कर के मुकुन्ददास संन्यासी को दर्शन हुए। माधवानन्द से लक्ष्मणभट्टजी ने ज्योतिष-शास्त्र पढ़ा। यहीं से कुछ दिनों बाद चौड़ानगर से प्रबन्ध हो जाने पर लक्ष्मणभट्टजी काशी गए।

३४ जगन्नाथपुरी—दक्षिण दरवाजे के पास। यहाँ एक वर्ष तक रहे। राजा ने चार प्रश्न किये, जिन पर शास्त्रार्थ हुआ। जगन्नाथजी ने श्लोक लिखकर दिए। वल्लभाचार्य जगन्नाथपुरी में तीन बार पधारे। प्रथम बार सं० १५४५ (गोपीनाथजी का वृत्तिपत्र)

३५ पण्ढरपुर—विट्ठलनाथजी, भीमरथी के तीर पर। यहाँ वल्लभाचार्य ने श्रीपाण्डुरंग विट्ठलनाथ के दर्शन कर सेवा-शृंगार किया, और सात मुहरों के नूपुर बनवाकर भेट किये।* एक बार यहाँ विवाह करने की भगवदाज्ञा हुई। (अनुमानतः सं० १५६०)

३६ नासिक—तपोवन पञ्चवटी—यहाँ पण्डितों ने यह सुनकर कि वल्लभाचार्य दक्षिण ने तथा काशी में मायावाद का खण्डन कर विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय को स्वीकार किया है—उनसे शास्त्रार्थ किया। यहाँ कुछ दिन रहकर दक्षिण देश की ओर पधारे।

* मुद्रित पुस्तक में राजा कृष्णदेव की दैवी सात मुहरों का उल्लेख है, और हस्तलिखित पुस्तक में केवल सात मुहर का ही।

३७ पना नृसिंह---यहाँ नृसिंहजी की सेवा की, और आगे दक्षिण पधारे ।

३८ लक्ष्मण बालाजी—काशी से चलकर यात्रा करते हुए वल्लभाचार्य अपने पिता के साथ कुछ समय बाद यहाँ आये । और शृंगार करते समय लक्ष्मणभट्टजी का सं० १५४६ में लीला-प्रवेश हो गया। पिता का संस्कार हो जाने पर माता को रामकृष्ण भट्ट के साथ अपने मामा के घर विद्यानगर में पठवा दिया । और स्वयं यात्रा करने पधारे।

यहाँ तीन बार आकर बालाजी की सेवा की। प्रथम बार सं० १५४६ चैत्र कृष्ण में।

३९ श्रीरंगजी—कावेरी नदी के तीर पर। यहाँ वल्लभाचार्य ने श्रीरंगजी के आगे श्रीनाथजी के प्राकट्य का वृत्तान्त कह सुनाया। और आनन्दराम मुखिया के प्रार्थना करने पर श्रीरंगजी का सेवा-शृंगार किया ।

४० विष्णुकाञ्ची—सुरभी नदी पर। यहाँ वरदराज स्वामी के मन्दिर की सीढ़ियों पर कवि जयदेवकृत अष्टपदी खुदी हुई होने से वल्लभाचार्यजी भीतर नहीं गए, और बाहर से ही दर्शन किए।

४१ सेतुबन्ध रामेश्वर—विष्णुकाञ्ची से यहाँ आये और बाद में यहाँ से मलयाचल गये।

४२ मलयाचल---हेमगोपाल के दर्शन कर श्रीनाथजी के प्राकट्य का समाचार सुनाया। यहाँ से दक्षिण की ओर गये।

४३ लोहगढ़—मलावार देश, जिसे अब गोवा कहते हैं।

४४ ताम्रपर्णी नदी—तट पर। यहाँ से तीन कोस की दूरी पर एक बड़ा शहर था। वहाँ के राजा ने एक सुवर्ण का पुरुष बनवाकर अपने अनिष्ट की निवृत्ति के लिये दान करना चाहा, पर मृत्युभय से उसे कोई भी ब्राह्मण नहीं लेना चाहता था। ब्राह्मणत्व पर जब राजा को अनास्था होने लगी, तो वल्लभाचार्य ने वहाँ जाकर उसका संकल्प कराया, और खंड-खंड कराकर मूर्ति को ब्राह्मणों में बँटवा दिया। इस पुतले ने आचार्य-चरण के सम्मुख एक अँगुली उठाई थी, जिसका जवाब उन्होंने तीन अँगुली उठाकर दिया कि—मैं त्रिकाल संध्या का अनुष्ठान करता हूँ। इस दान को लेकर आचार्यचरण ने तीन दिन तक जप किया, और बतलाया कि—प्रतिग्रह लेना बड़ा कठिन है। *

४५ कृष्णा नदी के तीर पर—पीपल के वृक्ष के नीचे। यहाँ अनेक मायावादी ब्राह्मणों के साथ शास्त्रार्थ हुआ और उन्हें परास्त कर वैष्णव बनाया।

* सं० कल्पद्रुम में— कनौज के पास कहीं इस दान के लेने का उल्लेख है।

४६ पंपासरोवर—वट-वृक्ष के नीचे।

४७ पद्मनाभजी—यहाँ आचार्यचरण ने श्रीनाथजी के प्राकट्य का समाचार सुनाकर आनन्दराम मुखिया को अपना सेवक बनाया।

४८ जनार्दन--जनार्दनकुण्ड के पास। यहाँ भी श्रीनाथजी के प्राकट्य का समाचार सुनाया।

४९ विद्यानगर—विजयनगर, विद्याकुण्ड के ऊपर। यहाँ आते समय मार्ग में वल्लभाचार्य ने दामोदरदास को अपना सेवक बनाया, और उन्हें साथ लेकर यहाँ पधारे। मामा के यहाँ भोजन न करने से उससे वैमनस्य हो गया, जिससे उसने राजा कृष्णदेव की शास्त्रार्थ-सभा में इनके जाने का प्रतिबंध कर दिया। पर वह कमण्डलु (शिष्य) के द्वारा समाचार भेजकर राजा की सभा में गये, और शास्त्रार्थ में विजय-लाभ किया। राजा ने आपका कनकाभिषेक कर दीक्षा ली। भेंट के द्रव्य से सात मुहरें लेकर शेष से श्रीजगन्नाथरायजी को कटिमेखला बनवा देने का राजा को आदेश दिया। बाद में व्यासतीर्थ ने आकर आपको अपनी गद्दी सौंपने का आग्रह किया। पर बिल्वमंगल ने आपको विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय की आचार्य की गद्दी पर बैठाकर तिलक किया।

५० त्रिलोकभानजी--यहाँ वल्लभाचार्य ने कई अन्यमतानुयायी विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपने सिद्धान्त का अनुगामी बनाया।

५१ तोताद्रि—वट-वृक्ष के नीचे। यहाँ शास्त्रार्थ हुआ, और अनेक पण्डितों को अपने शुद्धाद्वैत मत का अनुगामी बनाया।

५२ दर्भशयन--यहाँ से वल्लभाचार्य सूरत पधारे।

५३ सूरत—ताप्ती नदी के किनारे, अश्विनीकुमार के आश्रम के पास। यहाँ काँकरवाड़ से पाण्डुरंग और पञ्चवटी होकर आये थे।

५४ भरूच--नर्मदा नदी के किनारे भृगुक्षेत्र में। यहाँ शास्त्रार्थ हुआ। यहाँ से मोरवी पधारे।

५५ मोरवी—कुण्ड के ऊपर। यहाँ बाला और बाँदा-नामक दो पुष्करणा भाइयों को सेवक बनाया और उनका नाम बालकृष्ण और बादरायण रक्खा।

५६ नवानगर—नागमती नदी के तीर पर। यहाँ के राजा (तमाची उपाधिधारी) ने शिष्यता ग्रहण की।

५७ खम्भालिया—कुण्ड के ऊपर। यहाँ नवानगर से पधारे थे।

५८ पिण्डतारक—दुर्वासा ऋषि का आश्रम। यहाँ से मूल-गोमती पधारे।

५९ मूल-गोमती—नदी के किनारे। यहाँ एक संन्यासी ने आचार्यचरण से उद्धार की प्रार्थना की, तब उन्होंने कहा कि—तू अगले जन्म में गिरिराज में एक व्रजवासी के घर पैदा होगा और तेरा नाम हरजा ग्वाल होगा। यहाँ से द्वारका पधारे।

६० द्वारका—गोमती-नदी के किनारे। यहाँ गोविन्ददास ब्रह्मचारी को फल-प्रकरण की सुबोधिनी की कथा सुनाई। चातुर्मास व्यतीत कर यहाँ अन्नकूट तथा प्रबोधिनी का उत्सव किया। (अंतिम बार सं० १५६८ का प्रारम्भ)

६१ गोपीतलैया—यहाँ से शंखोद्धार पधारे।

६२ शंखोद्धार—शंखतलैया के किनारे। यहाँ वेणुगीत के एक श्लोक की व्याख्या तीन दिन तक की। यहाँ से नारायणसरोवर गये।

६३ नारायणसरोवर—मार्कण्डेय ऋषि के आश्रम के पास। यहाँ से वल्लभाचार्य सरस्वती-नदी का उल्लंघन न करने के निश्चय से सिंध-प्रदेश में नहीं गये।

६४ जूनागढ़—गिरिनार-पर्वत पर रेवतीकुण्ड के किनारे। यहाँ दामोदरकुण्ड में वल्लभाचार्य को दामोदरजी ठाकुरजी का स्वरूप प्राप्त हुआ, जो आजकल जूनागढ़ में रघुनाथलालजी महाराज के यहाँ विराजता है।

६५ प्रभासक्षेत्र—देहोत्सर्ग के ऊपर गुफा में। यहाँ वल्लभाचार्य ने पञ्चतीर्थी की।

६६ माधवपुर—कदम्बकुण्ड के ऊपर। यहाँ माधवरायजी का मन्दिर बनवा दिया। यहाँ से गुप्त प्रयाग गये।

६७ गुप्त प्रयाग—प्रयागकुण्ड के ऊपर। यहाँ एक ब्राह्मण को नाम सुनाकर कहा कि आज के ८ दिन बाद मृत्यु होने पर तू अगले जन्म में गिरिराज की तरहटी में जन्म लेगा, वहाँ तेरा नाम गोपीनाथदास ग्वाल होगा और श्रीनाथजी की गायों की तू सेवा करेगा।

६८ तगडी—धन्धूका (प्रान्त)। एक गृहस्थ ब्राह्मण के घर के आगे चबूतरा पर।

६९ नरोडा—गोपालदास के घर में। यहाँ वल्लभाचार्य तगडी से पधारे थे। गोपालदास को सेवक बनाकर श्यामलालजी ठाकुरजी पधरा दिये, जो आजकल अहमदाबाद में विराजते हैं।

७० गोधरा—राणा व्यास के घर में। इन्होंने दक्षिण तथा उत्तर देश में शास्त्रार्थ के द्वारा बहुत-से विद्वानों को जीता था, पर काशी में हार जाने की ग्लानि से गंगा में आत्मघात करने बैठे हुए थे कि वल्लभाचार्य वहाँ पधारे। सहसा कृष्णदास ने आचार्य-चरण से आत्मघात का प्रायश्चित्त पूछा, जिसे सुनकर राणा व्यास को आत्मज्ञान हुआ, प्रार्थना करने पर उसे सेवक बनाया और चतुश्लोकी ग्रन्थ पढ़ाया। तथा सेवार्थ बालकृष्णजी ठाकुरजी पधरा दिये। वेणुगीत सुबोधिनी पर प्रवचन किया और यहाँ से खेरालू पधारे।

७१ खेरालू—जगन्नाथ जोशी के घर में। यहाँ जगन्नाथ जोशी ने युगल गीत की व्याख्या पूछी। यहाँ से सिद्धपुर पट्टन पधारे।

७२ सिद्धपुर—बिन्दुसरोवर पर। यहाँ विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर विजय-लाभ किया।

७३ अवन्तिकापुरी—उज्जैन, गोमतीकुण्ड के ऊपर, पीपल के नीचे। यहाँ पीपर का वृक्ष लगाया। अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उनका पराजय किया। यहाँ से पुष्कर पधारे। *

७४ पुष्कर—वल्लभघाट के ऊपर। यहाँ से कुरुक्षेत्र पधारे।

७५ कुरुक्षेत्र—कुण्ड के ऊपर। यहाँ युगल गीत की सुबोधिनी का प्रवचन किया।

७६ हरिद्वार—कनखलक्षेत्र के ऊपर। सं० १५७६ की साल में यहाँ पधारे। उस समय कुम्भ के बृहस्पति होने से लक्षावधि जनता कुम्भ-स्नान करने आई थी। यहाँ से बदरिकाश्रम पधारे।

तीनों यात्राओं के बाद यहाँ कुम्भस्नानार्थ पधारे ऐसा प्रतीत होता है।

७७ बदरिकाश्रम—वामनद्वादशी के दिन बदरीनाथजी के आदेश से वल्लभाचार्य ने 'उत्सवान्ते च पारणा' के सिद्धान्त से भोजन किया।

* सं० १५४६ में यहाँ पुरोहित को वृत्तिपत्र दिया था। वृत्तिपत्र देना प्रथम यात्रा में निश्चित है।

यदुनाथ दि० के आधार से यहाँ तीन बार पधारे। सं० १५६८ ज्येष्ठ मास का लिखा वृत्तिपत्र मिलता है।

७८ केदारनाथ--केदारकुण्ड के ऊपर। यहाँ से व्यासाश्रम पधारे।

७९ व्यासाश्रम--यहाँ वेदव्यास से मिलाप हुआ और उन्हें भ्रमर-गीत सुबोधिनी सुनाई। यहाँ कृष्णदास तीन दिन तक प्रतीक्षा करते खड़े रहे। यहाँ से हिमाचल पधारे। (सं० १५६८ का वृत्तिपत्र)

८० हिमाचल—यहाँ से व्यासगंगा पधारे।

८१ व्यास-गंगा—नदी के तीर पर। यह वेदव्यास का जन्म-स्थान है। और यहाँ ही उन्होंने समाधिभाषा भागवत बनाई थी, ऐसा प्रसिद्ध है।

८२ मुद्राचल-पर्वत—पर्वत के ऊपर। यहाँ से व्रज में आने पर श्रीनाथजी ने आज्ञा की कि—आप कुटुंब-सहित यहाँ आकर मेरी सेवा करो। यहाँ से वल्लभाचार्य काशी गये और वहाँ से अक्काजी को लेकर अडेल में जा बसे।

८३ अडेल—यहाँ कुछ समय स्थायी निवास किया। माता इल्लम्मागारू को ब्रह्म-सम्बन्ध नहीं हुआ था, सो नवनीत प्रभु ने स्वयं उनको ब्रह्म-सम्बन्ध कराया और भेट में मोती की माला ली। यहाँ मायावादियों से शास्त्रार्थ होता था। कुछ समय बाद यहाँ ज्येष्ठपुत्र श्रीगोपीनाथजी का (सं० १५६८) प्राकट्य हुआ। यहाँ से अक्काजी—श्रीमहालक्ष्मीजी—पत्नी को लेकर चरणाट पधारे।

यहाँ एक बार सं० १५५७ के लगभग कृष्णचैतन्य से सम्मेलन हुआ था।

८४ चरणाद्रि—चरणाट। गंगाजी के तीर पर एक ब्राह्मण नित्य विष्णुसहस्रनाम का पाठ करता और केवल दुग्धाहार करता था। एक दिन उसे एक भगवत्-स्वरूप गंगाजी में मिला। जिसे वह गुसाईंजी के प्राकट्य के एक दिन पूर्व महाप्रभुजी के पास चरणाट ले गया। दूसरे दिन सं० १५७२ पौष वदी ९ के दिन द्वि० पुत्र गुसाईंजी विट्ठलनाथजी का प्राकट्य हुआ *।

* उक्त बैठकों का क्रमिक इतिहास नहीं मिलता है, जहाँ २ का चरित्र मिला है, वहाँ २ का लिख दिया गया है। इसमें भारत में सभी स्थलों की बैठकों का उल्लेख है। कहीं २ वल्लभाचार्य दो-दो, तीन-तीन बार भी पधारे हैं। अतः सम्भव है, जो चरित्र कहे गये हैं, वे एक बार के न होकर दूसरी बार के हों।

परिशिष्ट—७

(अनुसन्धान-पत्र, ४४)

अष्टछाप के चार भक्त कवि

१. सूरदास*—

सूरदासजी का जन्म सं० १५३५ वैशाख शु० ५ के दिन† दिल्ली के पास सीही-नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम रामदास था, जो सारस्वत ब्राह्मण और सीदत्कुटुम्ब व्यक्ति थे। सूरदासजी जन्मान्ध थे। कई लेखकों का मत है कि—यह जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि इन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन किये हैं, वे आँखों देखे बिना नहीं किये जा सकते। पर मेरा मत है कि—कवि और फिर महानुभावी भक्त कवि के लिये उसकी आन्तरिक दृष्टि ही पर्याप्त है। और वह उसी के द्वारा अपनी कविता में चमत्कार और यथार्थ वर्णन ला सकता है इसी विषय का एक कथानक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है, जिस पर साहित्यिकों का ध्यान अभी तक नहीं गया है।

सूरदासजी अन्धे होने पर भी श्रीनाथजी के आगे खड़े होकर उसी शृंगार के पद बनाकर गाया करते थे, जो श्रीनाथजी के उस दिन हुआ करते थे। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी के पुत्रों को सूरदासजी की अन्ध—दृष्टि पर आश्चर्य हुआ और एक दिन उन्होंने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। विट्ठलनाथजी के दो पुत्र उनके पास खड़े होकर। इस बात की देख-रेख करते रहे कि—कोई आकर इनको शृंगार की बात तो नहीं कहता। इधर भीतर श्रीनाथजी का ऐसा शृंगार किया गया, जो आज तक नहीं हुआ था और न सेवा-प्रणाली में था। दर्शन खुलने के पूर्व सूरदासजी को श्रीनाथजी के समीप ले जाया गया, इस समय अपनी आन्तर-दृष्टि से दर्शन करते हुए सूरदासजी ने पद गाया—

"देखे री हरि नंगम नंगा०"

वास्तव में उस समय श्रीनाथजी को सब आभूषण तो धराये गये थे, पर वस्त्र एक

* ८४ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता ८१ है।

† "इनकी रचित 'साहित्य-लहरी' का रचनाकाल १६०७ है। सूरसारावली में इन्होंने अपनी वय ६७ वर्ष की लिखी है। यदि ग्रंथों की रचना एक काल की है तो उससे जन्म सं० १५४० आता है और यदि उसमें ४-५ वर्ष का अन्तर है, तो उतना ही जन्मकाल में।" (सूरसुधा)। इस हिसाब से सं० १५३५ ही ठीक जँचता है।

भी नहीं था, केवल सर्वदा की भाँति वह छोटा-सा मोती का तनिया पहिने हुए थे, और ग्रीष्मकाल में अनौसर हो जाने पर वस्त्र के भीतर का यही तनिया रहने दिया जाता है।

इस वास्तविक वर्णन को सुनकर सबको आश्चर्य हुआ, और उन्हें निश्चय हो गया कि—सूरदासजी को अलौकिक दृष्टि प्राप्त है। अस्तु।

अपने पूर्व पुरुष और पिता की भाँति यह भी कई लोगों के मन्त्रोपदेष्टा गुरु थे, जिससे इनके शिष्य इन्हें 'स्वामीजी' कहा करते थे। अपनी प्रौढावस्था में सूरदासजी आगरा-मथुरा के बीच गऊघाट-नामक स्थान में रहकर भजन किया करते थे। साधारण पढ़े-लिखे होने पर भी इनकी सूझ और कविता-शक्ति अप्रतिम थी, और यह भगवान् कृष्ण की भक्ति के कारण प्रसिद्ध हो गये थे। इन्हें सानुभावता प्राप्त हो गई थी। एक दिन यह मार्ग में चलते-चलते किसी कुएँ में जा पड़े, दो-तीन दिन बाद इन्हें एक बालक ने हाथ पकड़कर निकाला। सूरदासजी ने उसे ताड़ लिया कि—यह श्यामसुन्दर के सिवा और कोई नहीं—चट से ज़ोर से उनका हाथ पकड़ लिया, पर वह नटखटी बालक हाथ छुड़ाकर भाग गया, जिस पर सूरदासजी ने यह दोहा कहा:—

"हाथ छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदें ते जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥"

सं० १५६६ में श्रीवल्लभाचार्य से गऊघाट पर इनका परिचय हुआ, वे यात्रा से पधार रहे थे। परिचय होने पर इन्हें इनके वास्तविक गुरु प्राप्त हो गये, तब अपना स्वामीपना छोड़कर ये आचार्यचरण के दास (बिना मोल को चेरो) बन गये और उनके साथ गोकुल और गिरिराज जाकर भगवद्भक्ति में लीन हो गये। दुनिया की झंझटों से दूर रहकर प्रतिदिन कृष्णलीला के नित्य नये पद बनाकर गाना और भगवद्भाव में मस्त रहना ही इनका परम कर्तव्य हो गया था।

संगीत और काव्य-प्रतिभा से यह अतिशय प्रख्यात हो गये। ऐसा प्रसिद्ध है कि—बादशाह अकबर ने आकर इनके दर्शन किये थे।

इनके रचित पदों में सूर, सूरश्याम, सूरदास और सूरस्वामी इस प्रकार की छाप मिलती है।

सं० १५९८ मार्गशीर्ष मास में श्रीवल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ने भाषासाहित्य के आठ उत्कृष्ट कवियों (अष्टछाप) की स्थापना की और उसमें सूरदास को प्रथम स्थान दिया। इन आठों कवियों की वार्ता 'अष्टसखा' की वार्ता के नाम से प्रसिद्ध है।

महात्मा, भक्त सूरदासजी ने अपने जीवन में जिन ग्रन्थों की रचना की, उनमें से निम्नलिखित प्राप्त होते हैं:—

१ सूरसागर*, २ सूर-सारावली, ३ साहित्य-लहरी, ४ व्याहलो, ५ नल-दमयन्ती, ६ प्राणप्यारी, ७ हरिवंश-टीका, ८ पद-संग्रह, ९ दशम स्कन्ध-टीका, १० नागलीला, ११ भागवत, १२ सूर-पचीसी (मिश्र० वि० २३८)

हिंदी-साहित्य पर सूरदासजी का अत्यधिक उपकार है। आपकी भाव-पूर्ण रचना, सरस पदावली, गम्भीर विवेचन, वास्तविक वर्णन आदि काव्य के गुणों की कोई बराबरी नहीं कर सका है, और इसीलिये हिन्दी-साहित्याकाश के ये सूर्य माने जाते हैं। अपनी पद-रचना के द्वारा इन्होंने भक्ति-भागीरथी का जो विमल स्रोत बहाया है, वह अनुपम है। और इस उपकार से साहित्य-जगत् उऋण नहीं हो सकता।

सं० १६२० (किसी के मत से ४०) में चन्द्रसरोवर-पारासोली में सूरदासजी ने अपना इह-जीवन का कार्य पूरा कर भगवद्धाम प्राप्त किया। उस समय इनके पास वल्लभाचार्य के पुत्र गुसाईंजी विराजमान थे—जिनको लक्ष्य कर सूरदासजी ने पद गाया—

"भरोसो दृढ इन चरणन केरो०"

२. परमानन्ददास †—

परमानन्ददासजी के जन्म-काल का ठीक पता नहीं चला है, पर अनुमान किया जा सकता है कि—वे सं० १५५० के लगभग जन्मे थे। ये क़न्नौज-निवासी और कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नहीं मिलता। यह शिष्यों को मन्त्र का उपदेश देते और स्वामी कहलाते थे।

वल्लभाचार्य जब अडेल में स्थायी रूप से रहने लगे, तब यह सं० १५७५ के

---

* सूरसागर (समग्र) विद्याविभाग, कांकरोली के सरस्वती-भण्डार में विद्यमान है।

† ८४ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता ८२ है।

लगभग उनके शिष्य हुए। आचार्यचरण के सेवक कपूर-नामक जलघरिया के वार्तालाप और संग का इन पर प्रभाव पड़ा और यह पुष्टि-मार्ग में दीक्षित हुए।

इनकी कविता-शक्ति स्वाभाविक थी, और उसमें प्रेम और तल्लीनता का विशेष गुण था। कहते हैं, एक बार इन्होंने वल्लभाचार्य के सामने एक पद गाया, जिसे सुनकर वे प्रेमोन्मत्त होकर कई दिन तक देहानुसन्धान-रहित हो गये थे। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ने जब 'अष्टछाप' की स्थापना की, तो उसमें इन्हें भी स्थान प्राप्त हुआ। इनकी कविता का काल सं० १६०६ के आसपास माना जाता है। 'परमानन्ददास' इनकी छाप है।

परमानन्ददासजी के रचित निम्न-लिखित ग्रन्थों का पता चलता है:—

१ परमानन्द-सागर*, २ परमानन्ददासजी को पद, ३ दान-लीला, ४ ध्रुव-चरित्र।

सूरदासजी की तरह इन्होंने भी भागवत का अनुवाद किया है, जो 'परमानन्द-सागर' के नाम से प्रख्यात है। वल्लभाचार्य के शिष्य होने के पहिले यह कीर्तन करते, जिसमें अनेक व्यक्ति इनके साथ रहा करते थे। शिष्य होने के बाद यह वल्लभाचार्य के साथ गोकुल और गिरिराज आये, और श्रीनाथजी के सम्मुख कीर्तन करने लगे। सं० १६४० तक इनकी स्थिति का अनुमान होता है।

३. कुम्भनदास †—

कुम्भनदासजी का जन्म सं० १५३५ में हुआ। वे जमनावत गाम के रहनेवाले गौरवा क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम ज्ञात नहीं होता।

सं० १५५० में जब वल्लभाचार्य गिरिराज पधारे, और वहाँ श्रीनाथजी का प्राकट्य कर एक मंदिर में उन्हें विराजमान किया, उस समय कुम्भनदास को कीर्तन की सेवा सौंपी गई, उसी समय वे आचार्यचरणों के सेवक हुए।

ये महानुभाव भक्त और पूर्ण त्यागी थे। पारसोली गाम में इनकी ज़मीन थी, जहाँ यह खेती-बारी की देखभाल करते और पद बना २ कर गाया करते थे। गो० श्रीविट्ठलनाथजी ने इन्हें अष्टछाप में स्थान दिया।

* परमानन्द-सागर की दो प्रतियाँ विद्या-विभाग, कांकरोली के सरस्वती-भण्डार में विद्यमान हैं।

† ८४ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता ८३ है।

एक बार तत्कालीन बादशाह अकबर ने गायन सुनाने के लिये इनको सीकरी गाम में बुलाया। बादशाह के आदेश के कारण इन्हें विवश होकर जाना पड़ा, वहाँ पहुँचने पर जब बादशाह ने कुछ सुनाने का आग्रह किया, तो इन्होंने अपनी स्वाभाविक निस्पृहता के कारण, उस की अप्रसन्नता का कुछ भी खयाल किये बिना यह पद बनाकर सुनाया—

भक्तन को कहा सीकरी काम।
आवत जात पन्हैया टूटी बिसर गयो हरिनाम॥

गुणग्राही बादशाह इनकी त्याग-वृत्ति देखकर नाराज़ नहीं हुआ और उसने ससम्मान उन्हें घर भिजवा दिया।

एक बार राजा मानसिंह व्रज में आये, और वे कुम्भनदास की प्रशंसा सुनकर इनसे मिले। इनकी दरिद्रावस्था देखकर उन्होंने सोने की आरसी, मुहरों की थैली, और माफ़ी में गाम लगा देने का विचार प्रगट किया पर इन्होंने कुछ भी नहीं लिया।

यह श्रीनाथजी के पूर्ण भक्त थे, अतः उन्हें छोड़कर कहीं नहीं जाते थे, यहाँ तक कि—गुसाईं विट्ठलनाथजी भी इन्हें अपने साथ द्वारका नहीं ले जा सके।

इन पर श्रीवल्लभाचार्य पूर्ण विश्वास करते थे और श्रीनाथजी की सेवा, प्रबन्ध आदि का भार इनको सौंपकर अडेल चले जाते थे। एक बार गोवर्धन-पर्वत पर मुसलमानों के आक्रमण का समाचार फैला तब ये श्रीनाथजी को एक मोटी भैंस पर विराजमान कर 'टोंड के घना'-नामक स्थान में ले गए, उस समय एक ओर रामदास चौहान ने और दूसरी ओर कुम्भनदास ने श्रीनाथजी को पकड़ा था।

ऐसा सुनने में आया है कि—इस सम्प्रदाय में सूतकी लोगों को ग्वाल में ठाकुरजी के दर्शन कराने की जो प्रथा है वह इन्हीं के लिये प्रचलित की गई थी।

मिश्रबन्धुओं ने इनकी कविता का काल सं० १६०६ माना है, पर यह ठीक नहीं है। इसके बहुत वर्ष पूर्व, वल्लभाचार्य की उपस्थिति में ही, यह रचना करने लगे थे। इनका रचित कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, केवल स्फुट पद प्राप्त होते हैं।

इनके सात पुत्र थे, जिनमें चतुर्भुजदास की गणना अष्टछाप में हुई है। एक बार गुसाईंजी ने इनके पुत्रों की संख्या पूछी, तो इन्होंने अपना डेढ़ पुत्र होना बतलाया।

जब इसका रहस्य पूछा गया, तो बतलाया कि—नाम-सेवा और रूप-सेवा करने-वाला चतुर्भुजदास एक पुत्र, और केवल नाम-सेवा करनेवाला कृष्णदास आधा पुत्र है, अर्थात् जो कृष्ण-भक्ति में लीन थे, उन्हीं पुत्रों को यह अपना पुत्र मानते थे।

इनके अंतिम समय का ठीक पता नहीं लगता है, फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि—श्रीविट्ठलनाथजी इन्हें द्वारका ले जाना चाहते थे। गुसाईंजी ने व्रजमंडल से सं० १६२३, १६३१ और १६३८ में द्वारका की यात्रा की थी, अतः कम-से-कम सं० १६२३ तक कुम्भनदासजी की उपस्थिति तो मानी जा सकती है।

४. कृष्णदास *—

कृष्णदासजी का जन्म सं० १५५५ के लगभग हुआ। यह कणवी कायस्थ जाति के थे। इनके पिता अहमदाबाद ज़िला में 'चलोतर' के नम्बरदार थे।

सं० १५६८ में जब कृष्णदासजी १३ वर्ष के थे, तब इनके जीवन पर एक घटना का प्रभाव पड़ा और यह पिता का घर छोड़कर व्रज में आ गये। वह घटना इस प्रकार है—

एक सौदागर अपना माल बेचकर आ रहा था, उसके पास १४ हजार रुपया नगद था। रात्रि हो जाने के भय से उसने उसी चलोतर गाँव के बाहर अपना मुक़ाम किया जहाँ कृष्णदास के पिता नम्बरदार थे। कृष्णदास के पिता का मन ललचाया और रात्रि को उस सौदागर को लुटवाकर सारा द्रव्य अपने यहाँ रखवाकर उसमें से १०००) चोरों को इनाम दे दिया।

प्रातःकाल होने पर जब सौदागर ने कृष्णदास से फरियाद की तो उन्होंने उसे डाँटकर कहा कि—हम क्या करें, तू रात्रि को गाँव बाहर क्यों टिका था? बेचारा सौदागर हताश होकर जाने की तैयारी करने लगा। कृष्णदास को जब यह मालूम पड़ा तो उन्होंने पिता से सौदागर का धन दे देने को कहा। पिता ने बालक को फटकार दिया, जिससे वह चुप हो गया पर उसे अन्याय से द्रव्य लेना ठीक न जँचा। अन्त में कृष्णदास ने जाकर सौदागर से यह वृत्त कहकर हाकिम के पास फ़रियाद करा दी।

हाकिम के पास बुलाये जाने पर कृष्णदास ने इस प्रकार का वचन लेकर कि—

* ८४ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता ८४ है।

उनके पिता को सज़ा न दी जायगी, समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। हाकिम के आदेश से सारा द्रव्य सौदागर को प्राप्त हो गया और वह कृष्णदास की सराहना करता हुआ अपने देश चला गया।

अपने राजकर्मचारी पिता की इस अनीति को देखकर कृष्णदास का मन विरक्त हो गया और वे गुजरात छोड़कर व्रज में आये जहाँ श्रीवल्लभाचार्य से उनका परिचय हुआ।

वल्लभाचार्य ने इनका सब हाल सुनकर सं० १५८२ के लगभग इन्हें अपना शिष्य बनाया और कुछ समय बाद श्रीनाथजी के मन्दिर का अधिकार सौंपा।

आचार्यचरणों के अनन्तर उनके दोनों पुत्र इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते रहे। श्रीविट्ठलनाथजी के समय जब बंगालियों ने श्रीनाथजी के द्रव्य का दुरुपयोग और सेवा में अव्यवस्था करना प्रारम्भ किया, तो कृष्णदासजी ने राजा टोडरमल और बीरबल की सहायता से मन्दिर पर से बंगालियों का बहिष्कार करा दिया और अपनी सर्वविध सत्ता स्थापित की।

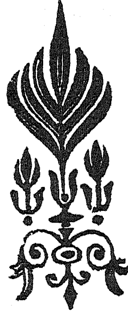
एक समय गंगाबाई खत्राणी के साथ कृष्णदास का अनुचित पक्षपात श्रीविट्ठलनाथजी को सह्य नहीं हुआ, उन्होंने कृष्णदास को सावधान किया, पर इस समय उन पर अधिकार का मद चढ़ चुका था। भले-बुरे का विचार किये बिना ही इन्होंने अधिकार का दुरुपयोग किया और विट्ठलनाथजी के लिये श्रीनाथजी की ड्योढ़ी बन्द कर दी।

विट्ठलनाथजी ने अपने पितृचरण के सेवक की आज्ञा को मान दिया और वे चन्द्र-सरोवर पर रहकर भगवद्भजन करने लगे। इस प्रकार छै महीना व्यतीत हो जाने पर भी जब इसका कोई परिणाम न निकला तो गुसाईंजी के ज्येष्ठ पुत्र गिरधरजी ने राजा बीरबल के प्रबन्ध से कृष्णदासको क़ैद करा दिया। गुसाईंजी को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने कृष्णदास को छुड़वाकर पुनः मंदिर का अधिकार प्रदान किया। इस सौजन्य से कृष्णदासजी अत्यन्त नम्र बन गये, और विट्ठलनाथजी पर पूर्ण आस्था रखने लगे। इस समय से कृष्णदास ने मंदिर का अच्छा प्रबन्ध कर गुसाईंजी की सेवा-पद्धति चालू कराकर उसकी श्रीवृद्धि की।

एक बार एक वैष्णव ने कुछ रुपया देकर कृष्णदासजी की देख-रेख में एक कुआँ

खुदवाया। कहते हैं, उस द्रव्य का पूरा उपयोग इसी कार्य में नहीं हुआ। यह एक दिन निरीक्षण करते समय उसी कुएँ में जा पड़े, जहाँ इनकी मृत्यु हो जाने से यह प्रेत हुए। गुसाईंजी को जब यह वृत्त विदित हुआ, तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने उत्तर क्रिया करवाकर इनकी गति सुधारी। इनका अन्तिम समय सं० १६२० के लगभग माना जाता है।

यह कविता और गायन के बड़े प्रेमी थे। काव्य-शक्ति इनकी बढ़ी-चढ़ी थी। अतः अष्टछाप में इनकी गणना की गई। काव्य में इनकी और सूरदासजी की प्रतिस्पर्द्धा रहा करती थी। इतना होने पर भी इनके रचित किसी ग्रन्थ का पता नहीं लगता, हाँ, कितने ही पद मिलते हैं। यह जिस प्रकार कवि और भावुक-हृदय भक्त थे, उसी प्रकार प्रबन्ध-कुशल भी। इनकी प्रबन्ध-कुशलता के कारण आज भी नाथद्वारा के अधिकार का कार्य इन्हीं के नाम से परिचालित होता चला आया है।



श्रीगोपीनाथजी
और
तत्पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजी

(प्रा० सं० १५६८, आ० १५८७, नि० १६२०)

जन्म, शिक्षा और संस्कार—श्रीगोपीनाथजी का प्राकट्य सं० १५६८ (चैत्रादि) * के आश्विन कृष्ण १२ के दिन हुआ था। इनके पितृचरण वल्लभाचार्य उस समय सोमयज्ञ का अनुष्ठान समाप्त कर प्रयाग के पास अडेल नामक ग्राम में निवास करते थे। इनके जन्म के बाद वल्लभाचार्य ने तीन सोमयज्ञ और किये, तथा चरणाट को अपना निवास-स्थल बनाया।

गोपीनाथजी एक संस्कारी बालक थे और इनके चरित्र पर वल्लभाचार्य-जैसे महापुरुष के जीवन का प्रभाव पड़ा था, अतः इनकी शिक्षा-दीक्षा तथाच विद्याभ्यास के विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

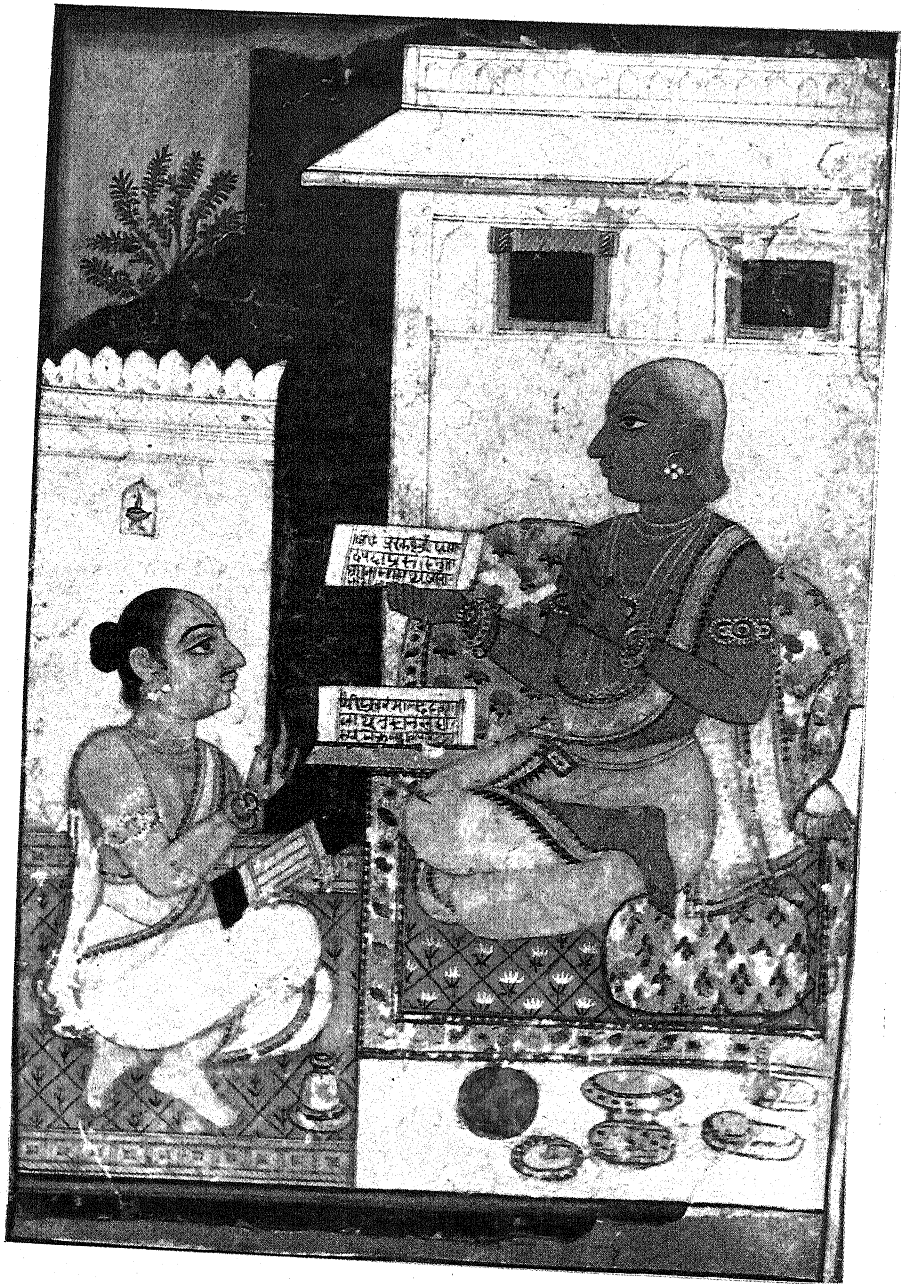
सं० १५७२ पौष कृष्ण ९ के दिन इनके भ्राता विट्ठलनाथजी का प्राकट्य हुआ, उनके जात-कर्मादि संस्कार हो जाने पर वल्लभाचार्य गिरिराज पधारे और यहाँ दोनों बालकों को श्रीनाथजी के चरणस्पर्श कराकर गोकुल में विट्ठलनाथजी का कन-छेदन किया। गोकुल से आचार्यचरण पुनः अडेल आकर रहे और यहाँ उन्होंने पुनः सोमयज्ञ किया, ऐसा प्रसिद्ध है कि—इन्होंने कुल छै सोमयज्ञ किये थे। इस सोमयज्ञ के समय उनके भाई संन्यासी केशवपुरी भी आये थे।

सं० १५७३ के चातुर्मास्य बाद वल्लभाचार्य काशी पधारे और यहाँ उन्होंने गोपीनाथजी का विधिवत् यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। उपनयन हो जाने के बाद इन्होंने वेद-वेदान्त और शास्त्रों का अध्ययन किया। तथा आचार्यचरणों के पास साम्प्रदायिक

---

* एक जगह जन्म-संवत् इस प्रकार दिया है—

तिनके जेठे पुत्र हैं दीक्षित गोपीनाथ।
संवत पन्द्रह सत्तरा आसो दसमी साथ ॥ ६ ॥ (सं० १५७० आश्विन १०)
तिनके पुरुषोत्तम भये सत्या कन्या जानि।
पुनि आगे पूरन भयो अब दूजे को मानि ॥ ७ ॥ (कवि जगनंदकृत वंशावली सं० १७८१)



श्रीगोपीनाथजी (प्रा० सं० १५६७ आश्विन० कृ० १२)

तथा

तत्पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजी (प्रा० सं० १५८८ आश्विन० कृ० ८)

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

सुबोधिनी अणुभाष्य आदि ग्रन्थों का परिशीलन कर योग्यवय होने तक अच्छा पाण्डित्य प्राप्त कर लिया।

यहाँ इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि—वल्लभाचार्य के सरल, सात्विक और वैदुष्यमय जीवन तथाच त्यागवृत्ति के साथ अनुपम अपरिग्रहभाव का जो प्रभाव गोपीनाथजी पर पड़ा वह विट्ठलनाथजी पर नहीं। क्योंकि विट्ठलनाथजी की अपेक्षा गोपीनाथजी को वयस्क होने के कारण आचार्यचरणों के रहनसहन समझने का अधिक अवसर मिला था।

वल्लभाचार्य ने गोपीनाथजी का द्विरागमन अपनी इहलीला का संवरण करने (सं० १५८७) के प्रथम कर दिया था। इस हिसाब से इनका विवाह सं० १५८१ से ८४ के बीच दक्षिण-देश में इनके पितृव्य जनार्दन भट्ट ने किया था ❋ जिससे समयानुसार इनके निम्नलिखित सन्तति हुईः—

१ पुरुषोत्तमजी प्रा० सं० १५८८ आश्विन कृ० ८ (?)

२ सत्यभामा बेटीजी सं० अज्ञात।

साम्प्रदायिक उत्तरदायित्व—सं० १५८७ में वल्लभाचार्य ने अपना अन्तिम समय समीप आया जानकर गोपीनाथजी को आवश्यक उपदेश दिया और शु० सम्प्रदाय का भार सौंपा †।

प्रयाग में संन्यास की दीक्षा लेकर आचार्यचरण जब काशी में गंगाजी की धार में अन्तर्धान होने के लिये पधारे, तब उनके दर्शनार्थ गोपीनाथजी तथा विट्ठलनाथजी काशी आये। इस समय आचार्यचरण वाक्संन्यास ले चुके थे, अतः पुत्रों के

❋ यदु० दि० ५३

† यदु० दि० पत्र ५५ में इस विषय में जो लिखा है उसका अभिप्राय यह है—

"श्रीवल्लभाचार्य के अनन्तर श्रीगोपीनाथजी उनकी मर्यादा का पालन करते हुए आचार्य-सिंहासन पर विराजमान और वैष्णवों द्वारा पूजित होकर भागवत धर्म का प्रचार करने लगे। श्रीगोपालमन्त्र का पुरश्चरण करते हुए आपने श्रीनाथजी की सेवा की। इसके बाद अपने पुत्र को पितृव्य के पास छोड़कर जगन्नाथजी में जाकर उनके मुख में प्रविष्ट हो गये। उनके पुत्र पुरुषोत्तमजी को बालक जानकर वैष्णवों ने श्रीविट्ठलनाथजी को आचार्य बनाया। इससे गोपीनाथजी की स्त्री अपने देवर से विरोध कर आचार्यचरण के पुस्तक, धन आदि लेकर दक्षिण में चली गईं।"

इसमें पुत्र से पहिले पिता के गत हो जाने की बात कहाँ तक प्रामाणिक मानी जा सकती है, कहा नहीं जा सकता।

विनय करने पर उन्होंने जो अन्तिम शिक्षा उन्हें लिखकर दी वह सम्प्रदाय में 'शिक्षा-श्लोक' नाम से प्रख्यात है। वल्लभाचार्य के नित्य-लीलाप्रवेश के अनंतर गोपीनाथजी उनकी आवश्यक उत्तर क्रिया से निवृत्त होकर अपने छोटे भाई और माता के साथ काशी से अडेल आकर रहने लगे।

श्रीनाथजी की सेवा का प्रबंध—जब यह अडेल में निवास करते थे तब उनके पास कृष्णदास अधिकारी के द्वारा इस प्रकार की शिकायत आई कि—श्रीनाथजी की सेवा करनेवाले बंगाली वैष्णव श्रीजी के द्रव्य का दुरुपयोग करते हैं, और उन्होंने श्रीजी के पास वृन्दा नामक देवी को पधरा दिया है। इसकी जाँच के लिये गोपीनाथजी और विट्ठलनाथजी गिरिराज गये और वहाँ सेवा का बिगड़ा हुआ क्रम देखकर दोनों ने बंगालियों को सेवा से हटाने का विचार किया।

सं० १५९० में गोपीनाथजी तथा विट्ठलनाथजी ने नारायणभट्ट से लेकर श्रीमदनमोहनजी का स्वरूप कार्तिक शु० ९ के दिन बंगालियों को सेवार्थ प्रदान कर दिया और उनसे श्रीनाथजी की सेवा छोड़ देने का आग्रह किया*। कहते हैं कि—बंगालियों ने जब सेवा छोड़ना स्वीकार न किया तो कृष्णदास अधिकारी इसके लिये कोई तरकीब सोचने लगे। सहसा एक दिन गिरिराज के नीचे झोपड़ियों में आग लग जाने के कारण जब बंगाली लोग श्रीनाथजी की सेवा छोड़कर अपने २ घरों की ओर दौड़ पड़े, तब इधर कृष्णदास के सिपाहियों ने मन्दिर पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया और सेवा में वैष्णव घुस गये।

श्रीनाथजी की सेवा का नया प्रबन्ध बाँधते हुए गोपीनाथजी तथा विट्ठलनाथजी ने अपने सजातीय व्यक्तियों को श्रीजी की पाकादि—सेवा करने का आदेश दिया पर उन लोगों के स्वीकार न करने पर इन्हें सांचीहर ब्राह्मणों को यह सेवा सौंपनी पड़ी। कृष्णदास आदि को मंदिर की व्यवस्था करने की जिम्मेदारी सौंपकर गोपीनाथजी गोकुल होकर सं० १५९० के अंत में अडेल वापिस आ गये। इन दोनो भाइयों ने अधिकांश ऐसा क्रम बाँध लिया था कि—एक भाई श्रीनाथजी की सेवार्थ गोपालपुरा (जतीपुरा) में रहता, तो दूसरा अपनी माता की सेवार्थ अडेल आकर रहता था।

* सं० क० ५३

यात्रा और प्रचार—गोपीनाथजी ने श्रीनाथजी के लिये प्रायः एक लाख के द्रव्य से चाँदी-सोने के पात्र, आभरण आदि बनवाकर भेट किये। एतदर्थ इन्होंने गुजरात, सिंध और द्वारका प्रांत की यात्रा की और वहाँ अपनी वैष्णव सृष्टि बढ़ाकर उनके समर्पित धन से श्रीजी का वैभव बढ़ाया।

सं० १५९५ के प्रारम्भ में गोपीनाथजी ने जगदीशपुरी की यात्रा की। यहाँ उन्होंने सजातीय व्यक्तियों के कथनानुसार वल्लभाचार्य के समकालीन वृद्ध पुरोहित 'कृष्णदास गुच्छिकार' को अपना वंश-परंपरा का पुरोहित स्वीकार किया और उसे वैशाख की अमावास्या के दिन वृत्तिपत्र लिख दिया। इनके मुख से गोपीनाथजी ने वल्लभाचार्य के सं० १५४५ में जगदीश पधारने और मन्दिर में शास्त्रार्थ होने का पूर्व वृत्तान्त भी सुना, जिसका वृत्तिपत्र में उल्लेख किया गया है *।

जगदीश की यात्रा कर अन्य स्थलों का परिभ्रमण और धर्म-प्रचार करते हुए व्रज होकर गोपीनाथजी अडेल आये और यहाँ आकर उन्होंने सं० १६०१ में सोमयज्ञ और तदनन्तर विष्णुयज्ञ किया। सं० १६०५ चैत्र शु० ५ के दिन काशी में श्रीविट्ठलनाथजी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी का यज्ञोपवीत हुआ, उस समय ये आपने भ्राता के आग्रह से काशी पधारे। यहाँ से जाकर गिरिराज में श्रीनाथजी की सेवा की और ८४ कोस की व्रजपरिक्रमा सविधि सम्पन्न की।

सं० १६१८ के लगभग गोपीनाथजी ने पुनः गुजरात, सिन्ध, द्वारका आदि प्रान्त का प्रदेश किया जिसमें उनको प्रायः दो साल का समय लगा।

इनके प्रदेश चले जाने पर विट्ठलनाथजी के साथ एक घटना घटी। बात यह हुई कि—कृष्णदास अधिकारी के और गंगाबाई नामक श्रीनाथजी की एक सेविका के बीच किसी प्रकार के अनुचित सम्बन्ध की शिकायत पहुँचने पर विट्ठलनाथजी ने गंगाबाई का मन्दिर में आना-जाना बन्द कर दिया। यह बात कृष्णदासजी को ठीक न लगी और उन्होंने इसे अनुचित हस्तक्षेप समझा।

* गोपीनाथजी की इस यात्रा और वल्लभाचार्य के जगदीशपुरी के शास्त्रार्थ के विषय में 'गुजराती' (सं० १९९५, दीपावली-अंक) में कई लचर शंकाएँ शास्त्री रेवाशंकरजी का प्रकाशित की हैं, परंतु जब तक ऐतिहासिक प्रबल प्रमाणों द्वारा उनकी पुष्टि नहीं की जाती तब तक गोपीनाथजी के हस्ताक्षरित उक्त पत्र अप्रामानिक नहीं माना जा सकता।

(यह पत्र वल्लभाचार्य के जगदीश यात्रा-चरित्र में प्रकाशित हो चुका है।)

एक दिन गुसाईंजी श्रीनाथजी की सेवा करने के लिये जब गिरिराज-मन्दिर में जाने लगे तो कृष्णदास अधिकारी ने उचित-अनुचित का कुछ भी विचार किये विना अपने आदमियों के द्वारा उनको रोक दिया। उस दिन से गुसाईंजी चन्द्रसरोवर पर रहने लगे।

विट्ठलनाथजी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी के पत्र द्वारा प्रदेश में जब गोपीनाथजी को यह वृत्तान्त मालूम हुआ तो उन्होंने पत्र लिखकर इस अव्यवस्था को दूर करने का आदेश दिया। जिसके फलस्वरूप गिरिधरजी ने मथुरा के हाकिम से सैनिक प्रबन्ध लेकर कृष्णदास को कैद करा दिया और अपने पितृचरण के लिये श्रीनाथजी की सेवा का अन्तराय दूर किया।

सन्तति—यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि—गोपीनाथजी का विवाह वल्लभाचार्य की विद्यमानता में ही हो चुका था। समयानुसार उनके निम्न-लिखित सन्तति हुई—

१ पुरुषोत्तमजी प्रा० सं० १५८९† गोकुल
२ सत्यभामा बेटीजी ,, सं० १५९८ कार्तिक शु० ७. अडेल
३ लक्ष्मी बेटीजी ,, सं० १६०१

पुरुषोत्तमजी के विषय में कुछ विशेष वृत्त नहीं मिलता, क्योंकि इनका देहान्त छोटी अवस्था में पिता के सामने ही हो गया था। हाँ, इतना अवश्य विदित होता है कि—जब कभी गोपीनाथजी इनको अपने भाई विट्ठलनाथजी के पास गिरिराज में छोड़ जाया करते थे और वे इनको श्रीनाथजी की सेवा सिखाया करते थे। गोपीनाथजी जब प्रदेश करने द्वारका (गुजरात) गये तब भी पुरुषोत्तमजी विट्ठलनाथजी के पास ही रहे थे, और पिता के आने के प्रथम ही सं० १६२० के लगभग इनका देहान्त हो गया था। इस प्रसंग से विट्ठलनाथजी को बड़ा दुःख और पश्चात्ताप हुआ।

* एक प्राचीन वंशावली में इनका जन्म सं० १५९७ भाद्र बदी ८ मिलता है।

† सं० क० (पत्र ६२ और ६५) में पुरुषोत्तमजी का जन्म सं० १६०८ और यज्ञोपवीत का सं० १६१५ (यदुनाथजी के जन्म बाद) दिया है। इस विषय में सं० कल्पद्रुम को प्रामाणिक मानने पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि पुरुषोत्तमजी का देहान्त १२वें वर्ष हुआ।

इस जीवनी के साथ गोपीनाथजी और पुरुषोत्तमजी का जो चित्र दिया जा रहा है वह प्राचीन है। उसके देखने से पुरुषोत्तमजी की अवस्था पन्द्रह-सोलह वर्ष की प्रतीत होती है। अतः चित्र के हिसाब से इनका जन्म-संवत् सं० क० के अनुसार ही माना जा सकता है। सं० १५८९ में जन्म मानने से अंतिम समय (१६२०) में इनकी अवस्था ३१ वर्ष की होती है, जो चित्र से विरुद्ध पड़ती है।

व्यवहार और व्यक्तित्व—गोपीनाथजी और विट्ठलनाथजी दोनों भाइयों में परस्पर अच्छा सौहार्द था। यह इनके पत्र और पारस्परिक व्यवहार से विदित होता है। कहते हैं, ये पत्र नाथद्वारा में रक्खे हुए हैं। ये दोनों महानुभाव संस्कृत-भाषा में पत्र लिखा करते थे, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि—इनकी लिखा-पढ़ी और पत्र-व्यवहार संस्कृत अथवा तेलगू में हुआ करता था*। विट्ठलनाथजी भी ज्येष्ठ भ्राता को बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे, जैसा उनके रचित "यदनुग्रहतो जन्तुः" इत्यादि मंगलाचरण से प्रतीत होता है।

यद्यपि गोपीनाथजी की विद्वत्ता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, क्योंकि उनका अध्ययन वल्लभाचार्य के निरीक्षण में हुआ था, फिर भी सम्प्रदाय में इनके रचित "साधन-दीपिका" नामक ग्रन्थ को छोड़कर अन्य कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, यह बड़े आश्चर्य की बात है। इनकी पत्नी अपने देवर श्रीगुसाईंजी से विरोध हो जाने पर धन के साथ प्राचीन समस्त ग्रन्थ भी अपने साथ दक्षिण ले गईं जैसा कि—परम्परा से प्रख्यात है†। सम्भव है, इन्हीं में इनके रचित अन्य ग्रन्थ भी रहे हों।

जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, गोपीनाथजी सरल और सात्विक जीवन के आग्रही व्यक्ति थे। इन पर वल्लभाचार्य के त्यागमय जीवन और तपस्या का प्रभाव अधिक पड़ा था। ये जब कभी गिरिराज जाकर श्रीनाथजी की सेवा कर आते थे और अधिकांश अडेल, चरणाट अथवा गोकुल में एकान्त निवास किया करते थे। इनकी उपस्थिति तक श्रीनाथजी की सेवा का सातत्य और वैभव इतना नहीं बढ़ा था जितना विट्ठलनाथजी के उत्तर जीवन और विशेषतया उनकी सन्तति के समय बढ़ा।

---

* विट्ठलनाथजी ने जो पत्र स्वकीय ज्येष्ठ भ्राता को लिखे थे, उनमें से एक इस प्रकार है—

स्वस्ति श्रीमज्ज्येष्ठभ्रातृचरणकमलेषु यवीयसो विट्ठलस्य प्रणामकोटि—निवेदकोऽयं पत्रदूतः। अहं भगवदाज्ञया रासोत्सवपर्यन्तं श्रीगोवर्द्धनचरणारविन्दनिकटे स्थितोऽस्मि। हरिद्वारं प्रत्याज्ञा न जातेति न गतं। अत्र ममास्वास्थ्यं बहु जातमासीत्। उपवासदशकं कृतम्। अधुना भगवत्कृपया च नरुज्यं जातमस्ति, कापि चिंता न कार्या। अक्का अम्मा अत्ताचरणेषु नतयः। अक्का यथा दुःखं न करोति ममास्वास्थ्यं श्रुत्वा तादृक् कर्तव्यम्। भवतापि कापि चिंता न कार्या मम, भगवति सर्वत्र। यादवेन्द्रपुरिषु ब्रह्मानन्देषु दीक्षितेषु हरिहर नागनाथ चूड़ादिषु नमस्काराः। द० विष्णुदासादिष्वाशिषः। अत्रत्य वैष्णवानां नतयः।

('शुद्धाद्वैत' वर्ष २ अंक ९)

† यदु० दि० पत्र ५५

यह सब देखते हुए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि—यदि गोपीनाथजी का ही इस सम्प्रदाय पर आचार्यत्व रहा होता तो शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग-सम्प्रदाय की धारा ही कुछ दूसरी ओर होती।

कहते हैं—वल्लभाचार्यचरण ने गोपीनाथजी से कहा था कि—मेरे अनन्तर तुम्हारा और तुम्हारे पुत्र का भगवद्धाम में प्रवेश हो जायगा और तुम्हारे वंश की समाप्ति होकर विट्ठलनाथजी का वंश चलेगा *। सम्भव है, वल्लभाचार्य की इस भविष्य-वाणी के कारण गोपीनाथजी का चित्त सांसारिक वातावरण से तटस्थ हो गया हो और वे प्रत्यक्ष रूप में भाग न लेकर प्रत्येक कार्य में अपने छोटे भाई विट्ठलनाथजी को ही आगे रखने लगे हों। यही कारण है कि—उन्होंने विशेष शिष्यसंग्रह नहीं किया, अन्यथा विट्ठलनाथजी के २५२ शिष्यों की वार्ता के समान इनके भी कुछ शिष्यों की वार्ता प्रख्याति में अवश्य आई होती †। इस प्रकार की परिस्थिति होने से ही 'सम्प्रदाय-प्रदीप' जैसे समसामयिक ग्रन्थ में भी इनका प्रासंगिक निर्देश कर दिया गया है और विट्ठलनाथजी को सम्प्रदाय का शासक लिखा गया है ‡।

नित्यलीला-प्रवेश—प्रदेश में पत्र द्वारा अथवा घर पर उपस्थित होने पर इन्हें जब अपने एकमात्र पुत्र के निधन का समाचार मिला तो यह प्रत्यक्ष रूप में भी संसार से विरक्त हो गये। इन्होंने घर आकर सम्प्रदाय का उत्तरदायित्व श्रीविट्ठलनाथजी को सौंपा और सं० १६२० में यात्रार्थ चले गये। और जगदीशपुरी में जाने पर यह श्रीबलदेवजी के मुखारविन्द में लीन हो गये। सं० १५९५ में भी इनका नित्य-लीला-प्रवेश माना जाता है, जो उक्त ग्रन्थ से विरुद्ध पड़ता है।

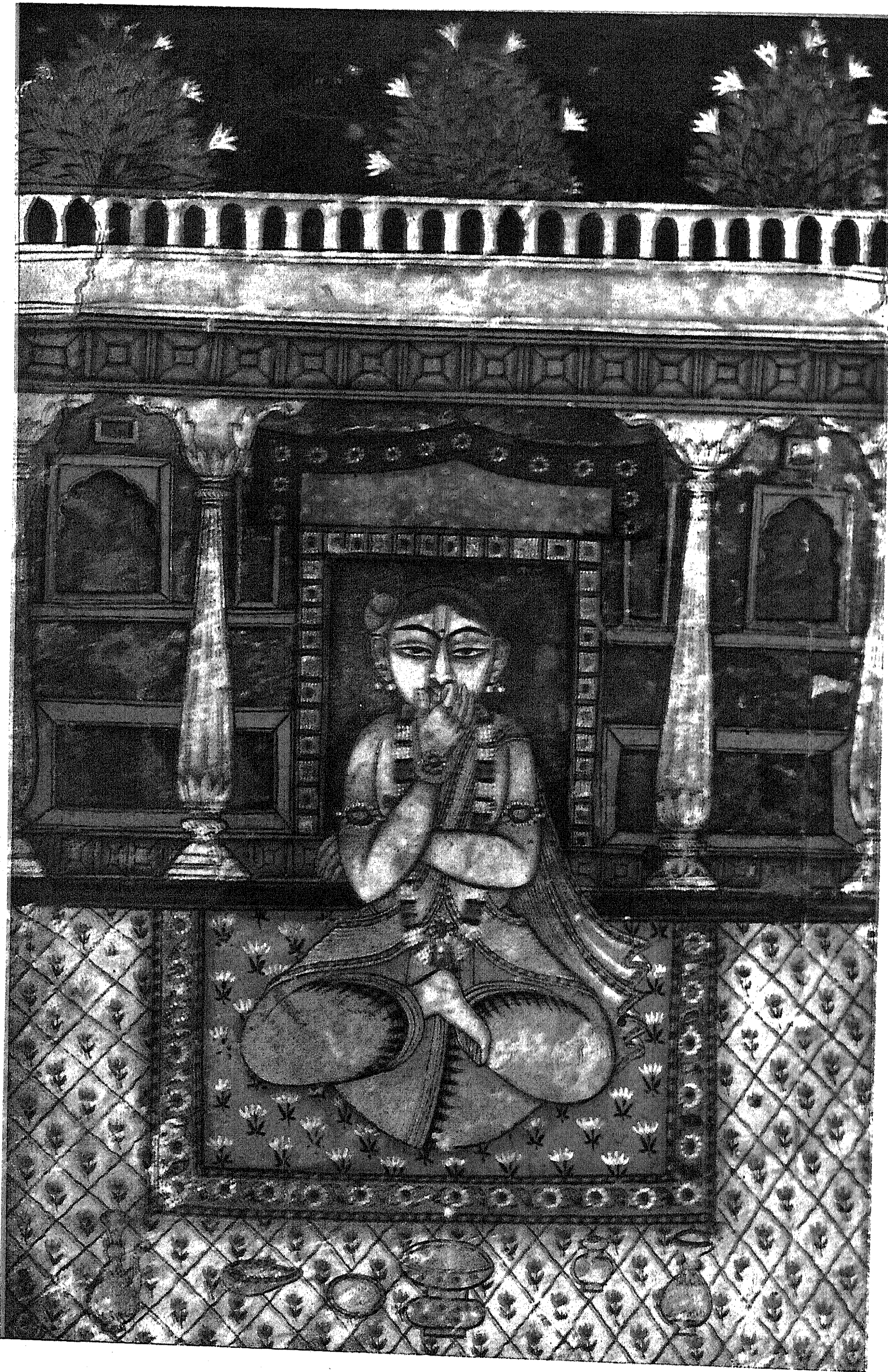
इनके बाद श्रीविट्ठलनाथजी सम्प्रदाय के आचार्य पद पर विराजमान हुए और उन्होंने इसमें कुछ नवीन परिष्कार किया।

---

* सं० प्र० पत्र ८६

† देवाकपूर की वार्ता में उसके पुत्रों को गोपीनाथजी की दीक्षा होने का उल्लेख है। आगे चल-कर लिखा गया है कि जब देवाकपूर और उसकी स्त्री के गत हो जाने पर सेवा का कार्य उसके पुत्रों ने सँभालना चाहा तो ललितत्रिभंगी ठाकुरजी अन्तर्धान हो गये, क्योंकि वे गोपीनाथजी के शिष्य होने के कारण मर्यादा-मार्गीय वैष्णवों (देवाकपूर के पुत्रों) द्वारा सेवा नहीं कराना चाहते थे। (पाटन में उपलब्ध एक प्राचीन ८४ वैष्णव की वार्ता के आधार पर)। स्मरण रहे, पहिले से ही हो या पीछे से, सम्प्रदाय में गोपीनाथजी को मर्यादा-मार्गीय बलदेवजी का स्वरूप माना गया है। सं० १८६२ की लिखित वार्ता की पुस्तक में गोपीनाथजी के मुखवचन की ८ वार्ताएँ उपलब्ध होती हैं।

‡ सं० प्र० मंगलाचरण श्लोक ३



गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराज (श्रीगुसाईंजी)
प्रा० सं० १५७२ पौष कृ० ६

सायं कुञ्जालयस्थासनमुप विलसत् स्वर्णपात्रं सुधौतं राजद्यज्ञोपवीतं परितनुवसनं गौरमम्भोजनेत्रं ॥
प्राणानायम्य नासापुटनिहितकरं कर्णराजद्विमुक्तं वन्देऽर्द्धोन्मीलिताक्षं मृगमदतिलकं विट्ठलेशं सुकेशम् ॥

तृतीय प्रकरण

(सं०१६२० से १६४२)

श्रीविट्ठलनाथजी गुसाईंजी [प्रभुचरण]

(प्रा० सं० १५७२, आ० १६२०, नि० १६४२)

प्राकट्य—श्रीविट्ठलनाथजी का जन्म, सं० १५७२ पौष कृष्ण ९ * को, काशी के पास चरणाट नामक ग्राम में हुआ था, इनके पितृचरण श्रीवल्लभाचार्य उस समय अडेल से आकर वहीं निवास करते थे। पंढरपुर के श्रीविट्ठलनाथजी ठाकुरजी की आज्ञानुसार पिता के द्वारा इनका नाम विट्ठलनाथजी ही रखा गया। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम गोपीनाथजी था। वल्लभाचार्य ने अपना उत्तर जीवन अडेल और चरणाट में बिताया था, अतः गुसाईंजी का बाल्यकाल भी वहीं और प्रारम्भिक शिक्षाक्रम उन्हीं के पास हुआ।

---

* इनके जन्म के विषय में निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होते हैं—

वर्षे नेत्राश्वभूत द्विजपति(१५७२)गणिते पौषकृष्णे नवम्यां
हस्तर्क्षे तैतिलेह्न्यधिकृतभृगुजे शोभने गोविलग्ने,
रन्ध्रस्थेऽर्के सचान्द्रौ कविकुजशनिषु द्यूनगेष्वात्मजस्थे
सोमे जीवे धनस्थे तमसि सहजगे विट्ठलः प्रादुरासीत् ॥ १ ॥
शुक्रारार्किषु सप्तमेषु धनगे जीवे च कर्के तम-
स्यर्के धन्विनि चान्द्रिणा सह सहस्याशुक्लपक्षे वृषे।
अब्दे नेत्रमुनीषु चन्द्रगणिते हस्ते नवम्यां भृगौ
विश्वोद्धारकृते स्फुटोऽभवदिह श्रीविट्ठलेशो हरिः ॥ २ ॥

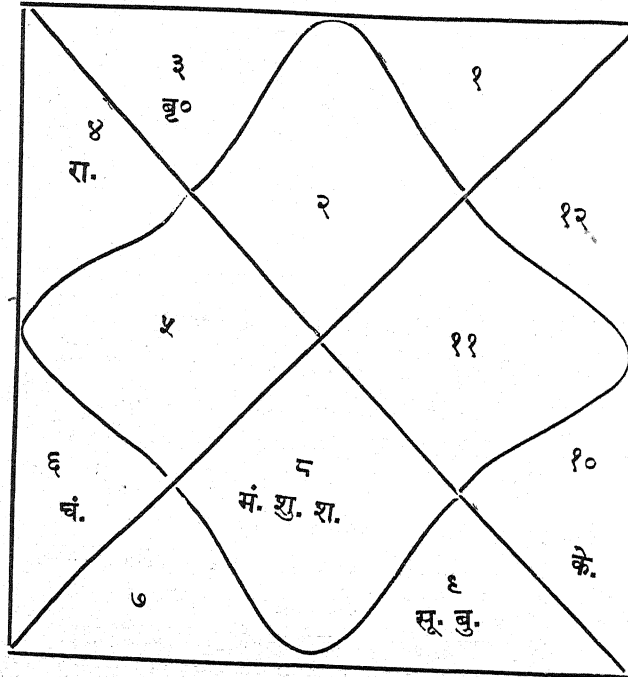
सं० १५७२, शाके १४३७ पौषकृष्णे ९ शुक्रे हस्तनक्षत्रे शोभनयोगे तैतिलकरणे एवं पञ्चाङ्गे

उपनयन और अध्ययन—सं० १५८० चैत्र शु० ९ के दिन काशी में इनका यज्ञोपवीत-संस्कार वल्लभाचार्य ने सम्पन्न किया और इनका शास्त्रीय अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यथासमय इन्होंने वेद-वेदान्त और शास्त्र-पुराण आदि का ज्ञान अधिगत कर सिद्धान्त-ग्रन्थों का भी परिशीलन किया।

सम्प्रदाय में कथानक प्रचलित है कि—विट्ठलनाथजी अपनी बाल्यावस्था में पढ़ने-लिखने और स्वमार्गीय सिद्धान्तों के परिशीलन में विशेष मनोयोग नहीं देते थे। इनका अध्ययन वल्लभाचार्यजी के आदेशानुसार काशी के प्रसिद्ध विद्वान् संन्यासी माधव सरस्वती के पास हुआ था पर वहाँ भी ये विशेषतः भागवत का ही परिशीलन किया करते थे। क्रीडा की ओर अधिक अभिरुचि देखकर पास रहनेवाले दामोदरदासजी-नामक वैष्णव ने इनको श्रीकृष्णलीला की ओर आकर्षित किया और खेल खेलने के बहाने साम्प्रदायिक सेवाप्रणाली के प्रति इनकी विशेष रुचि पैदा की। इसका प्रत्यक्ष फल

श्रीसूर्योदयात् गत घटी २१ पलानि २५ वृषलग्ने श्रीविट्ठलनाथजी प्राकट्यम्। स्थितिः वर्ष ७० दिन २८, सं० १६४२ माघकृष्णे ७ दिने अन्तर्धान। इनका जन्म लग्न-पत्र इस प्रकार है—

(बृ० स्तो० स० सागर द्वि० भाग)



यह हुआ कि—इन्होंने अपनी विशेष अभिरुचि के फलस्वरूप आगे चलकर सम्प्रदाय में ऐसी सेवाप्रणाली प्रचलित की जो वैभव, कला और भाव-भावना में अपना उपमान नहीं रखती।

विट्ठलेश्वरजी के साम्प्रदायिक ज्ञान प्राप्ति के विषय में इस प्रकार भी विदित होता है कि—इनको बहुत कुछ उपदेश चाचा हरिवंशजी भी दिया करते थे, और समय-समय पर दामोदरदासजी विट्ठलनाथजी से यह कहा करते थे कि—यह मार्ग खेल खेलने का नहीं है। इसी प्रकार इस सम्प्रदाय की अनुश्रुति में प्रख्यात है कि—गुसाईंजी ने इस मार्ग का रहस्य दामोदरदासजी से श्राद्ध की दक्षिणा में प्राप्त किया था*।

जो कुछ भी हो, वल्लभाचार्य की विद्यमानता में विट्ठलनाथजी का ठोस अध्ययन नहीं हुआ था और वे प्रौढ न होने के कारण इस विषय की उपेक्षा भी किया करते थे। परन्तु समय आने पर विट्ठलनाथजी ने जो सतत ग्रन्थ परिशीलन के बाद अपना पाण्डित्य प्रकट किया वह बहुत उच्चकोटि का था। कहना पड़ेगा कि—वल्लभाचार्य के सिद्धान्त का वास्तविक रहस्यज्ञान यदि किसी को हुआ था तो वे प्रभुचरण श्रीगुसाईंजी ही थे।

विवाह और सन्तति—अध्ययन के अनन्तर विट्ठलनाथजी का प्रथम विवाह सं० १५८९ के लगभग इनके ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथजी ने किया। इनके श्वशुर का नाम बागरोदी विश्वनाथभट्टजी और पत्नी का नाम श्रीरुक्मिणी बहूजी था। इनका द्विरागमन प्रायः सं० १५९३ में हुआ था।

प्रथम पत्नी से इनके १० सन्तान और द्वितीय पत्नी से केवल एक पुत्र घनश्यामजी का जन्म हुआ था।

सं० १६१६ में प्रथम पत्नी के दिवंगत हो जाने पर इनका दूसरा विवाह रानी दुर्गावती के आग्रह से सं० १६२४ में मध्य प्रान्त के निवासी पं० रामकृष्णभट्टजी तैलंग की पुत्री श्रीपद्मावती के साथ हुआ। पद्मावती का जन्म सं० १६१६ और दूसरा विवाह सं० १६२४ माघ शु० ५ को विजयनगर (?) में चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथजी के आग्रह से हुआ, ऐसा माना जाता है †।

चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथजी के जन्म का समाचार किसी व्यक्ति ने गुसाईंजी को सेवा

* यदु० दि० पत्र ४९
† सं० कल्प० ६५, ७१

के समय सुनाया, जिससे पिंडरू के कारण उनको सेवा छोड़कर सहसा बाहर आना पड़ा। अतः उस समय उन्होंने कहा कि—इस बालक के जन्म से सेवा में अन्तराय आया है, अतः इसकी सेवक-सृष्टि भगवत्स्वरूप-सेवा से बहिर्मुख होगी। इनका यह वचन आगे चलकर सत्य सिद्ध हुआ। गोकुलनाथजी की सृष्टि (भड्रूची) सम्प्रदाय की स्वरूप-सेवा को न मानकर गोकुलनाथजी की गादी को ही सब कुछ समझती है।

विट्ठलनाथजी ने अपने पुत्र, पुत्रियों के उपनयन तथा विवाहादि संस्कार समय-समय पर बड़े उत्साह और वैभव के साथ किये। जब तक (सं० १६२०) गोपीनाथजी विद्यमान रहे तब तक प्रत्येक संस्कार-प्रस्ताव में प्रभुचरण ने उनसे आज्ञा प्राप्त की और उसमें उन्हें प्रधान रूप से सम्मिलित किया।

सम्प्रदाय 'कल्पद्रुम' के आधार पर घटनाक्रम से यहाँ जन्म और संस्कार का समय दिया जाता है। यह ध्यान रखने की बात है कि उक्त ग्रन्थ में जो सं० दिया गया है वह कार्तिकादि है, अतः कार्तिक के बाद के सं० को छोड़कर शेष को यहाँ चैत्रादि बतला दिया गया है—

सं०	नाम	जन्म-सं०	प्रस्ताव	स्थान	प्रस्ताव-समय
१	गिरिधरजी	१५९७ का० शु० १२	चौल	गोकुल	१६०१ चैत्र शु० ९
२	शोभाबेटीजी	१५९५	विवाह		१६०३ लगभग
३	गिरिधरजी	(देखो नं० १)	उपनयन	काशी	१६०५ चैत्र शु० ५
४	गोविन्दरायजी	१५९९ मृग० कृ० ८	,, ,,	गोकुल	१६०८ चैत्र
५	कमलाबेटीजी	१६०१	विवाह	,, ,,	१६०८ मार्ग० के बाद
६	देवकाबेटीजी	१६०३ चै० कृ० ६	,, ,,	,, ,,	१६११
७	बालकृष्णजी	१६०६ आ० कृ० १३	उपनयन	,, ,,	१६१३
८	गिरिधरजी	(दे० नं० १)	विवाह	,, ,,	१६१४ लगभग
९	गोविन्दरायजी	(दे०नं० ४)	,, ,,	,, ,,	१६१५ ,, ,,

सं०	नाम	जन्म-सं०	प्रस्ताव	स्थान	प्रस्ताव-समय
१०	गोकुलनाथजी	१६०८ मार्ग० शु० ७	उपनयन	गोकुल	१६१६ गंगादशहरा
११	रघुनाथजी	१६११ का० शु० १२	,, ,,	,, ,,	१६१८ लगभग
१२	यमुनाबेटीजी	१६१३	विवाह	,, ,,	१६२१ ,, ,,
१३	यदुनाथजी	१६१५ चै० शु० ६	उपनयन	,, ,,	१६२३ ,, ,,
१४	बालकृष्णजी	(दे०नं० ७)	विवाह	,, ,,	१६२३ ,, ,,
१५	रघुनाथजी	(दे०नं०११)	,, ,,	,, ,,	१६२६ से २७
१६	यदुनाथजी	(दे०नं०१३)	,, ,,	,, ,,	१६२६ ,,
१७	गोकुलनाथजी	(दे०नं०१०)	,, ,,	काशी	१६३१ ,,
१८	घनश्यामजी	१६२८ मार्ग० कृ० १३	उपनयन	गोकुल	१६३५ माघ शु० १०

गुसाईंजी ने अपने पुत्रों को ठोस अध्ययन कराकर प्रकाण्ड पण्डित बनाया था। यह उन सबके रचित ग्रन्थों और निर्मित टीकाओं के परिशीलन से विदित होता है। साम्प्रदायिक सेवाप्रणाली, व्यवहार और प्रबन्ध-विषय में भी गुसाईंजी समय-समय पर उन्हें शिक्षा दिया करते थे और इनका यह क्रम प्रदेश में भी जारी रहता था। अपने घर की व्यवस्था के लिये ये कितने सतर्क रहा करते थे, यह बात पुत्रों के प्रति लिखे गये पत्रों से स्पष्ट जानी जा सकती है। इनका यह पत्र-व्यवहार संस्कृतभाषा में होता था *।

---

* 'आत्मसुतेभ्यः पत्रम्' में से एक पत्र की प्रतिलिपि—

"स्वस्ति श्रीविट्ठलदीक्षितानां गिरिधरस्य च......गोविन्द बालकृष्ण श्रीवल्लभ यदुनाथ रघुनाथ-घनश्यामेषु गिरिधरस्य च भवतां पुत्रेष्वाशिषः शमिह भावत्कं भद्रमाशासे। टोडाग्रामपर्यन्तं श्रीगोकुलनाथेन कुशलं नीताः स्मः। अत्रैव दोलोत्सवश्च कारितः। श्रीगिरिधरविषयिणी अस्मद्विषयिणी च कापि चिन्ता न कार्या, श्रीगोवर्द्धनेश एवावितास्ति। उभयत्रापि सेवा सम्यक् कार्या कारणीया च। स्वस्व देहरक्षा सर्वैः प्रकारैः कार्या। सेवका स्वस्वमर्यादायां रक्षणीयाः। बालकानां रक्षा सर्वैः प्रकारैः कार्या। द्रव्यमागमिष्यति तन्मध्ये तत्कालानुरूप व्योपयोगि यावद् भवति तावत्स्थापयित्वा शेषेणावश्यकमृणशोधनं कार्यम्, व्ययश्च सावऽधानतया करणीयः निशि यामिकाः सावधानाः स्थापनीयाः। ...

जहाँ तक अनुमान होता है, यवन-साम्राज्य काल में यही एक ऐसा पत्र-व्यवहार है जिसमें संस्कृत भाषा प्रयुक्त की गई है।

वैदुष्य और ग्रन्थनिर्माण—गुसाईंजी ने अपनी विद्वत्ता के द्वारा साम्प्रदायिक साहित्य की जो श्रीवृद्धि की है उस विषय में यह अत्युक्ति न होगी कि—यदि इनका प्रदुर्भाव न हुआ होता तो सम्प्रदाय में इतना साहित्य दृष्टिगोचर होता या नहीं, यह सन्देहास्पद ही था। अस्तु इन्होंने वल्लभाचार्य के ग्रन्थों का गम्भीर, विशद विवेचन किया और साथ में नवीन ग्रन्थों के निर्माण द्वारा आवश्यक विषय की पूर्ति भी। जो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं उनके पर्यवलोकन से इनके अगाध पाण्डित्य का परिज्ञान होता है। अधिकांश यह अपने पुत्र गिरिधरजी को समीप बैठाकर उनके द्वारा पूर्वपक्ष करवाया करते थे और स्वयं उसका शास्त्रीय समाधान किया करते थे। इस विषय में ऐसी भी किंवदन्ती है कि—गिरिधरजी को नास्तिक पक्ष-लेने के कारण विवादानन्तर प्रतिदिन यह ब्रह्म-सम्बन्ध दिया करते थे। विद्वन्मण्डन की रचना इसी प्रकार से हुई मानी जाती है। जो सिद्धान्त-ग्रन्थ इनके रचित मिलते हैं वे निम्न श्रेणी में विभाजित किये जा सकते हैं।

१. विद्वन्मण्डन
२. निबन्ध-प्रकाश टीका
३. अणुभाष्य का अन्तिम डेढ़ अध्याय
४. सुबोधिनी-टिप्पणी
५. भक्तिहंस
६. भक्तिहेतु
७. भक्ति-निर्णय
८. षोडशग्रन्थ-टीकाएँ
९. विज्ञप्ति
१०. शृङ्गाररस-मण्डन
११. निर्णय ग्रंथ
१२. संस्कृत आर्याएँ और पद
१३. स्फुट स्तोत्रादि ग्रन्थ और टीकाएँ

॰ इतः प्रेषितोश्वो गोविन्द भट्टेभ्यो दत्तोस्तु, अस्माभि स्तं विक्रीय तद्द्रव्यं तैर्ग्राह्यं, पत्रं मुहुः प्रेषणीयम्, तत्रत्यः सर्वोपि वृत्तान्तो लेखनीयः, गिरिधरापत्यानां विशेषतः कुशलं लेख्यम्, चिन्ता कापि न कार्या, श्रीगोवर्द्धननाथोस्मत्कुलपतिरस्मद्धितमेव करिष्यति, किमधिकम्, चैत्र वदि ४, (संवत् उपलब्ध नहीं होता तथापि सातों पुत्रों का नाम निर्देश होने से वह सं० १६३० के बाद होना चाहिये)

गोविन्द भट्टेषु गणेश भट्टेषु चाशिषः, पदकृद् गोविन्ददासेषु भगवत्स्मरणं वाच्यम्, अनादिषु कृष्णदासादिष्वाशिषो वाच्याः, वासुदेव भट्टैः स्वगृहे गन्तव्यं पुरोहित गृहात्, वेंकटप्रभृतिषु कृष्णरायादिष्वाशिषः, इति...(वृ. स्तो० स. सागर)

एकत्र मिलाकर इनके रचित ग्रन्थों की संख्या ५० के लगभग है, जिसमें छोटे-मोटे सब ग्रन्थ आ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि—गुसाईंजी ने सम्प्रदाय के प्रत्येक विषय पर लिखा है और छोटी-से-छोटी बात को सिद्धान्त के अनुरूप समझाया है, किसी प्रकार की शंका की गुंजाइश नहीं रक्खी है।

गोपीनाथजी तथा उनके पुत्र के नित्यलीला में प्रविष्ट होजाने के कारण गोपीनाथजी की बहूजी बहुत-सी सम्पत्ति एवं आचार्यचरणों के बहुत कुछ ग्रन्थ लेकर अपने पितृ-गृह में चली गईं। इस कारण जब आचार्यचरणों के कई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए तब गुसाईंजी ने वैष्णवों के यहाँ से उनका संग्रह किया और अपूर्ण अंशों की पूर्ति की। इस प्रकार के ग्रन्थ अणुभाष्य और सुबोधिनी हैं जिनमें गुसाईंजी द्वारा आवश्यक अंश की पूर्ति की गई है। ग्रन्थों के अनुशीलन से वल्लभाचार्य और गुसाईंजी की लेखन-शैली स्पष्टतः पृथक् ज्ञात हो जाती है। विद्वन्मण्डन ग्रन्थ की रचना सं०१६१९ के पूर्व अडेल में हुई है, क्योंकि इस समय की एक हस्त-लिखित प्रतिलिपि मिलती है। सं० १६१९ के लगभग अडेल पर अकबर बादशाह ने आक्रमण किया, तब से गुसाईंजी को सर्वदा के लिये उसे छोड़कर अपना मुकाम गोकुल में लाने का विचार करना पड़ा, जिसका वर्णन आगे होगा।

सम्प्रदाय में इस प्रकार का भी वाद प्रचलित है कि—प्रारम्भिक अवस्था में इन पर 'श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु' के सिद्धान्त की कुछ छाप पड़ी, जिसके कारण सम्प्रदाय में भी राधिकाजी किंवा स्वामिनीजी की उपासना का भाव प्रचलित हो गया, और इसी से एतद्विषयक स्तोत्रों का भी निर्माण हुआ। शृङ्गार-रस-मण्डन-नामक ग्रन्थ की शैली इसी प्रकार की है। तात्पर्य यह कि—इस सम्प्रदाय में जो कुछ भी स्वामिनी-भाव की उपासना है, वह इसी कारण है। आगे चलकर यह चैतन्य—साम्प्रदायिक प्रभाव विगत हो गया और विट्ठलेश्वरजी अपने पितृचरण के सिद्धान्त के अनुसार उपासना करने लगे, पर एक बार जो भाव प्रविष्ट हो गया वह फिर सर्वांश में नहीं निकाला जा सका।

यात्रा और प्रचार—जब वल्लभाचार्य ने संन्यास लेकर काशीधाम में अपनी ऐहिक लीला का संवरण किया उस समय (सं० १५८७) में विट्ठलनाथजी की अवस्था १५, और उनके ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथजी की २० वर्ष की थी। आचार्यचरणों के अन्तिम समय में यह अपने बड़े भाई के साथ काशी पधारे और इन दोनों ने आचार्यचरणों

का अन्तिम उपदेश ग्रहण किया। वल्लभाचार्य के बाद नियमानुसार सम्प्रदाय के संचालन का भार गोपीनाथजी पर पड़ा, अतः अपने बड़े भाई की संरक्षकता के कारण विट्ठलनाथजी को उस समय कोई चिन्ता नहीं हुई।

सं० १५९० में जब अडेल में गोपीनाथजी के पास श्रीनाथजी के मन्दिर की अव्यवस्था और बंगालियों की शिकायत पहुँची, तब विट्ठलनाथजी भी उनके साथ गिरिराज (गोपालपुरा—वर्तमान जतीपुरा) गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने बड़े भाई के साथ श्रीनाथजी की सेवा का प्रबन्ध किया। इस प्रबन्ध में श्रीनाथजी की सेवा से बंगाली वैष्णवों का सम्बन्ध हटा दिया गया और सजातीय व्यक्तियों के निषेध करने पर सांचीहर (सांचौरा) ब्राह्मणों को अंगीकार किया गया। अनुमान होता है कि— सजातीय तैलंग भट्ट—समुदाय इसी समय से सदा के लिये पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की सेवा से वंचित कर दिया गया,और विजातीय ब्राह्मणों को प्रविष्ट होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अस्तु।

श्रीनाथजी की सेवा की सुव्यवस्था हो जाने पर गोकुल, मथुरा आदि व्रज के स्थलों की यात्रा करते हुए विट्ठलनाथजी अडेल आये। संवत् १५९२ में उन्होंने पुनः व्रज में जाकर श्रीनाथजी की सेवा की। इसी वर्ष पत्नी का द्विरागमन हो जाने पर उन्होंने अडेल आकर सोमयज्ञ किया ❋।

सं० १६०० भाद्र कृष्ण में गुसाईंजी ने अपनी मातुश्री को साथ लेकर व्रज चौरासी कोस की यात्रा की, और वहाँ पर उजागर शर्मा चतुर्वेद को अपना पुरोहित बनाया। इसका वृत्तिपत्रक इनके हस्ताक्षरों से लिखा हुआ विद्यमान है ×।

इस यात्रा के बाद आगे चलकर एक या दो बार पुनः व्रज चौरासी कोस की यात्रा करने का उल्लेख मिलता है।

आचार्यत्व और प्रचार—गोपीनाथजी के अनन्तर सं० १६२० के लगभग गुसाईंजी ने पुष्टि-सम्प्रदाय की डोर अपने हाथ में ली और उसे सुदृढ करने के लिये भारत-भ्रमण प्रारम्भ किया। तीर्थयात्रा तथा देश-भ्रमण करते हुए उन्होंने सर्वत्र अपने अगाध पांडित्य द्वारा इस मार्ग का प्रचार किया और अनेक विद्वानों के संशयों को दूर करते हुए

❋(सं० क० ५४—५७)

श्रीः

× "स्वस्ति श्रीमद्विट्ठलदीक्षितानां मथुराक्षेत्रे तीर्थपुरोहित उजागरशर्मा माथुरोऽस्ति"

उन्हें अपना शिष्य बनाया। यात्रा में कई राजा इनके शिष्य हुए। कई प्रसिद्ध सेठ-साहूकार तो ऐसे अनन्य भक्त हो गये कि—उनकी गणना उच्चकोटि के भक्तों में की जाने लगी। इन शिष्यों में से २५२ वैष्णव ऐसे आदर्शपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाले हुए कि—उनका उपमान नहीं है। आगे चलकर इनके पुत्र श्रीगोकुलनाथजी ने इनकी वार्ता का संकलन किया।

श्रीविट्ठलनाथजी ने अनेक बार भारत का भ्रमण किया जिसमें वह गुजरात में विशेष पधारे। गुजरात-यात्रा सर्वप्रथम सं० १६०० और दूसरी बार सं० १६१३ में अडेल से प्रारम्भ हुई। सं० १६१९ में तीसरी बार गढ़ा से तथा चौथी बार सं० १६२३ में मथुरा से गुजरात होकर दक्षिण-यात्रार्थ पधारे। यहाँ से मथुरा आकर उन्होंने उत्तर भारत की तीर्थयात्रा की। पाँचवीं बार सं० १६३१ और छठी बार सं० १६३८ में वह गोकुल से गुजरात गये।

इससे विदित होता है कि—विट्ठलेश्वरजी लगभग ४० वर्ष तक भारत में परिभ्रमण कर पितृचरण द्वारा संस्थापित शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग का प्रचार अविच्छिन्न रूप से करते रहे। इसके प्रथम इनके भ्राता गोपीनाथजी का गुजरात तथा द्वारका के प्रदेश में अच्छा सत्कार हुआ था, अतः इनको भी उस ओर जाने की रुचि उत्पन्न हो गई थी। विट्ठलनाथजी के समय गुजरात सिद्धपुर में वल्लभाचार्य के शिष्य समर्थ विद्वान् 'राणा व्यास' और नरोडा में गुसाईंजी के शिष्य गोपालदास विशेषतया इस सम्प्रदाय का प्रचार किया करते थे। यह गोपालदास भाइला कोठारी के जामाता थे। कहते हैं—प्रथम यह गूँगे थे पर सं० १६२३ के लगभग विट्ठलनाथजी के अहमदाबाद पधारने पर उनकी प्रसादी बीडी खाने के कारण इनकी वाणी खुल गई और यह एक अच्छे कवि हुए। इन्होंने 'वल्लभाख्यान'-नामक ग्रन्थ बनाया।

सं० १६१६ के अन्त में गुसाईंजी ने जगदीश की यात्रा की* और वहाँ से एक

---

*विट्ठलेश्वर प्रभुचरण का अपने शिष्य के प्रति एक संस्कृतपत्र.........('शुद्धाद्वैत')

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

स्वस्तिश्री विट्ठलदीक्षितानां नागजीप्रभृतिष्वाशिषः, शमिह भावत्कमाशास्महे
सततं गोपिकाधीशपदांम्भोजं सुभावितम्, हृदि कार्यं तदीयत्वं तत एव फलिष्यति ॥ १ ॥
निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यमाचरेत्, प्रावाहिकास्तेऽपि चेत्स्युरुपेक्षैवोचिता तदा ॥ २ ॥
पुरुषोत्तमात्कुशलिनः समागताः स्मः, गिरिधरादयः कुशलिनः, किमधिकम्, श्रीकृष्णः शरणं मम ।

कुशल बढ़ई को लाकर अडेल में जगदीश के समान रथ बनवाकर नगर में ठाकुरजी की रथयात्रा का उत्सव शुरू किया। कहते हैं कि—सम्प्रदाय में उसी समय से रथ यात्रा का उत्सव प्रारम्भ हुआ। गढ़ा तथा मथुरा में भी बड़ी धूमधाम के साथ यह उत्सव किया गया पर आगे चलकर यवनों के उपद्रव के भय से मथुरा में इन्होंने इस उत्सव को गुप्त रूप में करना शुरू किया।

सं० १६१८ के आसपास श्रीविट्ठलनाथजी अडेल से चलकर बान्धव गढ़ (बाँदा ?) पधारे। यहाँ के राजा रामचन्द्र बाघेला ने इनका और इनके पुत्र श्रीगिरिधरजी का अच्छा सम्मान किया। गिरिधरजी के साथ राजा रामचन्द्र का अच्छा सख्यभाव हो गया था। ऐसा सुना जाता है कि--तानसेन इन्हीं राजा का दरबारी गायक था जो बाद में अकबर बादशाह के आह्वान पर दिल्ली चला गया। जब गुसाईंजी ने अपना स्थायी निवास गोकुल में कर लिया तब राजा रामचन्द्र भी कुछ समय वहाँ जाकर रहा था।

रानी दुर्गावती द्वारा सत्कार— सं० १६१९ के लगभग विट्ठलनाथजी रानी दुर्गावती की राजधानी गढ़ा (मध्यप्रदेश) पधारे। गढ़ा के पास उन्होंने 'जमुनिया' तालाब (रानीतालाब) के किनारे अपना डेरा डाला। रानी ने इनके साधु चरित्र, प्रबल प्रताप और विद्वत्ता की जब ख्याति सुनी तो वह अपने सामन्तों के साथ इनके पास आई। दुर्गावती धर्मनिष्ठ, नीतिकुशल, ब्राह्मणभक्त एवं भारत की एक आदर्श रमणीरत्न रानी थी *।

रानी ने विट्ठलनाथजी का अच्छा सम्मान किया और उन्हें कुछ समय तक अपनी राजधानी में रक्खा। उसने यह सुनकर कि—गुसाईंजी की पत्नी का देहान्त हो गया है, उनसे द्वितीय विवाह करने का अतिशय आग्रह किया। फलतः आगे चलकर

यह पत्र गुसाईंजी ने गुजरात के निवासी अपने शिष्य नागजी भाई को लिखा था। इसमें संवत् तथा मिती नहीं लिखी मिलती है, परन्तु वृत्तान्त से विदित होता है कि—पुरुषोत्तमक्षेत्र (जगदीशयात्रा) से लौट आने के बाद यह लिखा गया है। प्रथम यात्रा सं० १६१६ के आसपास और दूसरी इन्होंने उत्तर वय में की थी। अतः यह पत्र सं० १६१६ के बाद का होना चाहिये।

* रानी दुर्गावती के पति का नाम दलपतिशाह था। यह सं० १५८७ में गढ़ा का राजा हुआ, और सं० १५९१ के आसपास उसका असमय ही देहान्त हो गया। अपने एकमात्र पुत्र वीरनारायण की छोटी अवस्था के कारण दुर्गावती ने राज्य का भार सँभाला। सं०१६२१में बादशाह अकबर ने गढ़ा राज्य पर आसफ़ख़ाँ द्वारा चढ़ाई करा दी जिसमें रानी दुर्गावती लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। बादशाह की फ़ौज ने गढ़ा की राज्यसत्ता को तहस-नहस कर डाला। (मध्यप्रदेश का इतिहास ५५)

सं० १६२४ में इनका द्वितीय विवाह हुआ, जिसका वर्णन पहिले किया जा चुका है।

ऐसा भी प्रसिद्ध है कि—रानी दुर्गावती ने सोमवती अमावास्या पर१०८ ग्राम दान कर गुसाईंजी को भेंट किये, पर उन्होंने वे सब अपने सजातीय व्यक्तियों को दिला दिये थे। पर इसके लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता है। जो भी तैलंगजातीय ब्राह्मण—मध्यप्रदेश में सम्प्रति ग्रामों की आजीविका का उपभोग कर रहे हैं उनके पूर्वपुरुषों को वे ग्राम बहुत पहिले से ही मिल चुके थे। अतः कहा नहीं जा सकता कि—उन ग्रामों का क्या हुआ? सम्भव है राजनैतिक उथल-पुथल में वह अस्त-व्यस्त हो गये हों और उनके उत्तराधिकारियों से छिन गये हों। फिर भी इस अनुश्रुति से विट्ठलनाथजी की दानवीरता और त्यागवृत्ति का खासा परिचय मिलता है।

जिस समय गुसाईंजी गढ़ा की ओर आये, उस समय अडेल के आसपास प्रयाग में मुसलमानों का उपद्रव बढ़ रहा था। अतः इनका विचार अडेल और चरणाट छोड़कर किसी अन्य स्थल में स्थायी निवास करने का हो रहा था। रानी दुर्गावती को जब यह मालूम पड़ा, तो उसने गुसाईंजी की आज्ञा लेकर मथुरा में एक विशाल गृह बनवाने का उपक्रम कर दिया, जो आगे चलकर गुसाईंजी के सातों पुत्रों के नाम से 'सतघरा' कहलाया। यहाँ से गुसाईंजी यात्रार्थ गुजरात चले गये, और सं० १६२२ भाद्रपद में गोकुल आये।

सं० १६२३ में विट्ठलेश्वरजी ने गुजरात की यात्रा के अर्थ मथुरा से पुनः प्रस्थान किया। इधर जब यह प्रदेश-परिभ्रमण कर रहे थे, सं० १६२३ के अंत में, इनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी ने श्रीनाथजी को मथुरा लाकर पधराया, और इसी 'सतघरा' में श्रीजी को विराजमान किया। मथुरा में श्रीनाथजी सं० १६२४ के वैशाख शु० १३ तक विराजे। इस समय गुसाईंजी का आगमन सुन गिरिधरजी को उनके नाराज़ होने का भय हुआ, अतः उन्होंने चतुर्दशी के दिन श्रीनाथजी को पुनः गिरिराज के मन्दिर में, मथुरा से ले जाकर विराजमान किया। गुसाईंजी नहीं चाहते थे कि—श्रीनाथजी को इस प्रकार गिरिराज से अन्यत्र कहीं पधराया जाय, फिर भी गिरिधरजी ने उन्हें पधराया था। सम्प्रदाय कल्पद्रुम (७८) में श्रीनाथजी के मथुरा जाने का सं० १६३३ दिया गया है। फिर भी फाल्गुन बदी ७ से वैशाख शु० १३ तक की

मिती में कोई फरक नहीं है। घटना-क्रम को देखते सं० १६२३ अधिक संगत जँचता है। अस्तु।

गोकुलवास—इसी समय के लगभग गुसाईंजी ने अपना स्थायी निवास-स्थल गोकुल को बनाना, और अडेल तथा चरणाट को यवनोपद्रव के कारण छोड़ देना ही श्रेयस्कर समझा।

मधुसूदनभट्ट-कृत 'वंशावली' में इस विषय पर इस प्रकार प्रकाश पड़ता है—

"श्रीविट्ठलेश्वरजी कुछ समय तक गढ़ा में रहने के बाद (यात्रा करते हुए सं० १६२१ के लगभग) प्रयाग आये। वहाँ यवनों का उपद्रव होने पर यमुना-तीर (सम्भवतः अडेल में) उन्होंने निवास किया। बहुत वर्ष तक (सं० १६२१ से २३ के लगभग) अडेल में निवास करने के बाद उनकी व्रज में रहने की इच्छा हुई जहाँ गिरिराज, वृन्दावन और यमुनाजी का सामीप्य हो। इस विचार से वे अपने कुटुम्ब को लाकर मथुरा में रहने लगे। कुछ समय बाद वहाँ भी मुसलमानों का अत्याचार शुरू हो गया, जिसके सबब धार्मिक मर्यादा-परिपालन में बाधा आने लगी। अतः गुसाईंजी ने मथुरा छोड़कर किसी शान्तिमय स्थान की खोज शुरू की।

इसी समय प्रसंगवश गुसाईंजी का अकबर बादशाह से परिचय हुआ। बादशाह इनके वार्तालाप और धार्मिक आचरण से प्रभावित हुआ, जिससे उसने इनकी इच्छा जानकर महावन के समीप की भूमि स्थायी निवास के लिये प्रदान कर दी।

बादशाह से इजाज़त मिल जाने पर गुसाईंजी ने सं० १६२८ फाल्गुन मास में शुभ मुहूर्त देखकर गोकुल-ग्राम की स्थापना की, और सजातीय तथा इतर समुदाय को यथायोग्य निवासार्थ भूमि दी। विट्ठलेश्वरजी के गोकुल में आ बसने के कारण सब लोग वहीं आकर बस गये*।

वंशावली के उक्त कथन की पुष्टि बादशाही फ़रमानों से भी होती है, जो इसी समय के आसपास प्राप्त हुए हैं।

* गढायां पूर्वमवसन् विट्ठलेश्वरदीक्षिताः, तेऽपि प्रयागमाजग्मुः तत्रोपद्रव-सम्भवे ॥ १ ॥
यमुनातीरमाश्रित्य तत्र वासं प्रचक्रिरे, श्रीकृष्णसेवानिरताः सोमयागविधायिनः ॥ २ ॥
बहून् संवत्सरान् तत्र निवसन् परया मुदा, अथ तेषां व्रजे वासं कर्तुमिच्छाभवत्किल ॥ ३ ॥
गोवर्द्धनो गिरिर्यत्र श्रीमद् वृन्दावनं तथा, मथुरापि हरिर्यत्र नित्यं सन्निहितो विभुः ॥ ४ ॥
तत आगत्य मथुरां कुटुम्बसहिता इह, कंचित्कालं मुदावात्सुर्यमुनाहरि-सेवनाः ॥ ५ ॥

बादशाह से परिचय—सम्प्रदाय कल्पद्रुम (पत्र ५४) में लिखा है कि—एक बार गोकुल में यमुनातट पर बिराजमान होकर यह सन्ध्यावन्दन कर रहे थे। आपाततः नौकाविहार करते हुए वहाँ बादशाह की कोई बेगम आ पहुची। उसने तेजस्वी चेहरा और सन्त-महन्त जैसा ठाठ-बाट देखकर नौकर के द्वारा इनका परिचय पुछवाया। यह मालुम पड़ने पर कि—यह एक चमत्कारी धर्म गुरू है और हज़ारों शिष्य इनको मानते है, बेगम के मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसने पति को वश में करने के लिये कुछ 'जंत्र-मंत्र' गुसाईंजी से चाहा। गुसाईंजी ने आग्रह देखकर एक पत्र पर कुछ लिखकर उसे बाँधने को दिया। कुछ समय बाद बादशाह बेगम पर प्रसन्न हो गया, पर इस बात का भंडाफोड़ हो गया कि—बेगम ने कुछ 'जंत्र-मंत्र' किया है। अन्त में बादशाह ने क्रोध में आकर एक दिन बेगम के हाथ पर बंधा हुआ ताबीज तोड़ डाला और उसे खोलकर पढ़ा तो उसमें यह लिखा हुआ था:—

"यंत्र, मंत्र अरु तंत्र को भूलि करो जिन कोय।
पती कहे सो कीजिये पति आपहि वश होय"॥ १ ॥

इसको पढ़कर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने आकर श्रीगुसाईंजी से धर्म के विषय में कई प्रश्न पूछे। बातचीत चलने पर श्रीगुसाईंजी ने बादशाह से कहा कि—

मथुरा नगरे विलोक्य वासं, यवनादिप्रसरेण भूरिबाधम् ;
अथ विट्ठलदीक्षिता विविक्तं, स्थलमात्मस्थितये व्यचारयंस्ते ॥ ६ ॥
कदाचित् भूमहेन्द्रेण परमात्मविनिर्णये, पृष्टास्तदीय-सन्देहानपाकुर्वन् सदुक्तिभिः ॥ ७ ॥
प्रसन्नेनाथ तेनोक्ताः किमपि प्रार्थ्यतामितः, तस्याग्रहमथालोक्य हृदि सम्यक् विचार्य च ॥ ८ ॥
आत्मनः सुखवासार्थं महावनसमीपतः, यमुनातीरमाश्रित्य स्थलं रम्यमयाचिषुः ॥ ६ ॥
अथ स्वाधिकृतेर्भूमेः पत्रं संलेख्य भूपतिः, स्वनाममुद्रासहितं दीक्षितेभ्यस्तदार्पयत् ॥ १० ॥
ततो मौहूर्तिकादिष्टे मुहूर्तविधिपूर्वकं, ग्रामं गोकुलनामानं स्थले तत्र न्यवासयन् ॥ ११ ॥
अब्देऽष्टनेत्राङ्गमही—प्रमाणे (सं० १६२८) तपस्य मासस्य तमिस्रपक्षे
दिने दिनेशस्य शुभे मुहूर्ते श्रीगोकुलग्रामनिवास आसीत् ॥ १२ ॥
वृतान्तमिममाकर्ण्य सजातीयाः द्विजोत्तमाः, कुटुम्बसहितास्तत्र वासार्थं समुपागमन् ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः, क्षत्रिया, वैश्याः, शूद्राश्च बहवस्ततः, स्वं स्वं कुटुम्बमादाय निवासोत्काः समाययुः ॥ १४ ॥
समागतेभ्यः सर्वेभ्यो निवासाय यथायथम्, स्थानानि दापयामासुः विट्ठलेश्वरदीक्षिताः ॥ १५ ॥
('वंशावली' संवत् १७१७)

"मीठो सब सों बोलिये सुख उपजत चहुँ ओर ।
बसीकरन यह मंत्र है तज दो बचन कठोर ।। २ ।।

कुछ भी हो इससे यह सिद्ध होता है कि—गुसाईंजी व्यर्थ के जादू टोना के विरोधी और वास्तविक उपदेश देने के पक्षपाती थे। प्रभुचरण को बादशाह अकबर की ओर से जो फ़रमान मिले हैं उनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि बादशाह पर इनका अच्छा प्रभाव पड़ा था। उसने अपने फरमानों में गुसाईंजी को एक उत्तम शुभचिन्तक माना है। यह संभव हो सकता है कि गोकुल में बसने की प्रथम मौखिक आज्ञा दे दी गई हो और बाद में फरमान निकाले गये हो।

बादशाही फरमान—बादशाह इन पर अत्यन्त खुश हुआ और उसने इनके लिये गोकुल और गिरिराज की भूमि भेंट कर दी। यह बादशाह अकबर (राज्य काल सं० १६१२ से १६६२) था और इसकी उपाधि जलालुद्दीन महम्मद थी। बादशाह ने चाकदार बाग और कुलह नामक अपनी राजकीय पोशाक पहिननें की इज्जत गुसाईंजो को दी। इसके बाद गुसाईंजी ने गोकुल में अपने सम्प्रदाय के मंदिरों की नींव लगाई।

सं० १६३४ से गुसाईंजी को स्थायी और निर्भय रूप से गोकुल में रहने का आज्ञापत्र मिला, सं० १६३८ में बादशाह और उसकी पुत्री हमीदाबानू बेगम की ओर से दो फरमान ब्रजमंडल में गायचराने, आदि कितने ही करों की माफी का बादशाही हुक्म गुसाईंजी को प्राप्त हुआ *।

ऐसा भी सुनने में आता है कि--बादशाह की ओर से आनरेरी न्यायाधीश निर्वाचित होने पर इन्होंने अपने प्रान्त में कई वर्ष तक इस पद पर रहकर काम किया। इन सब बातों से विदित होता है कि--गुसाईंजी देशकाल और परिस्थिति के अनुसार चलकर अपने धर्म का प्रचार करनेवालों में से एक थे। न्यायाधीश की वेशभूषा वाला इनका प्राचीन चित्र भी मिलता है।

* बालकृष्ण शु० सभा सूरत द्वारा प्रकाशित उत्सव पत्रिका नं० ३ जो बादशाही फरमान प्रकाशित हुए हैं वह अनुवाद रूप में और गुजराती भाषा में हैं। असली प्रतिलिपि के अभाव में कारण यहाँ हिन्दी प्रत्य-नुवाद दिया जा रहा है......

शाही फरमान १...गोकुल में निवास करने के बाबत।

जलालुद्दीन महम्मद अकबर बादशाह गाजी का फरमान, वह स्वयं स्वतन्त्र है। विट्ठलदास जो निःशंक

केशवपुरी का अभिशाप और जातीय व्यवहार—श्रीविट्ठलनाथजी ने गिरिराज पर एक बार श्रीनाथजी के साथ सातों स्वरूपों को पधराकर अन्नकूट का उत्सव किया और आगे के लिये अपने पुत्रों को सेवा का मार्ग बताया। सं० १६२९ के आस-

---

हमारा भला चाहनेवाले हैं और जो कस्बा गोकुल में रहते हैं उनको और उनके साथियों को और नौकर-चाकरों को, इस समस्त दुनिया का रक्षक बादशाह और दूसरे राज्य-कर्मचारी किसी प्रकार सतावेंगे नहीं, और उनके पास से किसी प्रकार की कोई चीज माँगेंगे नहीं। इनको अपने स्थान में अपनी जगह में निश्चिन्त रहने देना कि जिससे यह हमारी हमेशा बढ़नेवाली कीर्ति और उन्नति के लिये सदा ईश्वर से शुभ कामना प्रकट करते रहें। यह जो लेख लिखा गया है उसके मुताबिक राज्य-कर्मचारियों को बर्ताव करना चाहिये, इसके विरुद्ध किसी प्रकार का बर्ताव करना नहीं।

लिखा गया, २ जमादी महीना की २६ तारीख हि० सन् ९८५, शुक्रवार १३ वीं सितम्बर ई० सन् १५७७, वि० सं० १६३४।

शाही फरमान २—(गायें चराने बाबत)।

जलालुद्दीन महम्मद अकबर बादशाह गाजी का फरमान, वह स्वयं स्वतन्त्र है, ईश्वर महान् है।

इस समय हुकुम किया गया है कि—हमारा निःशंक भला चाहनेवाले, पवित्र जनोई पहिरनेवाले विट्ठलराय की गायें जहाँ हों वहाँ चरने दी जावें। खालसा अथवा जागीर किसी भी प्रकार की जमीन में उसको कोई भी किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचावे, और न हैरान करै, उन्हें चरने दिया जावे। विट्ठलराय इस बाबत गोकुल में निश्चिन्त होकर रहै। इस हुकुम के विरुद्ध कोई बर्ताव न करे क्योंकि सभी इस हुकुम के अनुसार चलने और इसको काम में लाने के लिये बँधे हुए हैं।

लिखा गया, माह सफ़र की तारीख ३ हि० सन् ९८९, गुरुवार ९ मार्च ई० सन् १५८१, वि० सं० १६३८।

शाही फ़रमान ३—अ—(गायें चराने बाबत)

हमीदा बानुबेगम का हुकुम। वह स्वयं महान् है। (हमीदा बानु अली अकबर की पुत्री।)

शाहनशाहत की राजधानी आगरा की सरकार में आये हुए महावन के करोडी हुशयार अमलदारों और दूसरों को मालूम हो कि महान् और न्यायी शाहनशाह के फ़रमान के मुताबिक निःशंक भल चाहनेवाले, पवित्र जनोई पहिरनेवाले विट्ठलेशराय की गायों को खालसा अथवा जागीर की किसी भी जमीन में जहाँ होय वहाँ दुखी नहीं करनी और न चरने से रोकनी। विठ्ठलराय इस बाबत निश्चिन्त रहे। सबकी फरज है कि वह इस हुकुम के मुताबिक बर्ताव करै और इसके विरुद्ध न चलै।

लिखा गया, रमजान उलमुबारक माह की १० तारीख हि० सन् ९८९, रविवार ता० ८ अक्टूबर ई० सन् १५८१, वि० सं० १६३८।

शाही फ़रमान ३—आ—(गायें चराने बाबत।)

खान बहादुर सिपहसालार खानखानान अकबर शाह के चेला का फरमान।

पास यात्रा करते हुए श्रीवल्लभाचार्य के भ्राता केशवपुरी संन्यासी इनके पास आये। गुसाईंजी ने उनका आतिथ्य किया और भिक्षा माँगने का आग्रह किया। केशवपुरीजी ने आगे के लिये अपना शिष्य बनाने के लिये उनके सात पुत्रों में से एक पुत्र माँगा। किसी पुत्र के तैयार न होने पर गुसाईंजी ने स्वयं शिष्य बनने की प्रार्थना की। जिस पर केशवपुरीजी को कुछ क्रोध आ गया और उन्होंने शाप-रूप में गुसाईंजी से तीन बातें कहीं—१ आपके वंश की पुत्रियाँ पिता के घर पर ही रहा करेंगी, २ आपके वंश को प्रदेशाटन कर अर्थसंग्रह करना पड़ेगा, ३ आपके कुल में व्यभिचार का सम्पर्क होने पर कुल का ह्रास प्रारम्भ हो जायगा।

इस प्रकार शाप देकर केशवपुरीजी चले गये। इस शाप के प्रतीकार के विषय में जब गिरिधरजी ने प्रार्थना की तब गुसाईंजी ने आज्ञा दी कि—यदि अनन्यभाव से तुम सब भगवत्सेवा में लीन रहकर दुःसंसर्ग से अलग रहोगे, तो श्रीप्रभु अवश्य ही तुम सबकी रक्षा करेंगे।

एक बार विट्ठलनाथजी श्रीनाथजी की सेवा अपने भतीजे पुरुषोत्तमजी को सँभलाकर माता के पास गोकुल गये और वहाँ से किसी जातीय कार्य में वह अपने मामा के साथ मथुरा में 'अंगा रंगा' नामक सजातीय व्यक्ति के घर गये। जाति में सबके समान आदर-भाव होने के कारण इनका वहाँ विशेष ध्यान नहीं रखा जा सका, जो विट्ठलनाथजी के मामा को असह्य हो गया। इनके मामा ने इसको विट्ठलनाथजी का अपमान समझा और वे इन्हें लेकर कुछ लोगों के साथ पंक्ति से उठकर चले गये। विट्ठलनाथजी के संग जो तैलंगभट्ट गोकुल चले गये वे उस समय से 'गोकुलस्थभट्ट' कहलाने लगे, और जिन्होंने साथ नहीं दिया वे 'मथुरास्थभट्ट'-रूप में प्रख्यात हो गये। इस प्रकार इनके मामा के कारण जाति

ओड परगना के वर्तमान और भविष्य के अमलदारों को मालूम हो कि सावी वगैरह गामों में गाय और बैलों की चरागाह है, इससे उस पर निगरानी रखने और कर लेने अथवा गायों की गिनती करने के बहाने कोई भी उन्हें अटकावे नहीं हैरान करे नहीं। कारण यह कि यह गाम समझ-सोचकर बख्शीस किया गया है। इस बड़ी आज्ञा के मुताबिक सबको बर्तना चाहिये और हर साल नया परवाना नहीं माँगना चाहिये। लिखा गया रोज आज़र सन् ३३ तारीख ११ मोहर अउलहराम माह हि० सन् ९९७, ता० १ दिसम्बर ई० सन् १५८८, वि० सं० १६४५।

में उससमय से एक ऐसी तडबंदी हो गयी जो आज भी अपना विषैला प्रभाव फैला रही है ।*

श्रीनाथजी का सेवा-प्रबन्ध—गुसाईंजी समय-समय पर गिरिराज पधारते और यथासमय अपने पुत्रों को सेवामार्ग समझाया करते थे । यह स्वयं गोकुल में विराजमान श्रीनवनीतप्रिय की सेवा करते थे । सं० १६१४-१५ के लगभग गिरिराज आकर इन्होंने छप्पन भोग का मनोरथ किया, जिसे हम सम्प्रदाय का प्रथम छप्पन भोग कह सकते हैं । गुसाईंजी ने पितृचरण द्वारा स्थापित श्रीनाथजी की सेवा का यथावस्थित क्रम बाँधा और उसे पुष्टिमार्गीय सेवा का रूप प्रदान किया ।

सं० १६१८-१९ के लगभग श्रीनाथजी के अधिकारी कृष्णदासजी के साथ गुसाईंजी का झगड़ा हो गया । कहते हैं कि—कृष्णदास और गंगाबाई-नामक किसी स्त्री का पारस्परिक अनुचित सम्बन्ध गुसाईंजी को ठीक प्रतीत नहीं हुआ, जिससे उन्होंने गंगाबाई का मंदिर-प्रवेश रोक दिया । इस पर कृष्णदासजी ने भी अपने अधिकार के मद में आकर श्रीगुसाईंजी का भी श्रीनाथजी के मंदिर में आना-जाना बंद कर दिया । वल्लभाचार्य द्वारा अधिकारि-पद पर नियुक्त होने के कारण कृष्णदास की आज्ञा को गुसाईंजी ने मान्य दिया और वहाँ से जाकर वह चन्द्रसरोवर पर रहने और श्रीनाथजी के फूलघर की सेवा करने लगे । इसे भगवदिच्छा जानकर विरह-भाव की सिद्धि के लिये यह एकान्त निवास करने और यथासमय विज्ञप्ति बनाकर श्रीनाथजी की सेवा में भेजने लगे । इस अवधि में रचित श्लोक-संग्रह ही 'विज्ञप्ति' के नाम से प्रख्यात हुए ।

छः मास तक चन्द्रसरोवर में रहने के बाद इनके पुत्र गिरिधरजी ने अपने काका गोपीनाथजी को प्रदेश में सब समाचार लिख भेजे । उन्होंने इसको कृष्णदासजी का

* सं० कल्पद्रुम (पत्र ६७) में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अंगा रंगा भट्ट गृह कृष्णपुरी मधि जाय । लखि मरियादाभंग प्रभु निज मातुल मन पाय ॥ ३ ॥
षोडश गृहयुत पंक्ति सों उठ बिट्ठल द्विजराय । ज्ञाति भेद किय पत्र नृप ? श्रीमद् गोकुल आय ॥ ४ ॥
बहुर जाय गोपालपुर चढ़त सुगिरि बिठलेश । कृष्णदास गंगा हित हिं अटके तुरत नरेश ? ॥ ५ ॥

इससे विदित होता है कि यह जाति की तडबंदी की घटना उस समय के पूर्व हुई, जब कृष्णदासजी ने श्रीविट्ठलनाथजी को श्रीनाथजी की सेवा से बंद कर दिया था । इससे इसका समय सहज ही सं० १६१८-१९ के लगभग कूता जा सकता है ।

सर्वथा अनुचित हस्तक्षेप समझकर राजकोय कार्यवाही करने की आज्ञा दी । अपने काका का आदेश पाकर गिरिधरजी मथुरा गये और वहाँ से हाकिम का पत्र लाये। गिरिराज आकर उन्होंने सिपाहियों के द्वारा कृष्णदासजी को कैद करवाया और अपने पितृचरण गुसाईंजी की श्रीनाथजी की सेवा खुलासा की। परम दयालु श्रीगुसाईं-जी ने कृष्णदासजी की कृति पर ध्यान न देते हुए उन्हें बंधन से छुड़ाकर पुनः मंदिर का अधिकार सौंप दिया।

सात स्वरूप—अपने लौकिक जीवन का ध्येय पूरा हुआ जानकर गुसाईंजी ने अपने सातों पुत्रों को सम्पत्ति का बटवारा कर दिया। इस सम्पत्ति के बटवारे के साथ उन्होंने अपने सातों पुत्रों को सात सेऽय स्वरूप भी पधरा दिये, जो आगे चलकर सम्प्रदाय में 'सात घर' अथवा 'सात पीठ' के नाम से प्रख्यात हुए। इस समय सातों स्वरूपों का एकत्र एक विशाल मनोरथ किया गया था।

वल्लभाचार्यजी ने अपने समय में सेवकों को सेवार्थ कई भगवत्स्वरूप पधरा दिये थे। कालान्तर में उन शिष्यों के वंश न चलने अथवा सेवा की सुकरता न होने के कारण सातों स्वरूप गुसाईंजी के पास पीछे आ गये। यह बटवारा गोकुल में निवास होने के बाद सातों पुत्रों में किया गया था। कहीं इसका समय सं० १६३५ भी मिलता है और सं० कल्पद्रुम के आधार सं० १६४० अस्तु।

गिरिधरजी को गुसाईंजी ने श्रीनाथजी और नवनीतप्रियजी की सेवा इस रूप में प्रदान की कि—सातों बालकों का उस पर समान भाव से सेवाऽधिकार और भार रहेगा।

जिन सात पीठों की स्थापना की गई। वे इस प्रकार हैं—

पुत्र	स्वरूप	आजकल कहाँ विराजते हैं
१. गिरिधरजी	श्रीमथुरेशजी	कोटा
२. गोविन्दरायजी	श्रीविट्ठलनाथजी	नाथद्वारा
३. बालकृष्णजी	श्रीद्वारकाधीशजी	कांकरोली
४. गोकुलनाथजी	श्रीगोकुलनाथजी	गोकुल
५. रघुनाथजी	श्रीगोकुलचन्द्रमाजी	कामवन
६. यदुनाथजी	श्रीबालकृष्णजी	सूरत
७. घनश्यामजी	श्रीमदनमोहनजी	कामवन

गुसाईंजी ने अपनी पुत्रियों को भी सेवा के लिये कुछ स्वरूप पधरा दिये थे, जो अद्यावधि यत्र-तत्रविराजमान हैं * ।

अष्टछाप की स्थापना—श्रीगुसाईंजी जहाँ धर्म के आचार्य, मुगलशासन के न्यायाधीश और शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् थे, वहाँ वह व्रजभाषा के उन्नायक स्वयं भाषा के कवि और कवियों के आश्रयदाता भी थे। आज व्रजभाषा को जो महत्त्व प्राप्त हो रहा है, उसका सूत्रपात अपने पिता की इच्छा देखकर श्रीगुसाईंजी ने किया था। उन्होंने अपने और अपने पितृचरण के ८ परमभक्त, कवि शिष्यों को मिलाकर व्रजभाषा की 'अष्टछाप' स्थापित की। 'अष्टसखा' द्वारा रचित पदों को ही सेवा के समय विशेष गाये जाने का अवसर प्रदान कर इन्होंने भाषा को अजर-अमर जीवन प्रदान कर दिया। यदि ऐसा न होता, तो इन महानुभावों की मधुर वाणी केवल पुस्तकों में ही रक्खी रह जाती।

अष्टसखा के विषय में एक दोहा प्रसिद्ध है—

कृष्ण जु कुम्भनदास है, सूर हि परमानन्द।
नन्द, चतुर्भुजदासजू, छीतस्वामि, गोविन्द॥

---

* इस विषय में श्रीव्रजभूषणजी ने कवि जगनंद-रचित वंशावली (२० सं० १ पु ८१ माघ व० २ सोम) से इस प्रकार लिखा है—अब स्वरूपन की बाँट श्रीगुसाईंजी करि दिये

दीक्षित श्रीविट्ठलेशजी बाँटि दिये सुत सात। श्रीगोवर्द्धननाथजी सब मिलि सेवत प्रात॥ ३६॥
नवनीतप्रिय सबन के हुते बाँट में जानि। गिरिधर दाऊ को दिये सब मिलि कीनी कानि॥ ३७॥
गिरिधरजी के बाँट में श्रीमथुरेश गुपाल। ठाकुर विट्ठलनाथजी गोविंदजी प्रतिपाल॥ ३८॥
बालकृष्णजी को दिये द्वारकेश प्रभु रूप। गोकुलेशजी बाँट में गोकुलनाथ अनूप॥ ३९॥
दीने श्रीरघुनाथ को जै श्रीगोकुलचंद। महाराजजी बाँट में बालकृष्ण सुखकंद॥ ४०॥
महाराज लीने नहीं तब श्रीविट्ठलनाथ। बालकृष्णजी को दिये बालकृष्ण प्रभु हाथ॥ ४१॥
बालकृष्णजी ने कही मेरे मन यह आस। पलना झूले मन यहै द्वारकेश के पास॥ ४२॥
तब श्रीविट्ठलनाथ ने धरयो सीस पर हाथ। बालकृष्ण प्रभु, पादुका द्वै पधराये माथ॥ ४३॥
श्रीवल्लभ की पादुका सेवत विट्ठलनाथ। बालकृष्ण प्रभु-पादुका दीने है भरि बाथ॥ ४४॥
गिरिधरजी के पुत्र है दामोदरजी नाम। तिनको श्रीनवनीतपिय सौंपे अपने धाम॥ ४५॥
दूजे गोपीनाथजी सेवत नटवर साथ। सौंपे मथुरानाथजी श्रीगिरिधर निज हाथ॥ ४६॥
जै जै श्रीघनश्याम को गोस्वामी विट्ठलेश। मदन सुमोहनजी दिये उनके बाँट विशेष॥ ४७॥
इहि विधि बाँटे सुतन को श्रीविट्ठल निज हाथ। सातों सुत के बाँट में श्रीगोवर्द्धननाथ॥ ४८॥

पुरानी पुस्तक में ते देखि लिख्यो है। सं० १८२० फाल्गुन शुक्ल ६ शुक्रे

उक्त अष्टछाप के कवियों में १. सूरदासजी, २. परमानन्ददासजी, ३. कुम्भनदासजी, ४. कृष्णदासजी ये चार भक्त कवि वल्लभाचार्यजी के, एवं ५. नन्ददासजी, ६. चतुर्भुजदासजी, ७. छीतस्वामी, ८. गोविन्ददासजी विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। इन आठों कवियों ने आत्मानन्द में लीन होकर भक्तिविषयक जो सरस रचना की है, वह वास्तव में साहित्य के लिये एक अनुपम देन है, और हिन्दी-साहित्य इससे कभी भी उऋण नहीं हो सकता।

सम्प्रदाय की इस भक्त कवि की परिपाटी ने अन्य सम्प्रदायों पर भी प्रभाव डाला, जिससे उसके बाद अनेक व्रजभाषा के भक्त कवि उत्पन्न हुए। जिनकी मौलिक रचना ने हिन्दी-साहित्य में भक्ति की भागीरथी बहाकर तत्कालीन त्रयताप-तप्त जनसमुदाय को आत्मिक शान्ति प्रदान की।

व्यक्तित्व—विट्ठलनाथजी जहाँ शास्त्रीय वर्णाश्रम-धर्म के संस्थापक थे, वहाँ साम्प्रदायिक भक्ति में जाति-पाँति की कट्टरता को महत्त्व नहीं देते थे। उनके सम्मुख यदि भक्ति का कोई योग्य अधिकारी आ उपस्थित होता था तो वह उसे शरण लेकर भक्ति का उपदेश देते, और सन्मार्ग का अनुयायी बना देते थे। तानसेन, रसखान और अछूत मोहन आदि इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं।

गुसाईंजी चित्रकला में भी बड़े प्रवीण थे। इनका बनाया हुआ श्रीबालकृष्णजी का चित्र आज भी सम्प्रदाय में विद्यमान है। इन्होंने अपने पाण्डित्य द्वारा जहाँ विद्वानों को अपने मार्ग का अनुगामी बनाया, वहाँ स्वकीय प्रभाव से बड़े-बड़े राजाओं को भी अपना शिष्य बनाया था। राजा मानसिंह, राजा आशुकरण, राजा रामचन्द्र, रानी दुर्गावती आदि इसके प्रमाण हैं। सर्व-साधारण का उद्धार करना तो उन्होंने अपने जीवन का कर्तव्य ही समझा, और जनता को सेवा-मार्ग का रसिक बनाने के लिये ही पुष्टि-सम्प्रदाय एवं उसकी सेवा-पद्धति का प्रसार किया था।

नित्य-लीला-प्रवेश—अपने जीवन का कर्तव्य समाप्त कर गुसाईंजी सम्प्रदाय के सेव्य-स्वरूप और सम्पत्ति अपने सातों पुत्रों को सौंपकर श्रीनाथजी के राजभोग कर मध्याह्न में श्रीगिरिराज की एक गुहा के द्वार पर पधारे। यहाँ उन्हों अपने कण्ठ की माला गोकुलनाथजी के गले में पहिनाई और स्वयं कन्दरा के भीतर पधारे। जब ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी ने इनके नित्यलीला में पधारने का समाचार सुना तो वे दौड़े

हुए आये और आकर उन्होंने गुसाईंजी का उत्तरीय वस्त्र खींचा। अपने उत्तरीय वस्त्र द्वारा ही अपनी उत्तर क्रिया करने का आदेश देकर गुसाईंजी सर्वदा के लिये भगवान् के नित्यलीला-विहारस्थल गिरिराज में सदेह लीन हो गये। तृ० पुत्र बालकृष्णात्मज पुरुषोत्तमजी के जन्म-समय तक गुसाईंजी के विद्यमान होने का उल्लेख मिलता है, अतः सं० कल्पद्रुम के आधार पर सं० १६४४ के फाल्गुन शु० ११ को इनका नित्यलीला-प्रवेश मानना चाहिये। इसके विरुद्ध सं० १६४२ के माघ (व्रज-फाल्गुन) मास के कृष्ण ७ के दिन भी नित्यलीला-प्रवेश का उल्लेख मिलता है।

गिरिधरजी ने गुसाईंजी के उत्तरीय वस्त्र द्वारा समस्त उत्तर कर्म किया। इनके अन्तिम समय सं० कल्पद्रुम के आधार पर सात पुत्र और सत्रह पौत्र तथा चार पुत्रियाँ विद्यमान थीं, गोपीनाथजी की दो विधवा पुत्रियाँ भी इनके समीप ही रहकर भगवत्सेवा में अपने जीवन को सार्थक करती थीं। इस प्रकार गुसाईंजी के समय उनका परिवार खूब फला-फूला था और इन सब-के द्वारा एक रूप में पुष्टिमार्ग के द्वारा भक्ति का प्रचार हो रहा था।

गुसाईंजी के अनन्तर उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी इस सम्प्रदाय के स्वामी और आचार्य हुए। उन्होंने अपने पितृचरण के बाद भक्तिमार्ग का प्रचार किया।

परिशिष्ट—२

२८ बैठकों का संक्षिप्त परिचय*

१ गोकुल—श्रीनवनीतप्रिय के मंदिर में है, जो गोकुलनाथजी के मंदिर में विद्यमान है। यहाँ सन्ध्यावन्दन करते थे।

२ गोकुल—श्रीमहाप्रभुजी की बड़ी बैठक के सामने। यहाँ नवनीतप्रिय को पालना झुलाया। आज्ञानुसार यादवेन्द्रदास ने यहाँ नवनीतप्रिय के मंदिर की नींव खोदी। बाद में मंदिर बनाया गया।

३ वृन्दावन—वंशीवट में महाप्रभुजी की बैठक के पास। यहाँ महन्त हरिवंश को चमत्कार बतलाया।

---

* लल्लूभाई छ० देसाई द्वारा प्रकाशित 'निज वार्ता' आदि से।

४ राधा-कृष्णकुण्ड–श्यामतमाल के नीचे। यहाँ रघुनाथदास (गोडिया सम्प्रदायी) से वार्तालाप हुआ।

५ चन्द्रसरोवर–श्रीमहाप्रभुजी की बैठक के पास। कृ णदास अधिकारी के द्वारा श्रीनाथजी के दर्शन बंद कर देने पर यहाँ ६ मास रहे और विज्ञप्तियाँ लिखीं।

६ चन्द्रसरोवर–फूलघर की बैठक–यहाँ ६ मास तक फूलघर की सेवा की।

७ गोपालपुर-गिरिराज–श्रीमथुरेशजी के मंदिर में। यहाँ शोभा बेटीजी और गोकुलनाथजी को अन्नकूट के दर्शन कराये।

८ कामवन–श्रीकुण्ड (सुरभीकुण्ड) पर। यहाँ मधुसूदनदास को महाप्रभुजी के दर्शन दिये। यहाँ से गोकुल गये।

९ प्रेमसरोवर–यहाँ गोविन्दस्वामी को श्रीठाकुरजी के युगल-स्वरूप के दर्शन कराये और 'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत' की टीका बनायी। एक मास रहे।

१० संकेत-वट–संकेत देवी के पास। यहाँ गुजराती ब्राह्मण रेंडा (कपड़वंज-वासी) को भगवत्स्वरूप के दर्शन कराये।

११ रीठोरा–यहाँ तीन दिन की भागवत पारायण की, और 'दानलीला' ग्रन्थ बनाया।

१२ करहला–श्रीनाथजी के जलघरा के पास तीन दिन रहे। रासपञ्चाध्यायी-सुबोधिनी पर टिप्पणी की रचना की।

१३ कोटवन–कदमखंडी में शीतलकुण्ड के ऊपर। यहाँ गोविन्दस्वामी को लीला के दर्शन कराये। उन्होंने यहाँ "कदम बन बीथिन करत बिहार" पद बनाकर गाया।

१४ चीरघाट–यहाँ व्रतचर्या-ग्रन्थ बनाया। तीन दिन रहे।

१५ वत्सवन-छोंकर के वृक्ष के नीचे, यहाँ वेणुगीत - सुबोधिनी पर टिप्पणी बनाई।

१६ बेलवन–यमुना-किनारे पर। यहाँ भगवानदास को दर्शन कराये। 'पुरुषोत्तम उल्लास' ग्रन्थ बनाया। तीन दिन पारायण किया।

१७ चरणाट-यहाँ जन्म होने पर (सं० १५७२) छट्ठी - पूजन, एक मास बाद गंगा-पूजन हुआ। गंगाजी का पूर चढ़ा। यहाँ से अडेल आये।

१८ अडेल–यहाँ बालकाल्य बीता।

१९ गोड़ देश की बैठक—नगर का नाम प्राप्त नहीं है। दीवान नारायणदास के घर में इनके द्वारा बादशाह (?) दर्शन करने आया और दस हज़ार रुपए भेंट किया।

२० सोरमक्षेत्र—महाप्रभुजी की बैठक के पास। यहाँ सप्ताह पारायण किया।

२१ गोधरा—नागजी भाई के घर में। यहाँ युगल गीत-सुबोधिनी का व्याख्यान किया।

२२ अली आणा—नरहर जोशी ने यहाँ पधराया। महोधरजी फूलवाई के घर विराजे। मदनमोहनजी ठाकुरजी सेवार्थ पधराये।

२३ असारवा (अहमदाबाद)—भाइला कोठारी के घर। यह कोठारी चार भाई थे, भाइला, हरजी, कृष्णदास और जेता कोठारी। हरजी कोठारी ने 'विट्ठल-सहस्र-नाम' ग्रन्थ बनाया। यहाँ लाछबाई भाट के दीक्षा लेने पर उसके भाई ने शिकायत की, सो हाकिम ने गुसाईंजी का परिचय प्राप्त कर दर्शन किये और दस हज़ार रुपया भेंट रक्खी। (२५२ वैं० वार्ता में भाइला कोठारी की वार्ता।)

२४ खंभात—नारायणसर तालाब के ऊपर। यहाँ मुरारी आचार्य नामक एक प्रसिद्ध पंडित को वाद में निरुत्तर किया। चाचा हरिवंश साथ थे।

२५ नवानगर—बाला बादरायण के घर में। यहाँ राजा जाम (जामनगर) तमाँची (?) को दीक्षा दी। सप्ताह की।

२६ गंगागोडगढ़—नागजी भाई साथ थे। तीन दिन कथा की। (गुरगढ़) यहाँ से द्वारका गये।

२७ द्वारका—जगत देहरा के और दाउजी के मन्दिर के पास।

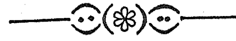
२८ द्वारका—राम-लक्ष्मणजी के मन्दिर में। यहाँ नागजी भाई को भगवत्स्वरूप में दर्शन दिये। यहाँ से राजनगर (अहमदाबाद), गोधरा, उज्जैन होते गोकुल पधारे।*

——:०:——

* उक्त स्थानों में से कई स्थानों पर गुसाईंजी दो-दो, तीन-तीन बार पधारे। गुजरात तो विशेषकर। बैठकों में संभवतः भागवत कीं पारायणें कीं। महाप्रभुजी की ८४ बैठकों की तरह गुसाईंजी की २८ बैठकें प्रसिद्ध हैं।

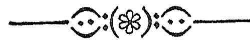
चतुर्थ प्रकरण

(सं० १६३५ से सं० १७१८ अनु०)



श्रीबालकृष्णलालजी महाराज (प्र० ति०*)

(प्रा० सं० १६०६, ति० सं० १६३५, नि० सं० १६४५)



जन्म-संस्कार और विद्याभ्यास—श्रीबालकृष्णजी महाराज का जन्म सं० १६०६ आश्विन कृ० १३ बुधवार को हुआ †। इनके पिता, जगद्गुरु वल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र गोस्वामिविट्ठलनाथजी महाराज थे, जो अपने ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथजी

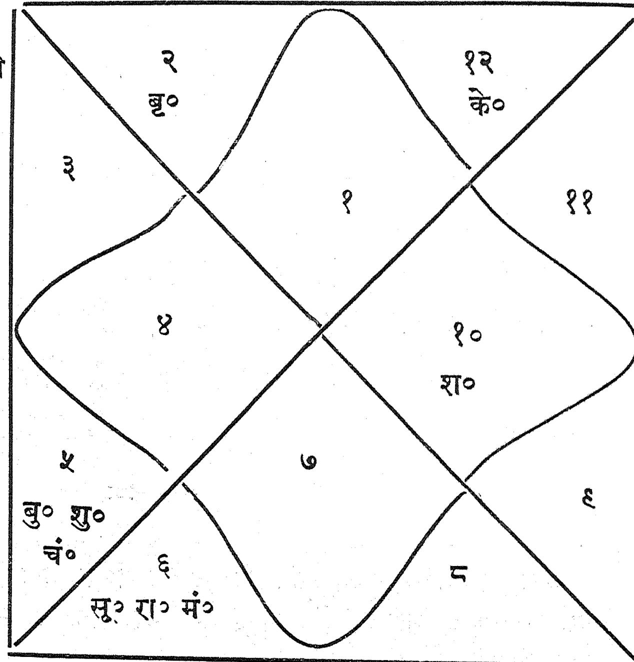
---

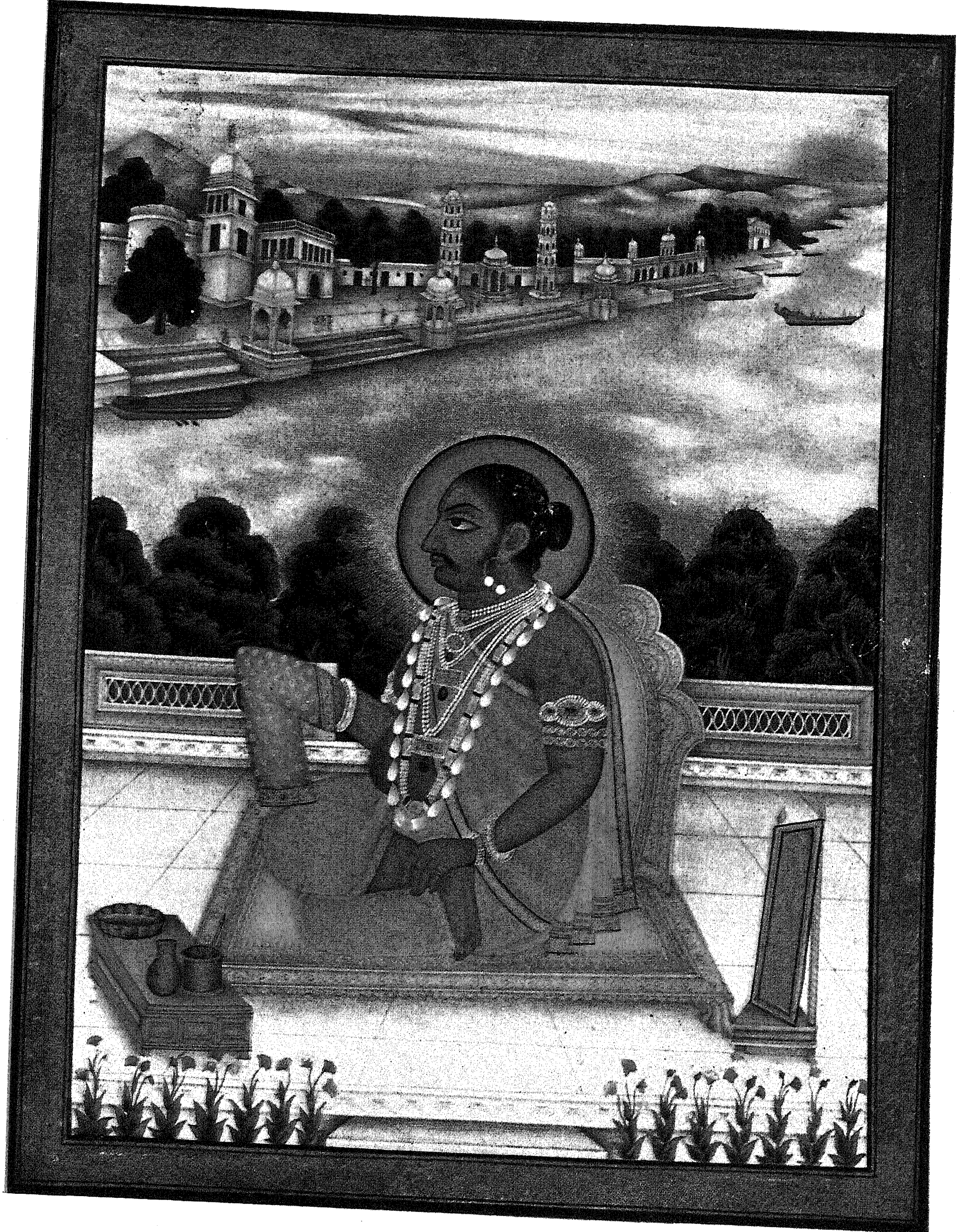
* प्रथम तिलकायित। इसी प्रकार आगे भी समझना।

† जन्म-कुंडली—

अब्दे षट्खरसाब्धिनाथ १६०६ गणिते मेषे बुधे चाश्विनयुक्
कृष्णेऽनङ्गतिथौ भृगौ शुभगरे केतौ व्यये, कर्मगे—
मन्देऽर्कार तमस्यरौ, सुतगते- ष्विन्दौ सशुक्रे च ज्ञे
देवेज्ये स्वगते स्फुटोऽभवदिह श्रीबालकृष्णो विभुः ॥ १ ॥

सं० १६०६ वर्षे आश्विन (चित्र में श्रा० गया है, जो गलत है।) कृष्ण १३, रात्रिगत घटी ४ पल, ४८ समये श्रीविट्ठलेश्वर—तृतीय सुत बालकृष्णजी जन्म।





गो० श्रीबालकृष्णजी महाराज (तृतीय पुत्र)

प्रा० सं० १६०६ आ० कृ० १३.

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

के गोलोकवास हो जाने पर सं० १६२० के लगभग शु० सम्प्रदाय के आचार्यपद पर आसीन हुए थे। जैसा पहिले कहा जा चुका है, बालकृष्णजी अपने छः भाइयों में से तीसरे थे। इनका शरीर मेघश्यामवर्ण, हृष्ट-पुष्ट और सुंदर था, विशालनेत्र होने के कारण यह 'राजीवलोचन' नाम से भी प्रख्यात थे। वैसे तो समस्त भाइयों में आपस में खूब प्रेम था, पर छठवें भाई यदुनाथजी के साथ अतिशय गाढ़ प्रेम होने के कारण यह दोनों साथ ही खाते-पीते, खेलते और भगवत्सेवा किया करते थे। बाल्यावस्था से ही विशालबुद्धि होने के कारण यह अपने पिता के मुखारविन्द से प्रतिदिन उच्चारित छोटे-मोटे स्तोत्रों को सुनकर कण्ठाग्र करने लगे थे। श्रीगुसाईंजी की सेवातत्परता के प्रभाव से यह छुटपन से ही सेवारसिक और शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के ज्ञाता बन गये।

सं० १६१४ में आठवें वर्ष प्रयाग के पास अडेल में इनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। उपनयन-संस्कार हो जाने पर इनकी कुशाग्र बुद्धि शाणोल्लीढ मणि की कान्ति के समान और भी अधिक चमक उठी, जिससे पिता के पास ही वेद, वेदाङ्ग, पुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर थोड़े ही समय में इन्होंने शास्त्रों में अच्छी गति समधिगत कर ली। प्रारम्भिक शास्त्रीय अध्ययन के अनन्तर वल्लभाचार्य-प्रणीत अणुभाष्य, सुबोधिनी, निबन्ध आदि समस्त ग्रन्थों के परिशीलन कर लेने से इनका सम्प्रदाय-विषयक अगाध पाण्डित्य और भी चमक उठा। समय-समय पर भारतवर्ष के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थलों की यात्रा, वैष्णवसृष्टि को उपदेश-प्रदान एवंच पण्डितों के साथ होनेवाले विविध शास्त्रार्थों ने इनके जीवन पर जो प्रभाव डाला, उससे यह आगे चलकर योग्य पिता के योग्य पुत्र और शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के तृतीय पीठ के समर्थ तिलकायित हुए।

विवाह और सन्तति—सं० १६२३ के पूर्व योग्य वय हो जाने पर बालकृष्णजी का विवाह हुआ। इनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीकमलावती बहूजी था, जिनसे समयानुसार निम्न-लिखित सन्तान हुईं—*

१ गोपदेवी बेटीजी प्रा० सं०१६२६ (अनुमान) २ द्वारकेशजी १६२९ वैशाख शु० १४
३ व्रजनाथजी ,, १६३२कार्तिकशु० ९ ४ व्रजभूषणजी १६३६ चैत्र शु० ९

* 'बालकृष्णजी का मूल पुरुष' से अभयदास (अनुचरदास) कृत।

५ पीताम्बरजी ,, १६३९ चैत्र कृ० १ ६ व्रजालंकारजी १६४१ भाद्र शु० ११
७ पुरुषोत्तमजी ,, १६४४ ज्येष्ठ शु० ६

श्रीद्वारकाधीश की सेवा—यज्ञोपवीत और ब्रह्मसम्बन्ध-दीक्षा हो जाने के बाद ही गुसाईंजी ने इन्हें श्रीनाथजी आदि स्वरूपों की सेवा करना सिखलाया। अडेल में रहकर यह श्रीद्वारकाधीश की* सेवा करने लगे। इस स्वरूप में इनका प्रतिदिन प्रेम बढ़ने लगा। प्राचीन काल में राजा अम्बरीष ने श्रीद्वारकाधीश प्रभु की बहुत समय तक सेवा-पूजा की थी। कालान्तर में यह स्वरूप वल्लभाचार्य के सेवक दामोदरदासजी को प्राप्त हुआ और उन्होंने आचार्यचरणों की बतलायी हुई सेवा-प्रणाली के अनुसार कई वर्ष तक प्रभु की सेवा की। अन्तिम समय (सं० १५७६ के लगभग) उन्होंने अपने पुत्र की आस्तिक भावना न देखकर अपना द्रव्य और द्वारकाधीश का स्वरूप नाव में पधराकर कन्नौज से वल्लभाचार्य के पास अडेल भिजवा दिया†। उसी समय से श्रीप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा सेवित होकर अडेल में विराजमान रहे। इनके बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने सेवा की और यहाँ सं० १६२८ तक श्रीप्रभु विराजे। सप्तम पुत्र घनश्यामजी के जन्म के बाद जब श्रीगुसाईंजी ने अडेल छोड़कर सं० १६२९ के प्रारम्भ में गोकुल में अपना स्थायी निवास किया तब श्रीप्रभु भी गोकुल पधारे।

प्रारम्भ से लेकर बालकृष्णजी को जैसा-जैसा सेवा-रस का आस्वाद आता गया, प्रभु के प्रति उनका आन्तरिक भाव भी उसी प्रकार बढ़ता गया। इसी सेवा के अतिशय सातत्य ने इनके हृदय को अत्यधिक भावुक और साक्षात् लीला का अनुभवी भी बना दिया।

स्वामिनीजी की उपलब्धि—एक दिन बालकृष्णलालजी को सहसा रात्रि में श्रीयमुनाजी स्वामिनीजी के स्वप्न-दर्शन हुए। दर्शन करते ही उनकी निद्रा खुल गई, और वे अतिशय भावाविष्ट होकर उसी समय से स्वामिनीजी को प्रत्यक्ष स्वरूप में श्रीद्वारकाधीश के समीप पधराने का दृढ़ संकल्प कर बैठे। उन्होंने उसी समय संस्कृत श्लोक रचकर स्वामिनीजी की एक स्तुति की जो 'स्वप्नदृष्ट स्वामिनी-स्तोत्र' नाम से प्रख्यात हुई।

प्रातःकाल इन्होंने समस्त वृत्तान्त पितृचरण गुसाईंजी को सुनाकर स्वामिनीजी की

* प्रारम्भिक ऐतिहासिक विवरण के लिये प्रस्तुत विषय का पृथक् प्रकरण देखो।
† द्वा० प्रा० वार्ता ६ से ११ उल्लास।

प्राप्ति का उपाय पूछा । गुसाईंजी ने इनकी निष्ठा और स्वामिनीजी की प्राप्ति के लिये अति उत्कट आतुरता देखकर कहा कि—यदि तुम्हारा सच्चा प्रेम होगा तो मनोरथ अवश्यमेव सफल होगा । किसी भी मनोरथ की सिद्धि के लिये पक्की लगन होना आवश्यक है, और यह विरहाधिक्य से ही हो सकती है । बालकृष्णजी उसी समय से द्वारकाधीश की सेवा और अनवसर के समय में भी उन्हीं की सतत चिन्तना करने लगे ।

कुछ समय बाद उनका दृढ आग्रह देख और अन्न-जल छोड़ देने का भी विचार सुनकर गुसाईंजी ने बालकृष्णलालजी को अपने समीप बुलाकर सान्त्वना दी, और रत्न-जटित सोने के दो छोटे कंकण निकालकर उन्हें देकर कहा कि—यमुना-तटवर्ती किसी प्राचीन स्थल में तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा । यह दोनों कंकण जिस स्वरूप के श्रीहस्त में ठीक बैठ जावेंगे वही स्वामिनीजी द्वारकाधीश के पास पधारेंगी ।

इस सान्त्वनापूर्ण वाक्य को सुन और मनोरथ-सिद्धि का द्वार उन्मुक्त देखकर बालकृष्णजी का हृदय गद्गद हो गया, वे अपने को अधिकांश कृतकृत्य मानकर प्रसन्न हो गये । कंकण-प्राप्ति के दिन से ही वे द्वारकाधीश की राजभोग-पर्यन्त सेवा करने के बाद व्रज के प्राचीन स्थलों में गवेषणार्थ जाने लगे ।

सं० १६३८ माघ कृ० ४ रविवार के दिन* वह गुंजावन गये, और वहाँ उन्होंने स्नानादि कर अवशिष्ट भागवत का पाठ किया । जब वह यमुनाजी की स्तुति करने के लिये ध्यानावस्थित होकर तट पर खड़े हुए थे, तब सहसा उनके हृदय में एक नवीन प्रकार के उल्लास का उदय होने लगा । थोड़ी देर में ही सम्मुख तट पर अतिशय मनोहर एक यमुनाजी के स्वरूप के उन्हें दर्शन हुए । समीप जाकर बालकृष्णजी ने साष्टांग दंडवत् प्रणाम कर स्तुति की, और साथ में लाये हुए दोनों कंकण स्वरूप के हस्तकमल में पहिनाये । स्वरूप-प्राप्ति की इच्छा को सफल होते देखकर वे आनन्द-विह्वल हो गये ।

बालकृष्णलालजी अपने साथ प्रतिदिन आवश्यक सवारी और सामान ले जाया करते थे । अतः यमुनाजी के स्वरूप को सुन्दर पालकी में पधराकर वे सायंकाल होने के पूर्व गोकुल आ पहुँचे† । उनके आने का समाचार सुनकर नगर में सर्वत्र हर्ष छा गया ।

* द्वा० प्रा० वार्ता पत्र ४६ ।

† गुञ्जावनात् प्रियां प्राप्य तदुद्वाहप्रवर्तकः ।

विट्ठलनाथजी गुसाईंजी तथा उनके पुत्रों ने आगे आकर बड़े आनन्द के साथ यमुना-जी को द्वारकाधीश के समीप खंडपाट पर विराजमान किया । गुसाईंजी ने बालकृष्णजी को समझाकर स्वामिनीजी की आवश्यक सेवा-प्रणाली प्रचलित की । उसी समय से प्रतिवर्ष माघ कृष्ण ४ के दिन स्वामिनीजी का पाटोत्सव मनाया जाने लगा ।

आज से द्वारकाधीश के साथ स्वामिनीजी और बालकृष्णजी ठाकुरजी की भी सेवा गुसाईंजी के आदेशानुसार होने लगी । इस प्रकार बालकृष्णजी ने अपने सच्चे प्रेम, आसक्ति और व्यसन के द्वारा स्वामिनीजी को प्राप्त कर गुसाईंजी की कृपा से अपने अभीष्ट मनोरथ की पूर्ति की ।

कुछ समय के अनन्तर गोकुल में द्वारकाधीश का नवीन मन्दिर बनकर तैयार हो गया* । सं० १६३७ माघ शु० १० को अन्य मन्दिरों के साथ इसका भी बनवाने का मुहूर्त गुसाईंजी ने किया था† । इस मंदिर के बनकर तैयार हो जाने पर बड़े उत्साह और मनोरथ के साथ गुसाईंजी तथा बालकृष्णजी ने प्रभु को इसमें पधराकर सेवा प्रचलित की ।

सेवाभावना—बालकृष्णजी सेवा में सदा अतिशय अनुरक्त रहा करते थे । ऐसा प्रख्यात है कि—सेवा के समय इनको अलौकिक भावावेश हो जाया करता था । एक दिन जब मन्दिर में नन्द-महोत्सव हो रहा था, साम्प्रदायिक प्रणाली के अनुसार छोटी वय होने के कारण बालकृष्णजी यशोदाजी का स्वरूप धरकर नवनीतप्रिय को पालना झुला रहे थे, मन्दिर के प्रांगण में जयजयकार, उत्साह, नृत्य-गीत और वादित्र से आनन्द मानो मूर्तिमान् होकर नाच रहा था, दर्शनार्थी, भक्ति-विह्वल, मोदमग्न उपस्थित समाज दर्शन में साक्षात् कृष्णजन्म का अनुभव कर रहा था । इतने में सहसा बालकृष्णलालजी को अपने स्वरूपानुसार वात्सल्य-भाव का उदय हो आया और उन्होंने नवनीतप्रिय को करकमलों में उठाकर अपने वक्षःस्थल से लगा लिया । इसे देखकर गुसाईंजी ने उनकी इस दशा की बहुत सराहना की और इस घर में इसी प्रकार आनन्द से सदा नन्दमहोत्सव होते रहने का आशीर्वाद दिया ।‡

---

* गोकुले यमुनातीरे प्रासादस्थापको गुरुः ।

† नवनीतप्रियास्ये तु स्तनाद् दुग्ध प्रपूरणम् । मातृभाव-प्रहर्षेण लौकिकानन्द-विस्मृतिः ।।

(श्रीद्वारकेशजी रचित नामामृतस्तोत्र)

‡ सम्प्र० क०

तृतीय पीठाधीश्वरत्व—सं० १६३५ के लगभग वृद्धावस्था में गोस्वामिविट्ठलनाथजी ने अपनी सम्पत्ति का यथायोग्य वितरण अपने सातों पुत्रों में कर दिया, और अपने पास की सातों निधियाँ (प्रभु के स्वरूप) सेवामार्ग के प्रचारार्थ पधराकर शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के सात पीठ स्थापित किये। यही आगे चलकर पुष्टिमार्ग के 'सात घर' या 'सात पीठ' कहलाने लगे।

श्रीद्वारकाधीश प्रभु के प्रति श्रीबालकृष्णजी की गाढ़ आसक्ति थी। अतः उन्होंने इस विभाग के समय उनका ही स्वरूप अपने लिये पधरा देने की प्रार्थना की। गुसाईंजी ने भी प्रभु के प्रति इनकी दृढ सेवा-रसिकता देखकर वही स्वरूप पधरा दिया। उसी समय (सं० १६३५) से श्रीद्वारकाधीश पुष्टि-मार्ग के तृतीय पीठ के प्रभु और बालकृष्णलालजी तृतीय पीठाधीश्वर के स्वरूप में प्रख्यात हुए।

बालकृष्णजी ठाकुरजी की प्राप्ति—उक्त दायविभाग के समय एक घटना और घटी। गोस्वामिविट्ठलनाथजी ने जब सात स्वरूप अपने सातों पुत्रों के पास पधराये, तब श्रीबालकृष्णजी ठाकुरजी अपने छठे पुत्र यदुनाथजी को प्रदान किये। यह स्वरूप अत्यन्त ही छोटा था, अतः उन्होंने उसे लेना स्वीकार नहीं किया। फलतः बालकृष्णजी ने गुसाईंजी से माँगकर उनको द्वारकाधीश के आगे पधरा लिया। बड़े भाई से अतिशय सौहार्द होने के कारण यदुनाथजी ने भी इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे उनके साथ ही द्वारकाधीश की सेवा किया करते थे।

विट्ठलनाथजी ने भी बालकृष्णजी ठाकुरजी अपने तृतीय पुत्र को यह कहकर सौंप दिये कि—आगे चलकर जब कभी यदुनाथजी अथवा इनके वंशज अपने सेव्य स्वरूप बालकृष्णजी को अपने यहाँ पधराना चाहें तब वह पधरा दिये जायँ। अपने पितृचरण की इस आज्ञा को मानकर बालकृष्णजी ने दोनों स्वरूपों की सेवा स्वीकार कर ली, और दोनों भाई माहात्म्यज्ञान-पुरस्सर महती श्रद्धा-भक्ति के साथ दोनों स्वरूपों की प्रतिदिन सेवा करने लगे।

भक्ति-प्रचार और ग्रन्थ-रचना—बालकृष्णजी जिस प्रकार सेवा के अनुभवी और पूर्ण प्रेमी थे, उसी प्रकार शास्त्रों में भी उनका अच्छा अभिनिवेश था। इन्होंने भारत के स्थलों की यात्रा कर वैष्णव-समाज को उपदेश दिया और कई विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर सम्प्रदाय की विजय-वैजयन्ती फहरायी। सर्व-साधारण जनता के उपकार के

लिये भक्ति-मार्ग का प्रचार किया, और कई व्यक्तियों को उपदेश देकर सन्मार्ग का अधिकारी बनाया। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें से सम्प्रति ये उपलब्ध होते हैं—

१—स्वप्नदृष्ट स्वामिनी-स्तोत्र, २—गुप्त स्वामिनी-स्तोत्र-विवृति

३—भक्तिवर्द्धिनी स्तोत्र-विवृति, ४—प्रसादवागीश-भाष्य-विवरण *

५—सर्वोत्तम स्तोत्र-विवृति

इन ग्रन्थों के पर्यवलोकन से बालकृष्णजी के अगाध पाण्डित्य का पता चलता है, और ज्ञात होता है कि—यह न केवल सेवा ही के रसिक थे, अपितु साथ ही विद्वत्ता में भी पारंगत थे।

नित्यलीला-प्रवेश—बालकृष्णजी ने अपने जीवन में नाम-सेवा और रूप-सेवा का अधिकांश प्रचार कर सं० १६४५ में अपनी इहलौकिक लीला संवरण की ×। इनके अनन्तर श्रीद्वारकेशजी इस तृतीय पीठ के अधीश्वर हुए।

बालकृष्णजी के स्मृतिचिह्न-स्वरूप नीचे लिखी वस्तुएँ कांकरोली में अद्यापि वर्तमान हैं।

१—श्रीभागवत (नित्यपाठ की, शोध-समेत)।

२—झूलने का लकड़ी का पालना। ३—खेलने के लकड़ी के खिलौने।

४—कमर में पहिनने की सोने की करधनी। ५—गले में पहिनने का सोने का ताईत और सोने की दुगदुगी आदि।

—:※:—

* (स्वपित्रोदितग्रन्थस्य भाष्यकर्ता० श्रीद्वा० रचित नामामृत)

† ऐसा प्रसिद्ध है कि यह श्रीद्वारकाधीश की पीठिका में अन्तर्हित हो गये।

परिशिष्ट—१

श्रीबालकृष्णजी का अन्तिम समय

(अनुसन्धान-पत्र १२०)

तृ० पीठ के प्र० तिलकायित श्रीबालकृष्णजी महाराज का नित्य-लीला-प्रवेश सं० १६४५ में प्रसिद्ध था, और इसी कारण पत्र-सं० १२० पर वही लिखा गया है, पर इसमें संशोधन की आवश्यकता है—

कांकरोली में मन्दिर में सेवा के साथ श्रीबालकृष्णजी के नित्य-पाठ की भागवत विद्यमान है। जिस पर उनके हस्ताक्षर और उन्हीं के द्वारा निबन्ध-प्रकरण के अनुसार अध्याय-समाप्ति का निर्देश एवं आवश्यक पाठ-भेद है।

प्रस्तुत पुस्तक की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—"संवत् १६४९ वर्षे फाल्गुने मास्यमलपक्षे त्रयोदश्यां तिथौ भृगुवासरे श्रीमदहमदाबादपत्तनान्तर्वर्तिनि हरिहरपुरे रचितान्वयेन (?) मेदपाटान्ववायोत्पन्नव्यासश्रीजयरामात्मजेन रघुनाथेन लिखितमिदं श्रीभागवतं सर्वसिद्धये।"

पुस्तक के ऊपर—"बालकृष्णस्येदं पुस्तकम्। विभागानन्तरं श्रीद्वारकेश्वराणाम्। गिरिधरस्य च।" लिखा है। अतः पुस्तक-लेखन-समय जब सं० १६४९ फाल्गुन शुक्ल १३ है, तो उसके पाठकर्ता और संशोधक उक्त महाराजश्री की सं० १६५० तक विद्यमानता में कोई संशय नहीं रहता। इसलिये संवत् १६५० के लगभग उनका 'नित्य-लीला-प्रवेश' माना जाना चाहिए।

इस हिसाब से पत्र-सं० ११४, १२१, १२२ में उल्लिखित "सं० १६४५" के स्थान पर "सं० १६५० के लगभग" यह संशोधन कर लेना चाहिये।



परिशिष्ट—१ *

अष्टछाप के अन्तिम चार भक्त कवि

(अनुसन्धान-पत्र ११०)

१. गोविन्दस्वामी†—

गोविन्दस्वामी का जन्म सं० १५६० के लगभग होना चाहिए। इनके पिता का नाम विदित नहीं होता पर यह जाना जा सका है कि—यह दक्षिण के आँतरी नामक ग्राम के निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे, और बाद में वहाँ से आकर महावन में रहने लगे थे। जनता को मन्त्र-दीक्षा देने के कारण यह स्वामी (गुरु) कहलाते थे।

सं० १५९८ के लगभग गो० श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य हुए और इनकी गणना 'अष्टछाप' में की गई। पद-रचना और गायन-कला में यह अद्वितीय थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि—'तानसेन' जैसे प्रख्यात गायक भी इनके गान पर मोहित हो गये थे, और उन्होंने गायन-कला की कुछ विशेषताएँ इनके पास सीखी थीं।

गोविन्दस्वामी अपने पद गुसाईंजी को ही सुनाते और उनके तथा ठाकुरजी के आगे ही गाया करते थे।

एक बार इनकी इस कला का चमत्कार देखने के लिये बादशाह अकबर हिन्दू-वेश में आया और जन-समूह में बैठकर गाना सुनने लगा। तत्काल गाई जानेवाली भैरवी को सुनकर बादशाह चुप न रह सका और उसके मुँह से 'वाह-वाह' निकल गया। 'वाह-वाह' की ध्वनि से ध्यानाकृष्ट होते ही गोविन्दस्वामी ने बादशाह को पहिचान कर कहा कि—आज से यह भैरवी रागिनी छी गई है, अतः ठाकुरजी के आगे इसे अब न गा सकूँगा।

कहते हैं, उस दिन से 'भैरवी' गाना उन्होंने छोड़ दिया, और उसी समय से सम्प्रदाय में भी ठाकुरजी के सामने इसका गाना बन्द कर दिया गया, जो आज भी यथावस्थित है।

---

* प्रेस-कर्मचारियों की असावधानी से रह जाने के कारण इस परिशिष्ट को यहाँ देना पड़ा है। यथार्थ में यह पत्र १११ के परिशिष्ट २ के पहिले चाहिये। पाठक इसका अनुसन्धान कृपया वहाँ लगा लें।

† २५२ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता प्रथम है।

इनके रचित २५२ पद अनुपम भक्ति-भाव से भरे हुए हैं। 'कीर्तनावली' नाम से इनके रचित पदों के संग्रह विद्या-विभाग कांकरोली में विद्यमान हैं, जिनमें से एक का लेखन-काल सं० १८९३ दिया हुआ है।

सं० १६४२ में यह अपने गुरु श्रीविट्ठलनाथजी के साथ गोवर्धन की कंदरा में जाकर लीन हो गये। कंदरा के आगे सुन्दरशिला के पास एक चबूतरा स्मारक-रूप में वर्तमान है।

२. छीतस्वामी*—

छीतस्वामी का जन्म सं० १५७५ के लगभग हुआ था। यह मथुरा-निवासी और चतुर्वेद ज्ञाति के ब्राह्मण थे। कहते हैं—युवावस्था में पहिले यह गुंडों के प्रसिद्ध नेतारूप में 'छीतू' नाम से प्रसिद्ध थे। अपनी दुष्ट संगति के प्रभाव से एक बार यह गो० विट्ठलनाथजी की परीक्षा लेने गोकुल आये, और वहाँ सड़ा नारियल और खोटा रुपया भेंट किया। गुसाईंजी इनकी बात ताड़ गये, उन्होंने 'छीतू' के देखते-देखते नारियल फुड़वाकर सबको बाँटा जो ताज़ा और अत्यन्त स्वादिष्ट निकला। इसी प्रकार उस खोटे रुपये को—जो कहीं भी नहीं चलता था और 'छीतू' के पास मुद्दत से पड़ा हुआ था—बाज़ार में भिजवाकर मिठाई मँगवाई।

गुसाईंजी के इस चमत्कार का 'छीतू' पर प्रभाव पड़ा और उसने अपने अपराधों की क्षमा माँगकर गुसाईंजी से कंठी बँधवाई। सं० १५९८ के लगभग इनकी गणना 'छीतस्वामी' इस नाम से 'अष्टछाप' में होने लगी और यह परम भक्त हो गये। अपनी इस दशा का वर्णन इन्होंने इस पद में किया और गुसाईंजी की स्तुति की—

"भई अब गिरिधर सों पहिचान।
कपट रूप धरि छलिबे आयो पुरुषोत्तम नहिं जान।"

सत्संगति के प्रभाव से यह भक्त, त्यागी और कवि बन गये। राजा बीरबल के यह पुरोहित थे, अतः उनके द्वारा इन्हें वार्षिक आय अच्छी हुआ करती थी।

एक दिन का प्रसंग है, छीतस्वामी गोकुल में पालना के दर्शन के समय यह पद गा रहे थे—

* २५२ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता द्वितीय है।

"प्रिय नवनीत पालनै झूलैं श्रीविट्ठलनाथ झुलावैं हो।
कबहुँक आप संग मिलि झूलैं, कबहुँक उतरि झुलावैं हो।"

गुरु और प्रभु की अभेद-बुद्धि से यह पद गाया जा रहा था जिसे सुनकर पास में खड़े हुए राजा बीरबल को शंका हुई, और उन्होंने छीतस्वामी से पूछा कि—स्वामीजी! आपके इस पद के अनुसार मैं तो गुसाईंजी और ठाकुरजी को एकरूप मान लूँगा, पर यदि बादशाह आपसे पूँछेगा तो आप क्या समाधान करोगे?

इस प्रश्न पर छीतस्वामी का मिज़ाज बिगड़ गया और उन्होंने उत्तर दिया कि—बादशाह का समाधान हो जायगा, पर मेरे जान में तुम म्लेच्छ हो, जो इस प्रकार की शंका करते हो। अब तुम्हारे साथ सम्भाषण करना भी योग्य नहीं है। यह कहकर उन्होंने बीरबल से बोलना छोड़ दिया और उनकी वृत्ति को भी ठुकरा दिया।

इनकी कविता का काल सं० १६१३ माना जाता है। इनके रचित स्फुट पदों के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ नहीं मिलता।

सं० १६४२ में गो० श्रीविट्ठलनाथजी के तिरोधान का समाचार सुनकर गोवर्धन में इनका भी देह छूट गया। 'पूँछरी' नामक स्थान में श्यामतमाल के नीचे इनका स्मारक बना हुआ है।

गुसाईंजी की शिष्यता प्राप्त करने पर इनका स्वभाव सरल और सात्त्विक हो गया, तथा कृष्ण-भक्ति में लीन होकर इन्होंने भक्ति द्वारा अपने जीवन को कृतार्थ किया।

१. चतुर्भुजदास*—

चतुर्भुजदासजी का जन्म सं० १५७५ से ८० के बीच माना जाना चाहिये। इनके पिता का नाम कुम्भनदासजी था जो श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य और 'अष्टछाप' के भक्त कवि थे। इनकी जाति गौरवा क्षत्रिय थी। यह सात भाइयों में सबसे छोटे थे।

एक दिन श्रीनाथजी ने कुम्भनदासजी को चतुर्भुज-स्वरूप से दर्शन दिये। इसके कुछ ही दिनों बाद उनके पुत्र का जन्म हुआ, इस कारण पिता ने इनका नाम चतुर्भुजदास रक्खा।

* २५२ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता तृतीय है।

छोटी अवस्था से ही इनकी काव्य-शक्ति जाग्रत् हो गयी थी। अतः गो० श्रीविट्ठलनाथजी ने इन्हें अपना शिष्य बनाकर 'अष्टछाप' में इनकी गणना की। कृष्णभक्ति का इन पर अच्छा प्रभाव पड़ा, और इन्होंने भक्तिरस में निमग्न होकर सरस पदों की रचना की।

इनके निम्न-लिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

१ चतुर्भुज कीर्तन-संग्रह। २ कीर्तनावली। ३ दानलीला। ४ मधुमालती-कथा। ५ भक्ति-प्रताप।

प्रथम तीन ग्रन्थ विद्या-विभाग, कांकरोली में विद्यमान हैं, जिनमें सं० १ और २ एक ही प्रतीत होते हैं। ४ और ५ का उल्लेख मिश्रबन्धुविनोद (पत्र २४२) में किया गया है। सं० ४ का ग्रन्थ इसी नामधारी अन्य कवि का रचित है, जो भ्रम से इनके नाम पर लिखा गया है। इनके अन्तिम समय का ठीक पता नहीं लगा।

४. नन्ददास*—

नन्ददासजी का जन्म सं० १५७० के लगभग अनुमान किया जाता है। इनका मूल नाम मंगल था, पर काव्य में 'नन्ददास' नाम की छाप रखने से यह साहित्य-जगत् में इसी नाम से प्रख्यात हो गये।

यह सनाढ्य ब्राह्मण और रामायणकर्ता तुलसीदासजी के लघुभ्राता थे। मिश्र-बन्धुओं ने इन्हें किसी अन्य तुलसीदास का भाई होना लिखा है पर यह ठीक नहीं जँचता। इस समय रामायणकर्ता तुलसीदासजी को छोड़कर अन्य कोई कवि तुलसीदास नहीं हुआ। कवि तुलसीदास के समकालिक होने से तथा सं० १७२९ में रचित सम्प्रदाय-कल्पद्रुम में उल्लेख होने से वार्ता के अनुसार हमारा उपर्युक्त कथन ही ठीक जँचता है।

अपने भाई के समान यह भी प्रथम रामभक्त थे, पर अन्त में सं० १५९८ के लगभग गोकुल में आकर यह गो० श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य हो गये, और भक्ति में आसक्तिपूर्ण कृष्ण-कविता करने के कारण 'अष्टछाप' में इनकी गणना होने लगी।

इनके विषय में ऐसा प्रसिद्ध है कि—यह एक बार द्वारका की यात्रा करने जा रहे थे, पर मार्ग भूल जाने के कारण कुरुक्षेत्र के पास 'सीनन्द'-नामक ग्राम में जा पहुँचे,

* २५२ वैष्णव की वार्ता में इनकी वार्ता चतुर्थ है।

और वहाँ एक क्षत्री की स्त्री पर अत्यन्त आसक्त हो गये। इनकी इस लागलगत से पिण्ड छुड़ाने के लिये क्षत्री-दम्पति ने यात्रा के मिष से अन्यत्र चले जाने का विचार किया, पर नन्ददास उसके साथ ही पीछे-पीछे चल दिये। कुछ समय बाद यह तीनों गोकुल आये, और उस क्षत्री ने गो० श्रीविट्ठलनाथजी से नन्ददास को कुछ सदुपदेश देकर पीछा छुड़वा देने की प्रार्थना की। गुसाईंजी के उपदेश से नन्ददासजी की स्त्री-विषयक आसक्ति हट गयी, और उन्होंने अपना मन कृष्णभक्ति में लगा लिया। *

एक बार (सं० १६२६ के लगभग) तुलसीदासजी व्रज में आये और उन्होंने नन्ददासजी से रामभक्ति करने का आग्रह किया, परन्तु उन्होंने उनकी एक न सुनी और "कृष्ण नाम जबतें श्रवण सुन्यौ री आली" यह पद गाकर अपनी आन्तरिक दृढ़ भावना का अपने भाई के सामने खुलासा कर दिया।

एक दिन नन्ददासजी तुलसीदासजी को दर्शन कराने के लिये श्रीनाथजी के मन्दिर में ले गये। दर्शन खुलने पर जब तुलसीदासजी ने अपनी अनन्यता के कारण श्रीनाथजी को मस्तक नहीं नवाया तब नन्ददासजी ने यह दोहा श्रीनाथजी के सम्मुख कह सुनाया—

"कहा कहौं छबि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नमै धनुष-बान लो हाथ ॥" †

नन्ददासजी की इस प्रार्थना को स्वीकार कर श्रीनाथजी ने रामचन्द्रजी का रूप धारण कर दर्शन दिये। जिस पर यह दोहा प्रसिद्ध है—

"मुरली मुकुट दुराय के धनुष बान गहि हाथ।
राम-भक्ति हिय जानि दृढ़ नाथ भये रघुनाथ ॥"

तुलसीदासजी नन्ददासजी के भाई थे, इस विषय में प्रमाण-स्वरूप उनका एक पद प्राप्त होता है--

"श्रीमत्तुलसीदास स्व-गुरु-भ्राता-पद वंदे।"

(कल्याण, मानसांक)

* मिश्रबन्धुविनोद पत्र २४८।

† सं० कल्पद्रुम पत्र ७३ में तुलसीदासजी ने स्वयं यह दोहा कहा है, ऐसा उल्लेख है।

जो लोग इस पद से तुलसीदासजी और नन्ददासजी को एक ही गुरु का शिष्य होने से गुरु-भाई कहते हैं, और उनके औरस भ्रातृत्व का निषेध करते हैं, उन्हें निम्न-लिखित अंश पर ध्यान देना चाहिये—

इस पद में कृष्ण-स्वरूप का राम-स्वरूप से दर्शन देने का उल्लेख होने से यह विदित होता है कि—इसकी रचना सं १६२६ की इस घटना के बाद हुई है। और अनुमान होता है कि—नन्ददासजी ने यह पद तुलसीदासजी के प्रति सम्मान दिखाने के लिये तब गाया है जब श्रीनाथजी ने उन्हें राम-स्वरूप में दर्शन देकर उनकी अनन्यता की रक्षा की थी। इससे यह भी एक ध्वनि निकलती है कि—"कहा कहौं छबि०" दोहा स्वयं तुलसीदासजी ने ही प्रार्थना-स्वरूप में कहा हो। इस प्रार्थना के स्वीकृत हो जाने का प्रभाव नन्ददासजी पर पड़ा और उन्होंने तुलसीदासजी की भी महानुभावता स्वीकार की, और पद गाकर उनके प्रति सम्मान व्यक्त किया।

इस समय नन्ददासजी पूर्ण कृष्णभक्त थे, और वे बातचीत चलने पर पहले ही "बरनौं श्रीअवध गोकुलधाम" तथा "कृष्ण नाम जबतें" आदि पदों के द्वारा राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्णभक्ति और उनके लीलास्थलों को ही प्रधानता दे चुके थे, अतः अपनी कट्टरता के कारण सम्भव नहीं था कि—वे रामभक्ति का प्राथमिक सम्बन्ध बतलाकर तुलसीदासजी का और अपना गुरु-भाईपना बतलाते।

यद्यपि प्रथमावस्था में सतीर्थ्य होने के कारण वे गुरु-भाई भी थे, पर जहाँ तुलसी-दासजी की अनन्यता पर विश्वास किया जाता है, वहाँ नन्ददासजी की अनन्यता को स्वीकार कर यह भी मानना चाहिये कि—उन्होंने इस पद में 'गुरु'-शब्द से ज्येष्ठत्व का विशेष सम्बोधन किया है। "कहा कहौं छबि०" के दोहे की घटना और नन्द-दासजी के उक्त दोनो पदों की एकवाक्यता लगाने के साथ नन्ददासजी की अनन्यता पर यदि ध्यान दिया जा सकता है, तो कहना पड़ेगा कि—'गुरु-भ्राता' पद में ज्येष्ठत्व का अर्थ मुख्य है और इतर गौण।

इस कारण मानना पड़ता है कि—नन्ददासजी और तुलसीदासजी छोटे-बड़े भाई थे, और प्रथम एक गुरु के शिष्य होने के कारण उनमें गुरु-भाईपने की पुट भी लगी हुई थी *।

* इसका विशद विवेचन विद्या-विभाग द्वारा प्रकाशित "अष्टसखा के वार्तारहस्य" में किया जायगा।

नन्ददासजी की अनन्यता का प्रभाव तुलसीदासजी पर भी पड़ा और उन्होंने बाद में "कृष्णगीतावली" की रचना की। उक्त घटना से तुलसीदासजी राम और कृष्ण को एक रूप ही मानने लग गये थे।

नन्ददासजी का अवसान-काल सं० १६४० के लगभग माना जाता है।

इनके बनाये कितने ही ग्रन्थ हैं, जिनसे इनकी भक्ति-प्रवणता, काव्य-शक्ति और भाव-प्रवीणता विदित होती है। ऐसा कहा जाता है कि—तुलसीदासजी के रामचरितमानस के समान इन्होंने भी भागवत का अनुवाद करने का विचार किया, पर श्रीविट्ठलनाथजी गुसाईंजी ने इन्हें निषेध कर दिया। इस पर केवल दशमस्कन्ध का अनुवाद इन्होंने किया।

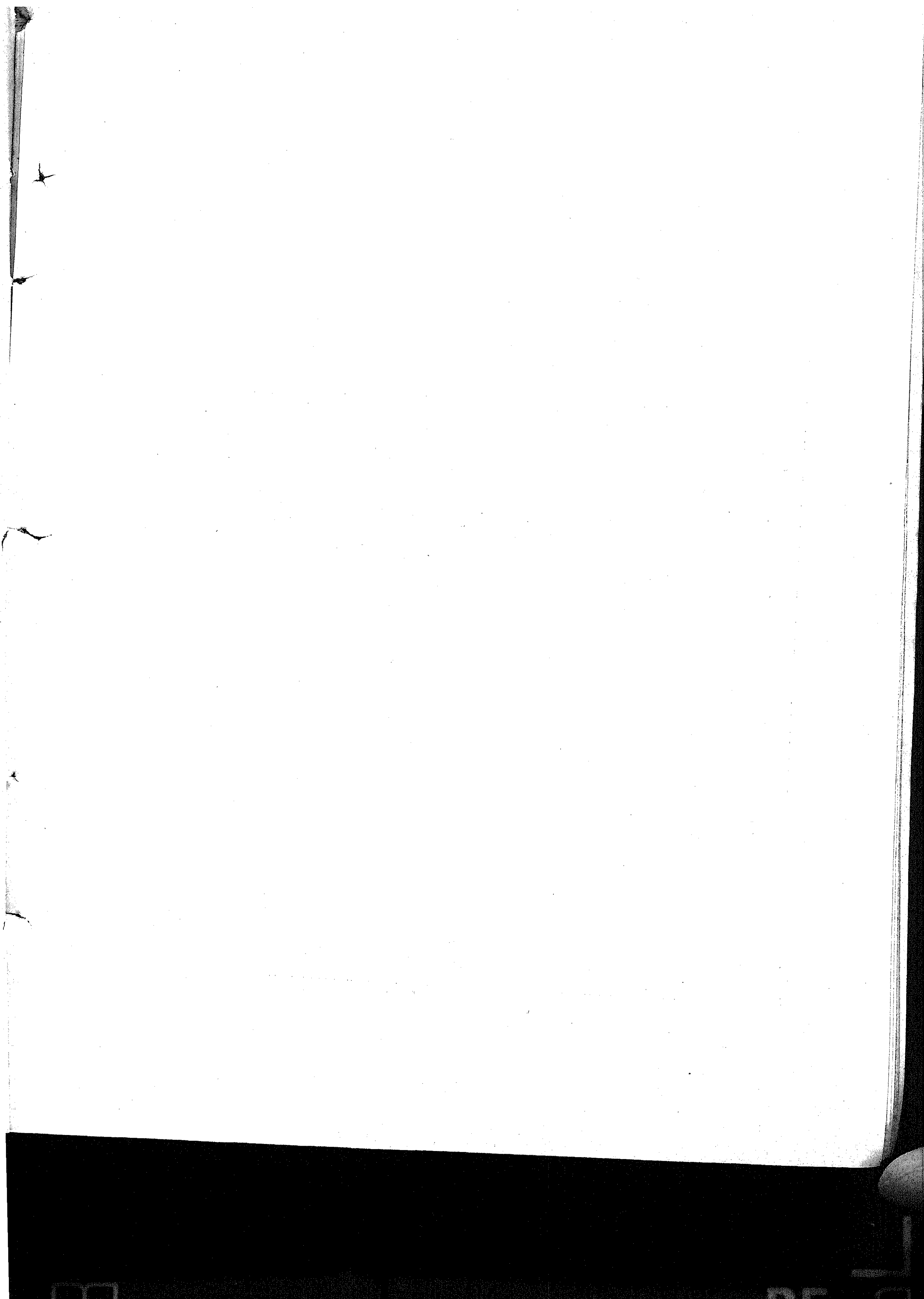
सम्प्रति इनके रचित निम्न-लिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

१. भागवत दशमस्कन्धानुवाद
२. रास पंचाध्यायी
३. रुक्मिणी हरण (मंगल)
४. गोवर्धन लीला*
५. सुदामा चरित्र*
६. जोगिन लीला*
७. श्याम सगाई
८. नन्द सागर*
९. विरहमंजरी
१०. रूपमंजरी
११. मानमंजरी
१२. रसमंजरी
१३. नाममंजरी (नामान्तर=नामचिंतामणिमाला, अनेकार्थनाममाला, अनेकार्थ मंजरी *)
१४. भ्रमर गीत,

इसके अतिरिक्त हितोपदेश, ज्ञानमंजरी और नासिकेतूपाख्यान नामक ग्रन्थ भी इनके रचित सुने जाते हैं। भागवत दशमस्कंधानुवाद के १ से २८ अध्याय तक विद्या-विभाग में उपलब्ध हैं। इसके प्रारम्भ में इन्होंने गिरिधरजी को अपना गुरु लिखा है।

—:०:—

* पं० जवाहरलालजी चतुर्वेदीजी द्वारा ज्ञात।





गो० श्रीद्वारकेश्वरजी महाराज तथा शिष्यवर्ग

प्रा० सं० १६२६ वै० शु० १४

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

श्रीद्वारकेशजी महाराज (द्वि० ति०)

(प्रा० सं० १६३०, ति० सं० १६४५, नि० १६७०)

——:०:——

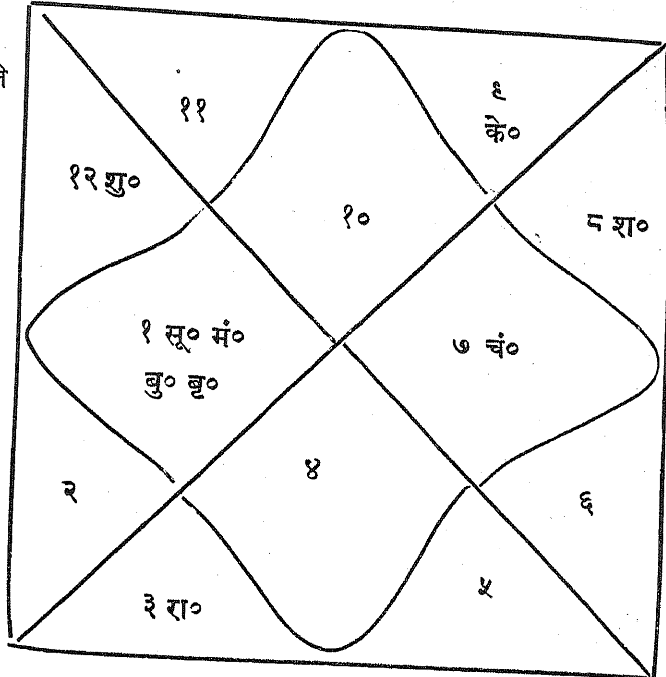
जन्म, शिक्षा-संस्कार—श्रीद्वारकेशजी महाराज जगद्गुरु वल्लभाचार्य के पौत्र बालकृष्ण-जी महराज के ज्येष्ठ पुत्र थे, इनका जन्म सं० १६२९ वैशाख कृष्ण १४ गुरु के दिन हुआ *। नृसिंह-जयन्ती के दिन जन्म होने के कारण इनके पितामह गुसाईंजी इनको 'वागधीशलालजी' इस नाम से भी बुलाया करते थे। यह छोटेपन से बुद्धिमान् प्रतीत होते थे, अतः आगे चलकर इनका यह नाम आशीर्वाद-रूप में चरितार्थ हुआ।

---

* जन्म-कुण्डली—

अब्दे विन्दुहुताशभूप(१६३०)गणिते
राधे सिते शेषके (?)
इज्ये सिद्धि गरानिले हि वृकगे
ज्यार्कार सोमात्मजे।
चन्द्रे कर्मणि भार्गवे सहजगे
केतौ व्यये, लाभगे-
मन्दे, चारि विधुन्तुदे, जनिरभू-
च्छ्रीद्वारिकेशप्रभोः ॥ १ ॥

सं० १६२६ वर्षे वैशाख शुक्ल १४ गुरौ रात्रिगतघटी १४ समये श्रीबालकृष्णात्मज श्रीद्वारिकेशजी जन्म—



सं० १६३७ में गोकुल में द्वारकेशजी का उपनयन-संस्कार और गोपदेवी बेटीजी का विवाह गुसाईंजी ने बालकृष्णजी की इच्छा देखकर किया। यज्ञोपवीत हो जाने पर पिता और पितामह के पास शास्त्रों और साम्प्रदायिक ग्रन्थों का अध्ययन तथा परिशीलन कर इन्होंने युवावस्था तक अच्छी विद्वत्ता प्राप्त कर ली। यज्ञोपवीत के अनन्तर ज्यों ही इनको ब्रह्मसम्बन्ध एवं गोपाल-मन्त्र की दीक्षा दी गयी, उसी समय से इन्होंने उन दोनो की नियमित उपासना आरम्भ कर दी। गोपाल-मन्त्रानुष्ठान के नियमानुसार पीतवस्त्र धारण करने की विशेष अभिरुचि देखकर गुसाईंजी इनको 'केसरिया लालजी' कहकर भी पुकारने लगे थे।

उक्त संवत् में माघ शु० १० के दिन गोकुल से गुसाईंजी ने सातों स्वरूपों के पृथक्-पृथक् मन्दिर बनवाने का मुहूर्त किया। कुछ वर्ष बाद उनके तैयार हो जाने पर मथुरेशजी आदि सातों स्वरूप मन्दिरों में विराजमान हुए, और सातों बालक अलग-अलग रहकर सेवा करने लगे। अपने पिता के साथ द्वारकेशजी को भी द्वारकाधीश की सेवा करने का सौभाग्य समधिगत हुआ।

तिलकायितत्व और मन्दिर-निर्माण—सं० १६४५ में पितृचरण बालकृष्णजी के गोलोकवासी हो जाने पर द्वारकेशजी द्वारकाधीश के घर के तिलकायित हुए, और तीसरे पीठ की वैष्णव-सृष्टि का भार उन्होंने अपने ऊपर लिया।

सं० १६४७ में यमुना-प्रवाह के कारण द्वारकाधीश के मन्दिर की नींव धसक गयी, जिससे उसके गिर जाने की आशंका होने लगी, अतः उन्होंने प्रभु को मथुरेशजी के मन्दिर में उनके साथ पधराया, और नये प्रकार से मन्दिर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया।

इस विषय में ऐसा प्रसिद्ध है कि—यमुना-तट पर ही मन्दिर की नींव खोदते समय वहाँ भीतर कन्दरा में एक साधु महात्मा समाधि लगाये दीख पड़े, जो न-जाने वहाँ कब से बैठे तपस्या कर रहे थे। इस उथल-पुथल से उनकी समाधि खुल गयी और वे उठकर धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाते हुए यमुना के किनारे थोड़ी दूर जाकर अन्तर्हित हो गये। उनके वाक्यों पर किसी ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया, यह मन्दिर वल्लभाचार्यजी की शैयामन्दिर के आसपास बनवाया गया जो अब भी वहाँ विद्यमान है।

नवीन मन्दिर के सिद्ध हो जाने पर द्वारकेशजी ने बड़े ठाठ-बाट के साथ द्वारकाधीश

प्रभु को उसमें पधराकर मनोरथ किया। दूसरे दिन राजभोग सरने पर लोगों ने देखा कि—सखडी-भोग में अनेक कीड़े बिलबिला रहे हैं। यह व्यतिक्रम देखकर द्वारकेशजी तथा सेवक लोगों को बड़ा आश्चर्य एवं परिताप हुआ। दूसरे दिन उन्होंने जब फिर यह उपद्रव होते देखा तो यह समाचार गुसाईंजी के चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथजी के समीप पहुँचाया गया, पर वे भी वहाँ आकर इसका कुछ कारण न समझ सके। तीसरे दिन पुनः द्वारकाधीश के सम्मुख राजभोग आया और पुनः यही उपद्रव हुआ। अन्त में जब गोकुलनाथजी को महात्मा के क्रोधित होकर वहाँ से चले जाने का समाचार विदित हुआ, तो उन्होंने समाधिलीन भक्त के अपराध-क्षमापन के लिये प्रभु से प्रार्थना की। इस प्रकार अगले दिन से यह उपद्रव शान्त हो गया, और गोकुल में प्रभु का सेवा-क्रम यथावस्थित चलने लगा *।

इस प्रकार द्वारकेशजी द्वारकाधीश और बालकृष्णजी की सेवा में नित्य नये मनोरथ करने लगे। वे प्रतिवर्ष अन्नकूट के अवसर पर बड़ी धूमधाम से द्वारकाधीश को श्रीनाथजी के समीप गिरिराज पधराते, और वहाँ उत्सव कर पुनः गोकुल आकर अपने मन्दिर मे आकर विराजते थे।

विवाह और सन्तति—योग्य वय में (सं० १६५० अनु०) द्वारकेशजी का विवाह हुआ और कुछ वर्ष बाद उनके नीचे लिखे अनुसार सन्तति हुई—

१—अनिरुद्धजी, प्राकट्य सं० १६५८ वैशाख शु० १५

२—गिरिधरजी, प्रा० सं० १६६२ मार्गशीर्ष कृ० ८ अनिरुद्धजी का बाल्य-काल में ही गोलोक-वास हो गया था।

बालकृष्णजी ठाकुरजी का झगड़ा—जिस प्रकार द्वारकेशजी के पिता बालकृष्णजी का अपने भाई यदुनाथजी से घनिष्ठ सौहार्द्र था, उसी प्रकार उन दोनों के पुत्र द्वारकेशजी और मधुसूदनजी† का भी बड़ा प्रेम था, ये दोनो मिलकर भी उसी प्रकार द्वारकाधीश और बालकृष्णजी की सेवा किया करते थे।

एक दिन जब दोनो भाई दोनो स्वरूपों की मिलकर सेवा कर रहे थे, उस समय द्वारकेशजी ने प्रसंगोपात्त मधुसूदनजी से कहा कि—भाई! जिस प्रकार हमारे और

---

* द्वा० प्रा० वार्ता (लल्लू भाई) पत्र ७७। यह प्रसंग व्रजभूषणजी रचित प्रा० वार्ता में नहीं है।
† इनका जन्म सं० १६३४ है।

आपके पिता में परस्पर भ्रातृभाव निभ गया, उसी प्रकार हमारा और आपका भी निभ जायगा। परन्तु बालकृष्णजी के विषय में आगे भी किसी प्रकार का वैमनस्य उत्पन्न न हो, ऐसा विचार हम दोनों को कर लेना चाहिये।

द्वारकेशजी की इच्छा थी कि—यह हमें एक पत्र लिखकर दे दें। पर एक दिन आगे चलकर वंश में किसी प्रकार का झगड़ा पैदा न हो, इसलिये मधुसूदनजी ने द्वारकेशजी से बालकृष्णजी ठाकुरजी अपने लिये अलग माँगे और अलग स्थान में पधरा ले जाने की इच्छा प्रकट की। इसे सुनकर द्वारकेशजी ने कहा कि—मेरे पिताजी ने इन ठाकुरजी को पृथक् रूप से देने की कोई आज्ञा नहीं की थी, अतः मैं विवश हूँ।

मधुसूदनजी ने इस उत्तर से निराश होकर अपने काका श्रीगोकुलनाथजी से इसकी फ़रियाद की। जो इस समय अपने बड़े भाइयों के गत हो जाने से सम्प्रदाय के मुख्य पीठाधिपति थे। इस घटना को सुनकर उन्होंने अपना परिचारक भेजकर द्वारकेशजी को बुलवाया, और उनको गुसाईंजी के समय का समस्त वृत्तांत सुनाते हुए बतलाया कि—बालकृष्णजी यदुनाथजी के वंशजों के ही अधिकार की निधि हैं। सात स्वरूप के बटवारा के समय गुसाईंजी ने बालकृष्ण-लालजी को आज्ञा दी थी कि—जब कभी भी यदुनाथजी के वंशज अपना स्वत्व माँगें, तब वह उन्हें दे दिया जाय।

गोकुलनाथजी के इस आदेश के अनुसार द्वारकेशजी ने मधुसूदनजी को बुलाकर बालकृष्णजी ठाकुरजी पधरा दिये। और वे उन्हें लेकर अलग रहते हुए सेवा करने लगे। एक वर्ष तक सेवा कर चुकने के बाद एक दिन बालकृष्णजी ने ठाकुरजी मधुसूदनजी को स्वप्न में कहा कि—मैंने एक वर्ष तक तुम्हारा मनोरथ पूर्ण किया है, किंतु अब मैं यहाँ तुम्हारे पास न रहकर द्वारकाधीश के पास ही रहना चाहता हूँ।

इस भगवदाज्ञा को सुनकर विवश होकर मधुसूदनजी ने ठाकुरजी को झाँपी में पधराया और वापस द्वारकेशजी के समीप आये। राजभोग के समय जब उनको मन्दिर में आता देखा तो द्वारकेशजी ने कहा—भाई! एक ठाकुरजी तो तुम पहले ले गये हो, अब क्या दूसरे भी लेने के लिये आये हो? इस पर मधुसूदनजी ने रात्रि का सारा वृत्तांत उन्हें कह सुनाया, जिसे सुनकर द्वारकेशजी ने फिर कहा कि—बार-बार हम झगड़ा नहीं करना चाहते, तुम अपने ठाकुरजी अपने ही पास रक्खो।

इस उत्तर से निराश होकर मधुसूदनजी पुनः गोकुलनाथजी के पास पहुँचे, और उन्होंने बालकृष्णजी की इच्छा और द्वारकेशजी का मन्तव्य कह सुनाया। प्रभु की ही ऐसी इच्छा जानकर गोकुलनाथजी ने द्वारकेशजी को समझाया और आगे किसी प्रकार का टंटा-बखेड़ा दोनो वंशजों में न हो, एतदर्थ मधुसूदनजी से लेख लिखवा दिया, और उस पर स्वयं साक्षीरूप में अपने हस्ताक्षर किये।

इस झगड़े के मिट जाने पर द्वारकेशजी दोनों स्वरूपों की सेवा फिर से प्रेम-पूर्वक करने लगे। एक वर्ष बाद गये हुए बालकृष्णजी ठाकुरजी पुनः द्वारकाधीश के आगे आकर विराजमान हुए।

धर्मप्रचार और ग्रंथरचना—सं० १६७० के प्रारम्भ में द्वारकेशजी ने सिन्ध-देश का प्रदेश किया और तद्देशस्थ हिन्दू-जाति पर पड़े हुए यावनी संस्कार को दूर कर उनमें शुद्ध हिन्दू-संस्कृति का प्रचार किया। वहाँ वैष्णवधर्म और भक्ति-भावना की ज्वलन्त ज्योति जगाकर उन्होंने हिन्दू-जाति को रक्षा का स्मरणीय कार्य किया।

यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि—यदि इस समय द्वारकेशजी सिन्ध में वैष्णव-धर्म का प्रचार न करते तो आज वहाँ वैष्णवधर्म ही क्या ? हिन्दुत्व का भी लोप हो गया होता। इस यात्रा में शिष्यों ने द्वारकेशजी को प्रचुर परिमाण में द्रव्य भेंट किया, जिसे उन्होंने गिरिराज में जाकर श्रीनाथजी की सेवा में भेंट कर अपने त्याग और उज्ज्वल भक्ति का एक अभिनव आदर्श स्थापित किया।

इन्होंने अपने जीवन-काल में जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया उनमें से सम्प्रति नीचे लिखे ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—*

१. सर्वोत्तम स्तोत्र-विवृति, २. बालकृष्ण अष्टोत्तरशतनामावली (नामामृतस्तोत्र)

नित्य-लीला-प्रवेश—सं० १६७० में गोकुल में अपने ऐहिक जीवन का कर्तव्य पूर्ण कर श्रीद्वारकाधीश के चरणकमलों में स्थान प्राप्त किया।

—:-❀-:—

* मि० ब० विनोद पत्र ६७६ में अज्ञातकालिक कवियों में द्वारकेशजी उपनाम 'व्रज' की रचित द्वारकेशजी की भावना, और नित्यकृत्य इन दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है, पर यह द्वारकेशजी गुसाईंजी के पंचम पुत्र रघुनाथजी के वंश में ५वीं पीढ़ी पर हैं, जिनका जन्म सं० १७५१ चैत्र शु० २ है।

श्रीगिरिधरजी महाराज (तृ० ति०)

(प्रा० सं० १६६२, ति० सं० १६७०, नि० सं० १७१८-१६)

तथा तत्पुत्र

श्रीद्वारकानाथजी

(प्रा० सं० १६८२, नि० सं० १७१५ अनु०)

——:(※):——

जन्म-संस्कार और शिक्षा—श्रीगिरिधरजी महाराज का जन्म सं० १६६२ मार्गशीर्ष कृ० ८ गुरुवार के दिन * गोकुल में हुआ। इनके पिता का नाम द्वारकेशजी था, जो वल्लभाचार्यजी के पौत्र बालकृष्णजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। गिरिधरजी के ज्येष्ठ भ्राता का नाम अनिरुद्धजी था, जो छोटी अवस्था में ही गोलोक-वासी हो गये थे।

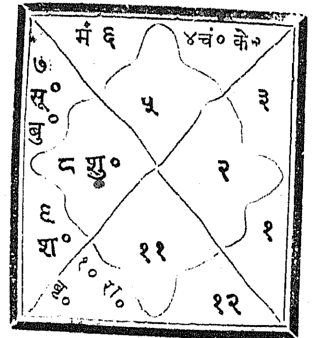
सं० १६७० में इनका उपनयन-संस्कार हुआ, और इसी वर्ष सिन्ध-प्रदेश से वापिस आने पर इनके पितृचरण का नित्यलीला में प्रवेश हो गया। अतः इनकी शिक्षा-दीक्षा का समस्त भार इनके मातृश्री पर पड़ा। उन्होंने यावच्छक्य इनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। इस कारण जैसा चाहिये, वैसा इनकी शिक्षा के लिये ध्यान नहीं दिया जा सका, तथापि संस्कारी और विद्वत्कुल में उत्पन्न होने के कारण इन्होंने योग्य अवस्था तक शास्त्रों का माध्यमिक ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लिया था।

---

* जन्म-कुण्डली—

अब्दे युग्म रसद्वि चन्द्र गणिते (१६६२) सिंहे च मार्गासिताऽ-
ष्टम्यां सार्पं बवादि शुक्ल धिषणे, तौले समानौ बुधे।
कर्केऽब्जेऽलिकवौ, स्त्रियां कुज, तमस्येज्ये रिपौ सूनुगे—
मन्दे, प्रादुरभूद् व्रजे गिरिधरः स्वानां विमुक्त्यै स्फुटम् ॥ १ ॥

सं० १६६२ वर्षे मार्गशीर्ष कृष्ण ८ सूर्योदयात् गत घटी ४५। ५६ तथा रात्रि गत घटी १८। ० समये श्रीद्वारकेशजी सुत श्रीगिरिधरजी जन्म।





गो० श्रीगिरिधरलालजी महाराज
प्रा० सं० १६६२ मार्ग० कृ० ८

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

विवाह तथा सन्तति—सं० १६७० में पितृचरण के नित्यलीलास्थ हो जाने पर यह इस तृतीय पीठ के तिलकायित हुए, और इन्होंने अपनी बाल्यावस्था से ही द्वारकाधीश की सेवा का उत्तरदायित्व लेकर वैष्णव-सृष्टि को सँभाला।

१६७६ से ७८ के बीच में ही इनका विवाह हुआ प्रतीत होता है, जिससे इनके निम्नलिखित संतति हुई—

१—द्वारकानाथजी प्राकट्य सं० १६८२ श्रा० शु० ७

२—गंगाबेटीजी—

पुत्र—श्रीद्वारकानाथजी—सं० १६९० में गिरिधरलालजी ने अपने पुत्र द्वारकानाथजी का यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। अपने पुत्र को एक उत्तम विद्वान् बनाने की इच्छा से गिरिधरजी ने इनकी शिक्षा पर खूब ध्यान दिया। द्वारकानाथजी ने भी गोकुल में रहते हुए अपने पिता के पास, द्वारकाधीश की भावना के साथ सेवा करते हुए प्रारंभिक विद्याध्ययन किया। युवावस्था में गिरिधरजी ने इनका विवाह किया। इनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीजानकी बहूजी था।

अनुमानतः सं० १७०५ के लगभग द्वारकानाथजी अपनी विशेष विद्याभिरुचि के कारण पिता से आज्ञा लेकर अध्ययनार्थ काशी चले गये, और वहाँ रहकर मन लगाकर विद्याध्ययन प्रारंभ किया। कुछ वर्षों में इन्होंने समस्त शास्त्रों में तलस्पर्शी पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। इनकी इच्छा थी कि—किसी भी प्रकार दिग्विजयी पण्डित बना जाय, एतदर्थ यह भरसक परिश्रम करने लगे। विद्वानों में परिचय हो जाने पर किसी मन्त्रशास्त्री ने अतिशय कुशाग्रबुद्धि हो जाने के लिये इनको 'सरस्वतीमंत्र' का अनुष्ठान बतलाया। जिसके अनुसार इन्होंने सूर्यग्रहण के दिन गंगा की धारा में खड़े होकर अपनी जिह्वा पर सरस्वती का बीज मंत्र लिखवाया। यह इस मंत्र का प्रतिदिन जप करते हुए परिश्रम-पूर्वक अध्ययन करने लगे। इस अनुष्ठान के पूर्ण होने पर शास्त्रों में इनकी अबाधगति हो गई। वैदुष्य-प्राप्ति के लिये उपासना-पूर्वक इस प्रकार का अनुष्ठान पुष्टिसंप्रदाय में सर्व-प्रथम था। अतः अब से इनका नाम द्वारकानाथ-जी "सरस्वती-मंत्रवाले" इस तरह पड़ गया। काशी में कई वर्ष रहकर अध्ययन कर चुकने के बाद यह सं० १७१२ के लगभग अपने पिता के पास गोकुल आये।

अन्याश्रय—गोकुल आने पर दूसरे दिन प्रातः द्वारकानाथजी ने द्वारकाधीश की

सेवा में जाने का विचार किया, पर रात्रि में उनसे श्रीप्रभु ने स्वप्न में कहा कि—तुमने मेरा आश्रय और विश्वास छोड़कर सरस्वती देवी का अन्याश्रय किया है, अतः ऐसा मनुष्य हमारी सेवा का अधिकारी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार का स्वप्न इनके पिता गिरिधरलालजी को भी दिखलाई दिया।

प्रातःकाल होने पर दोनों पिता-पुत्रों ने अपना-अपना रात्रि का वृत्तान्त कह सुनाया। द्वारकानाथजी को इस भगवदाज्ञा से अपने प्रति बड़ी ही ग्लानि हुई। उन्होंने वैष्णवता के लिये सर्वथा निषिद्ध, अपने किये हुए इस कार्य पर बड़ा पश्चात्ताप किया, और अन्न-जल छोड़ते हुए भगवत्सेवा-विमुख देह का मोह त्याग दिया।

वह अनुमानतः सं० १७१३ से १५ के बीच किसी वर्ष में अपने पिता से आज्ञा लेकर केवल भगवद्भजन द्वारा ही शेष जीवन बिताने के लिये व्रज के किसी अज्ञात स्थान में चले गये।

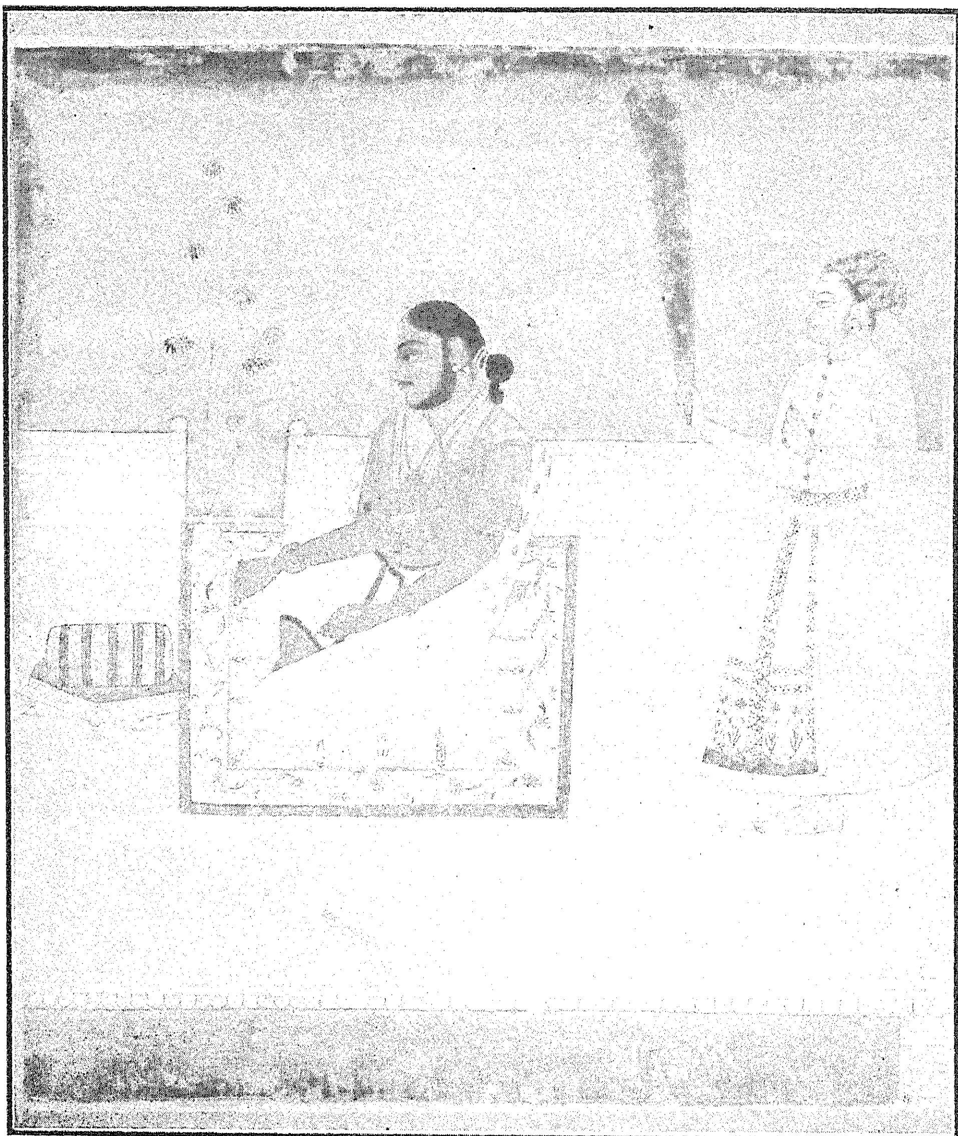
श्रीजानकी बहूजी भी जब उनका अनुसरण करने लगीं, तब उनके पति ने उन्हें बतलाया कि—तुम्हारे सच्चे पति तो श्रीद्वारकाधीश प्रभु हैं, उनकी सेवा करना ही तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य है। पति की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर श्रीजानकी बहूजी विषण्ण होकर अपने घर पर ही रहकर सेवा करने लगीं।

गिरिधरलालजी महाराज ने इस घटना में श्रीप्रभु की इच्छा को प्रधानता देकर ही स्वकीय पुत्र का मोह-ममत्व त्याग दिया, और जनता के सम्मुख एक उदाहरण स्थापित कर दिया कि—वैष्णवता के अनुसार अन्याश्रय करना सबसे बड़ा अपराध है, और उसके लिये बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिये वैष्णवों को सन्नद्ध रहना चाहिये।

राज-सम्मान और महाराणा का गोकुल आना—सं० १७०० फाल्गुन कृष्ण ३ गुरुवार के दिन गोकुल में द्वारकाधीश के दर्शन तथा गिरिधरजी महाराज से परिचय प्राप्त करने के लिये महाराया जगन्नाथराय आये और इन्होंने महाराजश्री के नाम पर ठाकुरजी के भेंट के लिये पलासो (डूखलवाड)-नामक गाम भेंट किया *।

* ता० नं० ४७ श्रीगोपाल

स्वस्ति श्रीगोणस गुण महाराया रायि श्रीजगनाथजी आदेशातु गुसायि श्रीगिरिधरलालजी ज्योग्य नत तमानि गाम पलासो डूखलवाड ना पासानु पाटि वेसते ज्याडे अत्तर आचडार के आघाटि स्वस्ती पत्र आपूं मारा वंस्य मांहि जे होइ तें पालिइँ श्रि श्री स्वयं प्रगह श्रि व्यास नानो फागुण वदि ३ गरौ संवत् १७०० वर्षे ल्यखीतं व्यास सोम साहावाओत। (यथोपलब्ध)



गो० श्रीद्वारकानाथजी (सरस्वतीमंत्रवाले)
प्रा० सं० १६८२, माघ कृष्ण ६

गिरिधरलालजी महाराज के समय एक बार उदयपुर के महाराणा जगतसिंहजी * व्रजयात्रा करते हुए गोकुल आये। वे वहाँ के समस्त मन्दिरों के दर्शन कर अन्त में श्रीद्वारकाधीश के मन्दिर में पहुँचे। वहाँ की व्यवस्था, सेवा-पूजा और भक्तिभाव तथा महाराजश्री के वार्तालाप का महाराणा पर अच्छा प्रभाव पड़ा, और वे इस सम्प्रदाय के शिष्य हुए। इनके गोकुल आने और शिष्य होने के विषय में ऐसा प्रसिद्ध है†—

महाराणा जब दर्शनार्थ गोकुल गये, उन दिनों ग्रीष्म ऋतु थी। मथुरा-वृन्दावन आदि के प्रायः सभी मन्दिरों के पुजारियों ने उदयपुर-नरेश का आना सुनकर मन्दिरों को खूब सजाया, और ठाकुरजी को मखमल, ज़री आदि कीमती कपड़ों से सजाकर, बहुमूल्य आभरणों से ढककर अपने-अपने ठिकानों का वैभव प्रकट किया। रात्रि को मन्दिरों में रोशनी और उक्त प्रकार के ऋतुविरुद्ध साज-सामान एवं रंग-ढंग देखकर महाराणा की तबियत और भी घबड़ा गयी, उनके हृदय में इस आडम्बर से किसी प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। अन्त में जब वे गोकुल आये, तो उन्हें सर्वप्रथम द्वारकाधीश के दर्शन करने का सौभाग्य अधिगत हुआ। यहाँ उन्हें कुछ दूसरा ही ढंग दिखाई पड़ा।

द्वारकाधीश के दर्शन खुलते ही महाराणा को ग्रीष्म-ऋतु के अनुसार समस्त सेवा, साहित्य दिखाई पड़ा। ठाकुरजी को हलके, श्वेत वस्त्र और दो-तीन मोतियों की छोटी मालाएँ—विशेषतया फूलों के शृंगार धराए हुए थे। चन्दन, गुलाबजल आदि

* इनका जन्म सं० १६६४ भाद्र० शु० २ शुक्रवार, राज्याभिषेक सं० १६८४ फाल्गुन में और देवलोक सं० १७०९ कार्तिक कृ० ४ के दिन हुआ था। (वीर-विनोद ३१५)

† द्वा० प्रा० वार्ता (कांकरोली) पत्र ५४ में गिरिधरजी के पुत्र व्रजभूषणजी के समय इस प्रसंग का उल्लेख है, पर ताम्रपत्र और ऐतिहासिक समय से यह गिरिधरलालजी के समय का ही निश्चित होता है। क्योंकि सं० १७०९ में जगतसिंहजी का देवलोक हुआ और सं० १७१७ में व्रजभूषणजी दत्तक आए थे। महाराणा की गोकुल-यात्रा का समय अनुमान से सं० १७०४ से १७०८ के भीतर माना जा सकता है। इनकी इस यात्रा-प्रसंग में राजप्रशस्ति (सर्ग ५) में इस प्रकार उल्लेख है—

राज्य-प्राप्तेः समारभ्य तुलां रूपमयीं व्यधात्। प्रतिवर्षं जगत्सिंहो दानान्यन्यानि चातनोत् ॥ ३४ ॥
शते सप्तदशे पूर्णे चतुराख्येऽब्दके (१७०४) शुचौ। सूर्यग्रहे जगत्सिंहः संपुष्याऽमरकंटके ॥ ३५ ॥
विश्वचक्रं क्रमादस्मिन्वर्षे माता जगत्पतेः। श्रीमजम्बुवती बाई प्रतस्थे तीर्थ-हृष्टये ॥ ३८ ॥
कार्तिके मथुरा-यात्रां चक्रे गोकुल-दर्शनम्। श्रीगोवर्द्धन नाथस्य दीपावल्यन्न-कूटयोः ॥ ३९ ॥

शीतल उपचार, खस के भींजे हुए परदे, चलते हुए फुहारे और आडम्बर-रहित साधारण साज-सामान देखकर तथा ऋतु के अनुकूल अष्ट सखाओं के पद सुनकर महाराणा का निदाघ-तप्त मानस प्रशान्त हो गया। उन्हें यहाँ यह ज्ञात हुआ कि—वास्तव में भगवत्सेवा किस प्रकार होनी चाहिये। इस काल में जो वस्तुएँ मनुष्य को प्रिय नहीं जँचतीं, वे प्रभु की सेवा में किस प्रकार समर्पित की जा सकती हैं ? यह सोचकर महाराणा ने द्वारकाधीश के दर्शन कर जो आनन्द एवं भक्ति प्राप्त की वह एक प्रकार से अनिर्वचनीय थी। सेवा का अनवसर हो जाने पर महाराजश्री के पास राणाजी ने उपस्थित होकर दर्शन द्वारा प्राप्त अपना आन्तरिक सन्तोष अभिव्यक्त किया।

महाराणा के साथ प्रश्नोत्तर—साम्प्रदायिक सेवा-प्रणाली पर वार्तालाप होने पर महाराणा ने महाराजश्री से कई प्रश्न किये, और पुष्टिमार्ग के विषय में अपनी कुछ जिज्ञासा प्रकट की। अन्य साम्प्रदायिकों ने महाराणा को कुछ ऐसा जँचा दिया था कि--गोकुलिया गुसाईं अपनी ही बात को श्रेष्ठ और पुराण-प्रसिद्ध बातों को गौण बतलाया करते हैं। अतः महाराणा ने इसी प्रसंग में महाराजश्री से चार प्रश्न किए—
१—देवताओं में सबसे बड़ा देव कौन है ? २—तीर्थों में सबसे बड़ा तीर्थ कौन है ?
३—पर्वतों में सबसे बड़ा पर्वत कौन है ? ४—नदियों में सबसे बड़ी नदी कौन है ?

महाराजश्री ने महाराणा के इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया—
१—देवताओं में सबसे बड़े देव जगदीश हैं। २—तीर्थों में सबसे बड़ा तीर्थ पुष्कर है।
३—पर्वतों में सबसे बड़ा पर्वत हिमालय है। ४—नदियों में सबसे बड़ी नदी गंगाजी हैं।

महाराजश्री के इस प्रकार उत्तर देने पर महाराणा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने महाराजश्री से पूछा कि—आप अपने सम्प्रदाय की उन सर्वश्रेष्ठ चार वस्तुओं का नाम क्यों नहीं लेते, जो आपके यहाँ प्रसिद्ध और पूजनीय हैं ?

इस पर महाराजश्री ने पुनः कहा कि—हमारे सम्प्रदाय के अनुसार ही आपके प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया गया है। अब विशेषतया सुनिये—

१—श्रीनाथजी तो देवताधिदेव साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। आपने देवों में सबसे बड़े देव का नाम पूछा था, सो उसके अनुसार तो श्रीजगदीश ही सबसे बड़े देव हैं।

२—व्रजमंडल साक्षात् श्रीकृष्ण का लीलास्थल है। तीर्थों में सबसे बड़ा तीर्थ तो पुष्कर-क्षेत्र ही है।

३—गोवर्द्धन पर्वत-स्वरूप नहीं है, वह साक्षात् भगवत्स्वरूप है। पर्वतों में सबसे बड़ा पर्वत तो हिमालय ही है।

४—यमुनाजी भगवान् श्रीकृष्ण की चतुर्थ प्रिया हैं, वह नदी नहीं हैं। नदियों में सबसे बड़ी नदी तो गंगाजी ही हैं।

मेवाड़ में पुष्टिमार्ग का सूत्रपात—उदयपुर-नरेश इन शास्त्रीय एवं पुष्टिमार्ग के सिद्धांत के अनुरूप उत्तरों को सुनकर अतिशय प्रसन्न हुए और उनके हृदय में महाराजश्री के प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव ने स्थान जमा लिया। इसके अनन्तर अन्य आवश्यक प्रश्नों के द्वारा महाराणा ने सम्प्रदाय का रहस्य पूछा, जिन्हें सुनकर पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के प्रति उनकी बड़ी आस्तिकता हो गई। अन्त में महाराणा ने महाराजश्री से पुष्टिमार्गीय दीक्षा लेकर कंठी बँधवाई और द्वारकाधीशप्रभु के लिये आसोटिया-गाम भेट चढ़ाया *। इसके बाद गिरिराज जाकर श्रीनाथजी के दर्शन करने की सलाह देकर महाराजश्री ने महाराणा का योग्य आतिथ्य-सत्कार किया और उन्हें बिदा दी।

इस प्रकार इन महाराजश्री के प्रताप, बुद्धिवैशिष्य, तथाच गम्भीर साम्प्रदायिक ज्ञान के द्वारा ही मेवाड़ में पुष्टिसम्प्रदाय का प्रभाव जमा, और इसी के कारण आपत्ति के समय आगे चलकर सम्प्रदाय के दो प्रधान पीठों को सुरक्षापूर्ण आश्रय प्राप्त हो सका। सर्वप्रथम मेवाड़ में द्वारकाधीश के पधारने का सौकर्य हुआ, और इसी का लाभ उठाने के लिये श्रीनाथजी तथा विट्ठलनाथजी का भी प्रसंगोपात यहाँ आकर विराजना हुआ। इस विषय में इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि—यदि गिरिधरलालजी और जगतसिंहजी का इस प्रकार गुरु-शिष्य भाव स्थापित न होता, न तो श्रीद्वारकाधीश का और न श्रीनाथजी का ही मेवाड़ में पधारना होता। आज श्रीनाथजी के द्वारा मेवाड़ को जो गौरव प्राप्त है, उसका मूल कारण सम्प्रदाय का यह तृतीयपीठ ही है।

* ऐसा कथानक प्रचलित है कि—महाराजश्री आसोटिया-गाम में उत्पन्न धान्य गोकुल मँगवाकर द्वारकाधीश की सेवा में उपयोग करते थे। यद्यपि ऐसा करने में अधिक व्यय पड़ जाया करता था। किसी के पूछने पर महाराजश्री उत्तर दिया करते थे कि—राणाजी के समर्पित गाम का धान्य दैवी द्रव्य है, अतः वही साक्षात् श्री की सेवा में पहुँचना चाहिए।

आसोटिया का गाम गिरिधरलालजी की विद्यमानता तक भेंट रहा और बाद में खालसा हो गया। बृजभूषणजी के गोद आने पर सं० १७२१ में महाराणा राजसिंहजी ने उनके नाम फिर खुलासा कर दिया था। [देखो आगे ब्रजभूषणजी (प्र०) का चरित्र ताम्रपत्र नं० २]

व्रजभूषणजी का गोद आना—एकमात्र पुत्र द्वारकानाथजी के सर्वस्व त्यागकर (सं० १७१३ से १५ अनुमान) व्रज में एकांतवासार्थ चले जाने पर गिरिधरलालजी को अपने उत्तराधिकार के लिये नहीं, प्रत्युत द्वारकाधीश की अनुक्रमिक सेवा के लिये चिंता हुई। इनकी पत्नी का इस घटना के पूर्व ही वैकुण्ठवास हो गया था, अतः वृद्धावस्था समीप जानकर उन्होंने अपनी पुत्री श्रीगंगाबेटीजी से कहा कि—१२ वर्ष व्यतीत हो जाने पर शास्त्रानुसार द्वारकानाथजी की और्ध्वदैहिक क्रिया कर दी जावे।

द्वारकाधीश की यथावस्थित सेवा और बालकृष्णजी द्वारा संस्थापित तृतीय पीठ की परम्परा सर्वदा के लिये स्थापित रहे, एतदर्थ गिरिधरलालजी महाराज ने विचार किया, और बालकृष्णजो के तृतीय पुत्र व्रजभूषणजी के वंशज वल्लभात्मज व्रजभूषणजी को नियमानुसार दत्तक पुत्र बनाया, क्योंकि उस समय उन्हीं का इस घर पर अधिकार पहुँचता था, और बालकृष्णजी के द्वितीय पुत्र व्रजनाथजी का वंश समाप्त हो गया था। व्रजभूषणजी उपनाम प्राणवल्लभजी का जन्म सं० १७०० भाद्र० कृष्ण ९ के दिन हुआ था। इस समय उनकी १७ वर्ष की वय थी।

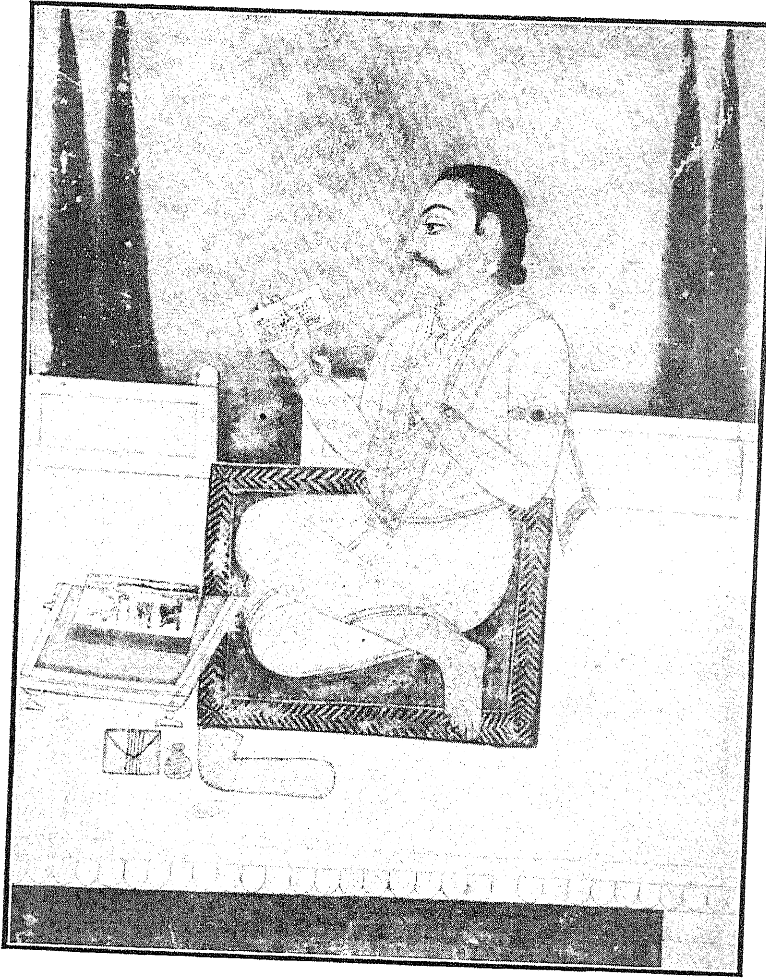
इसके अनन्तर गिरिधरलालजी ने सं० १७१७ भाद्र० शु० ८ के दिन दत्तक पत्र* तैयार किया और अपनी स्थावर-जंगम समस्त सम्पत्ति उनके नाम लिख दी, तथा व्रजभूषणजी की छोटी अवस्था होने के कारण श्रीद्वारकाधीश और सम्पत्ति की देखभाल के लिये पुत्री श्रीगंगाबेटीजी तथा पुत्रवधू श्रीजानकीबहूजी को उनका अभिभावक बना दिया।

नित्यलीला-प्रवेश—व्रजभूषणजी के गोद आ जाने बाद सं० १७१८-१९ के लगभग गिरिधरलालजी ने द्वारकाधीश की सेवा का भार व्रजभूषणजी, गंगाबेटीजी एवं जानकीबहूजी पर छोड़कर नित्यलीला में प्रवेश किया।

---

* दत्तक पत्र :— श्रीहरिः

"लिखितं गिरिधरलाल श्रीद्वारकेश्वर-सुत, आगे वल्लभ को बेटा हम गोद लियो, हम अपनी सेवा पुस्तक घर बिसाति बाग अरु जो कछु मेरे हुतौ सो लालव्रजभूषण को दीनों जो कोऊ यासौं दावा करे सो झूठो मैं अपनी खुस रजा सो दियो संवत् १७०७ भादों सुदि अष्टमी"। प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम भाग, पत्र ५२।



गो० श्रीव्रजभूषणजी महाराज
(आसोटियावारे)
जन्म सं० १६६६ भा० कृ० ६

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

पंचम-प्रकरण

(सं० १७१८ से सं० १८०३)

——:०:——

श्रीव्रजभूषणजी महाराज (प्र०)

प्रा० सं० १७००, ति० सं० १७१८, नि० सं० १७५८

——:०:——

श्रीव्रजभूषणजी महाराज का जन्म सं० १७०० भाद्रपद कृष्ण ९ को हुआ। *

जन्म, शिक्षा, संस्कार और गोद आना— इनका प्रथम नाम प्राणवल्लभजी था। यह तृतीय पीठ के संस्थापक बालकृष्णलालजी के तृतीय पुत्र व्रजभूषणजी के पौत्र श्रीवल्लभजी के औरस पुत्र थे। इनके भाई का नाम श्रीगोपालजी था।

सं० १७०८ में इनके पिता ने यज्ञोपवीत-संस्कार कराकर इन्हें अध्ययन में प्रवृत्त किया। इन्होंने अपनी कुशाग्रोपम प्रतिभा से थोड़े ही वर्षों में अच्छी विद्वत्ता प्राप्त करली, और शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के ग्रन्थों का आपादचूड परिशीलन कर युवावस्था में ही यह एक योग्य आचार्य कहलाने लगे।

श्रीबालकृष्णलालजी के पौत्र एवं द्वारिकेश्वरजी के पुत्र तृ० तिलकायित गिरिधरजी ने सं० १७१७ भाद्रपद शुक्ल ८ के दिन इनको दत्तक-पुत्र-रूप से स्वीकार किया। अतः उनके बाद सं० १७१८ के लगभग यह तृतीय पीठ के तिलकायित-आसन पर विराजमान हुए।

गिरिधरलालजी महाराज के नित्यलीलास्थ हो जाने पर श्रीगंगाबेटीजी तथा जानकी

व्रजरायजी का झगड़ा और फारिगख़ती— बहूजी के निरीक्षण में रहकर यह द्वारकाधीश की सेवा करने और अपना घर सँभालने लगे। बालकृष्णजी के घर का

* सं० १८५८ के पंचांग में इनके १४३ जन्म-वर्ष लिखे हैं, जिससे सं० १७१५ में जन्म-काल आता है। इनका जन्मलग्न-पत्र उपलब्ध नहीं होता।

अधिकार मिलने का समाचार सुनकर इनके दूर के काका श्रीव्रजरायजी* महाराज ने आपत्ति उठाई।

गिरिधरजी महाराज के गोलोकवास और व्रजभूषणजी के उत्तराधिकारी बनने के समय व्रजरायजी काशी में रहकर अध्ययन कर रहे थे। वे इस समाचार को सुनकर गोकुल आकर व्रजभूषणजी के अभिभावकों—गंगाबेटीजी तथा जानकी बहूजी—से मिले, और उत्तराधिकारियों में बड़े होने के कारण इस पीठ पर अपना अधिकार बतलाया। गंगाबेटीजी ने अपने पिताश्री का लिखा हुआ गोदनामा जाति के पंचों के सामने रक्खा, जिसके कारण व्रजरायजी को प्रत्यक्ष रूप में शान्त हो जाना पड़ा। तथापि उन्होंने गुप्त रूप से अपना अधिकार जमाने के लिये प्रयत्न और उपद्रव करने का निश्चय कर लिया। उनके इस प्रकार के मनोमालिन्य को देखकर गंगा-बेटीजी ने उन्हें समझाया, और कहा कि—अभी आप हमारे साथ रहकर श्रीप्रभु की सेवा करिये, जब व्रजभूषणजी वयस्क हो जायँ, तब उनसे इस विषय का विवाद उठाइये, हम स्त्रियों से लड़ने-झगड़ने में न तो आपकी शोभा है, और न कोई लाभ ही। इतना सब कुछ करने पर भी व्रजरायजी न माने और वे अपने अधिकार के लिये फ़रियाद करने बादशाह औरंगज़ेब के इजलास में आगरा जा पहुँचे †।

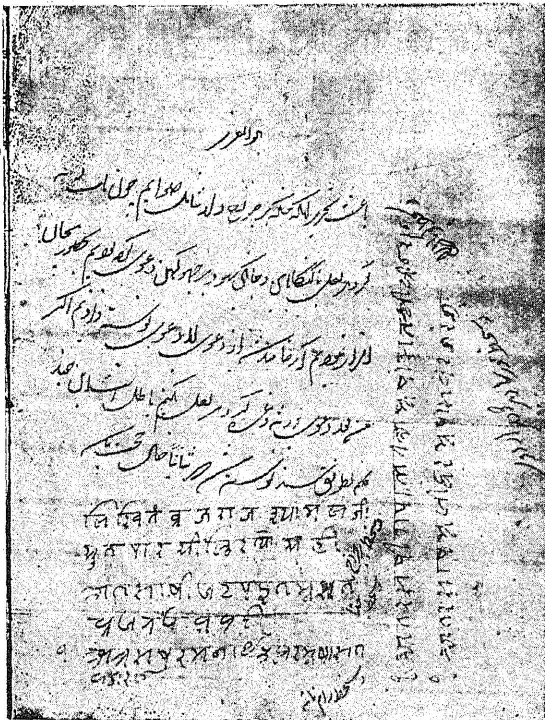
व्रजरायजी के आगरा पहुँचने का समाचार सुनकर गंगाबेटीजी भी ब्रजभूषणजी को लेकर वहीं जा पहुँचीं। सरकारी न्यायालय में विचार चलने पर दोनों पक्षों ने अपना २ दावा उपस्थित किया, पर कुछ दिनों के विवाद के अनन्तर व्रजरायजी को हार जाना पड़ा। उनके पक्ष को सिद्ध करनेवाला ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला, जिसके उस पर विचार

---

* ब्रजरायजी जन्म सं० १६८२ फाल्गुन कृ० २ माना जाता है। यह बालकृष्णलालजी के चतुर्थ पुत्र पीताम्बरजी के पौत्र और श्यामलजी महाराज के पुत्र थे। इस हिसाब से यह ब्रजभूषणजी के काका लगते थे।

† औरंगजेब सं० १७१५ में राजसिंहासन पर बैठा था, अतः अभी तक उसने पूर्ण रूप से अपने इस्लामी कट्टरपन का परिचय नहीं दिया था। मूर्तियों के तोड़ने और तीर्थस्थलों को नष्ट-भ्रष्ट करने का कानून उसने सं० १७२६ के लगभग प्रचलित किया। अतः इस समय (सं० १७१६ में) ब्रजरायजी को अपना हक साबित करने के लिये एक सहारा था।

किया जा सकता। विवश होकर अन्त में व्रजरायजी को व्रजभूषणजी के प्रति फारिगख़ती लिख देनी पड़ी, जो इस प्रकार थी—



"बाइस तेहरिआँ के मन कि व्रजराज वल्द श्यामल...चूँ बाबत विरसा गिरिधरलाल, गंगाबाई व जानकी बहू व व्रजभूषण दावी......बहजूर......इकरार नमूदेय...के रज़ामन्द अज़-दावा ला दावी नविश्ता...अकबर मिनबाद दावा विरसाय वग़ैरा गिरिधरलाल व कूनम बातिलस्त......

लिखितं व्रजराज श्यामलजी सुत पारसी लिख्यो सही।

अत साखी जट पइतम्न सत व्रजराज व वदी।

अत्र सख रमनाथ क व्रभूषण व्रजराज।

१ अतर सखी गपालराअ मूखासत श्रीव्रीजराज।

१ अतर साख मूलीधर भूखास व्रजराज।"*

मंदिर पर डाका—आगरे से मुक़दमा जीत आने पर गंगाबेटीजी तथा व्रजभूषणजी गोकुल आकर निश्चिन्त होकर रहने और आनन्द से द्वारकाधीश की सेवा करने लगे। परन्तु व्रजरायजी कब शान्त बैठनेवाले थे? उन्होंने फिर भी उपद्रव करने का विचार पक्का कर लिया।

एक दिन रात्रि में शयन हो जाने पर गोकुल में द्वारकाधीश के मन्दिर पर डाका पड़ा। किसी प्रकार की आङ्का न होने से सब लोग बेखबर सो रहे थे। फिर भी हो-हल्ला मचने पर कुछ आदमियों ने डाकुओं का मुकाबिला किया, पर सौ-डेढ़ सौ

* जहाँ......ऐसी जगह छोड़ी गई है, वहाँके शब्द पढ़े नहीं जा सके।

शस्त्रधारियों के सामने किसकी शक्ति थी, जो उनका प्रतिरोध करता। देखते २ द्वारकाधीश, बालकृष्णजी और महाप्रभुजी की चरण-पादुकाओं के साथ मन्दिर की अधिकांश सम्पत्ति लूट-खसोटकर डाकुओं के द्वारा रातोंरात न जाने कहाँ पहुँचा दी गई। प्रातःकाल पता लगाने पर कुछ ऐसा अनुसन्धान मिला कि—यह सब उपद्रव व्रजरायजी का किया हुआ था, और उनके साथ महावन के कुछ लठैत ब्राह्मण थे*। श्रीद्वारकाधीश के पधार जाने से विरह के कारण गंगाबेटीजी आदि को बड़ा पश्चाताप हुआ, और उन्होंने अन्न लेना छोड़ दिया। गुप्तचरों के द्वारा एक-दो दिन में समाचार आने पर विदित हुआ कि—व्रजरायजी द्वारकाधीश प्रभु को लेकर आगरा जा पहुँचे हैं, और वहां उन्होंने अपना मुकाम जमा लिया है।

अपनी खोई हुई निधि 'श्रीद्वारकाधीश' को प्राप्त करने के लिये गंगाबेटीजी आदि पुनः आगरा गये, और वहां पहुँचकर उन्होंने बादशाह की बेगम से मिलकर अपनी सारी विपत्ति कह सुनाई तथा राजकीय प्रबन्ध से शीघ्र ही ठाकुरजी के मिल जाने की विनय की।

सम्भवतः इन दिनों बादशाह का मुकाम कहीं बाहर था, फिर भी बेगम की कहा-सुनी और डाट-फटकार से गंगाबेटीजी का काम निकल गया। उन्हें शीघ्र ही द्वारकाधीश प्रभु और उनके साथ गई हुई बहुत कुछ सम्पत्ति प्राप्त हो गई। जिसे लेकर वे वापिस गोकुल आईं।

पाटोत्सव और अहमदाबाद पधारना—

सं० १७२० आषाढ़ शु० ५ के दिन गोकुल के मन्दिर में पुनः पधारने के कारण श्रीद्वारकाधीश का पाटोत्सव मनाया गया, और तबसे प्रति वर्ष इस पाटोत्सव के मनाने की प्रथा प्रचलित हुई।

यद्यपि अब गोकुल में प्रभु की सेवा-अर्चना यथावस्थित होने लगी थी, फिर भी गंगाबेटीजी तथा व्रजभूषणजी के मन में यह शंका रहने लगी कि—न जाने व्रजरायजी कब किस प्रकार का बखेड़ा कर दें। अन्त में उन्होंने विश्वासपात्र कर्मचारियों की सलाह से द्वारकाधीश को किसी अज्ञात एवंसुरक्षित स्थान में ले चलने का विचार किया। एक दिन सब प्रकार की तैयारी हो जाने पर व्रजभूषणजी अपने परिकर

* सं० कल्पद्रुम-पत्र १२४

के संग द्वारकाधीश प्रभु और आवश्यक सम्पत्ति लेकर गोकुल से रवाना हो गये।

उस समय गुजरात में इस घर के सेवक कई धनी-मानी सेठ-साहूकार रहा करते थे। इन लोगों की इस यात्रा के समय व्रजरायजी बादशाह औरंगज़ेब की परिचर्या में रहकर उसकी प्रसन्नता प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। आपसी मेल-जोल बढ़ाकर बहुत कुछ यत्न के बाद उन्होंने अन्त में उसकी हाजिरी में रहने का मौका हासिल कर लिया। अब इसके द्वारा वे अपना मतलब सिद्ध करने की चेष्टा करने लगे।

सं० १७२० के अन्त में व्रजभूषणजी महाराज अपने परिकर के साथ कुछ दिनों में गोकुल से चलकर राजनगर (सम्प्रदाय में अहमदाबाद को राजनगर कहते हैं) जा पहुँचे, और वहाँ एक सेठ के मकान में* गुप्तरूप से रहकर ठाकुरजी की सेवा करने लगे †।

आसोटिया (मेवाड़) का ख़ुलासा होना

सं० १७२१ में उदयपुर के महाराणा राजसिंहजी के साथ लिखा पढ़ी होने पर उन्होंने आसोटिया नामक मेवाड़ का ग्राम व्रजभूषणजी (प्रथम नाम प्राणवल्लभजी) के नाम ख़ुलासा कर दिया। जो महाराज श्रीगिरिधरलालजी के दिवंगत हो जाने पर औरस पुत्र के आभाव में राज्यनियमानुसार खालसा कर लिया गया था। महाराणा ने महाराजश्री की सूचना पर उसका नवीन रूप में ताम्रपत्र इस प्रकार कर दिया—

श्रीरामो जयति

श्रीगणेश प्रसादात् श्रीएकलिङ्ग प्रसादात्

(भाला का चिह्न)

सही

"महाराजाधिराज महाराणा श्रीराजसिंहजी आदेशात् गुसाईं प्राणवल्लभजीकस्य गाम १ आसोट्यो पडगडे मोही रे गुसाईं

* यह मकान सम्प्रति रायपुर चकला-नामक मुहल्ला में श्रीद्वारकाधीश के मन्दिर के नाम से प्रख्यात है। इसके जिस गर्भ-गृह में प्रभु का विराजना हुआ उसका चित्र प्र० भाग में दिया गया है।

† गुप्त रीति से रहने का एक उद्देश्य था, और वह था औरंगज़ेब का काला क़ानून। प्रस्तुत समय का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि—"बादशाह बनने से पूर्व ही जब वह (औरंगज़ेब) गुजरात का वायसराय था, तब उसने मन्दिरों का गिराना आरम्भ कर दिया था। सं० १७२२ (सन् १६६५) में उसने फ़रमान निकाला कि—अहमदाबाद और उसके आस-पास के परगनों में मैंने बहुत से मन्दिर गिरवा दिये थे, उनकी मरम्मत करा दी गई है, और मूर्ति-पूजा आरम्भ हो गई है। अब फिर मन्दिरों को गिरवा दो।" (मुग़ल-साम्राज्य का क्षय और उसके कारण)

गिरिधरलालजी रे थो सु श्रीरामकया पाछै कोई नहीं तीथी खालसे हुवो थो सु गुसाईं प्राणवल्लभजी खोले लीना सु ग्राम आसोट्या गुसाईं प्राणवल्लभजी ह उदक आघाट करे श्रीरामा अरपण कीधो दुए श्रीमुख प्रत दुए प्रोहीत गरीबदास लीखतां पञ्चोली चत्रभुज राघोदासोत स्वदत्तां परदत्तां वा ये हरन्ति वसुन्धरां षष्ठिवर्ष सहस्राणि विष्टायां जायते क्रमिः सम्वत् १७२१ वर्ष मागसर बदी ३० सोमे" (ता० प० नं० २)

प्रस्तुत विषय में ऐसा अनुमान होता है कि—व्रजभूषणजी महाराज गोकुल से अहमदाबाद जाते समय अथवा वहाँ से आकर महाराणा राजसिंहजी से मिले, और उनसे भूतपूर्व महाराणा जगत्सिंहजी के शिष्य होने का हाल कहा हो। इसके साथ व्रजरायजी के उपद्रव के कारण गोकुल छोड़ने, और आसोटिया के पुनः खुलासा होने की भी बात कही गई होगी।

इतिहास (वीर-विनोद) के देखने से पता लगता है कि—सं० १७१८ में मेवाड़ में भारी दुष्काल पड़ा था, जिसका असर लगातार ४, ५ वर्ष तक बना रहा। सम्भव है, इसी कारण इस समय मेवाड़ में द्वारकाधीश के पधराने का विचार स्थगित करना पड़ा हो। फिर भी जैसा कि—आगे कहा जायगा, आसोटिया के खुलासा हो जाने पर वहाँ मन्दिर और बावडी * बनवाने का काम तो महाराणा की इच्छानुसार शुरू करवा ही दिया गया था। जैसा अगले वृत्तान्त से ज्ञात होगा, रायसागर (राजसमुद्र) का भी काम इन दिनों चालू हो गया था।

सं० १७२२ माघ बदी ९ के दिन बावडी का मुहूर्त किया गया ; और सम्भवतः इसी समय आसोटिया के मन्दिर का बनना भी शुरू हो गया† । उक्त आसोटिया

* आसोटिया में द्वारकाधीश का एक प्राचीन मन्दिर था जो अब भग्नावशेष-रूप में पड़ा है, क्योंकि यहाँ के दरवाज़े, तिवारी और महराबें निकालकर कांकरोली के वर्तमान मन्दिर में लगाई गई थीं। जिसका प्रसङ्गोपात वर्णन अगले प्रकरण में किया जायगा।

† सलावट..........

श्रीनाथजी श्रीद्वारकानाथजी.....................
संवत् १७२२ बरषे महाबदी ९ मूरत कीधों

गाम महाराजश्री को भेंट तो हो ही चुका था, अतः मन्दिर आदि के बन जाने पर द्वारकाधीश को मेवाड़ में पधरा लाने का विचार कर महाराजश्री वापिस अहमदाबाद चले गये ।

महाराणा राजसिंहजी—महाराणा राजसिंहजी का जन्म सं० १६८६ कार्तिक कृ० २ को हुआ था । यह जगत्सिंहजी के बाद सं० १७०९ कार्तिक कृ० ४ के दिन राज्य-सिंहासन पर आसीन हुए, और इसी वर्ष इन्होंने एकलिङ्गजी में रत्नों का तुलादान कर फाल्गुन कृष्ण २ के दिन अपना राज्याभिषेकोत्सव किया । बादशाह शाहजहाँ और उसके बाद गद्दी पर बैठते समय औरंगज़ेब ने भी महाराणा का राजकीय सम्मान किया और उनके साथ मित्रता स्थापित की । पर औरंगज़ेब का यह व्यवहार कुछ समय तक ही चालू रहा ।

किशनगढ़ के राजा मानसिंहजी की बहिन चारुमती के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर औरंगज़ेब उससे विवाह करना चाहता था, पर चारुमती की प्रार्थना पर महाराणा ने सं० १७१७ में उससे विवाह कर लिया । इस पर औरंगज़ेब की महाराणा के साथ खटक गई । आगे चलकर यह विरोध तब और भी बढ़ गया, जब औरंगज़ेब ने हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट करना और हिन्दू-जनता पर जज़िया नामक कर लगाना प्रारम्भ कर दिया था । अन्त में सं० १७३६ में महाराणा के साथ बादशाह की लड़ाई हुई, जिसमें बादशाह को हार जाना पड़ा ।

महाराणा ने सं० १७१६ में देवारी के घाटे का कोट और सं० १७२१ में उदय-पुर में अम्बामाता का मन्दिर बन जाने के बाद सं० १७२५ में रङ्गसागर तालाब, जो पीछे से 'पिछोला' झील में मिला दिया गया है, बनवाकर रायसागर के पास ही पहाड़ी पर महल और कांकरोली की पहाड़ी पर द्वारकाधीश का मन्दिर बनवाना

रुपाइआ ५०० लागा धणी श्रीगुसाईं श्री-
गिरिधरलालजी श्रीव्रजभूषणजी साहा हंसराज
बँधाई सेहणो गंगादास लछीराम

यह शिलालेख आसोटिया की बावडी पर लगा है । इसमें मेवाड़ी प्रथा के अनुसार पहले पिता का और बाद में पुत्र का नाम लिखा है, जहाँ बिंदी लगी हैं, वहाँ पत्थर घिस जाने से पढ़ा नहीं जा सका ।

प्रारम्भ किया*, और नौचोकी नामक बाँध के पास ही राजनगर नामक क़स्बा बसाया। महाराणा के अपने शिल्प-सम्बन्धी कार्यों में सबसे बड़ा पुण्य-कार्य राज-समुद्र तालाब का निर्माण है। सं० १७१८ से प्रारम्भ होकर सं० १७३२ में बनकर यह तैयार हुआ था†।

यह महाराणा निर्भीक, तेजस्वी, नीति-निपुण, प्रजा-पालक शासक होने के साथ ही उद्भट योद्धा एवंच साहित्य-प्रेमी और दानी पुरुष था। महाराणा एक प्रकार से चतुर्विध वीर कहे जा सकते हैं। पूर्ण धर्मात्मा तथा हिन्दुत्व के कट्टर पक्षपाती होने के कारण ये श्रीनाथजी को मेवाड़ में पधरा कर औरंगज़ेब-जैसे कट्टर मुसलमान बादशाह से भी लोहा लेने को तैयार हो गये थे। सं० १७३७ का० शुक्ल १० को महाराणा का कैलासवास हो गया‡।

व्रजरायजी का पुनः प्रयत्न—द्वारकाधीश के गोकुल से अन्यत्र चले जाने का समाचार जब व्रजरायजी को आगरा में मिला तो उन्हें बड़ा परिताप हुआ। कुछ दिनों बाद उन्होंने यह पता लगा लिया कि—व्रजभूषणजी अपनी सम्पत्ति तथा ठाकुरजी को लेकर अहमदाबाद पहुँच गये हैं। किसी बलवती शक्ति का सहारा लिये बिना

* पूर्णे शते सप्तदशेऽथ वर्षे चकार षड्विंशति नाम्नि राधे (सं० १७२६) सित त्रयोदश्यभिधेऽह्नि सेतोर्नृपो मुहूर्ते पुरि कांकरोल्याम् ॥ १० ॥ (राजप्रशस्ति सर्ग १०)

† इसका विशद वर्णन आगे कांकरोली के प्रकरण में किया जायगा।

‡ महाराणा के शोक में 'महीपति' पांडे नामक एक कवि के कुछ कवित्त.........

तोर्‌यो रजपूती, तेग उठ्यो नाथ-साथ, बल बिक्रम पयान तब ते ही करि दयो है ;
मिट्यो तेज, त्याग घट्यो, रुजक सिपाहिन को, कबिन को सरबस काहू हरि लयो है।
सत्रुन के सोक, खुट्यो धरम को थोक जग, दुसह कुटुम्बिन के दिल दुख भयो है ;
राना राजसिंहजी के गये सुरलोक मानौ पुहुमी ते सूरज प्रताप मिटि गयो है॥ १॥
पाप प्रफुलित भयो, सोग के दुचन्द चैन, कलि के भवन मोद बिहसत बद्दी है ;
डर भौ निडर, भेद बृन्दन के अहलाद, फिकर बिलन्द भई चाह चौक हद्दी है।
लोभ अरु तिस्ना तसकर करै कौतुक कों, झूठ उमड़त मानो भादौं केसि नद्दी है ;
राना राजसिंह के सिधारत ही देवलोक दारिद हरषि बैठ्यो मसनद गद्दी है॥ २॥

(सरस्वती भंडार के संग्रह से)

कवि महीपति पांडे महाराजव्रजभूषणजी के पास भी कुछ समय आकर रहा था। इसके यह कवित्त अन्यत्र अप्राप्त हैं। मि. ब. विनोद में इसका रचना-काल सं० १७१७ और इसे मराठी का प्रसिद्ध कवि बतलाया गया है।

अपना अधिकार नहीं जम सकता। यह सोचकर कर्मचारियों को मिलाकर व्रजरायजी बादशाह औरंगज़ेब के पास हाज़िरी देने लगे। अक्सर शिकार के समय वे बादशाह का बाज़ अपने पास रक्खा करते थे*।

बादशाह की हाज़िरी साधना—एक समय का प्रसंग है—औरंगज़ेब शिकार खेलने के लिये किसी घोर जंगल में एक हिरण के पीछे सरपट घोड़ा दौड़ाये चला जा रहा था। संयोगवश उसके साथी पीछे पड़कर रास्ता भूल गये, और बादशाह भी कहीं अन्यत्र जा निकला। ग्रीष्म के आधिक्य और शिकार के हाथ न लगने से वह अत्यन्त थक गया था, उसे ज़ोर से प्यास लग रही थी। एक वृक्ष की छाया में खड़े होकर उसने ज्यों ही पीछे मुड़कर देखा तो दूर पर एक अश्वारोही समीप आता हुआ दिखाई पड़ा। थोड़े ही समय में घोड़े से उतरकर उसने बादशाह के समीप आकर सलाम की, और अपने घोड़े की ज़ीन से एक आसन निकालकर बादशाह के लिये बिछा दी। बादशाह ने बैठते ही सवार से पीने के लिये पानी माँगा। उस निर्जन वन में जल का कहाँ पता था? पर तुरन्त ही उस सवार ने अपनी चाँदी की सुराही से सुवासित ठण्डा जल निकाला और एक गिलास भरकर बादशाह को पीने के लिये दिया। जल पी चुकने पर बादशाह ने प्रकृतिस्थ होकर सवार पर एक नज़र डाली, और इस हाज़िरी पर उसने इनाम देने की इच्छा व्यक्त कर उसका परिचय पूँछा।

उस समय व्रजरायजी ने नम्रतापूर्वक अपना परिचय देते हुए द्वारकाधीश पर अपना हक़ बतलाया और इनाम में उनके मिलने की प्रार्थना की। बादशाह को आगरा में किए हुए अपने फ़ैसले का ध्यान था, अतः उसने इस विषय में ग़ैर-इन्साफ़ी करने से निषेध करते हुए व्रजरायजी को कुछ दूसरी इनाम माँगने का अवसर दिया।

इस पर व्रजरायजी ने विनय की कि—मुझे तो देव से काम है। यदि हुज़ूर बड़े देव (द्वारकाधीश) मुझे नहीं दिलाना चाहते हैं, तो उनके पास के छोटे देव (बालकृष्णजी) ही दिलवाने की मेहरबानी करें। इस समय व्रजभूषणजी अपने परिवार के साथ गोकुल से अहमदाबाद की ओर भाग गये हैं, इसलिये वहाँ के हाकिम के नाम आज्ञा-पत्र मिलना चाहिए। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

इतना कहकर व्रजरायजी चुप हो गये।

---

* साह हुक्म पालत जु इत श्रीव्रजराज सुजान।
बाज उठायहु वर्ष लों नृपति ? छोड़ कुल-कानि ॥ ८२ ॥ सं० कल्प० पत्र १२४ ॥

आलमगीर व्रजरायजी की सामयिक सेवा पर सन्तुष्ट हो गया था, अतः उसने इसके लिये वचन दे दिया। थोड़ी देर बाद अन्य साथियों के आ जाने पर बादशाह अपने मुक़ाम पर पहुँचा, और कुछ दिनों बाद उसने अहमदाबाद के शासक के नाम हुक्म लिखवा दिया कि—गुजरात में जहाँ कहीं हों, पता लगाकर व्रजभूषणजी के पास के छोटे ठाकुर 'बालकृष्णजी' व्रजरायजी को दिलवा दिये जावें*।

इस प्रकार व्रजरायजी ने अपनी नीति-कुशलता से सं० १७२५ के लगभग कुछ न कुछ अपना अधिकार प्राप्त करने का सौभाग्य अधिगत कर लिया, और बादशाही हुक्म पाकर वह गुजरात जाने का प्रबन्ध करने लगे।

श्रीनाथजी का गिरिराज से पधारना—संवत् १७२२-२३ में औरंगज़ेब ने अपनी शासन-नीति का परिवर्तन कर दिया था। अब उसने हिन्दुत्व के नाश के लिये तीर्थों और प्रसिद्ध देव-मन्दिरों के विध्वंस के लिये आदेश जारी कर दिया। इस प्रकार उसने इतने दिनों से सुदृढ साम्राज्य की नींव खोखली करने का स्वयं आयोजन शुरू किया। बादशाह के आदेश पर मर-मिटनेवाली भारतीय जनता में अब उसके प्रति विद्रोही भाव उत्पन्न होने लगे।

इस काले क़ानून का प्रभाव गिरिराज भी पहुँचा, और श्रीनाथजी के तिलकायित पर कुछ दैवी चमत्कार दिखलाने का ज़ोर डाला जाने लगा। इस पर अन्त में यवनों के प्राबल्य से विवश होकर वहाँ के बालतिलकायित श्रीदामोदरजी महाराज तथा उनके काका श्रीगोविन्दजी महाराज को वहाँ से श्रीनाथजी के स्वरूप को पधराकर कहीं अन्यत्र चले जाने को बाध्य होना पड़ा।

सं० १७२६ आश्विन पूर्णिमा के दिन श्रीनाथजी को गिरिराज से पधराकर गोविन्दरायजी सपरिकर गुप्त रूप से आगरा जा पहुँचे, और वहाँ उन्होंने अन्नकूट का उत्सव किया। इसके बाद राजपूताना के किसी राजा के आश्रय में जाकर रहने का विचार कर वे का० शुक्ल २ को वहाँ से रवाना हुए और सं० १७२६ के मध्य में हाडोती (कोटा) राज्य में जा पहुँचे। वहाँ कुछ महीने रहकर कृष्णगढ़ और जोधपुर राज्य में (चापासेनी) होते हुए, उस समय मेवाड़ में महाराणा के पास आये, जब उक्त राज्यों के राजाओं ने बादशाह के भय से उन्हें अभयदान का वचन नहीं दिया था।

महाराणा राजसिंह के द्वारा रक्षा का वचन पाकर तिलकायित दामोदरजी के

* द्वा० प्रा० वार्ता (कांकरोली) पत्र ६०।

काका गोविन्दजी महाराज आसोटिया में द्वारकाधीश के चरणस्पर्श, सेवा कर वापिस चापासेनी पहुँचे, और सं० १७२८ का० शु० १५ को वहाँ से श्रीनाथजी को पधराकर फाल्गुन में मेवाड़ के सिंहाड नामक स्थान में आये। फाल्गुन कृ० ७ शनिवार को यहाँ श्रीनाथजी का पाटोत्सव मनाया गया, और नाथद्वारा बसना प्रारंभ हुआ।

व्रजरायजी का अहमदाबाद पहुँचना—इन्हीं दिनों व्रजरायजी भी द्वारकाधीश के अन्वेषण के लिये आगरा से चलकर अपने परिवार-सहित गुजरात की तरफ़ रवाना हुए, और कुछ समय बाद वे उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ श्रीनाथजी का मुक़ाम था। बादशाह की कृपापात्रता के दबदबे से व्रजरायजी ने गोविन्दरायजी को भयभीत कर धनुर्मास (मार्गशीर्ष-पौष) के २८ दिनों तक श्रीनाथजी की सेवा की। इस समय गोविन्द-रायजी भी उनके आतङ्क में आकर चुपचाप रह गये।

अहमदाबाद जाते हुए बीच में इतने दिन श्रीनाथजी की सेवा करने का व्रजरायजी का एक प्रच्छन्न प्रयोजन भी था। वे सेवा में घुसकर यह पता लगाना चाहते थे कि—कहीं इनके साथ गुप्त रूप से द्वारकाधीश तो नहीं आ मिले हैं। अस्तु, इस अवधि के बाद व्रजरायजी वहाँ से आगे के लिए रवाना हो गये।

सं० १७२६ के अन्त में व्रजरायजी अहमदाबाद पहुँचे, और वहाँ के सूबेदार महाबतखाँ से मिलकर उन्होंने अपना पक्ष प्रबल कर लिया *। अब वे चुपचाप द्वारकाधीश के रहने का स्थान ढूँढने लगे।

मंदिर पर धावा और बालकृष्णजी को सूरत ले जाना—श्रीद्वारकाधीश उस समय अहमदाबाद में गुप्त रूप से विराजते थे, जिसका पता लगना मुश्किल था। बहुत कुछ प्रयत्न कर व्रजरायजी ने एक पानवाले को लालच देकर

* इस समय अहमदाबाद गुजरात की स्वतन्त्र मुसलमानी बादशाहत से निकलकर अकबर के समय (सं० १६२६-३०) से ही मुग़लों की अधीनता में आ गया था। तब से वहाँ एक सूबेदार रहकर शासन का प्रबंध करता था। गुजरात का सूबा औरंगज़ेब ने दारा के साथ की लड़ाई के अनन्तर जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह के नाम कर दिया था। इनका जन्म सं० १६८३ माघ बदी ४ के दिन बुरहानपुर में हुआ, और वह १२ वर्ष की वय में राज्यसिंहासन पर बैठे थे।

सं० १७१५ (चैत्रादि १६) चैत्र सुदी ६ के दिन शाही फ़रमान पाकर वैशाख सुदी ४ के दिन महाराजा ने अहमदाबाद जाकर प्रबन्ध अपने हाथ में लिया, और योग्यता से कार्य किया। तीन वर्ष बाद (सं० १७१६-२०) में उनको हटाकर महाबतखाँ को गुजरात का सूबेदार नियत किया गया। (जोधपुर का इति० पत्र ४४८-५०)

उनके स्थान का पता लगाया और वे सेना-बल लेकर प्रातःकाल मन्दिर पर जा चढ़े। जिस समय व्रजरायजी द्वारकाधीश के मन्दिर में पहुँचे, उस समय 'बालकृष्णजी' ठाकुरजी को जानकी बहूजी, गंगाबेटीजी और व्रजभूषणजी पालना झुला रहे थे। व्रजरायजी ने मन्दिर के चारों ओर सिपाही खड़े कर दिये, और वे बिना किसी प्रकार की सूचना दिये ही मन्दिर में घुस गये। जाते ही उन्होंने पालना में से बालकृष्णजी को उठा लिया। चारों ओर हो हल्ला मचा, पर आसपास के सिपाहियों की धमकी ने मन्दिर के कर्मचारियों को चुपचाप कर दिया।

झूलते हुए ठाकुरजी को उठाते देखकर गंगाबेटीजी ने क्रोध में आकर व्रजरायजी को उसी समय शाप दिया कि—पालना में से झूलते हुए ठाकुरजी को उठाने के कारण तुम्हारे यहाँ पालना नहीं झूलेगा (वंश नहीं चलेगा)। व्रजरायजी बिना कुछ कहे सुने ही वहाँ से अपना जाब्ता लेकर शीघ्र ही रवाना हो गये, और व्रजभूषणजी तथा उनके अभिभावक विशेष उपद्रव उठ खड़े होने की आशङ्का से चुप होकर बैठे रह गये। उन्होंने द्वारकाधीश को ही सुरक्षित समझकर अपना अहोभाग्य समझा।

व्रजरायजी अहमदाबाद में कुछ समय रहकर सं १७२७ में सूरत चले गये, और वहाँ मन्दिर बनवाकर रहने लगे। सूरत पर सं० १६७२ से ही अंग्रेजों का पूर्णतया अधिकार हो गया था। यद्यपि सं० १७२१ और १७३१ में शिवाजी महाराज ने सूरत को लूटा था, पर उनके द्वारा हिन्दू-मन्दिरों और उनकी सम्पत्ति को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँची थी। अतः व्रजरायजी को मुसलमानी राज्य के अतिरिक्त राज्य में रहकर निश्चिन्तता से अपने ठिकाने को सँभालने का अच्छा अवसर मिला। उसी समय से द्वारकाधीश के पास के ठाकुर बालकृष्णजी का छठा पीठ सूरत में प्रतिष्ठित हो गया, जो अद्यावधि वहीं विद्यमान है*।

मेवाड़ में आने का विचार—इस उपद्रव के कारण व्रजभूषणजी आदि को अपने अधिकार की रक्षा के लिये विचार होने लगा। मुग़ल-राज्य में न जाने कब, कौन आपत्ति आ खड़ी हो? यह एक विचारणीय विषय था। उन दिनों वह बादशाही

* इस समय सूरत के बालकृष्णजी, शेरगढ़वाले (सम्प्रति बड़ौदास्थ) कल्याणरायजी और काशी के मुकुन्दरायजी, इन तीनों का छट्ठे घर के लिये विवाद है, पर ठाकुरजी के हिसाब से सूरत, बड़े पुत्र के हिसाब से कल्याणरायजीवाले और बाद में प्रदत्त सम्मान के अनुसार काशीवाले तिलकायित कहे जाते हैं, जो एक विषम पहेली है।

क़ानून सर्वत्र लागू होता चला जाता था, और यवन-शासक उस हुक्म की आड़ में अपनी मनमानी करने पर भी उतारू हो गये थे। इसी समय अहमदाबाद में भी 'चिंता-मणि' नाम का एक प्रसिद्ध मंदिर तोड़कर नेस्तनाबूद कर दिया गया और आस-पास के अन्य कई प्राचीन देव-मंदिर भी इसी सिलसिले में तोड़-फोड़ डाले गये थे।

व्रजरायजी के सतत उपद्रव करते रहने की आशंका से व्रजभूषणजी को अहमदा-बाद से हटकर कहीं ऐसे स्थान पर चले जाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जहाँ धर्म की रक्षा हो सके, और मुगलशासन का प्रभाव न पड़ता हो। अन्यथा फिर कभी बादशाही सहायता पाकर व्रजरायजी के आकर झगड़ा मचाने की संभावना थी।

उस समय इस प्रकार का राज्य एक मेवाड़ ही था, जो भारतीय संस्कृति की सर्वविध रक्षा के लिये बड़े से बड़ा त्याग करने को कटिबद्ध था। व्रजभूषणजी महाराज ने महाराणा राजसिंहजी के पास प्रतिष्ठित व्यक्ति के साथ एक पत्र भेजा और समस्त वृत्तान्त विदित कराया।

मेवाड़ में द्वारकाधीश का पधारना—उदयपुर-नरेश ने इस प्रस्ताव का स्वागत करते हुए द्वारकाधीश को अपने राज्य में आकर विराजने के विषय में अपना अहोभाग्य प्रदर्शित किया, और अपनी स्वीकृति का पत्र भेज दिया। महाराणा की स्वीकृति आजाने पर व्रजभूषणजी महाराज ने स्थायी रूप से मेवाड़ में ही द्वारकाधीश के विराजने और तृतीय पीठ की गद्दी स्थापित करने का निश्चय किया।

सं० १७२६ के अन्तिम मास में अहमदाबाद से मुक़ाम उठा और मेवाड़ के लिये द्वारका धीश पधारे। मार्ग में प्रातःकाल से मध्याह्न तक शयन-पर्यन्त प्रभु की सेवा और बाद में यात्रा प्रारम्भ होती थी। आवश्यक सुरक्षा के साथ कुछ समय बाद व्रजभूषणजी महाराज सपरिकर श्रीप्रभु के साथ मेवाड़ की सीमा में आ पहुँचे, जहाँ महाराणा ने अपने भाई-बन्धु तथा लवाजमा के साथ उपस्थित होकर स्वागत किया, और मेवाड़ में पधारने की प्रार्थना की*।

* श्रीद्वारकाधीश के मेवाड़ पधारने के विषय में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ म० म० पं० गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा ने उदयपुर के इतिहास में इस प्रकार लिखा है—

"अब वल्लभ सम्प्रदाय की मुख्य मूर्तियों के तोड़ने का समय आया, औरङ्गज़ेब ने इन मूर्तियों के तोड़ने की आज्ञा दी, तब द्वारकाधीश की मूर्ति मेवाड़ में लाई गई और कांकरोली में उसकी प्रतिष्ठा कराई गई। गोवर्द्धन में श्रीनाथजी की मूर्ति के गुसाइं उसे लेकर बूँदी, कोटा, पुष्कर, किशनगढ़ तथा जोधपुर

सादड़ी में निवास—मेवाड़ की सीमा में आने के बाद सं० १७२७ चैत्र शु० १ को सर्वप्रथम द्वारकाधीश का मुक़ाम 'सादड़ी'-नामक गाँव में हुआ। यहाँ के सरदार राजराणा सुलतानसिंहजी (द्वि०) ने अगवानी कर बड़े साज और उत्साह से प्रभु को अपने

गये, परन्तु औरङ्गज़ेब के भय से किसी भी राजा ने उसे अपने राज्य में रखना स्वीकार नहीं किया। फिर वह मूर्ति मेवाड़ में लाई गई और सिंहाड (नाथद्वारा) गाम में स्थापित की गई।"

द्वारकाधीश के मेवाड़ में आने के विषय में यह लेख ग़लत है, और श्रीनाथजी के विषय में यह बिलकुल सत्य है। जैसा प्रथम कहा जा चुका है—द्वारकाधीश कौटुम्बिक झगड़े के कारणही गोकुल से पहिले अहमदाबाद पधारे और वहाँ भी इसी आपत्ति के आ जाने से वह महाराणा के आग्रह से मेवाड़ में आये। यहाँ उनको 'आसोटिया' नामक गाम जगतसिंहजी (प्र०) के समय में ही भेंट आ चुका था जो उनका प्रथम से ही एक निश्चित स्थान था। औरङ्गज़ेब ने मूर्तियों के तोड़ने का हुक्म सं० १७२६ में प्रचारित किया था, जब कि द्वारकाधीश मेवाड़ में आ रहे थे।

इस विषय में नीचे-लिखे प्रमाण प्राप्त होते हैं—

१—इसकी पुष्टि इससे और भी होती है कि—श्रीनाथजी को मेवाड़ में पधराने का निश्चय करने के लिये सं० १७२८ के प्रारम्भ में गोविन्दरायजी ने महाराणा रायसिंहजी से मिलकर चापासेनी लौटती बार द्वारकाधीश के चरणस्पर्श किये थे। इसके बाद वे श्रीनाथजी को पधराने जोधपुर राज्य में गये।

तहाँ जु राणा राय सों मिलके चतुर सुजान।
श्रीगोवर्द्धन धर्ण को पधरावन नृप मान ॥ ९९ ॥
मंत्र सुदृढ़ करिके जु फिर द्वारकेश-पद पर्श।
श्रीगोवर्द्धन धर्ण के आय कीन नृप दर्श ॥ १०० ॥ (सं० कल्प० पत्र १०६)

२—सम्प्रदाय कल्पद्रुम (पत्र १२५) (सं० १७२६ में विट्ठलनाथ भट्ट-रचित)

मुनि नैनन मुनि भूमि १७२७ सों बालकृष्ण पधराय। बसे जु सूरत जाय के श्रीब्रजराय अघाय ॥८४॥
ब्रजभूषण गोपालयुत द्वारकेश पधराय। मेदपाट आसोटियहिं अग्र बसे नृप! आय ॥८५॥

इसमें ब्रजरायजी का सूरत जाने का संवत् १७२७ दिया है और द्वारकाधीश का मेवाड़ पधारने का 'अग्र बसे' वाक्य से सं० १७२६ निकलता है जो अन्य प्रमाणों से संगत है।

३—विचित्र विलास। (संवत् १८१७ में प्रवीण कवि वेणीमाधव भट्ट-कृत)

संवत् सत्रह से बरस छब्बीसा के साल।
सरवर शोभा लखन को आये दीनदयाल ॥ ५३ ॥

इन दोनों का संवत् कार्तिकादि है अतः चैत्रादि सं० १७२७ होता है।

४—राजसागर प्रशस्ति महाकाव्य (तैलङ्ग रणछोड़ भट्ट-कृत)

पूर्णे शते सप्तदशेऽथ वर्षे चकार षड्विंशति नाम्नि राधे।
सित त्रयोदश्यभिधेह्नि सेतो नृपो मुहूर्तं पुरि कांकरोल्याम् ॥ १० । १० ॥
चतुर्भुजो राजसमुद्र-तीरे श्रीद्वारिकानाथहरिः सुनीरे ॥ १ । १० ।

गाम में पधराया, और व्रजभूषणजी महाराज के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित किया। यहाँ द्वारकाधीश प्रभु "गोपीनाथजी का नोहरा"-नामक स्थान में वट-वृक्ष के नीचे विराजे।

सादड़ी में राजराणाजी के आग्रह से व्रजभूषणजी ने प्रभु का जन्माष्टमी-उत्सव और नाना प्रकार के मनोरथ किए और उनको वैष्णवधर्म की दीक्षा दी। राजराणाजी ने यहाँ भूपतपुरा-नामक गाम भेंट किया, जिसका ताम्रपत्र इनके बाद चन्द्रसेनजी ने किया। फूलपुरा गाम और पीथावास की ज़मीन भी आगे चलकर भेंट आई, जिनकी सं० १८१२ में महाराणा राजसिंहजी (द्वि०) द्वारा खातरी की गई।

जब तक सादड़ी में निवास रहा, तब तक आसोटिया में काम चलवाकर ठाकुरजी के लिये मन्दिर बनवाया गया। सादड़ी से आसोटिया के लिये प्रस्थान करने का समाचार सुनकर महाराणा राजसिंहजी ने द्वारकाधीश को पधारने के लिये राजकीय परिकर, सेना, हाथी, घोड़ा तथा राज्य-चिह्न भेजे और स्वयं कुछ मंज़िल तक आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। उन्होंने स्वयं भक्ति के साथ प्रभु की सुखपाल में कंधा लगाया, और सं० १७२७ भाद्रपद शुक्ल ७ के दिन बड़े रंग-ढंग से सवारी निकालकर आसोटिया के मन्दिर में द्वारकाधीश प्रभु को विराजमान किया।

आसोटिया में आना और महाराणा का शिष्य होना

आसोटिया के मंदिर में महाराणा ने प्रभु के दर्शन कर भेंट चढ़ाई और महाराज व्रजभूषणजी से वार्तालाप कर और उनके प्रति गुरुघर का सम्मान समर्पित कर कुछ दिनों बाद वे उदयपुर चले गये। द्वारकाधीश की सेवा और रक्षा का समुचित प्रबंध महाराणा की ओर से कर दिया गया, जिससे ऐसे धर्माग्रही राजा के राज्य में आश्रय पाकर व्रजभूषणजी आदि को अतिशय आह्लाद हुआ। अब वे सब निश्चिन्त होकर श्रीप्रभु की सेवा करने लगे।

जिन दिनों आसोटिया में द्वारकाधीश का पधारना हुआ, उन दिनों रायसागर और कांकरोली में बाँध और मकान-मन्दिर आदि बनने का काम चल रहा था।

सं० १७२७ में सादड़ी के राजराणा दर्शन के लिये आसोटिया आये और यहाँ कुछ दिन रहकर उन्होंने महाराज व्रजभूषणजी से वैष्णव-धर्म की दीक्षा ली।

सं० १७२८ में श्रीनाथजी के सिंहाड में पधार जाने के कुछ वर्ष (संभवतः सं० १७३१ से) बाद कार्तिक-मास में अन्नकूट के अवसर पर श्रीद्वारकाधीश का

श्रीनाथजी के पास पधारना होने लगा। ऐसा प्रसिद्ध है कि—द्वारकाधीश अन्नकूट से ७-८ दिन पूर्व ही सिंहाड (वर्तमान-नाथद्वार) पधारते थे, और यहाँ श्रीनाथजी, विट्ठलनाथजी * और द्वारकाधीशजी साथ में अन्नकूट आरोगते थे और द्वारकाधीश अन्नकूट का उत्सव कर वापिस आसोटिया पधार आया करते थे।

सं० १७३२ के माघ-मास में जब राजसमुद्र का निर्माण हो चुका और उसकी प्रतिष्ठा की गई, तब महाराणा ने महाराजश्री को भी उत्सव में सम्मिलित कर सम्मान प्रदान किया† ।

राज्य-सम्मान—सं० १७३७ कार्तिक शुक्ल १० के दिन राजसिंहजी का कैलास-वास हो जाने पर उदयपुर के राज्यसिंहासन पर महाराणा जयसिंहजी ‡ विराजमान हुए। उस समय व्रजभूषणजी महाराज उदयपुर पधारे और राज्योत्सव के समय महाराणा को तिलक किया। महाराणा ने भी इनका राजकीय सम्मान कर अपने गुरुघर के प्रति भक्तिभाव दिखलाया।

सं० १७४१ में श्रावण बदी १ के दिन राजराणा चन्द्रसेनजी (सादड़ी) ने कांकरोली आकर महाराजश्री से दीक्षा ली और श्रीद्वारकाधीश के दर्शन कर पहिले के भूपतपुरा-नामक ग्राम का ताम्रपत्र भेंट किया+ ।

---

* श्रीनाथजी के आने के समय के पूर्व ही द्वितीय पीठ के ठाकुरजी श्रीविट्ठलनाथजी का भी खमनोर (मेवाड़) में आना हो गया था, ऐसा अनुमान होता है। इस समय यहाँ के तिलकायित श्रीहरिरायजी महानुभाव थे। इनका प्रा० सं० १६४७ और नि० सं० १७६७ (१२० वर्ष) है। यह श्रीनाथजी की सेवा कर नाथद्वारा के पास खमनोर में जाकर रहा करते थे। (सम्प्रदाय क० पत्र ११६)

उत्कृष्ट विद्वान् होने के कारण कांकरोली से व्रजभूषणजी भी इनके पास अध्ययन करने खमनोर जाया करते थे। ऐसा प्रसिद्ध है।

† यद्यपि इसके लिये मुझे कोई लिखित प्रमाण अभी तक नहीं मिला है, फिर भी महाराणा-जैसा धार्मिक व्यक्ति एक धर्माचार्य की उपेक्षा इस प्रकार कर दे, यह भी सम्भव नहीं है।

‡ इनका जन्म सं० १७१० पौष कृष्ण ११ और कैलासवास सं० १७५५ आश्विन बदी १४ को हुआ था।

+ ता० नं० १७

श्रीकृष्णनाथ

स्तीसही

महाराजाधिराज माहारणा श्रीचन्द्रसेणजी वचनातु गाम भोपतपुरा श्रीकृष्णारपण करे ने अगाट ऊदक कीधौ श्री.........रे १ मी मेहलौ आगो गुसाईजी श्रीव्रजभूषणजी गोपालजी ने सुपी आपदत्त

आसोटिया में जल का उपद्रव—सं० १७५१ की वर्षा-ऋतु में अतिशय वृष्टि हुई, जिसके कारण राजसमुद्र में ख़ूब जल आ गया, और गऊ-घाट से निकलकर आसोटिया के चारों ओर फैल गया। इस जल के उपद्रव से मन्दिर आदि को नुक़सान पहुँचा।

इस समय महाराजकुमार अमरसिंहजी * समीप ही राजनगर में रहते थे। जब यह समाचार उन्हें मालूम पड़ा तो अपने पिता जयसिंहजी से बिना पूछे ही उन्होंने द्वि० आषाढ़ शु० १२ शनिवार के दिन कांकरोली के मन्दिर, दरीख़ाना तथा आसोटिया की पाल पर बसने-बसाने का रुक़्क़ा लिख दिया†।

प्रस्तुत विषय में ऐसा प्रसिद्ध है‡ कि—"एक बार आसोटिया में राजभोग के बाद जल का उपद्रव हुआ। वृष्टि अधिक होने के कारण रायसागर का जल नाले में न समाने के कारण आस-पास फैलने लगा और थोड़े ही समय में आसोटिया के मन्दिर के चारों ओर पानी ही पानी हो गया। यहाँ तक कि मन्दिर के चौक तथा निज मन्दिर की तिवारी और निज मन्दिर में भी जल क्रमशः जा पहुँचा। महाराजश्री ने जल्दी सेवा में नहाकर शंखनाद कर ठाकुरजी को जगाया, और वहाँ से ले जाकर पास की एक ऊँची टेकरी पर नीम के वृक्ष के नीचे विराजमान किया।

प्रदत्त बा० हुकुम श्रीराज रो श्रीमुख दुसठे सुरजी सांवत० १७४१ बरषै सावीण वीद १ सम देतै गाम सादड़ी माहै उदक कीधौं जातं झाल्यादत्त अगट कसनार पुन कीधौं।

* इनका जन्म सं० १७२६ मार्गशीर्ष बदी ५ के दिन हुआ था। इनका अपने पिता जयसिंहजी (प्र०) से किसी कारण मनोमालिन्य था, अतः यह राजनगर के महलों में रहा करते थे, जो कुँवरपदा के महल के नाम से प्रख्यात है। कैलासवास सं० १७६७ पौष शु० १।

† पत्र श्रीरामो जयति

स्वस्ति श्रीआसोटिया सुथाने सरब ओपमा जोग गुसाईं श्रीव्रजभूषणजी गुसाईं श्रीगोपालजी एतान स्वस्तिश्री राजनगर सुथाने महाराज कुँअर श्रीअमरसिंघजी लिखावतं पगे लागणो। बांचजो अठारा समाचार भला है राजरा समाचार सदा भला चाहिजे।

१ अप्र जल रा भय वासते श्रीठाकुर श्रीद्वारकानाथजीजो रो मींदर गाम कांकरोली रो दरीखाना तथा मगर ऊपली हवेली कीजी ने गाम आसोट्यो पाल तीरली मगरी बसावजो नै हवेली तथा घरा सारूँ जीत्री जायगा चाहिजे जीत्री राखजो सं० १७५१ बर्षे दुती असाढ़ सुदी १२ सीनु।

पहिले प्रसादीभंडार=दरीखाना था, मन्दिर=हवेली थी।

‡ द्वा० प्रा० वार्ता (कांकरोली) पत्र ६५।

इस वर्ष जल का प्रकोप इतना हुआ कि—तीन-चार दिन तक चारों ओर जल ही जल भरा रहा, और मन्दिर अथवा आस-पास के स्थानों से कुछ भी सामग्री न पहुँच सकी। इस स्थान पर तीन दिन तक द्वारकाधीश ने भीजी हुई चना की दाल आरोगी। जब जल का उपद्रव शांत हो गया तब द्वारकाधीश अपने मन्दिर में पधारे। प्राचीन लोगों द्वारा सुना गया है कि—जल घट जाने पर चारों ओर हजारों-लाखों जल-जंतु मरे पड़े थे, जिनकी दुर्गंधि से आना-जाना दुश्वार था। पर सहसा एक दिन न जाने कहाँ से जलचर-भक्षक पक्षियों का एक बड़ा समूह आया, जो सबको साफ़ कर गया।

इसी समय से आसोटिया के पास की वह ऊँची टेकरी 'देवल मगरी' के नाम से प्रख्यात हुई। जिस नीम के वृक्ष के नीचे द्वारकाधीश विराजे थे, कालांतर में उसकी लकड़ी से एक बँगला बनाया गया, जो अब भी कार्तिक कृष्णपक्ष के दिन प्रभु के विराजने के काम आता है।"

कांकरोली में बसने का उपक्रम—महाराजकुमार अमरसिंहजी के रुक्के से उक्त घटना की पुष्टि होती है। अतः निश्चय है कि—सं० १७५१ में जल का उपद्रव होने से श्रीद्वारकाधीश को निरापद् स्थान में विराजने के लिये अमरसिंहजी ने आदेश दिया।

उदयपुर-राज्य के इतिहास में महाराणा राजसिंहजी के समय ही श्रीद्वारकाधीश के लिये मन्दिर बन जाने का उल्लेख किया गया है, पर यह संगत नहीं जचता; क्योंकि उक्त रुक्के से कांकरोली के दरीखाना* और मगरी के ऊपर की हवेली को मन्दिर के काम में लेने का अभिप्राय निकलता है। सम्भव है, रायसिंहजी के समय यह दोनों स्थान मन्दिर के लिये निश्चित किये गये हों, अतएव इनकी मन्दिर तरीके प्रसिद्धि भी हो गई हो, पर यह छोटा स्थान महाराज श्रीव्रजभूषणजी के मन में मन्दिर के लिये उपयुक्त नहीं जचा और श्रीद्वारकाधीश उस समय आसोटिया के मन्दिर में ही विराजमान रहे।

महाराणा जयसिंहजी और कुँवर अमरसिंहजी के परस्पर मनोमालिन्य होने

* तालाब बनते समय यहाँ उसके हिसाब-किताब का दफ्तर था, और अब यह स्थान प्रसादी-भंडार में सम्मिलित है।

के कारण अमरसिंहजी अधिकांश समीपवर्ती राजनगर में आकर रहने लगे थे। जल के उपद्रव से श्रीद्वारकाधीश के लिये जब चिंता हुई तो उन्होंने इस रुक्के के द्वारा कांकरोली में उक्त स्थान को मन्दिर-रूप में बनवाने और तालाब की आसोटिया की पाल पर गाम बसने का हुक्म दे दिया।

इतना हो जाने पर भी महाराणा जयसिंहजी की स्वीकृति के बिना कांकरोली में मन्दिर का काम शुरू नहीं हुआ, और वह अमरसिंहजी के महाराणा हो जाने पर शुरू हुआ। इस प्रकार सं० १७५५ से प्रारम्भ होकर सं० १७७६ तक ठाकुरजी के लिये मन्दिर तथा महाराजश्री के निवास-स्थान का कार्य पूर्ण हुआ, और महाराज व्रजभूषणजी के पुत्र गिरधरजी के समय सं० १७७६ चैत्र कृष्ण ९ के दिन आसोटिया से आकर द्वारकाधीश कांकरोली के वर्तमान मन्दिर में विराजे, जिसका आगे वर्णन किया जायगा।

कांकरोली का भेंट आना—सं० १७५२ के आश्विन-मास में कुँवर श्रीअमरसिंह ने महाराजश्री तथा उनके साथ में रहनेवाले व्रजवासी आदि के निवास के लिये कांकरोली (परगना राजनगर) भेंट कर दी। जिसमें केवल हवाला का बाग़ छोड़कर समस्त गाँव महाराजश्री को भेंट किया गया, और उस बाग़ के बदले दूसरी ज़मीन के हासिल देने का उल्लेख किया गया है *।

सं० १७५३ में महाराजश्री ने अपने पुत्र गिरिधरजी का यज्ञोपवीत-प्रस्ताव किया। इस समय महाराणा जयसिंह कांकरोली आये, और उन्होंने कार्तिक बदी २ शुक्रवार को अमलोई-नामक गाम का ताम्रपत्र भेंट किया †।

---

* ता० नं० ४ श्रीरामो जयति

सही

महाराज कुँवर श्रीअमरसिंहजी आदेशात गुसांईं ब्रिजभूषणजी कस्य गाम १ कांकरोली परगने राजनगर रे जणी माहै बाग हवाले दरबार खालसै रहसीनै ईणा दीना माहै दुजो हासल खालसै है सो उदक आघाट करे श्रीरामाअरपण कीयो दुए श्रीमुख स्वदत्तां......................प्रत दुए पंचोली गोरधनजी लखतं पंचोली गोरधनदास छीतरोत संवत १७५२ ब्रीषे आसोजसुदी १२ बुधे राजनगर माहै लीखो।

† ता० नं० ८ श्रीरामो जयति

श्रीगणेश प्रसादातु श्रीएकलिंग प्रसादातु

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीजैसिंहजी आदेशातु गुसाईं व्रजभूषणी कस्य गाम अमलोई परगने मोही

सं० १७५५ में जयसिंहजी के देवलोक हो जाने के बाद आश्विन शुक्ल ४ के दिन महाराणा अमरसिंहजी गद्दी बैठे। इनका राज्याभिषेकोत्सव इसी वर्ष माघ शु० ५ को हुआ; जिसमें महाराजश्री ने उदयपुर जाकर गुरुघर की तरफ़ से राज्यतिलक किया। महाराणा अमरसिंहजी ने भी उनका राज्योचित सम्मान कर बिदाई दी।

सं० १७५५ ज्ये० शु० १० को कुँवर संग्रामसिंहजी ने महाराजश्री से दीक्षा लेकर ६००) की भेंट चढ़ाई। आगे चलकर यह महाराणा हुए।

राज्याभिषेक हो जाने पर प्राचीन प्रथा के अनुसार महाराणा अमरसिंहजी ने सं० १७५७ में आकर श्रीद्वारकाधीश के दर्शन किये और महाराजश्री से वैष्णवधर्म की दीक्षा लेकर कंठी बँधाई। इसी वर्ष महाराणा ने उदयपुर में महाराजश्री के निवास के लिये एक बड़ी हवेली भेंट की, और मार्गशीर्ष शु० ८ के दिन उसका ताम्रपत्र भेट किया*।

विवाह और सन्तति— व्रजभूषणजी महाराज का विवाह किस संवत् में हुआ इसका ठीक पता नहीं लगता। फिर भी अनुमान होता है कि—वह संवत् १७३० के लगभग हुआ होगा। इनके निम्न-लिखित सन्तति हुई—

१	गिरिधरजी	प्रा० सं०	१७४५	कार्तिक	कृ० ५
२	द्वारकेशजी	,, ,,	१७४८	भाद्र	शु० १
३	गोपीनाथजी	,, ,,	×	×	×

रे उदेक आघाट करे श्रीरामाअरपण कीधी दुए श्रीमुख लीखतं पंचोली हरनाथ मोहणोत स्वदत्तां परदत्तां..........संवत् १७५३ वर्षे काती बदी २ शुक्रे।

* ता० नं० २६

श्रीरामो जयति

श्रीगणेश प्रसादात् श्रीएकलिंग प्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्री अमरसिंहजी आदेशातु गुसाईं ब्रीजभूषनजी कस्य हवेली १ पुरब पच्छम गज ८१ ईक्यासी ऊत्तर दखण गज ७१ ईकोतर जमै गज ५७५१ पाँच हज़ार सात सै ईक्यावन ऊदक आघाट करै श्री रामाअरपण कीधी दुए श्रीमुख स्वदत्तां परदत्तां वा.............. प्रत दुए पंचोली दमोदरदास लीखतं पंचोली गोरधनदास छीतरोत संवत् १७५७ वर्षे मागसेर सुदी ८ रीउ।

वंश-वृक्ष में अन्तिम दो का नाम नहीं मिलता। प्रथम पुत्र गिरिधरजी इनके बाद में तिलकायित हुए।

विद्या-प्रेम और नित्य-लीला-प्रवेश

व्रजभूषणजी महाराज का अधिकांश समय अपने घर की व्यवस्था सुधारने में ही व्यतीत हुआ, अतः विद्या का पूर्ण व्यसन होने पर भी इनको ग्रन्थ निर्माण करने का अवसर नहीं मिला, परन्तु इन्होंने संस्कृत-साहित्य के अधिकांश ग्रंथों का विशाल संग्रह किया, जो आज भी विद्या-विभाग (सरस्वती-भण्डार) में सुरक्षित है। महाराजश्री के रचित कुछ संस्कृत तथा हिंदी के पद्य उपलब्ध होते हैं।

सं० १७५८ में इन्होंने नित्यलीला में प्रवेश किया।

परिशिष्ट—१

सं० १७३६ के प्रारम्भ में गंगाबेटीजी का देवलोक हो जाने पर व्रजभूषणजी ने आसोटिया में कुछ ज़मीन त्रिपाठी जगन्नाथ उपाध्याय को दी *।

---

* पत्र

श्रीद्वारकेशो जयति

श्रीद्वारकानाथ-चरण-शरण

व्रजभूषणस्य मुद्रिका—

स्वस्तिश्री व्रजभूषणजी गोस्वामिनां स्वकीयेषु परम वैष्णवेषु श्री २ त्रिवाडी जगन्नाथ उपाध्याय सकुटुम्ब सपरिवारस्य(?) अपरंच दादाजी श्रीगिरिधरजी देवलोक भये तथा श्रीगंगाबेटीजी देवलोक भये। उनके अन्त समे गाम आसोटिया में जमीन बीघा २५ पाली पेड सुदद्दा श्रीकृष्णार्पण तुमकुं पुण्य दीनी है, सो जो कोऊ या लिखे को लोपेगो सो श्री..................जी सुं वा धर्म सुं बहिर्मुख होयगो। कृष्णार्पण कर दी है और या जमीन को तुमकुं सिलालेख सुरेपत्र खुदाय दियो सो पाली पे रुपाय दियो है सो कोऊ उथापेगो नहीं, और हमारे घर के तुमकुं उपाध्या किये है सो हमारी जाति मर्यादा के बराबर तुमकूँ दक्षिणा पहरावनी और सदैव बरताव हमारे वंश में तथा या घर की गादी पे रहेगो वे तुमारे वंश के बेटा नतीन को पालन करते रहेंगे। ये वृत्तिपत्र हमारी प्रसन्नता-पूर्वक लिखके कृष्णार्पण कर दिये-सोसुखेन करे जाओगे। सो श्लोक स्वदत्तां परदत्तां वा विप्रवृत्तिं हरेतु यः, षष्टि वर्ष सहस्राणि विष्टाय जायते कृमिः...मिती वैशाख कृष्ण ३० संवत् १७३६ के।

इसकी असल प्रति जगन्नाथजी के वंशधर पंड्याजी मोहनलालजी के पास विद्यमान है। परन्तु प्रामाणिकता की कसौटी पर न चढ़ने के कारण सम्प्रति यह ज़मीन इनके अधिकार में नहीं रही है।

परिशिष्ट—२

सं० १७३७ की लिखी हुई एक फ़ारिग़खती जिसमें व्रजभूषणजी महाराज ने व्रजरायजी को बालकृष्णजी ठाकुरजी के लिये अपना ना-दावा लिख दिया है और जिसमें गंगाबेटीजी के भी हस्ताक्षर हैं, सूरतस्थ वर्तमान महाराज गो० श्री-व्रजरत्नलालजी महाराज के द्वारा उद्धरणार्थ प्राप्त हुई है। पर यह कई कारणों से ठीक नहीं जँचती। अस्तु। इससे यह विदित हो जाता है कि—सं० १७३७ में व्रजरायजी ने सूरत में अपना स्थान जमा लिया था, आगे वंश-परंपरा में कोई झगड़ा न हो, एतदर्थ यह फ़ारिग़खती पीछे से तैयार कराई गई हो, ऐसा अनुमान होता है।

श्रीगंगाबेटीजी तथा श्रीजानकी बहूजी आदि की उक्त फारिग़खती सूरतस्थ श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज के पास है, जिसकी प्रतिलिपि यहाँ दी जाती है—

"श्रीसंवत् १७३७ बरषे प्रथमा आशोज शुद ३ रवउ श्रीशामलजीसुत व्रजराजजी जोग लिखतां श्रीबेटी श्रीगंगाबेटीजी तथा श्रीजानकी बहूजी तथा श्रीव्रजभूषणजी जता शेवा २ बे आ तथा श्रीपादुकाजीनी शेवा माटे विवाद हतो तेमा अमारा कुला नी रीता शामाजी छुं तेहनी वीगाता जे श्रीबालकृष्णजी नी शेवा अहमो आपी तथा श्री पादुकाजी १ अंक एक श्रीआचारजी नी शेवा श्रीगंगाबेटीजी आरंगा रहै ताहा सुधी श्रीगंगाबेटीजी पाशे रहै पछ श्रीपादुकाजी १ अंक एक श्रीआचारजी आपी अे ताथा श्रीद्वारकानाथजी असारा छे तो आम पशे रहै तो शेक एणी रीते शामजी छुं अमारे कशी बातों नो विवाद नथी आमारा मां नदचो बीजी आज दिन पहेलुंए विवाद मटे लखु तथा कागले पत्र मेहेजे पाशे थी नीकले ते रद छे आजे दिन सुधी कशु बात नु लेणु देणु नहीं............

१ आत्र.......................मतु	१ आता................ .. शाख
+ बेटी गंगाबेटीजी मतु	१ अत्र स्याक्षी....................
१ जानकी बहूजी मतु ऊपर लखु ते सही	श्रीकल्याणरायजी सुत श्रीहरिराय
१ लखतं व्रजभूषणजी ऊपर लिखा सही	१ सुरदास वेणी शाख धणी हजूर

COPY OF REALEASE

FROM

GANGA BATTY

JANKY, VAOJEE

AND

BRIJ BHOOKUNJEE

No. 1008

लखतां वनमाली दास............
१ गांधी हरीदास तुलसीदास शाख धणी हजुर....................
१ शीघासुत विठिलदास शीग......
१ भगवानदाश जेतवी शाख धणी र हुजुर की रछे....................
१ कल्याणदाश मोरारजी शाख उपर-लखा प्रमाणे कीधी छे............
१ शाख उदशीग जगजीवन दास..."

इस पत्र की प्रामाणिकता के विषय में मैंने निम्नलिखित सन्देह किये थे, जिनका कोई सन्तोषप्रद उत्तर प्राप्त नहीं हुआ—

१. पत्र की लिपि गुजराती हो सकती है पर गंगाबेटीजी की बोलचाल की भाषा होने के कारण उसकी भाषा हिन्दी (व्रजभाषा) होनी चाहिये ।

२. इसके १० वर्ष पूर्व ही सब लोग गुजरात छोड़कर मेवाड़ में आ बसे थे ।

३. सं० १७३७ में श्रीगंगाबेटीजी जीवित नहीं थीं ।

४. जब यह लोग अहमदाबाद रह रहे थे, उस समय (१७२७ में) हरिरायजी के वहाँ विद्यमान होने का कोई प्रमाण नहीं है ।



श्रीगिरिधरजी महाराज (पं० ति०)

(प्रा० सं० १७४५, ति० सं० १७५८ नि० सं० १८०३)

—:o:—

जन्म और शिक्षा-संस्कार—श्रीगिरिधरलालजी महाराज (द्वि०) का जन्म सं० १७४५ कार्त्तिक कृष्ण ५ बुधवार के दिन हुआ था *। इनके पितृचरण गो० व्रजभूषणजी महाराज (प्रथम) थे, जिन्होंने गोकुल से द्वारकाधीश को आसोटिया (कांकरोली) में पधराया था।

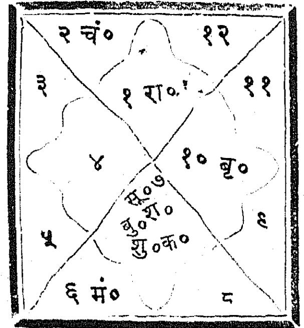
सं० १७५३ में यज्ञोपवीत-संस्कार हो जाने पर इनके पितृचरण ने इनका अध्ययन कराया। इन्होंने बड़ी अवस्था तक भी शास्त्रों का अध्ययन किया, ऐसा भी कहा जाता है कि—यह भी अपने पिता के समान खमनौर जाकर हरिरायजी के पास साम्प्रदायिक ग्रंथों का अध्ययन करते थे। यह दिन में तो द्वारकाधीश की बड़े प्रेम से सेवा करते और रात्रि में बहुत समय तक जागकर नित्य का पाठ तैयार किया करते थे।

सं० १७५८ में व्रजभूषणजी महाराज का नित्य-लीला-प्रवेश हो जाने पर यह इस तृतीय पीठ के पंचम तिलकायित हुए, जिसका दस्तूर महाराणा अमरसिंहजी के यहाँ से कांकरोली आया। इन गिरिधरलालजी ने महाराणाओं से अधिक परिचय प्राप्त कर घनिष्ठता बढ़ाई। इनके पिता के समय में ही महाराणा अमरसिंहजी (द्वि०) † के कांकरोली आने पर उनके साथ तो इनकी अच्छी घनिष्ठता हो गई थी।

---

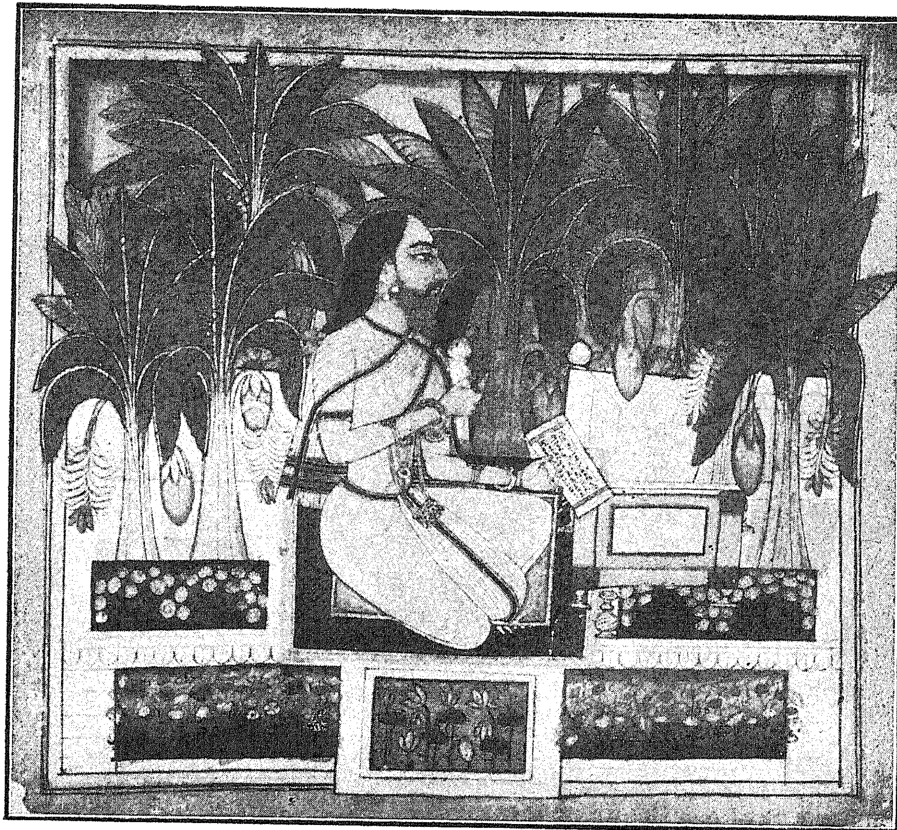
* जन्म-कुंडली—

सं० १७४५ वर्षे शाके १६१० प्रवर्तमाने कार्त्तिक कृष्ण ४ घटी०, १५ परं ५ जन्म तिथौ बुधवासरे रोहिणी घटी १७, ४ परं मृगशीर्ष श्रीसूर्योदयात् गत घटी २६।२६ समय श्रीव्रजभूषणजी सुत श्रीगिरिधरलालजी जन्म।



† इनका जन्म सं० १७२६ मार्ग० बदी ५ गद्दीनशीनी सं० १७५५ आश्विन शु० ४ और राज्याभिषेकोत्सव सं० १७५६ माघ सु० ५ तथा कैलासवास सं० १७६७ पौष शु० १ को हुआ था।

(उ० रा० इतिहास)



गो० श्रीगिरिधरलालजी महाराज भवाईवाले कांकरोली
प्रा० सं० १७४५ का० कृ० ५

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

भवाई के खेल का शौक़—तिलकायित होने के बाद गिरिधरजी महाराज ने ठिकाना और द्वारकाधीश की सेवा का भार सँभाला। प्रभु को इन्होंने विविध लाड़ लड़ाये। इन महाराज को भवाई का खेल देखने का बड़ा शौक़ था। जब कोई भवाई का खेल करनेवाला कांकरोली आता, तो यह उसका खेल देखकर उसे अच्छा पारितोषिक प्रदान करते थे। इसी शौक़ के कारण आगे चलकर इनका नाम भी "भवाईवाले गिरिधरलालजी" पड़ गया। कहते हैं कि—इस खेल के व्यसन में बहुत-सा द्रव्य खर्च कर देने के कारण ठिकाने के कर्मचारी और सगे-सम्बन्धी इनसे बहुत कुछ कुढ़ने लगे थे। विनय करने पर भी जब इस पर इन्होंने ध्यान नहीं दिया, तो सब लोगों ने जाकर नाथद्वारा के तिलकायित श्रीदामोदरजी महाराज से इसकी शिकायत की, और कांकरोली आकर गिरिधरलालजी को सम्बोधित करने के लिये उनसे विनय की। वे वृद्ध थे, अतः मनुष्यों को उनके कहने-सुनने से प्रभाव पड़ने की आशा थी।

एक दिन जब मन्दिर में भवाइयों का तमाशा हो रहा था, गिरिधरलालजी 'कान्ह तिबारी' में बैठे खेल देख रहे थे। तमाशबीनों का जमघट जमा था, और खेलवाले अपना करतब दिखला रहे थे।

खेल के ठीक समय नाथद्वारा के तिलकायित की सवारी आई। उन्होंने खेल देखते ही गिरिधरलालजी को फटकारना चाहा। कहते हैं कि—उस समय उन्हें गिरिधरलालजी महाराज की गोद में बैठकर खेल देखते हुए द्वारकाधीश के दर्शन हुए। नाथद्वारा के तिलकायित प्रभु की इस बाललीला-भाव के दर्शन कर मुग्ध हो गये और उन्होंने भी कुछ द्रव्य न्योछावर कर भवाइयों को प्रदान किया। लोगों ने जब इसका कारण पूछा तो वे यह कहकर वहाँ से चले गये कि—महाराज अपने शौक़ के लिये नहीं, प्रत्युत ठाकुरजी के लिये ही यह खेल करवाते हैं। ठाकुरजी की प्रसन्नता के लिये सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है।

इस घटना का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि—गिरिधरलालजी महाराज के शिष्य भी गुजरात के मन्दिरों में भवाइयों के खेल करवाने लगे, और यह क्रम बहुत समय तक विद्यमान रहा।

विवाह तथा संतति—गिरिधरलालजी का विवाह इनके पिता के समय में ही हो गया था। इनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीमित्रवृन्दा बहूजी था। जिनके निम्न-लिखित सन्तति हुई—

१—व्रजभूषणलालजी (द्वि०) प्रा० सं० १७६५ मार्ग० शु० १
२—बालकृष्णलालजी ,, ,, १७७० पौष शु० ५
३—वल्लभजी ,, ,, १७८१ वैशाख कृष्ण ६

सं० १७७१ में महाराजश्री ने गुजरात में पधार कर प्रदेश करने का सिलसिला बाँधा। गुजरात में कई स्थानों में जाकर इन्होंने वैष्णव-धर्म का प्रचार किया और हजारों शिष्य बनाये। यात्रा करने के लिये जब द्वारका पधार रहे थे, तब मार्ग में धन्धूका नामक ग्राम के पास से निकले। इन्होंने वहाँ एक चमत्कार बतलाकर समस्त ग्राम को अपना शिष्य बनाया। यह वृत्तान्त इस प्रकार है *—

धर्म-प्रचार और धन्धूका को शरण लेना

गिरिधरलालजी जब प्रदेश-यात्रा करते हुए काठियावाड़-प्रान्त में पधारे, तब वह धन्धूका नामक ग्राम में पहुँचे। ग्राम के बाहर उन्होंने एक बड़ा कुआँ देखकर म्याना रुकवाकर जल लाने के लिये परिचारक को आज्ञा दी। उस कुएँ के पास कुछ लड़के खेल रहे थे, जिनसे जल के विषय में पूछा गया, तो उन्होंने हँसी-हँसी में खारे पानी को मीठा बतला दिया। महाराजश्री के परिचारक ने उनके विश्वास में आकर जल भरा और लोटी में महाराजश्री को पीने के लिये ला दिया। पीने पर जब जल खारा मालूम पड़ा तो महाराजश्री के पूछने पर उसने उनसे सब हाल कह सुनाया। महाराजश्री इस हँसी को ताड़ गये, उन्होंने कुआँ देखकर फिर से जल निकालने का आदेश दिया। इस समय जब जल निकालकर पिया गया, तो वह मीठा निकला। इसके अनन्तर उनके साथ के सब लोगों ने भी तृप्त होकर पानी पिया और आगे बढ़े। खारे कुएँ पर अच्छी प्रकार जल पीकर जाते हुए सब लोगों को देखकर लड़कों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने ग्राम में जाकर यह वृत्तान्त कह सुनाया।

धन्धूका में उस समय जैन-धर्मावलम्बी बीसामोढ बनियाओं के लगभग चार सौ घर थे। कुआँ पर जाकर उन्होंने जल की परीक्षा की, तो वह उस समय मीठा निकला। इस परिवर्तन को देखकर उन सबको महाराजश्री के प्रति बड़ी श्रद्धा हुई और शीघ्र आगे जाकर उन्होंने उनको विनयपूर्वक अपने ग्राम में पधराया। महाराजश्री के उपदेश तथा प्रभाव के वशीभूत होकर वह समस्त जाति जैन-धर्म को

* गिरिधरलालजी-कृत १२० वचनामृत। सं ५।

त्यागकर वैष्णव-धर्मावलम्बिनी हो गई। महाराजश्री की शिष्यता स्वीकार कर सब जातिवालों ने एक मन्दिर बनवाया और अपनी जाति के झगड़े-टण्टे निबटाने के लिये उनको अपना न्यायाधीश निर्वाचित किया। कुछ समय बाद उस मन्दिर में 'श्रीश्यामसुन्दरजी' ठाकुरजी विराजमान किये गये तथा द्वारकाधीश के घर की प्रणाली के अनुसार सेवा होने लगी। इस प्रकार वहाँ महाराजश्री ने वैष्णव-धर्म का प्रचार किया और ख्याति प्राप्त की*।

तगड़ी की बैठक का पुनरुद्धार

महाराजश्री वहाँ के नागरिकों को वैष्णव-धर्म में दीक्षित कर और उनके द्वारा किये हुए सम्मान को स्वीकार कर कुछ समय बाद यात्रार्थ आगे पधारे। वहाँ से आगे चलकर उन्होंने 'तगड़ी' नामक स्थान में तालाब के पास एक वृक्ष के नीचे मुकाम किया। यहाँ तगड़ी के ठाकुर साहब ने आकर भेंट की और महाराजश्री से कंठी बँधवाकर निवास के लिये प्रार्थना की। महाराजश्री को भी यह स्थान अधिक पसंद पड़ा। यहाँ एक प्राचीन स्थान देखकर वल्लभाचार्य की बैठक होने का उन्हें स्मरण आया, अतः उसको खुदवाकर उन्होंने कुछ प्राचीन चिह्न मिलने पर वहाँ महाप्रभुजी की बैठक की स्थापना की। महाराजश्री यहाँ से चलकर द्वारका पहुँचे और वहाँ की यात्रा कर कुछ महीनों बाद वापिस आसोटिया आ गए।

गिरिधरगढ़ का बसना और वर्तमान मन्दिर—

जैसा आगे कहा जायगा, सं० १७७१ चैत्र शु० ७ को महाराणा संग्रामसिंहजी ने गिरिधरलालजी के नाम कांकरोली का ताम्र-पत्र कर दिया था। सं० १७५१ में कुँवरपने की अवस्था में अमरसिंहजी ने तालाब की पाल पर बसने का पत्र लिख दिया था, पर वह राजकीय नियमानुसार मान्य नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय पिता से उनका कुछ वैमनस्य चल रहा था। आगे चलकर जब वे राजा हुए तो उन्होंने अपनी पूर्व-लिखावट को ही ठीक समझकर कांकरोली का ताम्र-पत्र नहीं किया। जो बाद में महाराणा संग्रामसिंहजी के समय में किया गया।

पट्टा हो जाने पर महाराजश्री ने कांकरोली में बनाये हुए अपने मकानों का नाम

* आज भी महाराजश्री के पधारने पर धन्धूका के वैष्णवों के जातीय मामले उनके सामने उपस्थित किये जाते हैं और उनके निर्णय को मान दिया जाता है। बीसामोढ बनियों का समस्त समुदाय आज भी इसी घर का सेवक है।

धन्धूका का वह कुआँ ग्राम के बाहर अब 'हवाडा का कुआँ' के नाम से प्रख्यात है और प्राचीन लोगों से उसका वृत्त सुना जा सकता है।

'गिरिधर-गढ' रक्खा। सं० १७५१ से ७१ तक 'गिरिधर-गढ' के बसने का समय माना जा सकता है। सं० १७७६ चै० कृ० ९ के दिन आसोटिया से कांकरोली के वर्तमान मन्दिर में द्वारकाधीश को पधराकर महाराजश्री ने बड़ा भारी उत्सव किया *।

कांकरोली के वर्तमान मन्दिर में आसोटिया-मन्दिर के पत्थर के ही दरवाजे, तिबारी, महराब और टोडा आदि सामान लगाया गया है। आसोटिया का उक्त स्थान सम्प्रति खँडहर होकर पड़ा है, जिसकी स्मारक-रूप में रक्षा करनी आवश्यक है।

इस प्रकार महाराजश्री ने आसोटिया से मुकाम उठाकर कांकरोली में स्थापित किया, और उसे एक नगर का रूप देने का उपक्रम किया। महाराजश्री ने द्वारकाधीश के सेवा-सौकर्यार्थ एक विशाल बाग भी बनवाया, जिसका नाम आज 'बड़ा बाग' है। इस प्रकार गिरिधरजी महाराज ने कांकरोली को बसाकर उसकी उन्नति की और ठाकुरजी की सेवा का सुप्रबन्ध किया।

राज-सम्मान—सं० १७६७ में महाराणा अमरसिंहजी के कैलासवास होने पर महाराणा संग्रामसिंह (द्वि०) उदयपुर की राजगद्दी पर विराजमान हुए। राज्याभिषेकोत्सव के समय महाराज गिरिधरलालजी ने उदयपुर जाकर राजकीय दस्तूर किया।

इस समय जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंहजी भी वहाँ आये थे। महाराणा अमरसिंहजी की पुत्री चन्द्रकुँवरिबाई का विवाह जयसिंहजी के साथ इस शर्त पर हुआ था कि—छोटी रानी होने पर भी इनसे उत्पन्न पुत्र को जयपुर की गद्दी दी जाय। इस सम्बन्ध के कारण महाराणा संग्रामसिंहजी और महाराजा जयसिंहजी का अच्छा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसी अवसर पर महाराजश्री के साथ सवाई जयसिंहजी का परिचय हुआ और वे दर्शनार्थ आसोटिया आये। कुछ समय बाद (सं० १७७१ में) उन्होंने ग्राम भेंट किया, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

* द्वा० प्रा० वार्ता, १६ उल्लास पत्र ६५।

वर्तमान मन्दिर में विराजने के पहिले ऐसा कहा जाता है कि—द्वारकाधीश प्रथम पुरानी कांकरोली नामक स्थान में एक तेली के मकान में विराजे, जो अब भी विद्यमान है और यहाँ एक अन्य विषय का शिला-लेख लगा हुआ है। यह समझ में नहीं आता कि 'गिरिधर-गढ'-जैसे स्थान के बन जाने पर भी द्वारकाधीश उस छोटे-से मकान में क्यों विराजे? संभव है कि उस मन्दिर का काम पूरा न हुआ हो और आसोटिया में सं० १७५१ के समान जल का पुनः उपद्रव हुआ हो, जिसके कारण महाराज कुँवर अमरसिंहजी ने पिता से विना पूछे ही तालाब की पाल पर बसने का आदेश दे दिया था।

सं० १७६८ प्र० भा० शु० १३ को महाराज दलसिंहजी द्वारकाधीश के दर्शनार्थ आये और उन्होंने महाराजश्री के नाम पर सिखरावास गाम में ५१ बीघा ज़मीन भेंट कर ताम्रपत्र किया* ।

सं० १७७१ मार्गशीर्ष शु० ११ के दिन महाराणा संग्रामसिंहजी† श्रीद्वारकाधीश के दर्शन के लिये आसोटिया‡ आये । उस समय उन्होंने अमरसिंहजी के द्वारा कुँवर की हैसियत से सं० १७५२ में दिये गये पट्टे के अनुसार कांकरोली की सारी ज़मीन—जिसमें कुछ ज़मीन खालसा की रह गई थी और कुछ दूसरों के अधिकार में थी—लेकर भेंट कर दी, और सं० १७७१ (चैत्रादि ७२) चैत्र शु० ७ बुधवार को इसका ताम्रपत्र कर दिया § ।

सं० १७७१ में जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंहजी ने परगना टौंक में महेगाम नामक एक ग्राम माघ बदी १४ के दिन उज्जैन में शिप्रा-स्नान के समय अर्द्धोदय

---

* ता० नं० ३६

श्रीरामजी

सही

सिद्धिश्री महाराजश्री दलसिंहजी वचनात गाम सीखरावास सुथाने कामदारां पटेल षेना लषु आपाओपमा कस्य अप्रच धरती बीघा ५१ अखरै बीघा ईकावन श्रीनाथजीदुवारा गुसाईजी श्रीगिरिधरलालजी रै चढाई है जो आछी मापै दीजो·········बीगत बीघा·········६॥ चडस १५ माली १ कारौ १४ नहे डो १४ ॥ मेग है । ५१ अखरै बीघा ईकावन मरै दीजो आ आछी धरती दीजो । आपदत्त परदत्त० हुकुम हजुर प्रत्वानगी रुहवरी मा प्रथम भादवा सुदी १३ संवत् १७६८ बर्षे ।

† इनका जन्म सं० १७४७, प्र० वै० कृ० ७ राज्याभिषेक सं० १७६७ पौ० शु० १ और उसका उत्सव सं० १७६८ ज्ये० कृ० ५, कैलासवास सं० १७६० माघ कृ० ३ को हुआ ।

‡ देवस्थान होने से पहिले आसोटिया कांकरोली को भी श्रीनाथजीदुवारा कहा जाता था ।

§ ता० प० नं० १

श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादातु श्रीएकलिंगप्रसादातु

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीसंग्रामसिंहजी आदेशातु गुसाईं गीरधरलालजी कस्य ग्राम कांकडोली पडगने राजनगर रे जणी माहे प्रोहितजी रो वंट थो सो तागीर साह गरीबदास जगनाथ थी गाम टका तथा लागत भरव सुधी गाम आसोल्ये श्रीद्वारकानाथजी रे दरमण मासेर वदी ११ रे दीन हजुर पधारया बदी उदक आघाट करे श्रीरामार्पण कीधो दुए श्रीमुख स्वदत्तां परदत्तां वा (इत्यादि श्लोक) प्रत दुए पंचोल बिहारीदास लीखतं पंचोली लखमण छीतरोत । संवत् १७७१ वर्षे चेत सुदी ७ बुधे ।

पर्व पर संकल्प कर महाराजश्री को दिया, और इसका भेंट-पत्र * सं० १७७२ श्रावण बदी ३ के दिन कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि महाराज गिरिधरलालजी का जयसिंहजी † से अच्छा परिचय हो गया था और वे उज्जैन-यात्रा में उनके साथ वहाँ उपस्थित थे।

सं० १७७३ वैशाख कृष्ण ८ के दिन महाराजश्री ने अपने पुत्र व्रजभूषणजी का उपनयन-संस्कार किया था, जिसमें महाराणा की ओर से भिक्षा का दस्तूर आया, इसी समय महाराज दलसिंहजी ने उपस्थित होकर एतन्निमित्त दलपुरा में

---

* भेंटपत्र नं० २१४ श्रीरामजी

सही मुहर फ़ारसी में है

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजाश्री सवाई जैस्यंघजी देव वचनात कमैता परगना टौक का दीसे सु प्रसाद वंच्या, अप्रंच बावति पुनि उदिक गाँव महगाँव परगना टौक का गुसाइँ गिरधरलाल गुसाइँ विरजभूषण का नै जौ मिती माघ बदी १४ साल संवत् १७७१ अरधोदय परब हुवौ तब वजैण में सिपराजी में संकलप करि दीयौ छै सो थाने फरमावा छाँ जो यो गांव ईवतदाय मिती संकलप कीद्यौ है नै दीज्यौ अर प्रतिवरष नवो प्रवानो मति माग्य ज्यो। ज्यौ हासिल ले आसीरवाद देवो करै गाँव एक.................सरै यादिदासति दाखिले वाकै करार मिती असाढ़ सुदी १४ संवत् १७७२ साल संवत् १७७१ वरिसालै भिखारीदास व कीसोरदास दीवान व निहालचंद बाकानईस अत्र पुनि उदीक गाँव महगाँव प्रगना टौक मा गुसाईं गिरधरलाल गुसाईं विरजभूषण का नै जौ मिती माह बदी १४ साल संवत् १७७१ मै अरधोदय परब हुवौ तीमे संकलप करि दीयो सौ वासते सवती प्रवाना में मिती चैत बदी १४ संवत् १७७२ साल संवत् १७७१ अरज पहूँच। सौ हुकुम हुवौ जौ ईवतदायी मिती संकल्प का सु प्रवानौ सवती मुकरिर करि द्यौ है सौ चाहिज्ये दीवान सरकार का प्रवाना लीखौ मिती सदर अरज मुकरर पहौची ....मुकररा तनखाह गाँव महगाँव प्रगना टौक का ईवतिदाय छुटावट स्यालू सं० १७७१ की सूं मुकरीर जाणी हासिल हवाले करवौ कीज्यौ, गाँव एक दरोवस्त.......१.......जौ हासिल सरकार में आयो होय सौ वरातवाज गिरदानंद की करि फेरी दाज्यौ, मिती सावण बदि ३ संवत् १७७२ साल सं० १७७१ मुकाम गढ़पैला सरकार भेलसा।

नोट—जयपुर के भेंटपत्रों में तीन बार इबारत का उल्लेख पाया जाता है, यहाँ उसकी प्रतिलिपि दी गई है। आगे उनका संक्षिप्त रूप दिया जायगा।

† सवाई जयसिंहजी सं० १७५६ में राज्यसिंहासन पर आसीन हुए। औरंगज़ेब ने इन्हें सवाई की पदवी प्रदान की थी। सं० १७८४ में इन्होंने जयपुर-नगर बसाया और सं० १७८१ श्रा० शु० ६ के दिन त्रिवेणी पर वाजपेय यज्ञ किया था। सं० १८०० आश्विन शु० १४ को इनके देहान्त के बाद ईश्वरीसिंहजी जयपुर के राजा हुए।

२० बीघा ज़मीन भेंट की, जिसका सं० १७७३ चैत्र शु० १५ के दिन ताम्रपत्र किया गया * ।

सं० १७९० में महाराणा संग्रामसिंहजी का देवलोक हुआ और उनके बाद महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०)† गद्दी पर बैठे । सं० १७९१ ज्येष्ठ शु० १३ के दिन राज्याभिषेक का उत्सव हुआ, जिसमें महाराज श्रीगिरिधरलालजी ने उदयपुर पधार-कर नियमानुसार गुरुवर का तिलक-दस्तूर किया ।

सं० १७९९ श्रा० कृष्ण १ को महारावत जसवंतसिंहजी ने कांकरोली आकर दौलतपरा नामक ग्राम भेंट किया ‡ ।

सं० १८०३ आश्विन शु० १३ भौम के दिन महाराणा जगतसिंहजी ने कांकरोली के पास हवाले में २० बीघा ज़मीन द्वारकाधीश के लिये भेंट की+ । संभवत इस

---

* ता० नं० ३३ श्रीरामजी

सही

सीधश्री महाराज श्रीदलसिंघजी वचनात गाम दलसिंघपुरा में धरती बीघा २० अखरे बीघा बीस गुसाईजी श्रीगिरिधरलालजी लाल ब्रजभूषणजी रे जनोई सं० १७७२ का बसाख वीद ८ जनोई थी सो पुन अरघ धरती चढ़ाई सो पाया जासी वीगत............

३ क्यारा बीगा तीन १७ माल बीगा सतरा

२० अखरे बीगा बीस पुन अरथ चढाई, सलोक, आपदत्तं परदत्तं० (इत्यादि)

प्र० गजसिंघ सं० १७७३ चत सुद १५ दने ।

† इनका जन्म सं० १७६६ आश्विन कृ० १०, राज्याभिषेक सं० १७९० माघ कृ० ३, उसका उत्सव सं० १७९१ ज्ये० शु० १३ और देवलोक सं० १८०८ आषाढ कृ० ७ को हुआ । (उ० रा० इ०)

‡ ता० नं० १४ श्रीरामजी

सही

सीधश्री महारावत श्रीजसवन्तसिंघजी वचनात गाम दोलतपुरा गाम वेसवारो खेडो श्रीनाथजी-दुवारा का गुसाईं श्रीगिरिधरलालजी है ऐ सो चढाए पुनो अरथ दीधौ आपदत्तं परदत्तं० (इत्यादि) सं० १७९९ बरषे सावण वीदी १

\+ ता० नं० ५ श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादातु श्रीएकलिंगप्रसादातु

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीजगतसिंहजी आदेशात गाम कांकरोली माहै ध्रती बीघा २० बीस हवाला री आमली 'केबडा'वाली (बड़ा बाग वर्तमान नाम) माहै थी श्रीद्वारकानाथजी रे वाडी सारु चढाई सो तांबापत्र करे दीधो प्रत दुए पंचोली देवकरण लिखतं पंचोली केसोराय लखमणोत सं० १८०३ वर्षे आसोज सुदी १३ भौमे ।

समय महाराणा ने कांकरोली आकर महाराजश्री से परिचय बढ़ाया, और राज्याभिषेक के बाद प्रथम ही दर्शनार्थ आने पर यह ज़मीन भेंट की हो। सं० १७७२ आश्विन शु० १२ को कुँवर पदे में इन्हीं जगतसिंहजी ने महाराजश्री से नाम सुना और ६००) भेंट और बिदाई में चढ़ाये थे।

सं० १८०३ में ही ज्येष्ठ बदी ५ को मुकाम उदयपुर में किसी ठिकाने के अधिपति महाराज रायसिंहजी ने पलासडा नामक ग्राम भेंट चढ़ाया *, और सं० १८०४ मार्ग० बदी १२ बुध के दिन महाराजा श्रीबाघजी ने कांकरोली आकर ग्राम लुणोरा में १५० बीघा ज़मीन श्रीठाकुरजी के लिये भेंट की†।

विद्या-प्रेम और नित्यलीला-प्रवेश

यह महाराजश्री हिंदी-भाषा के अच्छे पंडित थे। इन्होंने कितने ही कीर्तन और बधाई के पद आदि बनाये हैं। यह सुबोधिनी आदि की कथा भी अच्छी कहते थे। इनके द्वारा संग्रहीत बहुत से संस्कृत एवं हिन्दी के ग्रंथ विद्या-विभाग (सरस्वती-भंडार) में विद्यमान हैं, जिन पर उनके हस्ताक्षर हैं। इस ग्रंथ-संग्रह के शौक से इनकी विद्वत्ता का सहज ही अनुमान हो जाता है।

इन्होंने अपने पुत्र व्रजभूषणजी की प्रार्थना पर 'द्वारकाधीश की प्राचीन वार्ता' कह सुनाई थी, जो उन्होंने अपने पंड्या तुलारामजी के पुत्र गोवर्धनजी के द्वारा लिखवाई।

---

* ता० नं० २७

श्रीद्वारकानाथजी

श्रीपरमेसरजी

सही

सीधश्री अनेक सकल शुभोपमा वीराजमानानं श्रीमहाराजाधिराज महाराजश्री ५ श्रीरायसिंघजी देव वचनात तथा गुसाईजी श्रीगिरिधरलालजी रे गाम भेंट चढायो छै उ हासल पहुँच सी कीणी बात री खेचल न होसी खेतलं व गाव चढायो छै सोलोक अपदत्तं परदत्तं०......गावरी वीगतं १ गाव पलासडो परगने देहरहि कम छै मिती जेठ बद ५ संवत् १८०३ रा मुकाम उदैपुर।

† ता० नं० २८

श्रीरामजी

सही

सीधश्री माहाराजाधीराज माहाराजा श्रीबागजी वचनात अैता श्रीजी दवारै श्रीदवारकानाथजी धरती बीगा १५० हल ३ तीन री गाम लुणोरा माहै चड़ाई जणीमधे बीगा ३० पीवल बीगा १२० माल व मगरारी सीयाली उदक आघाट करै श्रीकीसनारपण कीधी दुए श्रीमुख प्रत दुए महैता गुलाबचन्द स्वदत्तां परदत्तां व०.................................लीखता साहा अनोपचन्द कोठारी मागसर बदी १२ बुधे स्मत १८०४ वीरखे।

पंड्या गोवर्धनजी कर्मकांड के अच्छे विद्वान् थे । अतः महाराजश्री ने अपने यज्ञ-यागादि के लिये नाथद्वारा के तिलकायित से माँगकर इन्हें कांकरोली में बसाया और वंश-परम्परागत पंड्या-वृत्ति प्रदान की थी ।

सं० १८०३ या ४ के लगभग में महाराजश्री का नित्यलीला-प्रवेश हुआ । इनके अनन्तर इनके पुत्र व्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) तृतीय पीठ के तिलकायित-पद पर विराजमान हुए । श्रीद्वारकाधीश को आसोटिया से कांकरोली में पधराने और संस्थान को सम्पन्न बनाने का श्रेय इन्हीं गिरिधरलालजी महाराज को प्राप्त है ।



परिशिष्ट—१

नाथद्वारा में सात स्वरूप का उत्सव

श्रीगिरिधरजी महाराज (द्वि०) तथा श्रीव्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) के समय नाथद्वारा के तिलकायित गोवर्द्धनेशजी महाराज ने 'सात स्वरूप का मनोरथ' किया, जिसका समय नहीं मिलता था ।

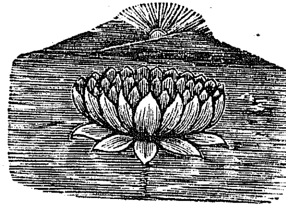
गोवर्द्धनेशजी का जन्म सं० १७६४ आषाढ़ बदी १० है । 'प्रवीण' कवि के वर्णनानुसार नाथद्वारा में छै स्वरूप पधारे थे और बड़े ठाठ-बाट से यह उत्सव हुआ था । इसमें सूरत से बालकृष्णजी नहीं पधारे थे । कवि ने लिखा है—

भूषन अंबर आछे अनूपम प्रीति के रीति रँगीन सिंगारे ;
भोग अनेक अरोगि-अरोगि प्रफुल्लित कीने हैं चाहनहारे ।
मनोरथ के रथ ऊपरि बैठि बड़ी छबि देत 'प्रबीन' के प्यारे ;
लाल गोबर्धनजी बड़ भाग के भौन श्रीद्वारकानाथ पधारे ।। ४ ।।

इस मनोरथ का संवत् इस प्रकार दिया है (सं० १७९६ मार्ग शु० ८ मंगल) ।

अंबेर भषन भोग सुगंध भली बिधि पान प्रसून सुधारे ;
मारगसीरस मास सुखाकर ऊजरी अष्टमी मंगलवारे ।
सत्रह से को छयानबे संबत ता समे आनंद उच्छव भारे ;
लाल गोबर्द्धनजी बड़भाग के मंदिर सात स्वरूप पधारे ॥ ११ ॥

उक्त ग्रंथ के एक पद्य से मालूम पड़ता है कि—इस मनोरथ का समस्त खर्च महाराव दुरजनसालजी 'कोटावाले' ने किया था, और अन्नकूट के समय ही सब स्वरूप पधार आए थे, जो इसी वर्ष इसी मनोरथ के पहले अमावस, रविवार के दिन हुआ था। (सर० भं० हि० ७३ । २)





श्रीव्रजभूषणजी नीतिवारे

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

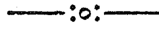
षष्ठ प्रकरण

(सं० १८०३ से १८५६)



श्रीव्रजभूषणजी महाराज (ष० ति०)

(प्रा० सं० १७६५ । ति० सं० १८०३, ४ । नि० सं० १८३३)



जन्म-संस्कार और शिक्षा—श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (द्वि०) का जन्म सं० १७६५ मार्ग० शुक्ल १ मंगलवार के दिन * आसोटिया में हुआ था। इनके पिता का नाम गिरिधरलालजी महाराज और माता का नाम श्रीमित्रवृन्दा बहूजी था। जैसा प्रथम कहा जा चुका है, यह तीन भाई थे।

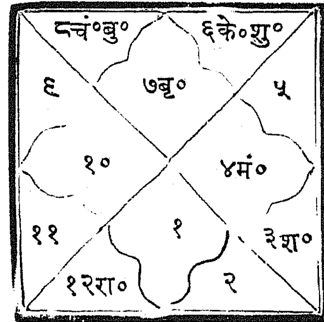
बाल्यावस्था के अनन्तर सं० १७७२ में इनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ, इस समय महाराज दलसिंहजी ने उपस्थित होकर कुछ ज़मीन भेंट की थी। व्रजभूषणजी महाराज ने अधिकांश अपने पितृचरण के पास ही संस्कृत-साहित्य के समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर अच्छा पाण्डित्य प्राप्त किया था। यह जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य के विद्वान् थे, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य के भी पारंगत विद्वान् और प्रख्यात कवि भी थे।

---

* जन्म-कुंडली—

अब्दे बाण रसाश्व भू (१७६५) परिमिते मार्गवलक्षे कुजे
शाके धातृ तिथौ तृतीय करणे योगे सुकर्माह्वये।
लग्ने सेज्य घटेऽलिगार्क बुधयोः स्वारे सितेऽत्ये यमे
पुण्येऽरौ तमसि स्थिते सम्भवच्छ्रीमद् व्रजाभूषणः ॥१॥

सं० १७६५ वर्षे शाके १६३० प्रवर्तमाने मार्गशीर्ष शुक्ल १ भौमे घटी २२,१४ परतो द्वितीया-जन्मतिथौ अनुराधा घटी ३६, ३० परं ज्येष्ठा जन्म-नक्षत्रे घटी ४२, ५४ सूर्योदयात् घटी ५४, ५० श्रीगिरिधरलालजी सुत श्रीव्रजभूषणजी जन्म।



विवाह और सन्तति—महाराजश्री के विवाह का ठीक संवत् नहीं मिलता है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि—वह सं० १७८० के आस-पास हुआ होगा।

इनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीव्रजकुँवरि बहूजी था*, जिनसे समयानुसार निम्नलिखित सन्तति हुई—

१ व्रजनाथजी प्राकट्य सं० १७८८ ज्येष्ठ शु० ७

२ मुरलीधरजी ,, ,, १७९१ वैशाख कृ० १२

महाराजश्री के द्वि० पुत्र मुरलीधरजी का छोटी अवस्था में और ज्येष्ठ पुत्र व्रजनाथजी का भी सं० १८२५ के लगभग नित्यलीला-प्रवेश हो गया।

व्रजनाथजी के तीन पुत्र हुए, जिनमें द्वितीय पुत्र कल्याण रायजी का छोटी अवस्था ही में देहांत हो गया और प्र० पुत्र विट्ठलनाथजी तथा तृ० पुत्र गोकुलनाथजी विद्यमान रहे। व्रजनाथजी लालव्रजनाथजी नाम से प्रसिद्ध हुए, पर यह कांकरोली के तिलकायित नहीं हो पाये। उनके गत हो जाने पर व्रजभूषणजी के एकमात्र अवलंब विट्ठलनाथजी ही थे। ऐसी अवस्था में व्रजभूषणजी कांकरोली में ही रहकर ठिकाने की रक्षा करते, और विट्ठलनाथजी प्रदेश-परिभ्रमण कर द्वारकाधीश के लिये सेवार्थ आवश्यक द्रव्य संगृहीत कर भेजा करते थे। इस समय जो पत्र व्रजभूषणजी महाराज ने प्रदेश में अपने पौत्र विट्ठलनाथजी को लिखे थे, वे बड़े महत्त्व-पूर्ण और इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले हैं।

जैसा प्रथम कहा जा चुका है—यह महाराजश्री विद्याव्यसनी, कवि और विद्वान् थे।

ग्रन्थ-रचना और काव्य-प्रेम — कवि होने के कारण स्वभावतः ही यह काव्य-प्रेमी और कवियों के आश्रयदाता थे। सरस्वती-भंडार में इनके रचित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

१. नित्य-विनोद (हिन्दी)
२. नीति-विनोद (हिन्दी)
३. श्रीद्वारकाधीश की प्राकट्यवार्ता (हिन्दी)
४. श्रीमदाचार्य-नामावली (संस्कृत)
५. श्रीबालकृष्ण-नामावली (संस्कृत)
६. श्रीवल्लभाचार्य और श्रीगुसाईंजी का सं० चरित्र (हिन्दी)
७. श्यामाश्यामलीला (हिन्दी)
८. गुणसागर (संस्कृत, षट्पदी)

* मनोहरदास-कृत गुजराती धोल। एवं केशवदास अभयराम-कृत पद (सर० भं० हि० १२।४)

इसके अतिरिक्त इनके बनाये हुए कितने ही कीर्तन-पद उपलब्ध होते हैं, जिनसे भावप्रियता और कल्पना-शक्ति के साथ कवित्व का परिचय मिलता है। इनके हस्त-लिखित तथा संशोधित कई ग्रन्थ विद्या-विभाग में संगृहीत हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि—यह लेखन-कला में भी दक्ष थे।

इन महाराजश्री को हिन्दी-कविता का बड़ा शौक़ था, अच्छे-अच्छे कवियों की कविता संगृहीत कर सुरक्षित रक्खा करते थे। एक ऐसा विशाल संग्रह विद्या-विभाग में विद्यमान है, जिससे कई अज्ञात कवियों की कविता का पता लगता है। काव्य के प्रेमी होने के साथ-साथ यह कवियों के आश्रयदाता भी थे। जयपुर-नरेश माधवसिंहजी का आश्रित बालकृष्ण*-नामक एक कवि कांकरोली उस समय आया था, जब महाराजश्री के पौत्र श्रीविट्ठलनाथजी का सं० १८११ में जन्म हुआ था। इस जन्मोत्सव के प्रसंग में पढ़े हुए उक्त कवि के कुछ पद्य प्राप्त होते हैं—

बैठक बजार बाग बानिक बनै है नीके नीके ज़री बसन बिछायित सुहाई है।
गावे वर नारी बाजै नौबत उछाह भरी गोकुल की शोभा कांकरोली आइ छाई है॥
कहै 'बालकृष्ण' द्वारकेश को हुकुम श्रीगुसाइँ गिरिधर-नन्द हेम झर लाई है।
लाल ब्रजनाथजू के विट्ठल जनम लीनो आज ब्रजभूषण के मंदिर बधाई है॥१॥
एकन के करन कनक करै देखियतु, मुकता बिमल राजै एकन के कान है।
एकन के कंठन में राजत रतन कंठी, एकन के तन जरी बसन अमान है॥
कहै 'बालकृष्ण' श्रीगुसाईं ब्रजभूषणजू भूषन बकसि कीनो सुजस सुजान है।
गउ द्विजपाल वही दीन को दयाल भयो लाल ब्रजनाथ के, निहाल भौ जहान है॥२॥

एक बार काव्य-चर्चा छिड़ने पर एक ही समस्या पर महाराजश्री तथा बालकृष्ण

* बालकृष्ण कवि का मि० ब० विनोद पत्र ५००,७६३ में नामोल्लेख है, और दोनों को एक ही बतलाते हुए कविता-काल सं० १७२६ दिया है। इनकी नायक अल्ल और चरणदास का शिष्य बतलाया है। १ ध्यानमंजरी, २ ग्वालपहेली, ३ प्रेमपरीक्षा, ४ परतीत-परीक्षा, ५ नेहप्रकाशिका—इनके रचित ग्रन्थ हैं। एतन्नामधारी अन्य कवि उक्त महाराजश्री के समसामयिक नहीं हैं, अतः इनका कविता-काल सं० १८०० के लगभग मानना चाहिये, क्योंकि उक्त पद्य सं० १८११ की रचना है। अथवा यह उनसे अन्य होंगे।

कवि दोनों ने ही उसकी पूर्त्ति की थी। जिससे ज्ञात होता है कि—महाराजश्री में आशुकवित्व का भी गुण विद्यमान था।

इस काव्य-प्रेम के कारण अन्य कई कवि भी महाराजश्री की सेवा में उपस्थित होते रहते थे, बूँदीनरेश दुर्जनसिंहजी का आश्रित कवि छविनाथ कनौजिया * भी उनमें से एक था। जब यह महाराजश्री के पास कांकरोली आया, तब इसने निम्न-लिखित कवित्त पढ़कर सुनाया—

सुरन प्रकासे मंत्र बिद्यनि बलित बल कलित सुमन हितकारी परदान है।
हरखि करन पर ठात कुमुदन सदा सेवित अनन्त भोगि-जोग भासमान है॥
'छबिनाथ' कहै वेद धुनित भुवन धीर परम पुरुष गनै ज्ञानी जसवान है।
कैधौ ससि भान महाराज गिरिधरलालजी को नन्द कैधौ ब्रजभूषन सुजान है॥

इस कवित्त के तीन अर्थ होते हैं, जिनका निर्देश व्रजभूषणजी ने अपने हस्त-लिखित संग्रह में किया है।

महाराजश्री जहाँ हिन्दी-कविता करते थे, वहाँ इनकी कवित्व-शक्ति संस्कृत में भी अप्रतिहत थी, इनकी बनाई हुई सौ से अधिक संस्कृत की षट्पदियाँ मिलती हैं। जिसका नाम 'गुणसागर' लिखा है। दुःख है कि—अभी तक इनका परिचय हिन्दी-साहित्य को प्राप्त नहीं हुआ।

कहना न होगा कि—कांकरोली-विद्या-विभाग के सरस्वती-भंडार का अधिकांश ग्रन्थ-संग्रह इनके समय में ही हुआ है।

महाराज श्रीव्रजभूषणजी को शास्त्रों का व्यसन था। वे सदा उनका परिशीलन किया करते थे। साम्प्रदायिक आकर ग्रन्थों में पारंगत विद्वान् होने के कारण कई

* छविनाथ का परिचय मिश्रबंधु-विनोद में नहीं दिया गया है। इनका जन्म-काल यद्यपि निर्धारित नहीं हो सका है, तथापि श्रीव्रजभूषणजी महाराज के शिष्य और समकालीन होने से इनका समय १७८५ से १८६० तक माना जा सकता है।

शिष्य इनके पास अध्ययन किया करते थे। उनमें से एक निर्भयराम भट्ट* भी थे, जो आगे चलकर इस सम्प्रदाय के एक मान्य विद्वान् हुए।

श्रीमथुरानाथजी के मन्दिर की स्थापना और बँटवारा

सं० १७९८ के मार्गशीर्ष शु० ५ को व्रजभूषणजी महाराज और उनके छोटे भाई वल्लभजी के साथ आपस में बँटवारा हुआ। उन्होंने वल्लभजी को मथुरानाथजी ठाकुरजी और सेवा-रागभोग के लिये जवास्या तथा बडाडडा ग्राम दिये, और मन्दिर तथा निवास-गृह बनाने को

* निर्भयरामजी नागर-जाति के ब्राह्मण, महाराजश्री व्रजभूषणजी के शिष्य और श्रीद्वारकाधीश के मुख्य परिचारक थे। इनके रचित अभी तक ये ग्रंथ मिलते हैं—

१ अधिकरण-संग्रह २ दशम स्कंध सुबोधिनी कारिकार्थ
३ उत्सवनिर्णय ४ आशौचनिर्णय

यह अपने गुरु व्रजभूषणजी महाराज के प्रति बड़ा गौरव रखते थे। अधिकरण-संग्रह के अन्त में इन्होंने इस प्रकार अपना उल्लेख किया है—

"श्रीमदाचार्यचरणवंशावतंसगोस्वामिश्रीव्रजभूषणानुचर निर्भयरामेण रचितोयमधिकरणसंग्रहः समाप्तः।"

आशौचनिर्णय के आदि-अन्त में निर्भयरामजी अपना परिचय ऐसा देते हैं—

श्रीद्वारकाधीशपदारविन्दं नत्वा सदाचारविचाररम्यम्"..

आशौच-शुद्धद्ध्यै कुरुते निबन्धं विद्वज्जनो-निर्भयरामसंज्ञः ॥ १ ॥

"इति श्रीद्वारिकाधीश राजधानी कांकरोलीस्थ नागरज्ञातीय विश्वनगर वास्तव्य निर्भयरामभट्टकृतः आशौचनिर्णयः समाप्तः ॥

इससे विदित होता है कि—यह बीसनगर गुजरात के निवासी थे, यह धर्मशास्त्र के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। गोस्वामिबालक तथा भट्टवर्ग में इनकी दी हुई शास्त्रीय व्यवस्था प्रामाणिक मानी जाती थी। सं० १८३६ आषाढ बदी २ को विट्ठलनाथजी के प्रति लिखे गये गोकुलनाथजी के पत्र से इसकी पुष्टि होती है। इसमें लिखा गया है कि—नाथद्वारा से माँग होने पर निर्भयरामजी द्वारा प्रदत्त धर्म-शास्त्रीय व्यवस्था वहाँ भेज दी गई है।

यह व्रजभूषणजी महाराज के समीप तो रहते ही थे, पर उनके नित्यलीला में प्रतिष्ठ हो जाने के बाद (सं० १८३३) भी कांकरोली में रहते थे, और इस घर के तिलकायितों के प्रति वही पूज्य भाव रखते थे। विट्ठलनाथजी के प्रति लिखे गये कांकरोली के पत्रों में गोकुलनाथजी बराबर इनके नमस्कार लिखा करते थे, सं० १८५० तक * के पत्रों में इनका नाम निर्देश मिलता है, अतः इस समय तक इनकी उपस्थिति में किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है।

* सं० १८५० आश्विन शु० ३ के दिन लिखे गये विट्ठलनाथजी के प्रति गोकुलनाथजी के पत्र से।

मन्दिर के कुछ स्थान। इस पर वल्लभजी ने पाँड़े गोवर्धनजी द्वारा एक फ़ारकती लिख दी *।

इस फ़ारकती से यद्यपि ऐसा विदित होता है कि सं० १८९८ के पूर्व ही व्रजभूषणजी के पिता गिरिधरलालजी का गोलोकवास हो गया था ? अतएव आपस में यह दोनों भाइयों के बीच लिखी गई थी, अन्यथा इसमें पिता का उल्लेख होता, परन्तु पिता की उपस्थिति में ही उनकी आज्ञा से आपस में भाइयों के नाम यह लिखी गई थी ऐसा निश्चित होता है। अस्तु।

इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि—इसी समय कांकरोली में श्रीमथुरेशजी का मन्दिर स्थापित हुआ और व्रजभूषणजी ने अपने भाई तथा मन्दिर के लिये चित्तौड़ इलाके का जवास्या, रायपुर का मोरडा और राजनगर का बडाडडा नामकग्राम दिया, तथाच श्रीद्वारकाधीश के मन्दिर के बगल में कुछ मकान भी।

---

* श्रीद्वारकेशो जयति
श्रीमथुरेशो जयति

स्वस्ति श्रीगोस्वामि दादाभाई श्री ५ व्रजभूषणजीसु कनिष्ठ भ्रातृ चि० भाई वल्लभस्य नतयः। अपरंच आपने मोपे कृपा करिके श्रीमथुरानाथजी की निधि मोकूं दीनी और इनके राग-भोग में गाम जवास्या इलाखे चितौड़ के तथा गाम मोरडा इलाखे रायपुर के दियो और हमारे हात खरच में गाम बराडलो इलाखे राजनगर को दियो, और हमारे रेवे कूं त० बैठक बनायबे कूं आपके जूनी बैठक उपर की जग्या बताई सो यापे आप बनवाय देगे। और कोठा बाबत आपने दादाजी के पोढ़बे को हो सो हमकूं दियो श्रीमथुरानाथजी के मंदिर कूं या बैठक के पास की पड़तल जमीन बताई तलाव के ऊपर, तामे हम मंदिर बनवाय लेगे। और या उपरांत सकडाई पड़े सो भट्ट श्रीकृष्णवारी जग्या हमने आप सूं माग के जनाना के तॉई लीनी, और श्रीद्वारकानाथजी की सेवा की परचारगी वगैरे जो वहाँ के टिकेत आग्या करेगे सो हमारे बंस को प्रतिपादन करेगो। हमारे तो मालिक यहाँ के आप है, सो आपकी छाया में हम बसे है। यह कार्य हमने हमारे घर में बैठिके दोउ भाई ने मिलिके कर लियो सो यामे और कोई को बोलबे को कार्य नहीं। अथवा अब कोउ हमकूं त० हमारे बंसके कूं कोई सिखावेगो तो वाकी सात पीढी नरकगामी होयगी। और हमारे घर को कोउ आपते द्वेष करेगो तो जन्म जन्म श्रीजी सूं बहिर्मुख होयगो। यह फारखती हमने हमारी राजी खुशीसूं प्रसन्नता सूं लिख दीनी सो हमारे सदा सर्वदा मंजूर है। द० पांडे गोबरधन के श्रीवल्लभजी की आज्ञा सूं लिख्यो। संवत् १७९८ मार्गशीर्ष शुक्ल ५।

इदं स्व हस्ताक्षरम्।

सं० १८०२ तक गिरिधरलालजी महाराज की उपस्थिति होने से अनुमान होता है कि—उन्होंने अपनी उपस्थिति में ही दोनों भाइयों के नाम आपस में बँटवारा करा दिया था

तिलकायितत्व—सं० १८०३ में पितृचरण गिरिधरलालजी (द्वि०) के गोलोकवास के अनन्तर यह तिलकायित-पद पर आसीन हुए। महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०) ने इनके प्रति अपना गुरुघर का दस्तूर भेजा। तिलकायित होने पर व्रजभूषणजी महाराज अपने पिता के सामने ही प्रदेश-परिभ्रमण कर धर्म-प्रचार करने लगे। कथा-प्रवचन, उपदेश, व्याख्यान तथा विद्वत्ता के द्वारा इन्होंने साधारण जन-समाज में ही नहीं, प्रत्युत राजा-महाराजाओं में भी अच्छा सम्मान प्राप्त किया।

ऐसा कहा जाता है कि—इन्हीं ने अहमदाबाद के प्राचीन मन्दिर में, जो अब खाली पड़ा था, द्वारकाधीश का द्वितीय स्वरूप पधराया था, और उसकी भी व्यवस्था की थी।

जयपुर-नरेश माधवसिंहजी का शिष्य होना

महाराजश्री के साथ जयपुर-महाराज माधवसिंहजी का अच्छा घनिष्ठ परिचय हो गया था। इस विषय में ऐसा प्रसिद्ध है* कि—सं० १८०३ के लगभग महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०) के साथ जयपुर-नरेश जयसिंहजी के द्वितीय पुत्र माधवसिंहजी भी कांकरोली आये थे। महाराणा के स्वागत-सत्कार के बाद व्रजभूषणजी महाराज ने माधवसिंहजी का स्वागत करते हुए उन्हें 'आम्बेरपति' के विशेषण से संबोधित किया। इस पर माधवसिंहजी ने निवेदन किया कि—महाराज! मेरे बड़े भाई ईश्वरीसिंहजी इस समय वहाँ के राजा हैं, अतः मैं 'आम्बेरपति' कैसे हो सकता हूँ † ?

---

* १२० वचनामृत सं० १८।

† महाराणा अमरसिंहजी की पुत्री चन्द्रकुँवरि का विवाह जयसिंहजी के साथ इस शर्त पर हुआ था कि इससे जो पुत्र हो, वही जयपुर का राजा बनाया जाय। जयसिंहजी के ज्येष्ठ पुत्र ईश्वरीसिंहजी का जन्म प्रथम रानी के गर्भ से सं० १७७८ में हुआ और सं० १७८४ में द्वि० रानी चन्द्रकुँवरि के गर्भ से माधवसिंहजी का। इनके जन्म के समय महाराणा संग्रामसिंहजी विद्यमान थे, अतः यह माधवसिंहजी के मामा और वे इनके भानेज लगते थे। जयसिंहजी ने अपने पुत्रों में आपसी झगड़ा न होने देने के लिये मेवाड़ में आकर सं० १७८५ चैत्र शु० ७ को महाराणा के द्वारा रामपुरा-नामक इलाक़ा माधवसिंहजी को दिलवा दिया था। (जयपुर का इतिहास)

सं० १७९० में जगतसिंहजी (द्वि०) मेवाड़ के और सं० १८०० में ईश्वरीसिंहजी जयपुर के राजा हुए। रामपुरा की जागीर मिल जाने के कारण माधवसिंहजी अपनी माता के साथ मेवाड़ में ही रहने लगे थे।

पहिले रामपुरा मेवाड़ के अंतर्गत था और माधवसिंहजी को दिया गया था। बाद में उन्होंने राजा होने पर इसे हुल्कर को दे दिया।

इस पर महाराजश्री के कुछ कहने के पूर्व ही महाराणा ने कहा कि—आपके श्रीमुख से जो वचन निकले हैं, वे अवश्य सत्य होंगे। तुम अवश्य हीं आगे चलकर वहाँ के राजा होगे।

महाराणा के इस प्रकार के उत्साह-पूर्ण वाक्य सुनकर माधवसिंहजी को भी व्रजभूषणजी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। वे महाराणा के दीक्षा लेने के प्रसंग से परिचित भी हो चुके थे। इस कारण उन्होंने भी महाराजश्री से वैष्णव-धर्म की दीक्षा ली * और दातौली-नामक गाम (परगना रामपुरा) गुरुदक्षिणा में भेंट किया। इसका भेंट-पत्र सं० १८०४ आश्विन बदी १२ के दिन किया गया गया, जो इस प्रकार है—

श्रीरामजी

सिधि श्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीमाधोसिंहजी देव वचनात आमिल प्रगना रामपुरा का दिसे सुप्रसाद वंच्या अप्रच मौ० दातौली प्रगना मजकूर की पुनि उदीक गुसाई व्रजभूषणजी ने गुरुदीखणा में चढ़ायो छै सो संवत् १८०४ का साल थे हासील पटै लेवा दीज्यो हरसाल सनद तलब करो मती भोग व लागत वीलगत सूधो श्रीरामा अरपण कीयो छै मीती आसोज बदी १२ सं० १८०४।

सं० १८०५ ज्येष्ठ शु० १३ के दिन सवाई महाराज माधवसिंहजी ने महाराजश्री को देवपुर तथा दातौली (मेवाड़, परगना रामपुरा) ग्राम प्रदान

राज्य-सम्मान

सं० १८०४ कार्तिक शु० १ के दिन कोटा के महाराव दुर्जनसाल, महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०) तथा माधवसिंहजी ने नाथद्वारा में मिलकर जयपुर के राजा ईश्वरीसिंह पर इसलिये चढ़ाई की कि यह राज्य माधवसिंहजी को दिलाया जाय। दो-तीन बार आपस में सुलह और कुछ लेन-देन होते रहने पर अंत में सं० १८०७ में हुल्कर की फ़ौज ने आक्रमण किया, जिससे हरगोविंद कामदार के धोखा दे देने पर ईश्वरीसिंहजी का सहसा देहान्त हो गया। अंत में उनके कोई संतान न होने के कारण माधवसिंहजी ही राजा हुए।

* सोभत व्रजभूषण महा वल्लभकुल को चंद।
कीन्हो जिनको मंत्र-गुरु माधव नृपति अमंद ॥ ५ ॥

(कवि छविनाथकृत 'माधव सुजस प्रकाश', तृ० प्रकाश सभावर्णन बहुधान्य संवत्सरे (?) उत्तरायणे शिशिरऋतौ फाल्गुने मासि कृष्णपक्षे एकादश्यां गुरुवासरे समाप्तः।)

किए और जिसका परवाना ज्येष्ठ शु० ५ सं० १८०६ में मुकाम उदयपुर से किया गया * ।

महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०) ने महाराणी भटयाणी के द्वारा उदयपुर में बनवाए गए द्वारकानाथजी के मन्दिर की सेवा-पूजा के लिये साढ़े अड़तीस बीघा ज़मीन 'पेमारी सराय' की ज़मीन के बदले दी। जिसका पहिला ताम्रपत्र सं० १८०२ कार्त्तिक बदी ८ सोमवार के दिन किया गया था। महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०) की इस रानी ने कांकरोली के गिरिधरजी महाराज से वैष्णव-दीक्षा लेकर सेवा के लिये उदयपुर में सं० १८०२ में द्वारकानाथजी का स्वरूप पधराया और मन्दिर बनवाया था।

इससे अनुमान होता है कि—सं० १८०२ में गिरिधरलालजी महाराज के समय यह ज़मीन भेंट आई और सं० १८०७ में व्रजभूषणजी को इसके बदले 'भटयाणी की सराय'-नामक स्थान में दूसरी ज़मीन दी गई।

---

* सही

श्रीसीतारामौ जयतः

महाराजाधिराज महाराजाजी

श्रीमाधवसिंहजी

सिधि श्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीमाधवसिंहजी देव वचनात् प्रगना रामपुरा का "दसेसुप्रसाद वंच्या। अपरंच बाबति पुनि उदक गाव देवपुर तथा दातोली प्रगना रामपुरा को गुसाई श्रीव्रजभूषणजी ने उदिक में दीयो छे। वास्ते प्रवाना सवती के अरज पौची तीस्यौ थाने फ़ुरमावांछा ××× सो वास्ते प्रवाना सवती के मिती जेठ बदी १४ संवत् १८०६ साल संबत् १८०५ मारफति भट सदाशिव की अरज पहुँची। हुकुम हुवो ××× गाँव देवपुर तथा दातोली प्रगना रामपुरा इसत साख स्यालू संबत् १८०६ थे प्रवानो सवती करिद्यो गाँव तंन दरोबस्तमी१ सो चाहिजे दीवान सरकार का प्रवानो लिखो मिती सदर अरज मुकररपहुँची......मुकररा तनखहा पुनि उदिक गाँव देवपुर तथा दातोली ××× गाँव तंन दरोबस्त मौजा ....मिती जेठ सुदी ५ संवत् १८०६ मु० बुदेपुर। (संक्षिप्त)

रजूदफत्र साह फतेचंद दीवान रजूदफत्र संगही नंदलाल दीवान

† ता० नं० ३१

श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादातु सही श्रीएकलिंगप्रसादातु

महाराजाधिराज महाराणा श्रीजगतसिंहजी आदेशात् ठाकुर श्रीद्वारकानाथजी रो देवरो राणी भीटयाणी करायो जठे प्रसाद तथा सेवग रा भाता सारू धरती हल १ एक री आगे पेमारी सराय माहेथी दीवाणी थी तींरे बदले भीटयाणीरी सराय माहेथी धरती बीघा ३८॥ साडा अठतीस मधे पीवल बीघा १८ अठारे साल मगरो बीघा २०॥ साढा बीस दीवाणी पेमारी सरायरी धरती हल १ री रो हासल भीटयाणी री सराय में लेसी। पेली तामापत्र संबत् १८०२ रा काती बदी ८ सोमे रो साह खुस्याल रे भंडार सोप्यो लागत बीलगत घर ठाम सुदी ऊदक आघाट करै श्रीरामा अरपण कीधी स्वदत्तां परदत्तां वा० प्रत दुए पंचोली हरकिसन लिखतं पंचोली गुलाबराय कान्होत संबत् १८०७ बर्षे असाढ बदी ४ सीनु।

उ० रा० इतिहास (ओझाजीकृत) पत्र ६४० में इसी विषय के शिलालेख का उल्लेख है।

जयपुर-नरेश द्वारा राज्य-सम्मान

सं० १८०७ में जयपुर के महाराजा सवाई ईश्वरीसिंहजी का देहान्त हो गया। उस समय उनके सौतेले भाई और राज्य-प्राप्ति के इच्छुक माधवसिंहजी मेवाड़ से जयपुर रवाना हुए। इस समय इन्होंने महाराज श्रीव्रजभूषणजी का ध्यान रक्खा और उन्हें भी अपने पूर्वप्रदत्त वचन के अनुसार राज्यारोहण के समय जयपुर आने का आमंत्रण दिया।

महाराजश्री जयपुर जाते हुए मार्ग में पौष कृ० ८ सोमवार को तीर्थस्नानार्थ पुष्कर ठहरे। उस समय इनके साथ ओझा जयकृष्ण के पुत्र दुर्गादास तथा उनके पुत्र खड्गसेन एवंच नरोत्तम और श्रीकृष्ण-नामक व्यक्ति थे। यहाँ महाराजश्री ने पुरोहित को दादा व्रजभूषणजी तथा गोपालजी के हस्ताक्षर देखकर वृत्ति-पत्र लिख दिया।

यहाँ से महाराजश्री जयपुर पधारे और वहाँ यथासमय महाराज माधवसिंहजी के राज्याभिषेकोत्सव में सम्मिलित हुए। इस समय उनका राज्य में अच्छा सम्मान हुआ और जयपुर-नरेश ने अच्छी बिदाई प्रदान की।

जयपुर-महाराज के द्वारा प्रदत्त सम्मान के विषय में इस प्रकार प्रसिद्ध है*—

महाराजा माधवसिंहजी के आग्रह पर जब व्रजभूषणलालजी महाराज राज्याभिषेक के समय जयपुर पधारे, तब नगर की सीमा के पास 'मोती डूँगरी'-नामक स्थान पर जयपुर-नरेश ने उनकी अगवानी की और राजकीय सम्मान के साथ महाराजश्री को नगर में पधराया। राज्याभिषेक के दिन महाराजश्री की ओर से तिलक का योग्य दस्तूर किया गया।

नियमानुसार जब धार्मिक दीक्षा लेने का समय आया, तब माधवसिंहजी ने अपने परम्परागत अन्य गुरुओं की दीक्षा न लेकर व्रजभूषणजी महाराज से ही दीक्षा-प्राप्ति का आग्रह किया। इस पर उन्होंने कहा कि—आपके यहाँ परम्परा से जो दीक्षा होती चली आई है, वह अवश्य होनी चाहिए। परन्तु माधवसिंहजी के सर्व-प्रथम महाराजश्री की दीक्षा लेने का आग्रह बतलाने पर उन्होंने यह कहकर उनका समाधान किया कि—हमारी दीक्षा के बाद अन्य किसी की दीक्षा नहीं हो सकती। अतः प्रथम क्रमागत दीक्षा ले लेने के बाद आप मुझसे वैष्णव-धर्म की दीक्षा लें, जिससे मर्यादा-

* गिरिधरलालजी-कृत १२० वचनामृत सं० १८।

भंग भी न होगा और हम दोनों का अभिमत भी सिद्ध हो जायगा। अन्त में ऐसा ही हुआ और जयपुर महाराज ने अन्य दीक्षाएँ लेकर अन्त में महाराजश्री से दीक्षा ली, तथा दीक्षा लेकर उनका राजकीय सम्मान कर भेंट चढ़ाई * ।

इसी प्रसंग में यह भी लिखा मिलता है कि—अन्य राज्यगुरुओं को वैष्णव-धर्म की दीक्षा का प्रसंग ठीक नहीं जँचा। अतः उन्होंने महाराजा के हृदय में इस धर्म के लिये यह बात जँचाने की कोशिश की कि—इस धर्म के माननेवाले अपनी बातों और सिद्धान्तों को ही महत्त्व दिया करते हैं, और अन्य प्रामाणिक बातों को कुछ भी नहीं मानते।

इस वार्तालाप से महाराज के हृदय में कुछ संशय पैदा हो गया। एक दिन जब माधवसिंहजी ने महाराज व्रजभूषणजी से कथा सुनने के बाद चार प्रश्न पूछे, जिनमें देवता, पर्वत, नदी और तीर्थ कौन-से बड़े हैं? इसका समाधान चाहा था†। महाराजश्री ने धार्मिक सिद्धान्त और सम्प्रदाय, दोनो की विशेषता रखते हुए उत्तर दिया। जिससे उनके हृदय में वैष्णव-धर्म के प्रति और भी अधिक श्रद्धा जम गई।

व्रजभूषणजी महाराज के राज्याभिषेकोत्सव में सम्मिलित होने के बाद उनकी विद्वत्ता, सौजन्य एवं आशीर्वाद का माधवसिंहजी पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे महाराजश्री को बड़े आदर की दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने सं० १८०८ भाद्र कृ० ३ को शंकरपुरा उर्फ़ कालीघाटी में २०००) की लागत की ज़मीन और जयपुर खास में एक हवेली प्रदान की। पहिले इस गाम का हासिल राज्य के द्वारा ही वसूल होकर

* सं० १८०४ में गुरुदक्षिणा में प्रदत्त दातौली ग्राम के परवाना और इस प्रसंग से अनुमान होता है कि माधवसिंहजी ने कांकरोली में प्रथम बार तथा जयपुर में दूसरी बार दीक्षा ली थी। ऐसा उनके राजतिलक के समय वैष्णव-धर्म के प्रति कट्टर आग्रह से संभव है।

† इस प्रश्नोत्तर का रूप श्रीगिरिधरलालजी (प्र०) और महाराणा जगतसिंहजी (प्र०) के प्रसंग में शिष्य होने के पहिले वर्णन किया जा चुका है। (देखो पत्र १३०)

इन्हीं महाराजश्री ने द्वारकाधीश की प्राकट्य-वार्ता में स्वयं इस प्रसंग का उल्लेख किया है कि—ये ही चार प्रश्न महाराजा माधवसिंहजी ने जयपुर जाने पर मुझसे भी किये थे, मुझे महाराणा जगतसिंहजी का उक्त प्रसंग याद था, अतः मैंने भी ये ही उत्तर दिये थे, जिससे माधवसिंहजी को भी सन्तोष हुआ था।

महाराजश्री को मिल जाता था, पर आगे चलकर सं० १८१५ के आषाढ़ शु० ७ के दिन माधवसिंहजी ने महाराजश्री के नाम ही कर दिया *।

महाराजा माधवसिंहजी द्वारा प्रदत्त गत चार-पाँच सालों के गामों के परवाना देखने से इस बात की पुष्टि होती है कि—व्रजभूषणजी पर उनकी पूर्ण श्रद्धा और विश्वास हो गया था। उन्होंने समझ लिया था कि—महाराजश्री के आशीर्वचन से ही मुझे 'आम्बेरपति' होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

अन्य ग्रामों का भेंट आना

सं० १८०७ में राजा दलेलसिंहजी † कुँवर रघुनाथसिंहजी ने कांकरोली आकर श्रीद्वारकाधीश की सेवा के लिये क़स्बा भांडेर परगना कोलेसर में ४०१ बीघा ज़मीन महाराज व्रजभूषणजी को प्रदान की।

दलेलसिंहजी के आषाढ़ बदी ४ सं० १८०७ के लेखपत्र पर नियमानुसार राज्य की कार्यवाही हुई और महाराजा माधवसिंहजी ने इसी वर्ष भाद्र० कृष्ण १२ के दिन मुक़ाम जैपुर में इसका परवाना कर दिया‡।

---

* श्रीरामजी
सही

श्रीसीतारामो जयति
श्रीमहाराजाधिराज सवाई माधवसिंहजी

सिधश्री महाराजाधिराज महाराजा सवाई श्रीमाधवसिंहजी देवचनात कमैती प्रगना सवाई जैपुर का दसेसुप्रसाद वंच्या अपरंच बाबति पुन्य उदिक गाँव गुसाई व्रजभूषणजी नै जो मुवाफिक यादिदासति मै दसखत खास दीवानयान करार मिती भादवा बदी ३ सबत १८०८ अरज पहौची उमेदवार पुन्य उदिक का तीह सूं फुरमावाछाँ गाँव संकरपुर उरफ कालीघाट तथा हवेली प्रगना सवाई जैपुर को रुपया २००० को दरोबस्त इस्तग मिती भादवा सुदी ३ संबत १८०८ थे सीगे उदिक के बहाल जाणि हासिल हवाले करिवो कीज्यो अर खंडिता सूं मौक़ूफ कीज्यो मुकररा गाँव तथा हवेली प्रगना सवाई जैपुर को रुपया दोय हजार को एक.................. मुवाफिक यादिदासति मै दसखत ख़ास दिवानयान.............. मिती असाढ सुदी ७ संबत १८१५ साल संबत १८१४ मुकाम सवाई जैपुर।

रजूदफत्र दिवान कन्हीराम। रजूदफत्र दिवान नंदलाल। रजूदफत्र संतोषराम
(संक्षिप्त) मुस्तोफी हजुर।

† यह रियासत जयपुर में ठिकाना धूला के रावजी थे और महाराजा माधवसिंहजी के राज्यकाल में सं० १८२४ की मांवडा की लडाई में काम आये थे।

‡ नं० २१२ श्रीरामजी
सही

सीधि श्री राज्य दलेलसिंघजी कवर रघुनाथसिंघजी वचनात गुसांईजी श्रीवीरजभूषणजी अत्र धरती पून्य

सं० १८०८ (चैत्रादि) (श्रावणादि सं० १८०७) के आषाढ शु० ७ के दिन महाराणा जगतसिंहजी का देवलोक हुआ और उनके साथ रानी मिसाणीजी ने सहगमन किया । इस निमित्त महाराणा प्रतापसिंह (द्वि०) ने इसी दिन गद्दी पर बैठने के बाद * मार्गशीर्ष मास के बदी ९ गुरु के दिन द्वारकानाथजी के लिये भटयाणी की सराय में पुण्यार्थ ज़मीन प्रदान की † ।

उदीक बीघा ४०१ चारी सै एक कसबा भंडारेज प्रगना बहात्री की चढाई......स्यालू की बीघा साढातीन सै ३५० उन्हालू की बीघा इक्यावन ५१ सो धरती को हासिल आवे सो श्रीठाकुरजी नै भोग लगावै । मिती असाढ वदी ८ संबत १८०७

नं० २२५ श्रीरामजी

श्रीसीतारामो जयति

सही श्रीमहाराजाधिराज सवाई माधवसिंहजी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई माधवसिंहजी देववचनात कमैती प्रगना वहातरि का दसेसुप्रसाद वंच्या । अप्रंचि बापति पुनि उदिक धरती बीघा ४०१ गुसांई ब्रीजभूषणजी नै कसबा भांडेरज तथा कौलेसर प्रगना बहातरि का की जो मुन्यादि दासति में दसखत दीवानयान करार मिती सावण बदी १२ संबत १८०८ अरज पहुँची जो पुनि उदिक धरती बीघा ४०१ तीको प्रवानो दलेलसिंघजी राजावत को करार मिती असाढ बदी ४ संबत १८०७ को हाथि राखे छै अब प्रवानो सवती सरकार करायो चाहै छै संबत १८०८ की स्यालू थे वहाल जाणि हासिल हवाले करिवो कीज्यौ दीवान सरकार का प्रवानो लिखो मिती सावण सुदी २ साल संबत १८०७ आज मुकरर पहुची धरती बीघा च्यारि सै एक ४०१ साख स्यालू की बीघा साढा तीन सै ३५० उन्हालू की बीघा एकावन ५१

मु० यादिदासति मै दसखत खास वा दीवानयान । मिती भादवा वदी २ संबत १८०८ साल संबत १८०७ मुकाम सवाई जैपुर ।

रजूदफत्र कन्हीराम दीवान रजूदफत्र दीवान हजूरि रजूदफत्र बखतराम मुस्तोफी हजूरि ।

(संक्षिप्त)

* महाराणा प्रतापसिंहजी का जन्म सं० १७८१ भाद्र० कृष्ण ३ को और राज्यारोहण सं० १८०८ आषाढ़ कृ० ७ को हुआ था । सम्भवतः इस समय व्रजभूषणजी उदयपुर उपस्थित नहीं हो सके, क्योंकि वे उस समय माधवसिंहजी के राज्याभिषेकोत्सव पर सम्मिलित होने के लिये जयपुर गये हुए थे । दो वर्ष बाद सं० १८१० माघ कृष्ण २ को महाराणा प्रतापसिंह (द्वि०) का देवलोक हो गया ।

† ता० नं० ३० श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादातु सही श्रीएकलिंगप्रसादातु

महाराजाधिराज महाराणा श्रीप्रतापसिंघजी आदेशात ठाकुर श्रीदुवारकानाथजी माजी मीसाणीजी रा देवरा रा सेवगाकस्य सरावरी वाडी री धरती बीगा ६।।।, १ ईखरे पुणा दस वीसवो एक महाराणाजी श्रीजगतसिंघजी संबत १८०७ रा असाढ सुदी ७ रे दीन वैकुंठ पधार्या साथे माजी मीसाणीजी सहेगवन कीधो जदी चढाई लागत सरब सुधी ऊदक आघाट करै श्रीरामाअरपण कीधी स्वदत्तां परदत्तां

सं० १८१२ ज्येष्ठ शु० ५ बुध को महाराणा प्रतापसिंहजी के बाद राजसिंहजी (द्वि०) * के राज्याभिषेक के समय व्रजभूषणजी महाराज उदयपुर पधारे और वहाँ गुरुघराने का दस्तूर किया।

इनके देवलोक हो जाने पर औरसपुत्र के अभाव में सं० १८१७ चैत्र कृ० १३ को जगतसिंह (द्वि०) के छोटे पुत्र महाराणा अरिसिंहजी गद्दी पर विराजमान हुए।

सं १८१० ज्येष्ठ शु० १३ के दिन व्रजभूषणजी तथा वल्लभजी की आपस के ऋण चुकाने पर वल्लभजी का लिखा हुआ एक पत्र मिलता है। इसमें लिखा है कि हम भाई २ जुदे हुए तब काकाजी गोपालजी के ठाकुरजी मथुरानाथजी तथा अन्य स्वरूप और ५ गाम व्रजभूषणजी ने हमको दिये और काकाजी को सब क़र्ज की अदायगी में ग्यारह हज़ार रुपया हमसे दिलाया। यह झगड़ा श्रीमित्रवृन्दा माजी महाराज ने निवटवाया था। इसमें १ बडाडडा, २ गोपालपुरा, ३ जवास्या और ४ कोटा के गामडों तथा ५ देवाली नामक ग्रामों के नाम लिखे हुए हैं †।

वा..................प्रत दुए पंचोली देवकरण लिखतं पंचोली गुलाबराय कान्होत संवत १८०८ वर्षे मागसेर वदी ६ गुरे।

* इनका जन्म सं० १८०० वैशाख शु० १३, गद्दीनशीनी सं० १८१० माघ कृ० २ और राज्याभिषेकोत्सव सं० १८१२ ज्येष्ठ शु० ५ को और कैलासवास सं० १८१७ चैत्र कृ० १३ को हुआ।

† श्रीद्वारकेशो जयति

गोस्वामी

श्रीवल्लभलाल

लिखितं वल्लभजी यह लिख्यो सही याते फिरे तो श्रीगोवर्द्धननाथजी, श्रीद्वारकानाथजी, श्रीवल्लभदेव, श्रीविट्ठलनाथजी ते विमुख। सिध श्री लिखतं गुसांई श्रीवल्लभजी श्रीगिरिधरलालजी सुत आगे हम भाई जुदे भये तब काकाजी गोपालजी के ठाकुरजी श्रीमथुरानाथजी तथा सरूप सब त० गाम ५ ताकी विगत

१ गाम बडारडो.................................. १ गाम गोपालपुरो..............................

१ गाम जवास्यो.................................. १ गाम गामडी कोटारो..............................

१ गाम देवाली कोटारी..............................

५ गाम धरती सब दीनी अर करज काकाजी को सब भाई श्रीव्रजभूषणजी ने चुकायो। गाम सब छुडाय के हम कूं सोंपे अर रु० ११००१ अखरे रुपया हजार इग्यारे एक हम पास करज म्हे दीवाये या कजियो माजी श्रीमित्रवृन्दा बहूजी ने आगे रहके चुकायो तामे खत नामा चार सोप्या सो रुपिया खता प्रमाणे देना..............................

३०८०१, खत एक अडतीस से एकरो व्यास व्रजु गिरिधर रा नाम रो..............................

इससे ज्ञात होता है कि—श्रीमथुरानाथजी ठाकुरजी के रागभोग में अधिक व्यय होने से काका गोपालजी के ऋण हो गया था। काका गोपालजी के व्रजभूषणजी महाराज के छोटे भाई वल्लभजी गोद बैठे और उन्होंने मथुरेशजी के मंदिर की व्यवस्था बाँधी। दोनों भाइयों ने आपसी बटवारा किया, और व्रजभूषणजी ने माजी मित्रवृन्दावहूजी को आगे रखकर बहुत-सा इनका ऋण चुकाया था। मथुरेशजी का प्रकरण आगे लिखा जायगा।

सं० १८११ आश्विन कृष्ण १४ को जयपुर-राज्य से वल्लभजी गोपालजी को प्राप्त लाखणपुरा ग्राम (परगना लालसोट) का दाखिलखारिज व्रजभूषणजी ने अपने नाम कराया, और महाराजा माधवसिंहजी ने इसका परवाना कर दिया *।

इससे अनुमान होता है कि—सं० १८१० में काकाजी गोपालजी का क़र्ज़ चुकाने

१८०१, खत एक अठारे से एक रो बहोरा रामकिसन रा नामरो...........................
३६४६, खत एक छत्तीस से गुण चाग्यो व्यास पीताम्बर रा नामरो.........................
१७५०, खत एक सतरेसे पचास रो पांडे गोपाल रा नामरो.................. ....
४ रु० ११००१..........

खत चार रुपया हजार ११००१, इग्यारेसे एक देणाया था पजरधपा तो श्रम क्रम ते विमुख राजी वाजी होय के लिख्यो कर दियो लिखतं पंचोली रणछोडराय जादुराय ए हुकुम थी छे..................

साख १ पंचोली साँवलदास ताराचंदो सा...

साख १ पंचोली संताखदास गुधावत ....

जेठ सुदी १३ संवत १८१० के वर्षे।

* नं० २३१ श्रीरामजी

सही श्रीसीतारामो जयति

श्रीमहाराजाधिराज सवाई माधवसिंहजी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई माधवसिंहजी देव वचनात कमैती प्रगना लालसोट का दसेसुप्रसाद वंच्या अप्रंचि बावति पुन्य उदिक गाव लाखणपुर प्रगना लालसोट को गुसाईं श्रीब्रिजभूषणजी नै त्याह कै वास्तै मुवाफिक यादिदासति मै दसखत दिवानयान करार मिती सावण सुदि १० संवत १८११ अरज पहौची पुन्य उदिक गांव मजकूर वलभ गोपाल को गुसाईनाथजी दुवाराको मुवाफिक प्रवानै सवती करार मिती पोस बदि ११ संवत १८०८ का थे पावै सो हासिल गांव को संवत १८१० ताईं पायो अब प्रवानो संवत १८११ थे गुसाईं श्रीब्रिजभूषणजी कै नाय करावा को उमेदवार तीह सूं फुरमावांछा इसतग मिती भादवा सुदि ३ संवत १८११ थे गुसाईं श्रीब्रिजभूषणजी कै नाय वहाल जाणि हासिल हवालै करिवो कीज्यो अर गुसाईं वलभजी सौं मोकूफ कीयो छै गुसाईं श्रीब्रिजभूषण कै नाय प्रवानो सवती करो गुसाईं वलभजी सौं मौकूफ सो चाहिजेय दिवान सरकार का प्रवाना लिखै मिती भादवा सुदि ८ संवत १८११

के बदले में जयपुर रियासत के गाम व्रजभूषणजी ने वल्लभजी से लेकर अपने नाम करवा लिये, और आपसी लिखापढ़ी के कारण जयपुर-राज्य ने भी उन नामों पर व्रजभूषणजी का अधिकार स्वीकार कर लिया।

सं० १८१० माघ वदी २ को महाराणा राजसिंहजी (द्वि०) की गद्दीनशीनी और सं० १८१२ (श्रावणादि) ज्येष्ठ शु० ५ को राज्याभिषेकोत्सव हुआ। महाराणा ने इस समय सुवर्ण का तुलादान किया और बड़ा भारी उत्सव मनाया।

इस उत्सव में कांकरोली से महाराजश्री को आमंत्रण आया और उन्होंने उपस्थित होकर अपने गुरुघर के द्वारा महाराणा को तिलक किया। महाराणा ने महाराजश्री का यथायोग्य सत्कार किया और वैष्णव-धर्म दीक्षा लेकर कंठी बँधाई।

सं० १८१४ वैशाख शु० १५ भौम को रावतजी सवाई मेघजी ने व्रजभूषण-जी महाराज से ५०० रु० मूल्य की एक हथिनी मोल लेकर मूल्य के साथ ग्राम चमनपुरा भेंट किया *।

सं० १८१५ माघ कृष्ण ११ बुध के दिन महाराणा राजसिंह (द्वि०) ने महाराज

अरज मुकररा पहौची मुकररा गाँव एक······························मुवाफिक यादिदासति में दसखत खास दिवानयान·····························

मिती आसोज विदी १४ संवत १८११ मुकाम कसबा सवाई जैपुर।

रजूदफत्र कन्हीराम दीवान। रजूदफत्र फतेराम दीवान। रजूदफत्र हरिचंद मुसतोफी हजूरी।

* ता० नं० २४

श्रीसुद्रसेणजी

राम

सही

सीधश्री माहाराजधराज माहाराजा श्रीरावतजी श्रीसवाई मेघजी वचनात गुसाई श्रीव्रजभूषणजी री हथणी एक १ मोल लीधी जणीरा रुपीया ५०० पाच सै तो रोकडा हथणी का मोलै का दीधा गाम चमनपुरा ताँबापतर करै दीधो गाम की लागत वीलगत की कोडी एक री कदा खेचल हेसी नहीं आपदत्तं प्रदत्तं जे······················प्रसाहास बा चंद। लखतां साहा अनोपामोगरा मती बसाक सुद १५ भौमे संमत १८१४ बरषे तामापतरे उदक माह करै दीधो।

को ग्राम सांगट (परगना मगरा) भेंट किया, संभवतः यह ग्राम प्राचीन वैष्णव-दीक्षा की गुरुदक्षिणा के रूप में भेंट किया गया है*। इस समय महाराणा ने एक शिलालेख भी लगवाया।

कांकरोली ठिकाने के लिये यह प्रथम ही अवसर था, जब महाराणा की ओर से इस प्रकार का शिलालेख किया गया, जिससे यहाँ के महाराजश्री और उनके आश्रित व्यक्तियों के ऊपर दूसरे ठिकाने का हस्तक्षेप रोका गया हो। आगे चलकर इसी लेख की वजह से इस ठिकाने के लिये स्थानीय शासन प्राप्ति का सूत्र-पात हुआ।

सं० १८१८ श्रावण वदी ६ के दिन जयपुर-नरेश माधवसिंहजी ने संकल्प कर परगना टोडा रायसिंह में गाम वडवास का परवाना महाराजश्री को भेंट किया†,

---

* ता० नं० १६ श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादातु श्रीएकलिंगप्रसादातु

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीराजसिंहजी आदेशात गुसांई श्रीव्रजभूषणजीकस्य गाम सागट प्रगणे मगरारे उदक आघाट लागत बीलगत सुधी रामाअरपणा कीधनो प्रत दुए लीखता पंचोली एकलिंग दास रायचंदोत संवत १८१५ वर्षे माहा वीद ११ बुधे।

† नं० २१६ श्रीरामजी श्रीरामजी श्रीसीतारामो जयति

सही श्रीमहाराजाधिराज सवाई माधवसिंहजी

सिधिश्रीमाहाराजाधिराज महाराजाश्री सवाई माधवसिंघजी देव वचनात कमैती प्रगना टोडा रायस्यंघ का दसेसुप्रसाद वंच्या अपरंच बावति उदिक गाँव गुसाईजी श्रीव्रिजभूषणजी ने मारफति राजा हरसहाय की मिती असाढ वदी २ साल संवत १८१७ अरज पहौची जो गाँव वरवास प्रगना टोडा राय स्यंघ को ईवतदाय साख स्यालू संवत १८१८ थे उदिक दीन्हौ तीको प्रवानूं सवती करायो चाहै तीह सूं फरमावाछां गाँव वरवास प्रगना टोडाराय स्यंघ को इवतदाय साख स्यालू संवत १८१८ थे सीगे उदिक कै वहाल जाणि हासिल हवाले करिबो कीज्यो सो हुकुम हुआ मुवाकिफ लिखे प्रवानूं सवती लिखे सो चाहिजे जो दिवान सरकार का प्रवानां सूं० लिखै मिती असाढ सुदी १४ साल संवत् १८१७ अरज मुकररा पहोंची मुकररा गांव एक········· ···मुवाकिफ यादिदासति मै राजा हरसहाय दिवानयान। मिती सावण वदी ६ संवत १८१८ साल संवत १८१७ मुकाम वणपुरा।

रजूदफत्र दिवान कन्हीराम — रजूदफत्र दीवान नंदलाल — रजूदफत्र संतोषराम मुस्तोफी हजूरी

जिसको प्राप्त करने के लिये आषाढ़ वदी २ को राजा हरसहाय* के द्वारा अर्ज मालूम की गई थी।

सं० १८२१ ज्येष्ठ शु० १३ मुकाम जयपुर से महाराजा माधवसिंहजी ने महाराजश्री के ठाकुरजी द्वारकानाथजी के भोग के लिये गाँव सुखानन्दपुरा (परगना मलारणा) भेंट किया, इस ग्राम के लिये राजा हरसहाय ने ज्येष्ठ सुदी १ सं० १८२१ को अरजी दी और सं० १८२२ से इसका हासिल हवाले करने का उल्लेख किया गया† ।

सं० १८२१ ज्येष्ठ वदी १३ को सवाई महाराजा माधवसिंहजी ने जयपुर नगर में महाराजश्री के लिये परशुराम पंड्या के नाम से प्रसिद्ध एक हवेली भेंट की‡ ।

* राजा हरसहाय खत्री महाराजा के प्रधान थे और यह सं० १८२४ मांवडा की लड़ाई में काम आये थे। इन के द्वारा इस विषय में विनय करने से यह भी विदित होता है कि—उनका महाराजश्री से अच्छा परिचय था। यह भी वैष्णव थे।

(संक्षिप्त)

† श्रीरामजी

सही

श्रीसीतारामो जयति

श्रीमहाराजाधिराज सवाई माधवसिंहजी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई माधवसिंहजी देव वचनात कमैती प्रगना मलारणा का दसेसु प्रसाद वंच्या अपरंच बाबति भोग गांव गुसाईजी श्रीव्रभूषणजी ठाकुर श्रीद्वारकानाथजी का भोग नै जो मारफति राजा हरसहाय की मिती जेठ सुदि १ साल संवत १८२१ अरज पहौची भोग चाहै तीह सूं फरमावाछां गांव सुखानंदपुरो प्रगना मलारणा सो हुकुम हुवा गांव एक तनसाली नां रुपया १००० को सीगे भोग के द्यौ इवतदाय साख स्यालू संवत १८२२ थे तीको प्रवानो सवती लिखो गांव सो चाहिजे दीवान• सरकार'का प्रवानो लिखौ मिती जेठ सुदी ६ साल संवत १८२२ अरज मुकररा पहूँची मुकररा तनसालीना रुपया एक हजार कौ एक.................मुवाफिक याददासति में दसखत राजा हरसहाय वा'दीवानयान मिती जेठ सुदी १३ साल संवत १८२१ मुकाम सवाई जैपुर।

रजुदफत्र	रजुदफत्र	रजुदफत्र
दीवानराय गुरसहाय	दीवान बालचंद	सेवाराम मुसतोफी हजूरी

(संक्षिप्त)

‡ नं० २३८ श्रीरामजी

सही

श्रीसीतारामो जयति

श्रीमहाराजाधिराज सवाई माधवसिंहजी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजा श्री सवाई माधवस्यंघजी देव वचनात कमैती कसवा सवाई जैपुर का

इस विषय में ऐसा कहा जाता है कि—जयपुर पधारे पर महाराजश्री का वहाँ कुछ समय तक निवास होता था। स्वकीय स्थान न होने से ठहरने आदि की असुविधा को मिटाने के लिये राजा हरसहाय ने जयपुर-नरेश से निवेदन कर यह स्थान महाराजश्री के लिये दिलवाया था।

सवाई पृथ्वीसिंहजी* के समय में संगही जीवराज ने गोवर्द्धननाथजी का एक मन्दिर जयपुर में बनवाया, और इसके रागभोग के लिये रु० २५०० का गाम भटोंधा परगना हिंडोंणी महाराज व्रजभूषणजी के अधिकार में कर दिया। महाराजा पृथ्वीसिंहजी ने इसकी स्वीकृति सं० १८२४ श्रावण वदी १० के दिन दी थी †।

दसेसुप्रसाद वंच्या अपरंच बाबति पुन्य हवेली गुसाईंजी श्रीव्रजभूषणजी ने जो मारफति राजा हरसहाय की मिती जेठ सुदी १ साल संवत १८२१ अरज पहौची जो कसबा सवाई जैपुर मैं परसराम पंडा की हवेली पुन्य उदिक के सीगै चाहै तीह सूं फुरमावाळां हवेली कसबा सवाई जैपुर में छै सो मागि पुन्य कै जाणि हवालै कीज्यो सो हुकुम हुआ सीगै पुन्य कै प्रवानू सवती लिखो सो चाहिजै दीवान सरकार का प्रवानां लिखै मिती जेठ सुदी ८ साल संवत १८२१ अरज मुकरर पहौची मुकररा हवेली एक ……………… मुआफिक यादिदासति मै दसखत राजा हरसहाय वा दीवानयान ………… मिती जेठ सुदी १२ साल संवत १८२१ मुकाम सवाई जैपुर।

रजूदफत्र दीवान राय गुरसहाय	रजूदफत्र दीवान बालचंद	रजूदफत्र सेवाराम मुसतोफी हजुरी

(संक्षिप्त)

* सं० १८२४ के अंत में सवाई माधवसिंहजी के बैकुंठवास हो जाने पर महाराजा पृथ्वीसिंहजी पाँच वर्ष की अवस्था में राजसिंहासन पर बैठे। यह १५ वर्ष की अवस्था में ही बैकुंठवासी हो गये। बाद में इनके छोटे भाई प्रतापसिंहजी सं० १८३४ में जयपुर के राजा हुए।

† श्रीरामजी

सही श्रीसीतारामो जयति

श्रीमहाराजाधिराज सवाई पृथ्वीसिंहजी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई पृथ्वीसिंहजी देव वचनात कमैती प्रगना हिंडोणि का दसेसुप्रसाद वंच्या। अपरंच बावति भोग गाँव ठाकुर श्रीगोरधननाथजी विराजमान कसबा सवाई जैपुर में मंदिर संगही जीवराज बणायो तीठै त्याकै सेवा गुसाईजी श्रीव्रजभूषणजी करै त्याकै वास्ते मुवाफिक यादिदासति मै दसखत दीवानयान करार मिती सावण वदि ७ संवत १८२४ अरज पहौची भोगनै चाहै तीह सूं फुरमावाळां सालीना वसूली रुपया २५०० इवतदाय मिती असाढ वदी ६ साल संवत १८२४ थे तीमै गाँव पटोधा प्रगना हिंडोणि को तन वसूली रुपया पचीसै मै दरोवस्त इवतदाय संवत १८२५ थे

सं० १८२७ कार्त्तिक बदी ९ के दिन महाराजा पृथ्वीसिंहजी ने १० बीघा जमीन का परवाना कर दिया। यह जमीन माधवसिंहजी (प्र०) की महारानी माजी चौंडावतजी के मन्दिर श्रीविट्ठलनाथजी के शाकपान के लिये खास जयपुर में भेंट की गई थी।

सं० १८२७ मार्गशीर्ष बदी १० के दिन महाराजा पृथ्वीसिंहजी ने व्रजभूषणजी के नाम गाम चतरपुरावास नेवटा तथा खोह परगना जयपुर का परवाना कर दिया *।

सीगै भोग के जाणि हासिल हवालै करिबो की ज्यो··· मिती प्रथम सावण वदी ८ साल संवत १८२४ अरज मुकरर पहौंची मुकररा गांव मजकूर तन वसूली रुपया २५०० मै दरोवस्त एक········· इवतदाय मिती असाढ वदी ६ साल संवत् १८२४ लगायत मिती भादवा सुदी २ साल संवत् मजकूर।ताई की बरात हजूर मै पासी।

मुवाफिक यादिदासति मै दसखत खास बा दीवानयान।

मिती सावण वदी १० साल संवत १८२४ मुकाम सवाई जैपुर।

रजूदफत्र दीवान राय गोविन्द सहाय

रजूदफत्र दीवान रतनचंद

रजूदफत्र स्यौवचंद मुसतोफी हजूरी

(संक्षिप्त)

* श्रीरामजी

सही

श्रीसीतारामो जयति

श्रीमहाराजाधिराज सवाई पृथ्वीसिंहजी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजश्री सवाई पृथ्वीसिंहजी देव बचनात कमैती प्रगना सवाई जैपुर का दसेसुप्रसाद बंच्या अपरंच बावति भोग गाँव ठाकुर श्रीगोबरधननाथजी विराजमान मंदिर माजी श्रीचौंडावतिजी को जनाना डयोढी ज्यो की सेवा पूजा गुसाईजी श्रीव्रजभूषणजी की तरफ़ सूँ गोबरधनदास करै त्याकै वास्तै मुवाफिक यादिदासति मै दसखत दिवानयान करार मिती माग्यश्र वदी ५ संवत १८२७ अरज पहौंची जो भोग नै गाँव चतरपुरावास नेवटा तथा खोह प्रगना सवाई जैपुर की भोमि सीगा सुधां मुवाफिक प्रवाने सवती करार मिती काती बदी २ संवत १८२६ का थे पावे सो हासिल गाँव को संवत १८२६ ताई पायो अब ईवतदाय साख स्यालू संवत १८२७ थे एवज गाँव रामस्पंघापुरावास लालवास तथा रामगढ़ प्रगना सवाई जैपुर की भोमि वगैरह सुधां करायो चाहै तीह सूं फुरमावाछां गाव सवाई जैपुर को मौजा इवतदाय साख स्यालू संवत १८२७ थे सीगे भोग के जाणि हासिल हवाले करिबो कीज्यो सो दसखत खास हुकुम हुवा मुवाफिक लिखे छौ तीको प्रवानूं सवती लिखो सो चाहिजे दीवान सरकार का प्रवाना लिखै मिती माग्यश्र वदि ८ संवत १८२७ अरज मुकरर पहोंची मुकरर गाव मजकूर भोमि वागैरह सुधां दरोवस्त एक················१···मुवाफिक यादिदासति मैं दसखत खास दीवानयान. मिती मागिश्र बदी १० संवत १८२७ मु० सवाई जैपुर।

रजूदफत्र दीवान रतनलाल.

रजूदफत्र दीवान नन्दलाल.

रजूदफत्र सिवचन्द मुस्तोफा हजुरि.

(संक्षिप्त)

यह गाम गोवर्धननाथजी की सेवा-पूजा के लिये भेंट किया गया। गोवर्धननाथजी का यह मन्दिर माजी श्रीचौंडावतजी ने स्थापित किया था, और जनानी ड्योढी में था। इस गाम के लिये दीवान रतनलाल व नन्दलाल ने अर्ज की थी। इस मन्दिर की सेवा-पूजा महाराजश्री की तरफ़ से महता गोवर्धनदास जगन्नाथ का पुत्र करता था। उक्त गाम रामसिंह पुरावास लालूवास तथा रामगढ परगना जयपुर के बदले दिया गया है।

इससे विदित होता है कि—माजी चौंडावतजी ने गोवर्धननाथजी का मन्दिर अपने लिये बनवाया था और उसमें पुष्टिमार्ग की पद्धति से सेवा-पूजा होती थी। यह मन्दिर सं० १८२६ के पूर्व बन गया था, क्योंकि उक्त सं० की कार्त्तिक बदी २ तक की हासिल मिल चुकी थी। इस मन्दिर की स्थापना से यह और भी निश्चित होता है कि पुष्टिमार्गीय वैष्णव-धर्म की दीक्षा का प्रभाव राजवंश के पुरुषों तक ही सीमित नहीं था, प्रत्युत रानियों ने भी इसकी दीक्षा लेकर इसे अपने उद्धार का मार्ग माना था। (परवाना नं० २२७)

सं० १८२८ ज्येष्ठ शुक्ल में महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०) की पुत्री श्रीरत्न-कुँवरि बाई * श्रीप्रभु के दर्शनार्थ कांकरोली आईं, और उन्होंने महाराजश्री को गुरु बनाकर वैष्णव-धर्म की दीक्षा और समर्पण (ब्रह्म-सम्बन्ध) ज्येष्ठ शु० ५ को लिया। गुरु-दक्षिणा में इन्होंने महाराजश्री को ख़ूब भेंट की, जिसका उल्लेख महाराजश्री ने पत्र† में किया है। इस दीक्षा से महाराजश्री का सम्मान जोधपुर-

* इनका विवाह सं० १७६१ में बख़्तसिंह (जो पीछे से जोधपुर के महाराजा हुए) के कुँवर विजयसिंह के साथ हुआ था। विजयसिंह ने इस विवाह के सम्बन्ध में महाराणा को लिखा था कि मैं आपका सेवक और बालक हूँ। आपकी आज्ञा पर बीस हज़ार राठौरों के साथ मेरा सिर आपके काम के लिये तैयार है। मेरे वंशज आपकी आज्ञा का पालन करेंगे और इस विवाह से जो पुत्र होगा, वह राज्य का स्वामी होगा, यदि कन्या होगी तो उसका विवाह मुसलमानों से नहीं करूँगा, (उ० र० इ० ६४०)

† प्राचीन पत्र—

श्रीद्वारकेशो जयति
श्रीमद्वारातीपादपद्मसेवनसमये स्मर्यते भवान्
भगवत्सेवकानां नतयः
स्वस्तिश्रीव्रजभूषणानां चिरंजीवि बेटा विठलनाथ कै आशीर्वाद। शमत्र तत्रास्तु अपरंच।

राजाओं के यहाँ भी होने लगा और भी कई राजा आगे चलकर इस संप्रदाय के शिष्य हुए। आगे चलकर रत्नकुँवरि के भाई प्रतापसिंह और अरिसिंह क्रमशः महाराणा हुए।

सं० १८२८ में महाराणा अरिसिंहजी की भुआ श्रीरूपकुँवरि बाई ने रूपशिरोमणि ठाकुरजी का मन्दिर बनवाया और उसकी पुष्टिमार्गीय प्रकार से महाराज श्रीव्रजभूषणजी के द्वारा प्रतिष्ठा कराई। सेवा और रागभोग का समस्त प्रबन्ध महाराजश्री को ही सौंपा गया, और ठाकुरजी के रागभोग के लिये १२१ बीघा ज़मीन लगाकर आषाढ कृ० ७ सोम के दिन उसका ताम्रपत्र किया जाकर भेंट हुआ *।

इससे मालूम पड़ता है कि इन महाराजश्री के समय उदयपुर में वैष्णवता का अच्छा प्रसार हुआ, और महाराणा तथा उनके अन्तःपुर में भी ठाकुरजी की सेवा-पूजा का भाव प्रचलित हुआ।

सं० १८२८ चैत्र बदी १३ के दिन महाराणा नाथद्वारा गये। उस समय गोडवाड परगने का झगड़ा मिटाने के लिये वहाँ महाराजा विजयसिंह (जोधपुर), महाराजा

(घरू समाचार के बाद)

रतनकुँवरि बाई समर्पण पाए जेष्ठ शु० ५ के मंगला समै। रु० ४००० हजार चारि रोकड़ भेट कै सो तोकै करै। तेरी भेट मेरे पास है। तेरी दादी के १०० रु०, तेरी मा के १०० रु०, तेरी बहू के ५० रु० कीये। रु० १५० सेवकी दिये। हीरा को पेच, मोती की माला। २०० रु० दोइ सै सामग्री के दीये। या भाँति किये। केसरि ते न्हवाए। मारवाड़ि में रु० ८०००० की जागीर है। तहाँ को गाम एक भेट करे। राणाजी की बेटी करै तेसी करी। जैपुर ते रुपये की थार रु० ४०० की आई, लंगर पाँव के हीरा के तेरी दादी के भेट आई। देश वार्ता लिखी नहीं जात। .... कुशल पत्र पठवनो। ....
मिती जेष्ठ शुक्ल १० गुरौ १८२८।

* ता० नं० ५० श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादात् श्रीएकलिंगप्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीअरिसिंहजी आदेशात गुसांई श्रीव्रजभूषणजी जोग भुआजी रूपकुँवरि बाई सराय देवरी करायो सो सराय सराय साथेरी धरती तथा गाम बाहर बाडी १ एक ठाकुर श्रीरूपसिरोमणिजी रे बालभोग सामगरी सारू चडायो सो अणी जायगा रो हासल वेसी सो श्रीठाकुरजी चडेगो अणी जायगा बाबत दरबार थी चोलण कदी वेगा नहीं। बीगत सराय री साथेरी धरती बीघा १२१......
गाम बाहर बाडी पड़गने............प्रत दुए पंचोली कीसनराय लीखतं पंचोली गीरधरलाल गुलाबोत संवत १८२८ की असाढ बदी ७ सोमे।

(रूपकुँवरि बाई महाराणा संग्रामसिंहजी की द्वितीय पुत्री और महाराणा जगतसिंहजी की बहिन थीं।)

गजसिंह (बीकानेर) और महाराजा बहादुरसिंह (कृष्णगढ़) एकत्रित हुए। यह झगड़ा तय नहीं हुआ, और महाराणा कांकरोली आये। यहाँ से दर्शन कर वे उदयपुर गये।

सं० १८२९ पौष बदी २ के दिन ताम्रपत्र कर महाराणा अरिसिंहजी ने मेण्या गाम (परगना मोही) भेंट किया *। इस गाम के भेंट आने के पूर्व श्रावण मास में एक घटना घटी, जिसका उल्लेख आगे किया जा रहा है।

सं० १८२९ चैत्र बदी १ के दिन महाराणा अरिसिंहजी के कैलासवास हो जाने पर तृतीया के दिन महाराणा हम्मीरसिंहजी† का राज्याभिषेक हुआ। इस समय महाराणा की अवस्था छोटी थी। इनके राज्याभिषेक के समय व्रजभूषणजी महाराज उदयपुर पधारे और वहाँ उन्होंने परम्परा-प्राप्त गुरुघराने का दस्तूर किया। महाराणा ने भी वैष्णव-धर्म की दीक्षा लेकर सं० १८३० में मांडावाडा-नामक ग्राम भेंट किया, और सं० १८३० भाद्र० सुदी ३ शुक्रवार को उसका पट्टा कर दिया‡।

---

* ता० नं० १०　　　　श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादातु　　　　श्रीएकलिंगप्रसादातु

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीअरिसिंहजी आदेशात गुसांई श्रीव्रजभूषणजी जोग गाम मेण्यो परगने मोही रे ऊपत रुपया १५०० पनरेसे री तीरो उदक आघाट करे श्रीरामा अरपण करे दीदो लागत बीलगत सरब सुदी स्वदत्तां परदत्तां ·············प्रत दुए पंचोली कीसन राय लीखत पंचोली गीरधरलाल गुलाबोत संवत १८२६ बर्षे पोस वदी २ सुक्रे।

† इनका जन्म सं० १८१८ ज्ये० शु० ११ (अनुमान), राज्याभिषेक सं० १८२६ चै० कृ० ३ तथा कैलासवास सं० १८३४ पौ० शु० ८ को हुआ।

‡ ता० नं० १५　　　　श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादातु　　　　श्रीएकलिंगप्रसादातु

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीहमीरसिंहजी आदेशात गुसांई श्रीव्रजभूषणजी जोग गाम माडावाडो पडगने बारासट रे ऊपत रुपया ६०० छ सो महै तीरो ऊदक आघाट करे श्रीरामा अरपण करै लागत बीलगत सरब सुदी करे दीदो सो चोलण वेगा नहां स्वदत्तां परदत्तां वा·························प्रत दुए पंचोली कीसनराव लीखतं पंचोली गीरधरलाल गुलाबोत संवत १८३० वर्षे भादवा सुदी ३ सुक्रे।

वैशिष्ट्य—महाराजश्री के समय उदयपुर और जयपुर के राजसिंहासन पर विविध * राजाओं के आसीन होने से इस समय जो राजनैतिक परिवर्तन हुए, उनका प्रभाव महाराजश्री के व्यक्तिगत जीवन तथा संस्थान की स्थिति पर पड़े विना कैसे रह सकता था ? इस समय घटनेवाली घटनाओं का उल्लेख आगे किया जायगा। पर इतना कहना पड़ेगा कि—इन महाराजश्री को सामयिक परिस्थितियों का जितना सामना करना पड़ा उतना किसी को भी नहीं। यह एक सौभाग्य की बात है कि—कांकरोली के ठिकाने में उस समय एक ही महाराजश्री विद्यमान रहे, अन्यथा यहाँ की तात्कालिक स्थिति क्या होती, यह कहना कठिन है। इन महाराजश्री का नाम 'नीतिवाले व्रजभूषणजी' था। अतः वास्तव में उस समय की भयंकर परिस्थितियों से गुज़रते हुए अपने स्थान को सुरक्षित रखना इनके ही नीति-चातुर्य पर अवलंबित था।

राजनैतिक परिस्थितियाँ—महाराज श्रीव्रजभूषणजी के समय मेवाड़ की परिस्थिति बहुत कुछ अस्त-व्यस्त हो रही थी। ओझाजी-कृत उदयपुर-राज्य के इतिहास और महाराजश्री के तात्कालिक पत्रों के अधार पर सम्मिलित रूप में उसका वर्णन कर देना अप्रासंगिक न होगा।

महाराणा जगतसिंहजी के समय से मेवाड़ में मरहठों ने घुसकर उत्पात मचाना

* इनके समय में निम्न-लिखित महाराणा क्रमशः उदयपुर की गद्दी पर बैठे—

१ महाराणा	संग्रामसिंहजी (द्वि०)	जन्म	१७४७	राज्य	१७६७	देव०	१७९०
२ ,,	जगतसिंहजी	,,	,,	१७६६	,,	१७९०	,,	१८०८
३ ,,	प्रतापसिंहजी	,,	,,	१७८१	,,	१८०८	,,	१८१०
४ ,,	राजसिंहजी	,,	,,	१८००	,,	१८१०	,,	१८१७
५ ,,	अरिसिंहजी	,,		×	,,	१८१७	,,	१८२९
६ ,,	हम्मीरसिंहजी	,,	,,	१८१८	,,	१८२९	,,	१८३४
७ ,,	भीमसिंहजी		,,	१८२४	,,	१८३४	,,	१८८५

इसी प्रकार जयपुर के राजसिंहासन पर भी निम्न-लिखित राजा क्रमशः आसीन हुए—

१ महाराजा	जयसिंहजी	जन्म	×	राज्य	×	देव०	१८००
२ ,,	ईश्वरीसिंहजी	,,	१७७८	,,	१८००	,,	१८०७
३ ,,	माधवसिंहजी	,,	१७८४	,,	१८०७	,,	१८२४
४ ,,	पृथ्वीसिंहजी	,,	१८१६	,,	१८२४	,,	१८३४
५ ,,	प्रतापसिंहजी	,,	१८२१	,,	१८३४	,,	×

शुरू कर दिया था। सं० १७९८ में उन्होंने बागड में होते हुए मेवाड़ में प्रवेश किया, तब महाराणा ने कुछ सरदारों को ससैन्य भेजकर उन्हें वहाँ से निकाल दिया, इसके बाद माधवसिंहजी को जयपुर की गद्दी दिलाने का झगड़ा मेवाड़ में होकर उठा और उसके कारण भी यहाँ मरहठों की आमदरफ़्त होती रही।

सं० १८०८ में प्रतापसिंहजी महाराणा हुए। इनके समय में कुछ लोगों ने इन्हें गद्दी से उतारने का षड्यंत्र रचा, पर वे सफल न हो सके। तीन वर्ष बाद ही इनका देहान्त हो जाने पर सं० १८१० में राजसिंह (द्वि०) महाराणा हुए।

सं० १८१६ में मेवाड़ को क्षीण-शक्ति देखकर मरहठों ने उसे लूटना शुरू किया और वे मल्हारगढ़ की ओर चढ़ आए। इस समय महाराणा की अवस्था लगभग १० वर्ष की थी। मरहठा लोग अपनी सैनिक शक्ति लेकर धावा मारने लगे। उनका मुक़ाबला न कर सकने के कारण कुछ परगने ठेके पर रखकर उनकी आमदनी भेजते रहने का वादा कर महाराणा ने अपना पिण्ड छुड़ाया। सात वर्ष राज्य कर सं० १८१७ में इनका देहान्त हो गया।

राजसिंहजी का शिला-लेख लगवाना

इस उपद्रव का प्रभाव कांकरोली पर भी यत्किंचित् रूप में पड़ा और उसे भी राज-नैतिक अशान्ति का अनुभव करना पड़ा। इसका विशेष वर्णन अलग प्रकरण में किया जायगा। यहाँ तो केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—इस राजनैतिक अशान्ति और लूट-मार से बचने के लिए महाराजश्री को सतर्क होना पड़ा और उसके लिए महाराणा का ध्यान खींचा गया। महाराणा ने इसके लिए आवश्यक आश्वासन देकर यथोचित प्रबंध कर दिया, और आन्तरिक अशान्ति और लूटमार से बचने के लिए कांकरोली आकर सं० १८१६ फाल्गुन शु० २ के दिन मन्दिर के मुख्य दरवाजे की दाहिनी ओर एक शिलालेख खुद्‌वाकर लगवाया, जो इस प्रकार है—

श्रीरामजी

श्रीएकलिंगजी श्रीगणेशजी

सिद्धिश्री महाराजाधिराज महाराणाजी श्रीराजसिंह आदेशात् अपरंच गुसाईंजी श्रीव्रजभूषणजी रे गूरूद्वारे गाम चढायो है जणा माहीं गुसाईंजी रा वस्ती रो,

लोक तथा चाकर वामे गुसांईजी ऊपरे बारोट्यो होवे ते अने ऊजाड बीगाड करे तथा गुसांइजी रालोगां ऊपरे ऊजाड बीगाड करे गुसांइजी रा गामरा लोक तथा चोखला लोग बीगाड करे तो दरबार आयने समझे गुसांइजीसु लागण बिलगण करवा पावे नहीं गुसांइजीसु लागण करे सो दरबार रो खूनी है जणीरो ऊजाड बीगाड होय सो दरबार आए समझे जो गुसाईंजी सु बोलवा पावेगा नहीं तथा गुसांइजी ऊपरे चोखला रा लोगा तो बिगाड करे सो लोग गुसांइजी थी बोलवा पावै नहीं तथा गुसांइजी रा गामोरो बीगाड करे आवे जणी है कोई गाम मा राखवा पावै नहीं राखेगा सो दरबार थी ओलंबो पावेगा रावत जेसिंहजी * बाबा खुमाणसिंहजी पंचोली देवकरणजी रे दुबे सुरे रोपी दसकत साह गोती (भवानी) दास खीमता (खमेसरा) संवत १८१६ (१७) फागण सुद २ (सुदी ३)

अरिसिंहजी और रत्नसिंह की लड़ाई

राजसिंहजी के गत हो जाने पर जगतसिंहजी (द्वि०) के छोटे पुत्र अरिसिंहजी को सं० १८१७ में गद्दी मिली, राजसिंहजी की द्वि० रानी उस समय गर्भवती थी, पर भय की आशंका से यह बात छिपाई गई। अन्त में बालक उत्पन्न होने पर कुछ सरदारों और जसवन्तसिंह ने कुंचलगढ़ ले जाकर रत्नसिंह नाम से उसे महाराणा घोषित किया। यह सरदार अरिसिंहजी के कठोर आचरण के कारण उनसे विरूद्ध हो गये थे। इसी आपसी झगड़े में मल्हारराव हुल्कर ने मेवाड़ में घुसकर लूट मचानी शुरू की। समझौता करने पर ५१ लाख रुपया लेकर सं० १८२० में उसने पहिले समय में सौंपे हुए मेवाड़ के परगनों पर अपना अधिकार कर लिया।

इधर रत्नसिंह के पक्षपातियों के साथ महाराणा को लड़ाई करनी पड़ी, जिससे मेवाड़ मे पूर्ण अशान्ति उठ खड़ी हुई। ऐसे समय में महाराणा ने अमरचन्द को हटाकर दूसरे को अपना प्रधान मंत्री बनाया।

रत्नसिंह के झगड़े के कारण जहाँ-तहाँ लड़ाइयाँ होने लगीं और इधर सरदारों ने भी विद्रोह कर दिया। महाराणा ने जब सुना कि रत्नसिंह का पक्ष लेकर माधवराव मेवाड़ में आनेवाला है तो उन्होंने अपने विश्वासपात्र सरदारों की अध्यक्षता में

* इस सुरह में जिन रावत जैसिंह का नामोल्लेख है, वह रावत जैतसिंह महाराणा के स्वल्प वय होने के कारण राज्य का मुख्य मुसाहिब और सलुंबर का जागीरदार था।

मुक़ाबले के लिये सेना भेजी और सं० १८२५ पौष शुक्ल ६ को उज्जैन के पास दोनों की मुठभेड़ हुई। वीरता-पूर्वक लड़ने पर भी पन्द्रह हज़ार नागा साधुओं (जिन्हें महापुरुष भी कहते हैं) की सेना आ जाने के कारण मरहठों की ही विजय हुई, जिससे मेवाड़ की शक्ति और भी क्षीण हो गई, और उसका बहुत नुक़सान हुआ। महाराणा अरिसिंहजी ने अपने पास योग्य सरदारों के न रह जाने पर विवश होकर फिर अमरचन्द को प्रधान बनाया और उसको बहुत कुछ अधिकार दिया। अमरचन्द ने जैसे-तैसे प्रबंध कर सेना का चढ़ा हुआ वेतन चुकाकर सैनिक अशान्ति दूर की।

सात वर्ष की उमर में शीतला की बीमारी से रत्नसिंह के मर जाने पर विरोधी सरदारों ने एक दूसरे लड़के को रत्नसिंह क़रार दिया और महाराणा से विरोध करते हुए उन्हें राज्य से पदभ्रष्ट करने का अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा। वे माधवराव सिन्धिया को पुनः मेवाड़ पर चढ़ा लाए। इधर अरिसिंहजी ने भी उदयपुर पर घेरा डाल देने पर माधवराव से लड़ाई शुरू कर दी। इधर सिन्धिया का कुछ वश नहीं चला और महाराणा भी विवश हो गए, तब अन्त में माधवराव को ६० लाख रु० देकर उन्होंने संधि कर ली। रत्नसिंह के विषय में कुछ शर्तें स्वीकार की गईं और माधवराव सं० १८२६ श्रा० बदी ३ को मालवे की ओर लौट गया।

उसके चले जाने पर रत्नसिंह अपने इक़रार के अनुसार मन्दसौर नहीं गया। उसके साथी सरदारों ने भी उसका पक्ष न छोड़ा और देवगढ़ के राघवदेव आदि विद्रोही सरदारों ने महापुरुषों (नागाओं) की एक बड़ी भारी सेना फिर से एकत्रित की और मेवाड़ के गाँवों में उपद्रव शुरू कर दिया। इसको दबाने के लिए महाराणा ने देलवाड़े होते जीजोला गाँव में मुक़ाम किया। टोपला गाँव में दोनों सेनाओं की ख़ूब मुठभेड़ हुई। पर अन्त में विद्रोहियों की सेना के भाग निकलने पर महाराणा विजय प्राप्त कर उदयपुर लौटे *।

महाराजश्री की तटस्थता

ऐसी विषम परिस्थिति होने पर भी व्रजभूषणजी धर्माचार्य होने के कारण राजनैतिक दलबन्दी से अलग ही रहा करते थे, उनका तात्कालिक मेवाड़ के सभी दलों से समान व्यवहार था। वे दोनों की सुलह और शान्ति के इच्छुक थे। यही कारण था कि जब कभी प्रसंग आता, दोनों पक्ष के सरदार उनके प्रति आदर-

* उदयपुर राज्य का इतिहास।

भाव प्रकट किया करते थे, और मौका देखकर उनके परामर्शानुसार कार्य करने को भी सन्नद्ध हो जाया करते थे। महाराजश्री की इस नीति से ठिकाने को किसी प्रकार की विपत्ति में नहीं फँसना पड़ा। समीपवर्त्ती राजनगर तथा कांकरोली के चारों ओर मार-काट और लूट आदि उत्पात होते रहने पर भी यहाँ आन्तरिक शान्ति बनी रही, अर्थात् उसका यहाँ कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। इसी प्रकार की सं० १८२७ के आषाढ़ की एक घटना महाराजश्री के एक पत्र से विदित होती है:—

जैसा कहा जा चुका है, इस समय मेवाड़ में रत्नसिंह के अधिकार और महाराणा अरिसिंहजी के क्रूर व्यवहार को लेकर उनके विरुद्ध कई सरदार उठ खड़े हुए थे। वे मरहठों की सहायता लेकर और स्वतंत्र भी लड़भिड़कर मेवाड़ पर अपना अधिकार जमाते फिरते थे। इसको दबाने के लिए महाराणा ने गुजरात से कुछ फ़ौज बुलाकर रक्खी, जिसने आकर राजनगर में डेरा डाला। इस समय महाराजश्री ने मेल-मुलाकात से काम निकालकर अपने स्थान की रक्षा की। इस सेना में उनाउवा गाम के गंगादास, कुबेरदास, कुबेरचन्द और शिवदास क्षत्री आदि ५० मनुष्य उनके सेवक निकल आये, जो जमादार थे। उन्होंने किसी प्रकार की अशान्ति गुरुघर के प्रति न होने दी। नसरतखाँ वाबी, विठूजी ताकपीर मरेठा, राजरायसिंहजी सादड़ीवाले, पीथापुरवाले और मानदास धाय-भाई-जैसे प्रतिष्ठित सरदार समय-समय पर महाराजश्री से मिलते और उनके यहाँ किसी प्रकार का उपद्रव न होने देने का विश्वास दिलाते थे।

इसके एक वर्ष बाद (सं० १८२७ में) फिर महता सूरतसिंह आदि बेदला के रामचन्द्र से मिलकर दस हजार महापुरुषों को इकट्ठा कर गंगार गाम में चढ़ा लाए और मेवाड़ को लूटने लगे। महाराणा ने यह खबर पाकर स्वयं मुक़ाबला करने के लिए गंगार से डेढ़ कोस पर जाकर मुक़ाम डाला। लड़ाई होने पर यहाँ महापुरुषों के कई सरदार गिरिफ़्तार हुए, जिस पर उनके महन्तों ने क़सम खाई कि—अब कभी वे महाराणा के विरुद्ध न होंगे। महापुरुषों के साथ यह दूसरी लड़ाई थी। इसमें शाह कुबेरचन्द देपुरा पेशक़ब्ज खाकर मर गया और अमरचन्द देपुरा गिरिफ़्तार हुआ।

रत्नसिंह ने कुम्भलमेर में रहते समय महता सूरतसिंह को चित्तौड़ का क़िलेदार नियत किया था। महाराणा के द्वारा भेजे गये रावत भीमसिंह को सेना-समेत आते देखकर वह भाग निकला और चित्तौड़ पर महाराणा का क़ब्ज़ा हुआ।

सं० १८२८ के श्रावण मास में कई बार अपने उद्योग में निष्फल होने पर भी जसवन्तसिंह ने जयपुर महाराजा पृथ्वीसिंहजी के यहाँ रहनेवाले समरू-नामक एक फ़्रान्सीसी को रुपया देकर मेवाड़ में महाराणा के विरुद्ध भेजा। खारी नदी के दोनों किनारों पर दोनों सेनाओं के पड़ाव पड़ते ही गोलाबारी शुरू हो गई। तीन दिन तक लड़ाई होने के बाद कृष्णगढ़ के राजा बहादुरसिंह ने—जो महाराणा का ससुर और समरू का मित्र था—बीच में आकर सुलह करवा दी *।

सं० १८२८ के भाद्रपद में कांकरोली के आस-पास खूब वर्षा हुई, जिससे नदी, तालाब लबालब भर गये, राजसमुद्र में नदी का इतना जल आया कि वह १० दिन तक गँदला बना रहा, और उसके नाले के बहाव ने उग्र रूप धारण कर मोही गाम के तीन सौ घर बहा दिये। आश्विन मास में भी कांकरोली में और आस-पास वर्षा ख़ूब हुई, जिससे गोवाट पर से तीन २ बाँस पानी गया †।

सं० १८२८ के कार्त्तिक बदी ५ की रात्रि में २५ सवारों के संग कोठारियावाले रावत फतहसिंहजी कांकरोली आये और महाराजश्री से मिले। महाराजश्री ने उनसे पूछा कि—अपने पक्ष को छोड़कर क्यों चले आये? (यह पहिले महाराणा के विरुद्ध रत्नसिंह के पक्ष में थे, पर माधवराव सिन्धिया के उदयपुर का घेरा उठाकर चले जाने के बाद सं० १८२६ के अन्त में उसका पक्ष छोड़ चुके थे और बाद में महाराणा के पक्ष में हो गये थे।)

सं० १८२८ की एक घटना

रावतजी ने कहा कि—अब मैं स्वतन्त्र हूँ, स्वयं लूट-मार कर अपना गुज़र कर लूँगा। बातचीत हो जाने के बाद महाराजश्री ने इन्हें कांकरोली के बाहर आँवली के पेड़ों के नीचे डेरा दिया, जहाँ जाकर वे ठहरे।

इसके अनन्तर आधी रात जाने पर रत्नसिंह की फ़ौज आई, जिसमें ६०० जोगी (नागा महापुरुष) थे। कांकरोली की हद में फ़तहसिंह का मुक़ाम होने से जोगियों के सरदार उमेदपुरी ने सीधा हमला न कर महाराजश्री की मर्यादा रखते हुए समाचार देने के लिये उनके पास ८ साधुओं को भेजा। महाराजश्री उस समय सोये हुए थे, अतः साधुओं के कहने पर तुलाराम परिचारक ने उनको जगाकर सब हाल कहा। साधुओं ने मिलने पर महाराजश्री से कहा कि—हम रावत को लूटेंगे।

* उदयपुर राज्य का इतिहास।

† महाराजश्री का एक पत्र।

इस पर महाराजश्री ने कहा कि—आप दोनों की लड़ाई होगी और हमारे गाँव की बरबादी, सो यहाँ यह उपद्रव रहने दो। पर वे न माने। जिस पर गोवर्द्धन के पुत्र हरिकृष्ण ने आकर बहुत समझाया और तुलाराम ने पाँव पड़े। अंत में यह तय हुआ कि—फतहसिंह भी यदि यहाँ किसी प्रकार का बखेड़ा खड़ा न करेगा, तो हम भी कुछ न बोलेंगे।

महाराजश्री ने तुलाराम को रावत फ़तहसिंह के पास भेजकर जोगियों के आने और उनके साथ उक्त बातचीत होने का समाचार भिजवा दिया, जिस पर रावत ने कहलाया कि—मैं यहाँ किसी से लड़ने नहीं आया हूँ, प्रातःकाल यहाँ से अन्यत्र चला जाऊँगा, मेरी ओर से यहाँ किसी प्रकार का उपद्रव न होगा।

रावतजी के इस विचार को महाराजश्री ने महापुरुषों के प्रधान उमेदपुरी से कह दिया और उन्हें विश्वास दिलाया कि—हमारे आगे रावत अपने वचन के प्रतिकूल आचरण नहीं करेगा।

इस पर उमेदपुरी ने उनसे कहा कि—मेरे महन्त ने कहा था कि जैसा महाराजश्री कहें, वैसा करना। महाराजश्री ने भी उसके द्वारा महन्त से 'नमोनारायण'-पूर्वक कहलवाया कि—यह स्थान आपका ही है, रावतजी प्रातःकाल यहाँ से चले जायँगे, उनके मारने से क्या निकलेगा?

यह बातचीत रात्रि के अन्तिम प्रहर तक हुई और बाद में वे सब अपने २ स्थान पर गये। प्रातःकाल रावतजी ने भी आकर श्रीद्वारकाधीश के दर्शन किए और महाराजश्री से बिदा होकर वे मोही चले गये। इस समय खमनोर में भी ६०० और कोठारिया में ५०० जोगी पड़े हुए थे।

इस उपद्रव के समय में ६००० रु० साहूकारों ने पाली गाँव के लिये भेजा था, जिन्हें जोगियों ने लूट लिया। इसमें कुल १६५रु० महाराजश्री के भाई छोटेमंदिरवाले वल्लभजी के थे, और बाक़ी सिंहाड नाथद्वारावालों के। महाराजश्री से जोगियों का परिचय होने के कारण वल्लभजी के रुपये तो आ गये, पर सिंहाडवालों के अकड़बाजी दिखाने पर उनके सब लोगों ने हज़म कर लिये *।

---

* सं० १८२८ का० कृ० ११ का महाराजश्री का पत्र।

इधर महाराज बाघसिंहजी द्वारा गोडवाड से रत्नसिंह का अधिकार उठा दिया गया, जिसकी रक्षा के लिये महाराणा ने जोधपुर के राजा विजयसिंहजी को नाथद्वारा में सेना रखने और उसके खर्च के लिए गोडवाड का परगना सौंपने का तय कर दिया। विजयसिंहजी ने परगने पर अपना अधिकार कर लिया, पर कुम्भलमेर से रत्नसिंह को निकालने का प्रयत्न नहीं किया। जब उसे परगना छोड़ देने को कहा गया तो उसने मना कर दी। इसका समझौता करने को सं० १८२८ माघ मास में नाथद्वारा में महाराज विजयसिंहजी, बीकानेर-नरेश गजसिंहजी और कृष्णगढ़-नरेश बहादुरसिंहजी वहाँ आये और चैत्र बदी १३ को महाराणा भी जा पहुँचे। इस सम्मेलन में कुछ भी तय न हो पाया और विजयसिंहजी अपने हठ पर ही क़ायम रहे, जिससे गोडवाड सदा के लिये मेवाड़ से अलग हो गया। महाराणा नाथद्वारा से कांकरोली आये और यहाँ से वे उदयपुर वापिस चले गए।

महाराजश्री का कांकरोली से प्रस्थान का विचार

सं० १८२९ के श्रावण-मास में महाराजश्री और महाराणा अरिसिंहजी के बीच कुछ कामदारों की नासमझी से वैमनस्य हो गया। महाराजश्री के लिखे इस समय के एक पत्र से यह घटना इस प्रकार विदित होती है:—

महाराणा अरिसिंहजी ने विद्रोही पुरबियाओं, महापुरुष नागा साधुओं को दबाने के लिए कांकरोली के पास राजनगर में अपना डेरा डाला। इस समय उनके साथ अमरचन्द प्रधान मन्त्री था, जिसे महाराणा ने मेवाड़ की स्थिति क़ाबू में करने के लिए पुनः नियुक्त किया था। महाराणा के साथ इस समय दक्षिणी गोविन्दराव पन्त, आभाजी तथा आपाजी गीत्या और उनकी तथा सिन्धियों की फ़ौज थी। इस समय महाराणा की आर्थिक दशा ठीक न थी और सेना-खर्च इधर-उधर से लेकर चलाया जाता था।

प्रधान अमरचन्द से किसी ने जाकर कह दिया कि—जोगी, राजनगर के पुरबिया और केलवा के लोगों का हजारों मन धान कांकरोली में भरा हुआ रक्खा है। अमरचन्द ने सेना के लिए ज़रूरत समझकर कुछ सिपाहियों को भेजकर कांकरोली से सारा धान्य उठवा लेना चाहा और इसके लिए लाला खानाज़ाद को वहाँ भेजा। वह आकर यहाँ के कामदार (अधिकारी) पारिख से मिला और धान दे देने की बात कही। पारिख के

बहुत कुछ समझाने पर भी वह न माना और नगरवासियों को उसने तंग करना शुरू कर दिया। महाराजश्री को जब यह मालूम पड़ा, तो उन्होंने मल्लूकचन्द को महाराणा के पास भेजा। उसने जाकर महाराजश्री की ओर से निवेदन किया कि—हमारे यहाँ किसी तीसरे व्यक्ति की कुछ भी सम्पत्ति नहीं है। जो है, सो श्रीठाकुरजी और व्रजवासियों का ही है और वह महाराणा का दिया हुआ है। महाराणा ने यह बात अमरचन्द से कही, पर वह न माना। उसने अपनी हठ कायम रक्खी। महाराणा भी उसके प्रति दिये गये वचन के कारण चुप हो रहे। आखिर अमरचन्द ने ५० आदमी भेजकर कांकरोली के आसामियों को पकड़ मँगाया।

महाराणा की इस चुप्पी अथवा असमर्थता को देखकर महाराजश्री को बड़ा धर्म-संकट उठाना पड़ा। अन्त में उन्होंने कहलवा दिया कि—मैं जब तक यहाँ हूँ, तब तक तो इस धान्य पर आप अपना अधिकार जमा नहीं सकते, मेरे यहाँ से चले जाने पर आपके मन में आवे, सो करना।

महाराणा को यह भी सूचित किया गया कि—महाराजश्री ने कांकरोली छोड़कर श्रीद्वारकाधीश को मेवाड़ से पधरा ले जाने का निश्चय कर लिया है और कूच का नगाड़ा भी वे करा चुके हैं। कल वे पवित्रा भी श्रीठाकुरजी को यहाँ न धराकर कुरज गाम मे धरावेंगे। आपके पूर्व-पुरुष सामने जाकर ठाकुरजी को पधराकर मेवाड़ में ले आये थे, यदि आपसे बने तो उन्हें मेवाड़ की सीमा तक निर्भयता से पहुँचा दीजिए।

श्रावण शुक्ल १० के दिन महाराणा ने इस अनभिलषित समाचार को सुनकर कहा कि—महाराजश्री ऐसा विचार क्यों करते हैं, मेरी विद्यमानता में तो ऐसा नहीं होने का।

इधर यह बातचीत हो रही थी, उधर यह सारी परिस्थिति मरहठा सरदारों के सामने जा पहुँची। अन्याय और धार्मिक स्थान के साथ इस विश्वासघात का प्रतिकार करने के लिये गोविन्दराव पन्त, आभाजी और आपाजी गीत्या आदि दक्षिणी सरदार अपने कुछ सैनिक लेकर नगाड़ा देकर कांकरोली की रक्षा के लिये घोड़ों पर सवार हो गए। उन्होंने दीवान अमरचन्द से कहलवाया कि--हम कांकरोली की रक्षा के लिये जा रहे हैं, तुम्हें हमारे विरुद्ध जितने सिन्धी भेजना हो, भेज देना, हम उनसे निबट लेंगे। अब हम राणा के नौकर नहीं हैं।

मरहठों का इतना कहकर रवाना होना था कि—महाराणा को विचार पड़ गया, उन्होंने जैसे-तैसे उनको घोड़ों से उतार कर बिठाते हुए कहा कि—आओ, हम सब मिलकर इसका समाधान करें।

उन सब सरदारों के साथ राजनगर से चलकर महाराणा मध्याह्न में शंख-नाद होने के पहिले मंदिर आ पहुँचे और महाराजश्री से मिलने की खबर कराते हुए कहलाया कि—मेरा इसमें कुछ दोष नहीं है। किसी ने यदि कुछ आपके स्थान में उत्पात किया है, तो उसको सजा दी जायगी इसके बाद महाराणा तथा सभी आगत सरदार महाराजश्री से मिले और उन्हें समझाया, पर महाराजश्री का क्रोध शान्त न हुआ। उन्होंने कहा कि इतनी बड़ी घटना हो जाय और महाराणा से छिपी रहे, उनकी इसमें सहमति न हो—यह हो नहीं सकता। अस्तु, मैंने तो अब यहाँ से जाने का निश्चय कर लिया है।

महाराजश्री के इस प्रकार वचन सुनकर महाराणा तो चुप हो गये, पर गोविन्दराव पन्त ने उनको समझाया और महाराणा के द्वारा क्षमा-याचना कराई। इस समय तक मन्दिर में शंखनाद नहीं हुए थे, अतः गोविन्दराव पंडित ने समझा-बुझाकर और शान्त कर महाराजश्री को गादी पर से हाथ पकड़कर उठाया और कहा कि—आपका यहाँ से चला जाना तो महाराणा के लिये अयशस्कर होगा। मेवाड़ के अभाग्य का उदय प्रतीत होता है। अस्तु, अब आप स्नान कर सेवा कीजिए।

इतना होने के बाद महाराजश्री ने स्नान कर सेवा की और श्रीप्रभु के हिन्डोला के दर्शन खोले। सभी आगत व्यक्तियों ने दर्शन कर महाराजश्री की जाने की तैयारी बन्द कराई और आई हुई सवारियाँ वापिस भिजवाकर उनसे भोजन करने का आग्रह किया।

विदा होकर सब लोग अपने-अपने स्थान पर गए और फिर दूसरे दिन महाराजश्री के पास आये और एकादशी के पवित्रा धराने के समय प्रभु के दर्शन किये। सायंकाल महाराणा, उनके प्रधान अमरचंद और सभी दक्षिणी सरदारों ने बैठक में उपस्थित होकर क्षमा माँगकर महाराजश्री को प्रसन्न किया।

महाराजश्री ने कहा कि—महाराणा! आपकी जानकारी विना बीच से ही ऐसी बात हो जाना, अच्छा नहीं। इसीलिये मैंने जब तक यहाँ अशान्ति है, तब तक अन्यत्र

रहने का विचार किया है। शान्ति हो जाने पर आपका आग्रह होगा और आप ठाकुरजी को फिर पधरावेंगे, तो हम आजावेंगे।

बहुत समय तक इस प्रकार की बातचीत चलने पर महाराजश्री ने अपना विचार रोक दिया और यथोचित समाधान कर सबको बिदा दी। जाते समय महाराणा ने कहा कि—सीसोदिया का जाया होगा, सो तो महाराज की सेवा ही करेगा।

इस प्रकार महाराणा ने दीनता बतलाते हुए महाराजश्री का समाधान किया। श्रा० शु० १२ के दिन महाराणा के साथ पुनः सब लोग उपस्थित हुए और प्रभु के दर्शन कर बैठक में आकर सभी ने महाराजश्री को पवित्रा पहिनाये। गुरुघर के प्रति श्रद्धा जतलाते हुए महाराणा ने पारिख अधिकारी से कहा कि—मैं पवित्रा की भेंट में सात-आठसौ रुपया की उपजवाला एक गाम भेंट करूँगा, सो तुम्हारे ध्यान में हो, उसकी सूचना मुझे देना, मैं उसका पट्टा कर दूँगा।

इस प्रकार महाराणा की भक्ति देखकर सब लोग चकित हो गये और अमरचन्द प्रधान तो बिलकुल ही लज्जित हो गया*।

महाराजश्री ने महाराणा और गोविन्द पन्त आदि सभी दक्षिणी सरदारों का उचित आदर कर उन्हें सम्मान-पूर्वक बिदा किया।

इस प्रकार महाराणा अरिसिंहजी के समय घटनेवाली यह घटना बढ़ने नहीं पाई और गोविन्द पन्त-जैसे व्यक्तियों के चातुर्य से उसकी गुत्थी सुलझ गई।

इसमें सन्देह नहीं कि—यदि इस समय उक्त दक्षिणी सरदार महाराणा के साथ न होते और वे अपना कुछ उग्र रूप न दिखलाते तो परिणाम यह आता कि—महाराजश्री द्वारकाधीश को कांकरोली से अवश्य पधरा ले जाते। यह प्रसंग एक प्रकार से महाराणा राजसिंहजी के उस पुण्य-कार्य पर कुछ कलंक लगाता, जो उहोंने श्रीद्वारकाधीश को पधारकर राजसमुद्र और मेवाड़ के गौरव बढ़ाने में किया था।

इसे एक ईश्वरी प्रेरणा ही समझना चाहिये। दक्षिणी सरदारों ने—जिनका इस घर से कोई सम्पर्क नहीं था, महाराणा की इस उदासीनता पर न तो उनका पक्ष लिया और न तटस्थता ही रक्खी। प्रत्युत वे द्वारकाधीश के घर की मर्यादा को, जो महाराणाओं के समय से अक्षुण्ण चली आती थी, रखने के लिये कटिबद्ध हो गये।

* सं० १८२६ श्रा० शु० १३ का महाराजश्री का पत्र।

इस प्रसंग से कांकरोली के लिये लाभ हुआ और उस उत्क्रान्ति के समय में इस-की मान-मर्यादा रखने की पुष्टि हो गई, जिससे आगे फिर कभी किसी प्रकार के अप्रिय प्रसंग के आने का मौक़ा नहीं आया और न महाराणाओं ने भी ऐसा अवसर आने दिया। महाराजश्री के समय की यह अन्तिम घटना है, जो कांकरोली के इतिहास पर कुछ नया प्रभाव डालती, पर उनकी नीतिमत्ता से वह सुव्यवस्थित हो गई और ठिकाने का एक गौरव का स्वरूप बँध गया। सं० १८२९ के श्रावण शुक्ल पक्ष की यह घटना इतिहास में स्मरणीय है, जो महाराजश्री के हस्ताक्षर के पत्र द्वारा प्रकाश में आई है।

सं० १८२९ पौष कृ० २ के दिन महाराणा ने मेन्या-नामक गाम भेंट किया, जो मालूम पड़ता है कि इसी प्रसंग का है। महाराजश्री के एक पत्र से ज्ञात होता है कि भाद्र वदी प्रतिपदा के दिन महाराणा पुनः कांकरोली आये थे और उन्होंने मंगला में श्रीद्वारकाधीश के दर्शन कर बिदा होते समय १५०० रु० का मेन्या-नामक गाम भेंट करने की बात कही और पट्टा कर देने का वचन दिया था। इसके बाद उदयपुर जाकर महाराणा ने पौष कृष्ण २ के दिन उक्त गाँव का पट्टा कर दिया। सं० १८२९ चैत्र कृष्ण १ के दिन इनका देवलोक हो गया, और बाद में महाराणा हमीरसिंहजी गद्दी बैठे।

सं० १८३० के ज्येष्ठ मास में कांकरोली में फिर एक उपद्रव और खूनखराबी होते-होते बची, जिसका वृत्त इस प्रकार महाराजश्री के पत्र से विदित होता है, जो उन्होंने अपने पौत्र विट्ठलनाथजी को ज्येष्ठ शु० १३ गुरुवार के दिन अहमदाबाद लिखा था—

बात यह हुई कि—रामकृष्णजी जोशी-नामक एक व्यक्ति जो शायद नाथद्वारा का राज्य-कर्मचारी था, सहलावा गाँव से चलकर कांकरोली आया और यहाँ कृष्णू-नामक अपने परिचित व्यक्ति के घर पर एक दिन ठहरा। इसकी और राजनगर में ठहरे हुए तुर्कों से कुछ खटापटी थी। जब रामकृष्ण जोशी रात को कांकरोली से लावा—सरदारगढ़—जाने लगा तो तुर्क लोगों ने आकर बाग़ में से उसे पकड़कर राजनगर के क़िले में क़ैद कर दिया। यह तुर्क सिन्धी थे, जो अपनी तनख़्वाह न मिलने पर जहाँ-तहाँ लूट-खसोट किया करते थे। यह लोग रोज़ ४००-६०० की

संख्या में कांकरोली में आते और दिन भर तालाब की पाल पर बैठे रहते थे, इनके उपद्रव के मारे बाग़-बग़ीचे बरबाद हो गये। कांकरोली कचहरी के कर्मचारियों ने इनको समझाकर, दबाकर सभी प्रकार से कहा, पर यह लोग अपने उपद्रव से बाज़ न आये।

उन लोगों के सरदार जीगनख़ाँ जावल्लाबेग से महाराजश्री ने रामकृष्ण जोशी को छोड़ देने को कहा, तो उसने जवाब दिया कि--यह आसामी तो नाथद्वारा का है, आपका नहीं। अतः छुड़वाना होगा तो वहाँ के महाराज गोविन्दजी प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार चार दिन बीत गये।

अन्त में महाराजश्री ने यह समाचार गोविन्द पन्त, भीमसिंहजी तथा अमरचन्द को लिखकर भेजे, जिस पर उन्होंने कहा कि--महाराजश्री व्रजभूषणजी वहाँ हैं, वे ही प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार ७ दिन बीत जाने पर भी रामकृष्ण जोशी का छुटकारा नहीं हुआ।

इसी समय वहाँ राजावत दलेलसिंह सवाई भाठी, शिवजी बैस आदि अपनी जमात लिये हुए पड़े थे, जिसमें ४०० सवार और ३०० पैदल थे। इधर मुसलमान—सिन्धी—भी ३०० के लगभग थे, इन हिन्दुओं ने मुसलमानों को समझाया कि--महाराणा अरिसिंहजी कह गये थे कि तुम्हें ज़रूरत पड़े तो हमारा खालसा लूट लेना, पर मेरे गुरुघर कांकरोली में किसी प्रकार की छेड़छाड़ मत करना, इसलिये इस ब्राह्मण को छोड़ दो, हम लोगों को दानापानी कांकरोली से मिलता है।

हिन्दुओं ने सभी प्रकार समझाया और नम्रता दिखलाई, पर उन्होंने न माना। हिन्दुओं ने कहा कि--हमारे गुरुद्वारा की ओर यदि दृष्टि डाली तो ठीक न होगा। इस प्रकार की बातचीत में दोनों दलों में खटक गई, मुसलमानों ने कहा कि--हम तो अब कांकरोली लूटेंगे।

मुसलमानों का इतना कहना था कि--नगाड़ा बजा, सज्जित हो, हिन्दू मरने-मारने को तैयार होकर मैदान में उतर आये। उन्होंने अपना मोरचा कांकरोली में आँवली के वृक्षों के नीचे डाला, महाराजश्री से जब वे मिलने को आये, तो उन्होंने हिन्दू-धर्म की रक्षार्थ कटिबद्ध होने पर उन्हें शाबाशी दी।

इस रणसज्जा को देखकर तुर्क सटपटा गये। यह लोग विजयसिंहजी के ताबेदार

तथा अजमेर-इलाका के निवासी थे। महाराजश्री के यत्न करने पर अन्त में विजयसिंह का एक पत्र सिन्धी धीरजमल पर आया और सौ सवार, २ बेरख और २ ढोल आये। यह सब देख ज्येष्ठ शु० ८ की रात्रि को मियाँ जीगनखाँ जावल्लाबेग रामकृष्ण जोशी को लेकर महाराजश्री के पास आये और तुलाराम के द्वारा उन्हें जगवाकर मिलने की खबर भेजी।

महाराजश्री उन लोगों से मन्दिर के चौक में तुलसी-क्यारे के पास मिले, बात-चीत हुई। मियाँजी ने कहा कि—मियाँ ख़्वाजाबख़्श इन्हें ले गये थे, सो हम ले आये हैं। सवार आने पर भी वह नहीं छोड़ता, पर आपके लिये हम इन्हें छोड़े देते हैं। इस पर महाराजश्री ने कहा कि मियाँजी! तुमने हमको यह यश दिया। यह कहकर बीड़ा दिया।

इस पर मियाँजी ने कहा कि आपने शहर की खिड़की क्यों बंद कर ली? महाराजश्री ने कहा कि डर से। इस पर उसने पूँछा कि डर किसका, तब महाराजश्री ने कहा कि तुम्हारा। इस पर वह खुश होकर जाने लगा तो महाराजश्री ने कहा कि तुम्हारे आदमियों ने रामकृष्ण को धूप में बैठाकर डेढ़ सौ रुपयों का रुक़्क़ा लिखा लिया है और इसका जो सामान ले लिया है, सो सब पीछे भिजवा दीजिये। इस पर मियाँजी महाराजश्री की बात मंज़ूर कर बिदा होकर चले गये और उनका लिया हुआ सब सामान भिजवा दिया। जिसे एक सैयद भला आदमी लेकर आया। उसने महाराजश्री से मिलकर कहा कि--कल मियाँजी आपकी बड़ी तारीफ़ करते थे और कहते थे कि महाराजश्री बड़े महापुरुष हैं, उनकी बद्दुआ न लेना। यदि मेरे पास दो हज़ार रुपये का घोड़ा होता तो मैं उनको भेंट में दे देता।

महाराजश्री ने अपने पत्र में लिखा है कि--इस समय अपने गाम में २००० बंदूक और ५०० सवार हैं। अमरचन्द प्रधान, भीमसिंहजी तथा गोविन्दराव पन्त को पत्र लिखा है, वे आनेवाले ही हैं। इस प्रकार एक ब्राम्हण रामकृष्ण जोशी को मुसलमानों की क़ैद से छुड़ाने में नाथद्वारावालों से तो कुछ न बन सका, पर अपने प्रभु श्रीद्वारकाधीश की कृपा से कांकरोली का यश फैला। अब जो मर्यादा बँधेगी सो पक्की बँधेगी। आदि *।

* जैसा हम कह आये हैं, ये पत्र महाराजश्री ने अपने पौत्र विट्ठलनाथजी को प्रदेश में लिखकर भेजे थे, जो उनके वापिस कांकरोली आ जाने पर सरस्वती-भंडार विद्या-विभाग में सुरक्षित रख दिये गये। (ज्येष्ठ शु० १३ गुरुवार सं० १८३० के पत्र से।)

महाराजश्री के समय में मेवाड़ में बहुत-सा राजनैतिक उथल-पुथल हुआ। कब किस प्रकार की परिस्थिति आ जाय, इसका निश्चय नहीं था, ऐसी अवस्था में ठिकाने की रक्षा के लिए अधिकांश उनकी उपस्थिति आवश्यक थी। यही कारण था कि वे धर्म प्रचारार्थ विशेष प्रदेश नहीं जा सके और उन्होंने अपने पौत्र विट्ठलनाथजी द्वारा अपने घर की सृष्टि को सँभाला। अन्त समय सं० १८३३ में महाराजश्री प्रदेश करने पधारे। उन्होंने राजपूताना के राज्यों में भ्रमण किया और द्वारकाधीश के लिए सेवा एकत्रित की।

नित्यलीला-प्रवेश

यद्यपि इसके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तथापि इस प्रकार की किम्वदन्ती प्रचलित है कि—जब वह यात्रा करते हुए कोटा पधारे, तब वहाँ उनके मुकाम पर जंगली लोगों ने आक्रमण कर दिया। महाराजश्री के साथ के आदमियों से उनकी लड़ाई हुई और उन्होंने आक्रमणकारियों को भगा दिया। पर सहसा अन्त में एक तीर महाराजश्री के लग गया, जिसके कारण स्वास्थ्य बिगड़ जाने से उनकी स्थिति चिन्ताजनक हो गई* और अन्त में सं० १८३३ के फाल्गुन शु० १ के† दिन नित्यलीला-प्रवेश हो गया। इनका संस्कार कोटा में इनके पौत्र श्रीविट्ठलनाथजी ने किया। इस प्रकार महाराजश्री ने विकट समय में कांकरोली की सर्वतोभावेन रक्षा की और इसको तात्कालिक राजनैतिक दावानल से बचाकर सम्पन्न बनाया। इनके बाद इनके पौत्र विट्ठलनाथजी तिलकायित हुए।

---

* महाराजश्री की इस प्रकार की अन्तिम स्थिति के विषय में ऐसा प्रसिद्ध है कि—उन्होंने एक बार श्रीद्वारकाधीश की शय्या फूलों से सजाई और उस पर प्रभु को पौढ़ाकर शयन करा दिया। प्रातःकाल जब मंगला में शय्या सँवारी गई तो उसमें फूल पोहने की सुई मिली, जिसे देखकर महाराजश्री को अतिशय पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने कहा कि श्रीप्रभु के कोमल अंग में इस असावधानी से कष्ट हुआ होगा। अन्त में उन्होंने कहा कि मेरी मृत्यु इसी प्रकार किसी शस्त्र द्वारा होगी, और यह घटना हुई।

† प्राचीन रोकड़ से। इस उत्तरक्रिया में ५०५) रु० व्यय हुआ था।

परिशिष्ट—१

श्रीव्रजभूषणजी (द्वि०) के परिचित एवं आश्रित कवि तथा विद्वान्*

१ प्रवीण कवि—'द्वारकाधीश विचत्रविलास'-रचयिता । हिन्दी-कवि ।

२ बालकृष्ण भट्ट—शु० साम्प्रदायिक विद्वान् ।

३ मथुरानाथ—'गीतगोविन्द भाषा पद्यानुवाद'-रचयिता ।

४ गोपालदास—देवगढ़ के सरदार जसवन्तसिंहजी के द्वि० पुत्र और महाराजश्री के शिष्य ।'गुरुभक्ति-चन्द्रिका' के रचयिता ।

५ सुजान कवि—हिन्दी-कवि ।

६ वंशीधर—'वल्लभ स्तुति पचीसी' के रचयिता । हिन्दी-कवि ।

७ निर्भयराम भट्ट—शु० साम्प्रदायिक विद्वान् और महाराजश्री के शिष्य ।

८ इच्छाराम भट्ट—शु० साम्प्रदायिक विद्वान् ।

९ रामकृष्ण भट्ट—शु० साम्प्रदायिक विद्वान् ।

१० बालकृष्ण कवि—हिन्दी-कवि । जयपुर-नरेश महाराज माधवसिंहजी का आश्रित ।

११ छविनाथ कनौजिया—बूँदी-नरेश दुर्जनसिंहजी का आश्रित । हिन्दी-कवि ।

इसके अतिरिक्त तैलंग जातीय अन्य कवियों और विद्वानों का, जो विशेषकर तात्कालिक जयपुर-नरेश के आश्रित थे, महाराजश्री से परिचय रहा होगा । उनमें से जिनका संकेत मिला है, वे ऊपर लिखे गये हैं* ।

---

* उक्त विद्वानों और कवियों की नामावली ही यहाँ दी जा रही है । विशेष परिचय और गवेषणा के लिये देखो—"आन्ध्रजातीय कविगण"-नामक शीघ्र प्रकाशित होनेवाला ग्रन्थ ।

श्रीव्रजनाथजी लालजी

(प्रा० सं० १७८८, नि० सं० १८२५ लगभग)

——:०:——

जन्म, शिक्षा और संस्कार—श्रीव्रजनाथजी (लालजी) का जन्म सं० १७८८ ज्येष्ठ शु० ७ के दिन हुआ * । इनके पिता का नाम व्रजभूषणजी (द्वि०) था । व्रजनाथजी के छोटे भ्राता मुरलीधरजी थे ।

व्रजनाथजी का उपनयन-संस्कार अष्टम वर्ष अर्थात् सं० १७९६ में हुआ, और यज्ञोपवीत हो जाने के बाद इन्होंने संस्कृत-शास्त्र तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थों का आवश्यक अध्ययन किया । यद्यपि इनके पांडित्य के विषय में विशेष ज्ञात नहीं होता, तथापि सरस्वती-भंडार (कांकरोली-विद्या-विभाग) में उपलब्ध कुछ आकर ग्रन्थों के ऊपर इनका नाम हस्ताक्षर-रूप में लिखा मिलता है, जिससे विदित होता है कि—यह इनके पाठ्य ग्रन्थ थे ।

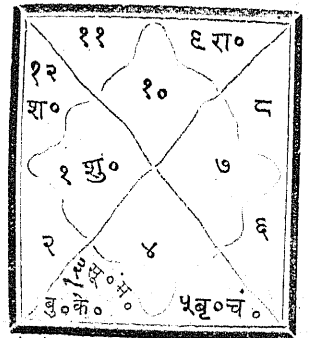
पिता की उपस्थिति में ही देहावसान हो जाने के कारण यह तृतीय गृह के तिलकायित नहीं हो सके, और व्रजभूषणजी के अनन्तर इनके ज्येष्ठ पुत्र विट्ठलनाथजी गादी पर विराजे । इस कारण इनका नाम 'लालजी व्रजनाथजी' इस रूप में प्रचलित हो गया । विद्याध्ययन करते हुए इन्होंने अपने पिता के साथ ही द्वारकाधीश प्रभु की सेवा करने का कुछ समय तक सौभाग्य प्राप्त किया ।

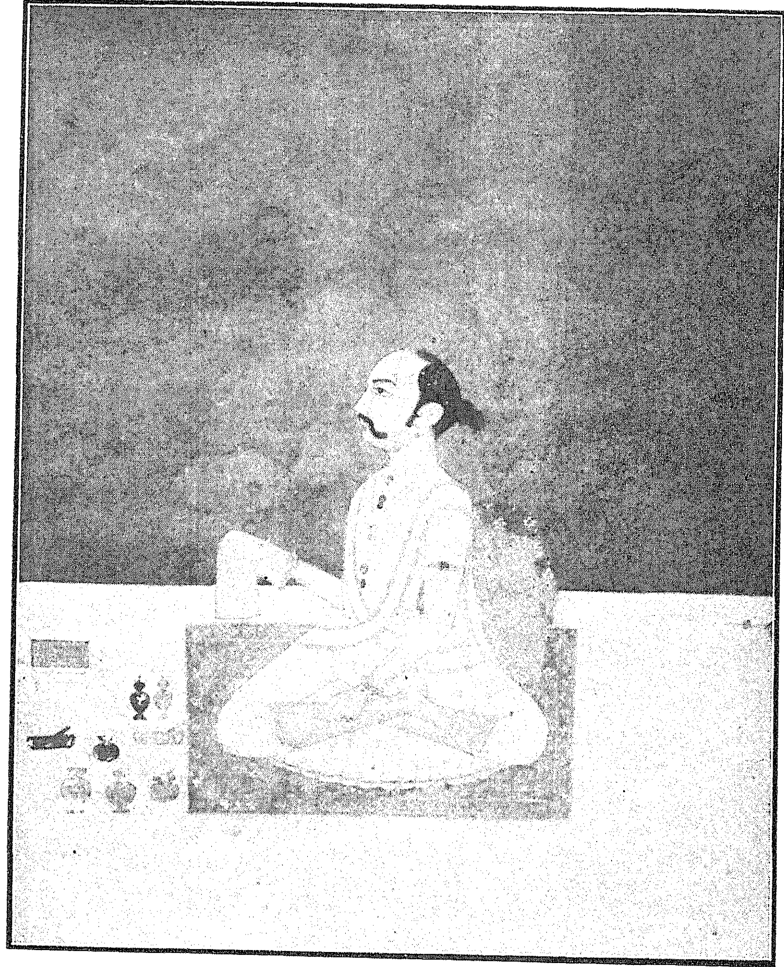
विवा और संतति—योग्य वय हो जाने पर सं० १८०५-६ के लगभग इनका विवाह

---

* जन्म-कुंडली—

श्रीमत्संवत् १७८८ वर्षे शाके १६५३ प्रवर्तमाने ज्येष्ठ शुक्ल ६ सोमे घटी १।५ परतः ७ जन्मतिथौ मघा घटी ६।५४ परं पूर्वा-फाल्गुनी जन्म-नक्षत्रे सूर्योदयात् गत घटी ४१।४६ समये श्रीव्रजभूषण-जी सुत श्रीव्रजनाथजी जन्म ।





लाल श्रीव्रजनाथजी महाराज
प्रा० सं० १७८८ ज्ये० शु० ७

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

हुआ, इनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीचारुमती बहूजी था *। इनके निम्न-लिखित सन्तति हुईं--

१ विट्ठलनाथजी प्रा० सं० १८११ पौष कृष्ण १३
२ कल्याणरायजी ,, ,, १८१५ मार्ग० ,, १४
३ गोकुलनाथजी ,, ,, १८२१ ,, ,, १४

पितृचरण व्रजभूषणजी (द्वि०) के समय कांकरोली में अनेक राजा-महाराजाओं का आवागमन होता रहता था, अतः उन सबसे परिचय प्राप्त करने का इन्हें भी अच्छा अवसर मिला था।

व्रजनाथजी द्वारकाधीश प्रभु की सेवा के बड़े ही रसिक थे, और अधिकांश समय सेवा में ही व्यतीत किया करते थे। इन्होंने सेवा-प्रणाली में अपने पितृचरण की आज्ञा से कुछ विशेषताएँ कीं, और चौकी, कुंडवारा तथा नगारबन्द उत्सवों का क्रम चालू किया, जो अद्यावधि प्रचलित है।

प्रदेश-भ्रमण

सं० १८२२-२३ के बीच में व्रजनाथजी ने प्रदेश किया, और गुजरात आदि स्थलों में जाकर वैष्णव--सृष्टि को सँभाला। सं० १८२३ में श्रावण के पूर्व यह कांकरोली आये। इसके बाद सं० १८२४ में इनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने गुजरात का प्रदेश किया। इस समय इनकी अवस्था १३-१४ वर्ष की थी।

नित्यलीला-प्रवेश

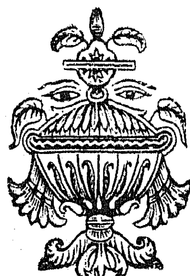
सं० १८२३ ज्ये० शु० ५ के दिन व्रजभूषणजी (द्वि०) के प्रति लिखे गये गो० श्रीप्रभुजी के पत्र में व्रजनाथजी का नाम नहीं है और इनके पुत्र विट्ठलनाथजी का है, जिसका कारण कांकरोली में इनकी उपस्थिति का न होना है। सं० १८२४ से २६ तक के पत्र उपलब्ध नहीं होते, जिनसे कुछ प्रकाश पड़ता। पर इस प्रकार का अनुमान होता है कि--व्रजनाथजी का नित्यलीला-प्रवेश सं० १८२५ के लगभग भाद्रपद मास के अनन्तर और † इनकी पत्नी का देहान्त सं० १८५५ कार्तिक बदी ६ भौमवार को सायंकाल हुआ।

---

* मनोहरदास-कृत गुजराती धाल, सर० भं०।

† सरस्वती-भंडार में सं० १८२३ का० शु० ५ बुध की लिखी एक छोटी हिसाब की कापी व्रजनाथजी के हस्ताक्षरों की लिखी मिली है। इसमें सं० १८०५ चैत्र शु० १ शनि से सं० १८२३ श्रावण बदी २ बुधवार तक, और इसके बाद सं० १८२५ भादों सुदी १३ शनि तक अधिकमास-समेत ब्याज चुकाने का भी उल्लेख है। अतः इस समय (सं० १८२५ भाद्र शु० १३ शनि) तक व्रजनाथजी की उपस्थिति मानी जा सकती है। लल्लूभाई ने जो १८३० लिखा है, वह गलत है।

व्रजनाथजी के देहान्त से इनके पिता व्रजभूषणजी (द्वि०) को बड़ा धक्का पहुँचा, पर भगवल्लीला के आगे क्या वश था ! उन्होंने अपने पौत्र विट्ठलनाथजी को अपनी वृद्धावस्था का सहारा समझा और उनकी अभिवृद्धि की कामना करने लगे। व्रजभूषणजी अपने पौत्र विट्ठलनाथजी को बहुत अधिक चाहते थे और पत्रों में उन्हें 'प्राणप्रिय बेटा', इस प्रकार का संबोधन लिखा करते थे। पत्रों में समय-समय पर लिखी शिक्षा की बातों से यह विदित होता है कि—वे अपने पुत्र के वियोग को अपने पौत्रवात्सल्य के द्वारा दबाये हुए थे।





१ गो० श्रीविट्ठलनाथजी (रोमवाले बड़े) २ गो० श्रीगोकुलनाथजी (छोटे)
प्रा० सं० १८२१ मार्ग० कृ० १४
(ये दो भ्राता एक ही आकृति-स्वरूपवाले थे, अतः एकही चित्र दिया गया है)

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

श्रीविट्ठलनाथजी महाराज (स० ति०)

(प्रा० सं० १८११, ति० सं० १८३४, नि० सं० १८४८-४९)

——:o:——

जन्म-संस्कार और शिक्षा

श्रीविट्ठलनाथजी महाराज का जन्म सं० १८११ पौष कृष्ण १३ गुरुवार को हुआ था* । इनके पिता का नाम व्रजनाथजी था, जो व्रजभूषणजी (द्वि०) के आत्मज थे । विट्ठलनाथजी से छोटे दो भ्राता और थे, जिनका नाम कल्याणरायजी और गोकुलनाथजी था ।

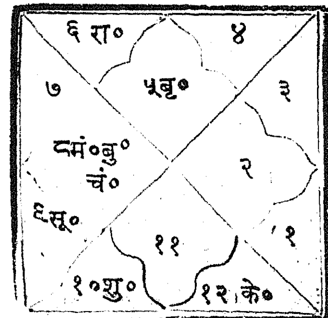
विट्ठलनाथजी और गोकुलनाथजी के विषय में ऐसा प्रसिद्ध है कि—बड़ी अवस्था में इन दोनों को एक ही आकार-प्रकार होने के कारण पहिचानने में भ्रम हो जाया करता था । द्वा० चित्रशाला में उपलब्ध इन दोनों के चित्र से भी यही प्रमाणित होता है । बहुधा सेवा के समय जब इन दो में से कोई एक भाई आ जाता था, तो मुखियाजी को इसके निर्णय में बड़ा असमंजस उठाना पड़ता कि—आज द्वारकाधीश का श्रृंगार किसने किया है । इसी प्रकार एक की बात दूसरे से कह देने के कारण उनको प्रायः लज्जित हो जाना पड़ता था ।

इसी घटना को प्रदर्शित करने के लिये यहाँ इन दोनों का एक ही चित्र छापा गया है, और नाम दोनों के दे दिये गये हैं । इस सारूप्य के साथ एक भेद भी प्रकृति ने इन दोनों में रक्खा था—विट्ठलनाथजी का शरीर साधारण और गोकुलनाथजी का शरीर लोमश था, जो शरीर के खुले होने की अवस्था में ही जाना जा सकता था ।

---

* जन्म-कुंडली—

संवत् १८११ वर्षे शाके १६७६ प्रवर्तमाने पार्थिव नाम्नि संवत्सरे पौष कृष्णा १३ घटी ०२।१२ परं १४ जन्मतिथौ गुरुवासरे अनुराधा घटी ४८।२१ धृति घटी ४५।४१ धनार्क गतांशाः ००।०० सूर्योदयात् गत घटी ४०।०६ समये श्रीव्रजनाथात्मज श्रीविट्ठलनाथजी जन्म ।



इनके छोटे भाई कल्याणरायजी का छोटी वय में ही देहान्त हो गया था, अतः उनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

सं० १८१९-२० के लगभग इनके पितामह व्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) ने इनके यज्ञोपवीत-संस्कार का प्रस्ताव बड़े धूमधाम से किया।

सं० १८२५ के लगभग अपने पिता व्रजनाथजी का देहान्त हो जाने के कारण विठ्ठलनाथजी और इनके भ्राता गोकुलनाथजी ही अपने पितामह के आश्रय-रूप रह गये थे। इस समय व्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) की वृद्धावस्था और तात्कालिक राजनैतिक परस्थिति के अशान्तिमय होने के कारण स्वल्प वय से ही विठ्ठलनाथजी को गुजरात का प्रदेश करना पड़ा। अहमदाबाद, सूरत, धंधूका, धौलका आदि कई प्रान्तों में घूम २ कर इन्होंने वहाँ के निवासी वैष्णव-समुदाय को धर्म का उपदेश देकर अपना शिष्य बनाया, और आई हुई भेंट का द्रव्य भेजकर अपने पितामह व्रजभूषणजी का बहुत-सा ऋण चुकवाया था। इनके साथ प्रदेश में जीवाशाह-नामक एक भाविक वृद्ध वैष्णव रहा करता था, जिसके निदेश में चलते रहने की आज्ञा समय २ पर व्रजभूषणजी महाराज अपने पत्रों में इन्हें दिया करते थे।

इस समय की राजनैतिक परिस्थितियों का आवश्यक वर्णन पहले किया जा चुका है, जिससे इतना अवश्य कहना पड़ता है कि उस समय जो घटनाएँ घटीं, उनका परिणाम इनको भी अपने पितामह के बाद भोगना पड़ा।

विठ्ठलनाथजी ने अपने पितामह के समीप ही आवश्यक अध्ययन किया था। पर बाल्य-काल से ही प्रदेश-परिभ्रमण का भार उठा लेने के कारण इनका पूर्ण अध्ययन नहीं हो पाया और न यह अपने पितामह के समान विद्वान् ही बन सके। फिर भी प्रायः इन्होंने सभी आकर ग्रन्थों का परिशीलन शनैः २ कर लिया था। इनके समय में कांकरोली में शु० सम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् निर्भयराम भट्टजी रहते थे, जिनके भेजे हुए पत्रों*

---

* श्रीद्वारकेशो जयति

श्रीप्रभु न आगे सुधि करत हूं

स्वस्ति श्रीमत्कृष्ण—प्रेमामृतरसभरभरित सुभगमूर्तिषु श्रीलालजी महाराज श्री ६ विठ्ठलनाथजी चरणाम्बुजेषु दर्शनाभिलाषिणो निर्भयरामस्य दंडवत् प्रणतयः शर्मात्र श्रैमत्कं तदाशासे, अपरंच आपको कृपापत्र भा० शु० ६ को लिख्यो आश्विन बदी ६ शुक्र के दिवस पहुच्यो। आपके लिखे पत्र सब पहुंचे है, भंगा के हाथ्र हू पहुंचो, और हू यहां ते पत्र लिखै तो है परन्तु पहुंचे न होयगे। अवारे पहुंचेगे

से विदित होता है कि वे गुरुपुत्र विट्ठलनाथजी को बड़े आदर की दृष्टि से देखा करते थे।

विट्ठलनाथजी का प्रथम विवाह व्रजभूषणजी (द्वि०) के समक्ष ही हुआ, जिससे सं० १८३२ में यशोदा बेटीजी और सं० १८३५ में व्रजभूषणजी (तृ०) का जन्म हुआ। इसके बाद प्रथम पत्नी श्रीपद्मावती बहूजी का देहान्त हो जाने से इनको पुनः द्वितीय विवाह करना पड़ा।

विवाह और सन्तति

यह सं० १८३७ माघ बदी १३ को जयपुर पधारे और वहाँ माघ शु० २ के दिन व्रजनाथजी (उपनाम मन्नूजी) भट्ट की पुत्री से द्वितीय विवाह हुआ। फाल्गुन शु० ४ को यह विवाह कर जयपुर से कांकरोली आये। इस समय वहाँ महाराजा प्रतापसिंहजी राजा थे। महाराजा ने प्राचीन मर्यादा के अनुसार विट्ठलनाथजी के जयपुर पधारने पर उनका स्वागत-सत्कार किया और भेंट चढ़ाई। विवाह के समय जयपुर में विद्यमान रावत राघवदासजी देवगढ़, रावत गोपालदासजी, भीमसिंहजी शाहपुरा, सदाशिवजी, महाराजा सवाई प्रतापसिंहजी आदि ने उपस्थित होकर व्यवहार किया और भेंट चढ़ाई थी। इससे यह मालूम पड़ता है कि—उक्त तीनों सरदारों को महाराजश्री अपने साथ कांकरोली से जयपुर लिवा ले गये थे। ये चारों व्यक्ति इस घर के परम्परागत शिष्य थे*।

विट्ठलनाथजी महाराज के निम्न-लिखित सन्तति हुई—

१	यशोदा बेटीजी	प्रा० सं० १८३२ चैत्र कृष्ण ५	प्रथम पत्नी से
२	व्रजभूषणजी (तृ०)	,, ,, १८३५ ,, शु० ८	
३	शोभाबेटीजी	,, ,, १८४४ (अनुमान)	द्वितीय पत्नी से
४	गोवर्द्धनेशजी	,, ,, १८४८ मार्ग० शु० ७	

और व्रजवासीन के साथ पठये है सो तो वेग ही पहुंचेगे, प्रसाद के साथ ब्राह्मण अमदाबाद जात हतो ताके साथ लिखे है सो हू पहुंचेगे, और पत्र एक श्रीकारकों पठवाए सो पहोंच्यो, उत्तर तो पीछे ते आवेगो, यह काशद एकही राति रह्यो ताते, नडिआद पहोंचि पेटलाद पधारे सो जाने अब अमदाबाद होय धोलका धंधूका पधारोगे, पाटनवारे होयके घर पधारोगे सो जाने, ठाकुरजी वह दिवस वेग दिखावे, आपके तो अन्तराय है ही नहीं परन्तु हमारे नेत्र के अन्तराय है सो दर्शन देहुगे, तब सफल होयगे, आश्विन बदी ६ भृगौ संवत १८२६ श्रीगोकुलनाथजी बहोत आछे है।

* प्राचीन रोकड पाना ११६ सं० १८३७।

छोटी अवस्था में ही देहान्त हो जाने से गोवर्द्धनेशजी का कोई वंश नहीं चला। शोभाबेटीजी का विवाह सं० १८५३ आषाढ़ कृ० ७ को हुआ।

तिलकायित होना

सं० १८३३ के अन्त में अपने पितामह व्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) के अस्वास्थ्य का समाचार पाकर विट्ठलनाथजी कोटा गये। इस यात्रा में इनके भ्राता गोकुलनाथजी और सवाई खड्गसेनजी साथ थे। मार्ग में यह माघ कृ० ५ भौमवार को पुष्कर पहुँचे, और वहाँ तीर्थकृत्य कर पुरोहित को वृत्तिपत्र लिखकर दिया *। फाल्गुन कृ० १ के दिन कोटा में नित्यलीला-प्रवेश हो जाने पर व्रजभूषणजी महाराज का इन्होंने और्ध्वदैहिक कृत्य किया और कांकरोली आये।

सं० १८३४ वैशाख शु० ६ के दिन विट्ठलनाथजी का अपने पितामह के स्थान, तृतीय पीठ के तिलकायित-पद, पर तिलक हुआ। इस समय महाराणा हमीरसिंहजी † राजकीय झगड़ों में उलझे होने के कारण उपस्थित न हो सके। उन्होंने राज्य का दस्तूर भेजकर गुरुघर के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की।

जिस समय महाराजश्री ने अपने भाई गोकुलनाथजी के साथ कांकरोली का प्रबंध और श्रीद्वारकाधीश की सेवा का भार सँभाला था, उस समय भी मेवाड़ की परिस्थिति अशान्तिमय थी, जो सं० १८७० के लगभग तक बनी ही रही। फिर भी महाराजश्री ने अपने पितामह के समान ही नीति-विज्ञता का परिचय दिया और संस्थान की रक्षा करते हुए उसे उन्नत बनाया।

सं० १८३४ में हमीरसिंहजी के अन्नतर पौष शु० ९ को दस वर्ष की वय में भीमसिंहजी महाराणा ‡ हुए। इसी वर्ष पृथ्वीसिंहजी के बाद सवाई प्रतापसिंहजी जयपुर-नरेश हुए। महाराजश्री ने दोनों स्थलों पर इस समय गुरुघर का दस्तूर किया और अपनी प्राचीन प्रथा चालू रक्खी।

---

* पुष्कर पुरोहित का वृत्तिपत्र।

† इनका जन्म सं० १८१८ ज्ये० शु० ११ (अनु०), राज्याभिषेक सं० १८२९ चै० ब० ३ और कैलासवास सं० १८३४ पौ० शु० ८ के दिन हुआ।

‡ इनका जन्म सं० १८२४ चैत्र ब० ७, राजगद्दी सं० १८३४ पौ० शु० ९ और कैलासवास सं० १८८५ चैत्र शु० १४ के दिन हुआ।

मेर लोगों का उपद्रव

जैसा प्रथम कहा जा चुका है, इस समय उदयपुर की गद्दी को महाराणा भीमसिंहजी सुशोभित कर रहे थे, उनकी अवस्था इस समय लगभग १०-११ वर्ष की थी, मेवाड़ में उपद्रवों की परम्परा, महाराणा की बाल्यावस्था और शासन की शिथिलता का मौका पाकर मेर लोगों ने भी यत्रतत्र लूटमार प्रारम्भ कर दी।

इसी प्रसंग में सं०-१८३५ माघ मास में कांकरोली के ग्राम अमलोई में मेर लोगों ने आकर उपद्रव मचाया। उन लोगों ने गाम पर छापा मारा और चरते हुए गाम के समस्त ढोर घेर कर ले गये। उनके विशाल समुदाय के आगे गाम के निवासी कुछ भी सामना न कर सके। इसकी खबर कांकरोली पहुँची। इस समय विट्ठलनाथजी महाराज प्रदेश कर रहे थे, पर अधिकारी तुलसीदास-दुर्लभदास ने इस उपद्रव का समाचार पाते ही कांकरोली से पंड्या रामदास को, १५ असवार और जीवन गोंड के साथ, उनका पीछा करने को भेजा। मार्ग में रात में ही जवास्या गाम का थानेदार भी इनके साथ हो लिया। इन सबों ने आगे जाकर घाटा का मार्ग रोक लिया। यहाँ मेरों के साथ जमकर लड़ाई हुई, जिसमें कांकरोलीवालों की जीत हुई। घोड़ी-सहित एक मेर के मारे जाने और तीन के पकड़ लिये जाने पर बाकी सभी मेर जानवर छोड़-कर भाग खड़े हुए और अमलोई के समस्त ढोर वापिस अपने गाम में पहुँचाये गये*।

* अधिकारी तुलसीदास-दुर्लभदास का सं० १८२५ माघ बदी (अमान्त) ३ गुरु का पत्र।

उ० रा० इतिहास पत्र ७०६ में लिखा है:—

"मेरवाड़ा एक पहाड़ी प्रदेश है, जो उदयपुर, जोधपुर और अजमेर-ज़िले से सम्बन्ध रखता है। इसमें मेर जाति के लोग रहते हैं, जो जंगली, युद्ध-प्रिय और स्वतन्त्रताप्रेमी हैं। जब कभी शासक की शक्ति क्षीण हुई, तब वे उपद्रव कर स्वतन्त्र बन जाते...अब मुग़ल-सम्राज्य और मेवाड़, दोनो के निर्बल हो जाने से मेरों ने फिर सिर उठाया और वे मेवाड़, मारवाड़ तथा अजमेर-ज़िले की प्रजा को लूटने लगे।"

मेवाड़ की तात्कालिक स्थिति का निदर्शन गोकुलनाथजी के एक पत्र के निम्न-लिखित आवश्यक अंश से सहज ही हो सकता है:—

स्वस्तिश्री ५ दादा श्रीविट्ठलनाथजी चरणसरोजेषु आज्ञाकारिणो गोकुलनाथस्य नतयः शमत्र तात्रास्तु देशोपद्रव के समाचार तो सब आगे लिखे हैं सो यथावस्थित है। पृथ्वीपति पीछे गये। जोगी हजार ६ दक्षिण ते आये हते सो परवाहिरे गये। रावत अर्जुनसिंहजी बन्हेडा ते परै कोस ४ परे है। दखिणी आंबाजी ईंगल्या* बापूजी हुलकर साहिपुरा ते परै पड़े है इत माहूँ कोऊ आवे नहीं। मिती वैशाख वदि २ सं० १८३६

* आम्बाजी ईंगल्या के विषय में उ० रा० इ० पत्र ६८० की टिप्पणी में लिखा है कि यह माधवराव और दौलतराव सिन्धिया का सेनापति तथा राजनैतिक सलाहकार था।

श्रीव्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) के समक्ष अनेक राजा-महाराजाओं के उपस्थित

राज्य-सम्मान

होते रहने का प्रसंग आया था, इस कारण तत्कालीन सभी राजा-महाराजा उनके स्थानापन्न तिलकायित होने के कारण विट्ठलनाथजी के प्रति भी आदर-भाव रखते थे और कई तो उन्हें अपना गुरु भी मानते थे। यह लोग जब कभी मेवाड़ में आते तो कांकरोली अवश्य आते और श्रीप्रभु के दर्शन कर यथाशक्ति भेंट करते थे। उदयपुर के महाराणा के समान अन्य कई राजा-महाराजा भी यहाँ के दीक्षा-प्राप्त शिष्य हुए और उन्होंने प्रति वर्ष राज्य से श्रीद्वारकाधीश को जन्माष्टमी की और अपने गुरु को पवित्रा की भेंट भेजना शुरू कर दिया था। जिससे ज्ञात होता है कि—महाराज के व्यक्तित्व का उन सब पर अच्छा प्रभाव था। इनमें कोटा, बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, झालावाड़ आदि के राजाओं के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

महाराजश्री के तिलकायित होने के बाद सबसे प्रथम सं० १८३५ भाद्र कृ० १० के दिन बीकानेर-महाराजा गजसिंहजी कांकरोली आए और उन्होंने दर्शन कर कमलनयन ओझा के द्वारा श्रीप्रभु के लिये भेंट जमा कराई।

सं० १८३६ (कार्त्तिकादि सं० १८३५) द्वि० श्रा० बदी १४ गुरुवार को जोधपुर-महाराज विजयसिंहजी दर्शन कर कांकरोली से बिदा हुए और बिदा होते समय उन्होंने एक हजार रु० के लगभग महाराजश्री को भेंट चढ़ाई और इस समय से प्रति वर्ष पवित्रा की भेंट गुरुदक्षिणा के रूप में भेजने लगे। यही महाराजा सं० १८४३ भाद्र० कृष्ण में पुनः सकुटुम्ब कांकरोली आए और द्वादशी के दिन बिदा होते समय इन्होंने भेंट चढ़ाई *।

सं० १८३८ वैशाख शु० ६ के दिन मार्फत राय रतनलाल के परगना लालसोट टोडारायसिंहपुरा में द्वारकानाथजी की सेवा के लिये जो १००० रु० प्राप्त होने का हुक्म हुआ था, उसके लिये २००० रु० की सिफ़ारिश की गई और महाराजा सवाई प्रतापसिंहजी ने उसका परवाना कर दिया। यह रुपया व्रजभूषणजी महाराज

* प्राचीन रोकडों से। जिसमें कार्त्तिकादि संवत् और अमान्त तिथियाँ दी गई हैं। संवत् १८३४ से पूर्व की रोकडें कांकरोली के कृष्ण-भंडार में उपलब्ध नहीं होतीं। आगे जहाँ भी राजा-महाराजाओं के आने और भेंट चढ़ाने का उल्लेख है, वह उसी से लिया गया है।

के समय से मिलना प्रारम्भ हुआ था। इसमें जन्माष्टमी, गुरुपूजा आदि सभी की भेंट सम्मिलित कर दी गई थी*।

सं० १८३८ आषाढ़ सुदी २ के दिन मुक़ाम अलेई से महाराजश्री के लिये गोवर्द्धननाथजी के मन्दिर के लिये बाग़ बनवाने को २५ बीघा जमीन महाराज सवाई प्रतापसिंहजी ने प्रदान की। दीवान संगही जीवराज के बनवाए हुए इस मन्दिर के

---

* श्रीरामजी श्रीरामजी

द्वारकानाथजी

सही

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई प्रतापसिंहजी देववचनात कमैती प्रगना लालसोट का दसेसुप्रसाद वंच्या अपरंच बाबति उदिक गाव गुसाईजी श्रीविट्ठलनाथजी ने जो मारफति राय रतनलाल की मिती बैसाख वदि ६ साल संवत १८३८ अरज पहौची। उदिक उपेजा रुपया १००० को गाव देवा को हुकुम हुवो तीमे गाव रामस्यंघपुरो प्रगना लालसोट को तन रुपया २००० को तीका प्रवाना सवती का दसखत करायो चाहै तीह सूं फूरामवाळां ××× गांव रामस्यंघपुरो प्रगना लालसोट को तनरुपया दोय हजार को एवतदाय साख स्यालू संवत १८३६ थे सीगे उदिकेकैजाणि हासिल हवाले करिबो कीज्यो अर प्रतबरष नवो प्रवानूं मति माग्यज्यो। ××× ठाकुर श्रीद्वारकानाथजी वा गुसाईजी कारखाना पुन्य हजूरि वगैरह का सूं सालीना रुपया १०४२ पावैछा सो मोकूफ राख्या।

परसाद आवे तीका भेट विदा का सालीना रुपया ५४० गुसाईजी गुरपूजा वगैरह का सालीना रुपया ५०२
पवित्रा जनमअष्टमी का रुपया २३० डोल उछह का रुपया ३१०
गुर पूजा का सालीना रुपया १६४ सिरोपाव का किरकराखाना सूं सालीना ३११
दसहरा की गादी तकिया का फरासखाना सूं सालीना २७ × × × ×

दीवान सरकार का प्रवाना लिखे मिती वैशाख बदी १३ साल संवत १८३८ अरज मुकररा पहौची मुकररा गाव रामस्यंघपुरो प्रगना लालसोट को तनरुपया २००० को एक। ठाकुर श्रीद्वारकानाथजी वा गुसाईजी कारखाना पुन्यहजूरि वगैरह का सूं सालाना रुपया १०४२ पावैछा सो मोकूफ राख्या।

प्रसाद आवे तीकी भेट विदा का सालीना रुपया ५४० गुसाईजी गुरूपूजा वगैरह का सालीना रुपया ५०२
पवित्रा जनम अष्टमी का रु० २३० डोल उछह का रु० ३१०
दसहरा की गादी तकिया का फरासखाना सूं सालीना रुपया २७ सिरोपाव का कीरकराखाना सूं सालीना ३११ रु०

मुवाफिक यादि दासति मै दसखत राय रतनलाल व दीवानयान।
मिती वैशाख सुदी ६ साल सं० १८३८ मु० पलवै।
रजूदफत्र संगही जीवराज रजूदफत्र दीवान स्योजीराम रजूदफत्र काजी छीत्र महमद मुस्तोफी हजूर
(संक्षिप्त)

लिये प्रथम ज्येष्ठ सुदी ११ के दिन राय रतनलाल की मार्फत अर्ज की गई और आषाढ़ शु० २ के दिन इसका परवाना किया गया * ।

सं० १८३९ चैत्र शु० १५ को महाराणा भीमसिंहजी प्रथम बार कांकरोली आए और द्वारकाधीश के दर्शन किए। इस समय इनकी वय लगभग १४ वर्ष की थी। यह नहीं कहा जा सकता कि—इस समय महाराणा ने परम्परा-प्राप्त दीक्षा ली या नहीं, फिर भी महाराजश्री को भेंट चढ़ाने का उल्लेख होने से इसका अनुमान होता है।

सं० १८४२ कार्त्तिक शु० ११ के दिन रावत विजयसिंहजी (कोठारियावाले) ने महाराजश्री से वैष्णवधर्म की दीक्षा (ब्रह्म-सम्बन्ध) ली, और उन्हें अपना गुरु बनाकर भेंट चढ़ाई। यह कट्टर वैष्णव हो गए और अन्त में सं० १८५९ में श्रीनाथजी को उदयपुर के मार्ग पर पहुँचाकर जसवन्तराव हुलकर की फौज में वापिस लौटते हुए वीर-गति को प्राप्त हुए। इस प्रकार वैष्णव होकर इन्होंने अपने क्षत्रियत्व का आदर्श रक्खा और उसके लिये प्राण समर्पण कर दिये।

सं० १८४२ पौष शु० १ को महाराजश्री महाराणा की सूचना पर उदयपुर

---

* श्रीरामजी श्रीरामजी

सही श्रीसीतारामो जयति

श्रीमहाराजाधिराज सवाई प्रतापसिंहजी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई प्रतापसिंहजी देववचनात कमैती कसबा सवाई जैपुर का दसेसुप्रसाद वंच्या अपरंच बावति भोग धरती बीघा २५ ठाकुर श्रीगोवर्द्धननाथजी विराजमान कसबा सवाई जैपुर में मन्दिर दीवान संगही जीवराज कै त्याने जो मारफति राय रतनलालका मिती प्रथम जेठ सुदी ११ संवत १८३८ अरज पहौची बाग वणावानै का बाग का खर्चू के वास्ते धरती बीघा २५ गाव हथरोही तालक कसबा सवाई जैपुर की मुतसिल किस्न कुंड कै सीगै भोग कै दसखत करायो चाहै तीह सू फुरमावाछां × × × मुकररा तनखाह धरती गाव हथरोही तालक कसबा सवाई जैपुर की मुतसलिक किस्नकुंड के इवतदाय साख स्यालू संवत १८३६ थे सीगे भोग कै जाणि मांप्य हवाले कीज्यो क्यास्या की बीघा पचीस...... २५...... × × × दीवान सरकार का प्रवाना लिखै। मिती दुतीक जेठ वदि १० साल संवत १८३८ अरज मुकरर पहौची मुकररा धरती क्यास्या की बीघा पचीस......२५...... मुवाफिक यादिदासति मै दसखत राय रतनलाल व दीवानयान। मिती असाढ सुदि २ साल संवत १८३८ मु० अलेई।

रजूदफत्र दिवान संगही जीवराज। रजूदफत्र दीवान स्योजीराम। रजूदफत्र काजी छीत्र मह्मद मुस्तोफी हजुरी।

(संक्षिप्त)

पधारे, वहाँ आपकी अच्छी आवभगत हुई और महाराणा तथा उनके राज्य-कर्म-चारियों से परिचय हुआ। राजमाता ने भी—जो महाराणा की बाल्यावस्था होने के कारण राज्य-कार्य में सलाह दिया करती थीं, महाराजश्री को सम्मानित किया। यहाँ से बिदा होकर वह माघ बदी ४ को वापिस कांकरोली आए।

विट्ठलनाथजी महाराज सं० १८४५ के आश्विन-मास में सवाई महाराजा प्रताप-सिंहजी के समय जयपुर पधारे। इनके पितामह व्रजभूषणजी महाराज के समान इनका भी वहाँ राजकीय स्वागत हुआ। कुछ दिनों निवास कर महाराजश्री ने अपने पितामह व्रजभूषणजी महाराज के नाम पर प्राप्त हुए समस्त राजकीय गामों का दाखिल-खारिज अपने नाम करने के लिये आश्विन बदी १० के दिन महाराजा से अर्ज़ मालूम कराई। जिसके परिणाम-स्वरूप मार्गशीर्ष बदी ९ सं० १८४५ के दिन तक इन नीचे-लिखे गामों का दाखिल-खारिज का परवाना हो गया। जो पृथक् २ समय में पृथक् २ महाराजाओं के द्वारा प्राप्त हुए थे—

१	परगना टोंक	महाराजा जयसिंहजी	द्वारा	प्राप्त हुआ
२	संकरैपुरा कालीघाट	माधवसिंहजी	,,	,,
३	मलारणा	माधवसिंहजी	,,	,,
४	लालपुरा	माधवसिंहजी	,,	,,
५	सवाई जयपुर में जमीन	पृथ्वीसिंहजी	,,	,,
६	टोडारायसिंह	माधवसिंहजी	,,	,,
७	सवाई जयपुर	पृथ्वीसिंहजी	,,	,,
८	हिंडोणी	पृथ्वीसिंहजी	,,	,,

जैसा प्रथम उल्लेख किया गया है, महाराजश्री राजा-महाराजाओं के आदरणीय गुरु थे। इसके साथ ही जहाँ पुरुष वर्ग आपके प्रति श्रद्धा रखते थे, वहाँ रनवास में भी इनका मान था। सं० १८४७ आषाढ़ कृष्ण में जेसलमेर की रानी कांकरोली आई और उन्होंने श्रीठाकुरजी के दर्शन किये तथा बिदा होते समय द्वादशी के दिन महाराजश्री को भेंट चढ़ाई।

इस स्थान की महत्ता के साथ ही साथ महाराजश्री के नैतिक आदर्श, आचरण और व्यक्तित्व से सभी राजन्य-वर्ग इनका मान करता था। प्राचीन पत्रों के देखने से

मालूम पड़ता है कि—सर्वप्रथम इन्हीं महाराजश्री ने राजा-महाराजाओं से प्रति वर्ष वार्षिक भेंट भेजते रहने का सिलसिला डलवाया था। महाराजश्री की ओर से भेंटियाओं द्वारा जन्माष्टमी, अन्नकूट आदि उत्सवों का प्रसाद और प्रसादी समाधान राजाओं के पास भेजा जाता था। इसके साथ महाराजश्री पत्र भी भेजते थे, जिससे उन सबके साथ घनिष्ठता बढ़ती थी। जहाँ तक देखा गया है, राजाओं के साथ पत्र-व्यवहार की मूल प्रशस्ति संस्कृत-भाषा में लिखी जाती थी। इस प्रकार का एक पत्र ज़ालिमसिंहजी का प्राप्त होता है *।

नित्यलीला-प्रवेश विट्ठलनाथजी महाराज के नित्यलीला-प्रवेश का संवत् उपलब्ध नहीं होता। फिर भी अनुमान किया जा सकता है कि वे सं० १८४८ चैत्र के बाद सं० १८४९ के आषाढ़-मास के बीच में गोलोकवासी हुए। सं० १८४८ में चैत्र शु० ९ रवि के दिन उनके प्रति लिखा गया झाला ज़ालिमसिंहजी का पत्र मिलता है, इधर सं० १८४९ आषाढ़ कृ० १२ शनि का महाराणा भीमसिंहजी का ताम्रपत्र (नं० ३२) मिलता है, जो इनके पुत्र व्रजभूषणजी महाराज (तृ०) के नाम पर है। पिता की विद्यमानता में पुत्र के नाम ग्राम का ताम्रपत्र प्राप्त होना राज्य-नियम से विरुद्ध है। अतः एक प्रकार से यह निश्चय होता है कि—सं० १८४८ के के अन्त अथवा ४९ के प्रारंभ में विट्ठलनाथजी का नित्यलीला-प्रवेश हुआ †।

* श्रीविट्ठलनाथजी महाराज के प्रति ज़ालिमसिंहजी का किस प्रकार का भक्तिभाव था, यह ज़ालिमसिंहजी द्वारा भेजे गये एक पत्र से विदित होता है। जो इस प्रकार है—

स्वस्ति श्रीमद्रमारमण चरण कमल निरंतर भजन परिसमाप्त समस्त पुरुषार्थेषु पुष्टिप्रेम भजन निराहृत तदितरपदार्थेषु श्रीमदाचार्य कुलजलनिधि कौस्तुभमणिषु परमपूज्यतमेषु श्री६ श्रीमद् गोस्वामि विट्ठलनाथजी महाराज महाशय चरणाब्जेषु निदेशवर्तिनः सकुमारस्य ज़ालिमसिंहस्यागणित* साष्टांग प्रणतिततिनिवेदकोयं पत्रदूतो विलसतु, कुशलमत्र, श्रीमदीयं भव्यमनुदिनमेधमानमाशासे।

अपरंच संवत् १८४८ चैत्र कृष्ण १३ भौमवार के दिवस को लिख्यो आशीर्वाद पत्र तथा पुष्पदोलोत्सव को महाप्रसाद पठवाये सो सत्कार-पूर्वक माथे चढ़ाय लीने एवमेव मुख्य मुख्योत्सवादि समयेष्वाशीर्वाद पत्र द्वारा परामर्षो विधेय इत्यलं सुज्ञ महाशयेषु किमधिकम्, संवत् १८४८ मिती चैत्र शुक्ल ६ रवौ।

† सं० ४६ से ५१ तक प्राचीन रोकड़ भी प्राप्त नहीं होती है, जिससे विदित हो सकता। द्वा० प्रा० वार्त्ता पत्र १११ में लल्लूभाई ने ५२ वर्ष की वय में सं० १८६३ में नित्यलीला-प्रवेश माना है, जो ग़लत है।

* यह झालावाड़-राज के राजाओं का मूल-पुरुष था, और झाला कहलाता था। (उ. रा. इ.)

इस समय महाराणा की छोटी वय होने के कारण मेवाड़ में शान्ति न रह सकी और चूड़ावतों तथा शक्तावतों के बीच झगड़ा छिड़ गया। इधर रत्नसिंह के सहायकों ने चितौड़ पर अधिकार कर लिया, और पठान सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, जिसे महराणा ने मरहठों की सहायता से दबा पाया था। इन सब कारणों से कांकरोली के आस-पास राजनगर आदि में उपद्रव होते रहे, जिसमें महाराजश्री को अपने संस्थान के लिये अत्यधिक जागरूक रहना पड़ा। महाराणा अरिसिंहजी और व्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) के समय से कांकरोली की मर्यादा स्थापित हो गई थी। अतः इन महाराजश्री के समय में कोई उपद्रव की घटना कांकरोली में नहीं घट पाई। फिर भी महाराजश्री ने बुद्धिमत्ता और चारों ओर के राजाओं पर अपने व्यक्तित्व की छाप डालकर ठिकाने को समृद्ध बनाया। इनके बाद इनके पुत्र श्रीव्रजभूषणजी (तृ०) अपने काका गोकुलनाथजी की देखरेख में तिलकायित हुए।

परिशिष्ट—१

महाराजश्री के समय आगत राजा-महाराजा तथा उमराव अथवा भेंट

संवत्	मिती	नाम तथा स्थान
१८३५	आषाढ़ सुदी ५ सोम	कुँवर ज़ालिमसिंहजी दर्शनार्थ आये, और भेंट चढ़ाई
,,	भाद्र बदी १० भौम	राजा गजसिंहजी, बीकानेर ,, ,, ,,
१८३६	ज्येष्ठ सुदी ४ बुध	कुँवर ज़ालिमसिंहजी ,, ,, ,,
,,	भाद्र बदी १४ गुरु	राजा विजयसिंहजी ,, ,, ,,
१८३७	पौष सुदी ११ शनिवार	कुँवर ज़ालिमसिंहजी गाम मेडता ,, ,,
१८३८	कार्त्तिक बदी ४	राजा विजयसिंहजी की तरफ़ से जन्माष्टमी की भेंट आई रु० २०४।
,,	मार्गशीर्ष बदी	महारावजी कोटा की सं० १८३७ की जन्माष्टमी की भेंट आई रु० १००।

संवत्	मिती	नाम तथा स्थान
१८३९	चैत्र सुदी १५ शुक्रवार	उदयपुर महाराणा भीमसिंहजी आये।
,,	वैशाख बदी ९	जोधपुर से राजा विजयसिंहजी के भेंट के आये।
,,	श्रावण बदी ८	सलूवर रावत भीमसिंहजी की बेटियों के विवाह की भेंट आई।
,,	श्रावण सुदी १०	जोधपुर राजा विजयसिंहजी की ओर से पवित्रा की भेंट आई।
,,	भाद्र बदी १३	बीकानेर राजा गजसिंहजी की पवित्रा भेंट आई।
,,	कार्त्तिक बदी १३	राजा......सोपुर की भेंट आई।
,,	,, ३०	कोटा महारावजी की जन्माष्टमी भेंट आई।
,,	,, ३० सोमवार	जोधपुर राजा विजयसिंहजी की जन्माष्टमी भेंट रु० २००।
,,	रोकड़ पाना ३८३	जयपुर परगना के गामों के उनाली-सियाली का हासिल रु० २४४०, ९ आना।
१८४०	आश्विन सुदी ९	कोटा महारावजी की जन्माष्टमी भेंट।
१८४१	मार्ग बदी ११	बीकानेर राजा गजसिंहजी की भेंट आई।
१८४२	वैशाख बदी ७	जोधपुर राजा विजयसिंहजी की भेंट बाबत लालजी की जनोई।
,,	श्रावण सुदी ५ बुधवार	कुँवर ज़ालिमसिंहजी की पवित्रा भेंट।
,,	रोकड पाना २९२	जयपुर परगना के गामों की आमद ४२३२ रु० आध आना।
,,	कार्त्तिक सुदी ११ शनिवार	रावत विजयसिंहजी ने ब्रह्म-सम्बन्ध-दीक्षा लेकर भेंट चढ़ाई।
१८४३	ज्येष्ठ सुदी ७ शनिवार	राजा ज़ालिमसिंहजी की भेंट आई।
,,	भाद्र बदी ९	राजा विजयसिंहजी की जन्माष्टमी भेंट आई।
,,	,, १२	राजा विजयसिंहजी जोधपुर जाते समय बिदा होने आये, तब भेंट चढ़ाई।

संवत्	मिती	नाम तथा स्थान
१८४३	भाद्रबदी १२	राजा गजसिंहजी बीकानेर की भेंट ।
,,	कार्त्तिक सुदी १	कोठारिया रावजी विजयसिंहजी ।
१८४४	आषाढ़ बदी ६ बुध	बीकानेर राजा गजसिंहजी की भेंट ।
,,	द्वि० श्रावण सुदी १	राजा विजयसिंहजी की पवित्रा भेंट ह० सिंहवी शंभूमल ।
,,	,, ,, ११ शुक्र	राजकुमार जालिमसिंहजी की भेंट आई ।
,,	भाद्र सुदी १५	राणाजी भीमसिंहजी के कुँवर होने पर भेंट आई ।
,,	फा० बदी ५ भौम	जयपुर राणीश्री जादवनजी की भेंट आई ।
,,	श्रावण सुदी ११ भौम	जोधपुर राजा विजयसिंहजी की पवित्रा भेंट आई ।
१८४६	आषाढ़ बदी ९	जोधपुर महाराजा की १८४४ की भेंट ।
,,	भाद्र सुदी १५	कोटा महारावजी (नन्दिगामवालों) की तीन साल की भेंट आई ।
१८४७	आषाढ़ बदी १२	जेसलमेर राणीजी की भेंट आई ।
१८४९	भाद्र बदी १	कुँवर जालिमसिंहजी की भेंट आई ।

जो स्वयं आये हैं, उनके नाम का और जिनकी भेंट आई है, उसका उल्लेख प्राचीन रोकड़ से यह लिया गया है, जिसके कार्त्तिकादि संवत् और अमान्त तिथि को चैत्रादि और पूर्णिमान्त रूप में यहाँ लिखा गया है ।

श्रीगोकुलनाथजी महाराज

(प्रा० सं० १८२१, नि० सं० १८५६)

——:०:——

श्रीगोकुलनाथजी महाराज का जन्म सं० १८२१ मार्गशीर्ष कृष्ण १४ गुरुवार के दिन हुआ था *। इनके पिता का नाम व्रजनाथजी और पितामह का नाम व्रजभूषणजी (द्वि०) था। गोकुलनाथजी के बड़े भाई विट्ठलनाथजी अपने पितामह व्रजभूषणजी के अनन्तर कांकरोली के तिलकायित हुए, जिसका वर्णन पहिले हो चुका है। इनके द्वि० भ्राता गिरिधरजी—जिनका जन्म सं० १८१५ पौ० कृ० १० को हुआ था,—छोटी ही वय में गत हो गये थे। यह अपने पिता के तृतीय पुत्र थे। जब इनका जन्म हुआ, तब इनके पिता व्रजनाथजी गुजरात का प्रदेश करते हुए अहमदाबाद में निवास कर रहे थे।

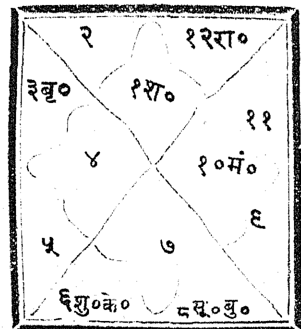
जन्म और शिक्षा-संस्कार

विट्ठलनाथजी के प्रसंग में लिखा जा चुका है कि—उनका और गोकुलनाथजी का आपस में ऐसा घनिष्ठ भ्रातृभाव था, जो अन्यत्र होना दुर्लभ है। जिस प्रकार इन दोनों के भ्रातृत्व में एकता का परिदर्शन होता था, उसी प्रकार इन दोनों का शरीर, रूप-रंग और आकृति भी एक ही सी थी, जिससे प्रायः लोगों को भ्रम हो जाया करता था। हाँ, इनके शरीर में रोम अधिक थे, जिससे खुले अंग होने पर विभिन्नता ज्ञात

---

* जन्म-कुंडली—

संवत् १८२१ वर्षे शाके १६८६ प्रवर्तमाने मन्मथ संवत्सरे मार्गशीर्षमासे कृष्णपक्षे १४ घटी ३१।४७ जन्मतिथौ गुरुवासरे विशाखानक्षत्रे घटी ५०।५२ शोभन घटी २२।२६ परं अतिगंडयोगे शकुनिकरणे एवं पंचांगे वृश्चिकार्के गतांशाः १० सूर्योदयात् गतघटी २४।१५ समये मेषलग्नोदये श्रीव्रजनाथ-द्वितीयात्मज श्रीगोकुलनाथ-जी जन्म, अहमदाबादमध्ये।



हो जाती थी। इसी कारण इनका चित्र अलग न दिया जाकर विट्ठलनाथजी के चित्र में ही इसका नोट लगा दिया गया है।

इनके जन्म के लगभग ४ वर्ष बाद इनके पिता व्रजनाथजी का देवलोक हो गया, अतः बड़े भ्राता के समान इनका भी लालन-पालन इनके पितामह ने ही किया। वास्तव में यह दोनों भाई अपने पितामह को दोनों नेत्रों के समान प्यारे और इस घर के उजियाले थे।

व्रजभूषणजी ने बड़े प्यार और वात्सल्य से उनका पालन-पोषण और शिक्षा का प्रबन्ध किया। प्रारम्भिक अध्ययन के बाद सं० १८२९ के प्रारम्भ में व्रजभूषणजी ने इनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया। इसी संवत् के वैशाख शु० १३ के दिन लिखे गये व्रजभूषणजी महाराज के पत्र से विदित होता है कि—इस उत्सव में ६००० रु० खर्च हुए थे। बड़े भाई विट्ठलनाथजी इस समय गुजरात में विराजमान होने के कारण कांकरोली उपस्थित नहीं हो सके। पूर्व-वर्णित इस समय की राजनैतिक विकट उथल-पुथल के कारण जनोई में इतना रुपया लगना विचारणीय विषय नहीं है; क्योंकि चारों ओर की अशान्ति और उपद्रव के प्राबल्य से चीज़-वस्तु की महर्घता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

महाराजश्री के बड़े भाई विट्ठलनाथजी तो प्रदेश कर श्रीद्वारकाधीश की सेवार्थ द्रव्य भेजते थे और उनके पिता गोकुलनाथजी को अपने समीप रखकर श्रीप्रभु की सेवा और कांकरोली का प्रबन्ध तथा रक्षण करते थे।

सं० १८२५ के लगभग इनके पिता का और सं० १८३३ के अन्त में पितामह व्रजभूषणजी का देहान्त हो गया। सं० १८३४ में जब विट्ठलनाथजी कांकरोली के तिलकायित-पद पर विराजमान हुए और बाद में उन्होंने जब प्रदेश किया, तब गोकुलनाथजी ने घर की रक्षा और श्रीद्वारिकाधीश की सेवा के लिये कांकरोली रहना ही उचित समझा। इस कारण प्रदेश-परिभ्रमण का बहुत कम अवसर इनको अपने प्रारम्भिक जीवन-काल में मिला था।

सं० १८३४ माघ वदी १ बुध को यह उदयपुर पधारे, सो अमावास्या बुध को वापिस आये।

गोकुलनाथजी के पांडित्य के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। जहाँ तक

अनुमान किया जा सकता है, इनका साम्प्रदायिक पठन-पाठन तो हुआ ही होगा, पर वह प्रखर वैदुष्य की श्रेणी तक पहुँचे हों, इसमें सन्देह ही है। इसका कारण तात्कालिक परिस्थिति है। अभिभावक व्रजभूषणजी के नित्यलीला-प्रवेश के समय इनकी अवस्था लगभग १२ वर्ष की थी, पिता इनके प्रथम ही गत हो चुके थे और बड़े भाई विशेष-कर प्रदेश में रहते थे। ऐसी अवस्था में इनके अध्ययन का ध्यान रखनेवाला कौन था? इधर यह कांकरोली में रहते थे, जहाँ उस समय राजनैतिक उपद्रवों का प्राबल्य था। इन सब कारणों से गोकुलनाथजी का अध्ययन जितना चाहिये, उतना न हो पाया था। फिर भी इन्होंने साम्प्रदायिक शास्त्रों का परिशीलन तो अवश्य किया था, क्योंकि अध्ययन-ग्रन्थों के रूप में कई पुस्तकों पर इनके हस्ताक्षर विद्यमान हैं, जिससे उन पर इनका स्वामित्व प्रकट होता है। यह काव्य के पारखी और कवियों के सहायक भी थे।

विवाह और सन्तति

सं० १८३६ माघ शु० ५ गुरुवार को गोकुलनाथजी महाराज अपना विवाह करने जयपुर गये। फाल्गुन कृ० ११ के दिन वहाँ बड़ी धूमधाम से इनका विवाह हुआ। ऐसा अनुमान होता है कि बारात में इनके ज्येष्ठ भ्राता विट्ठलनाथजी मेवाड़ की अशान्त राजनैतिक परिस्थिति के कारण जयपुर नहीं जा सके, और अपने परिकर के साथ एकाकी जाकर ही इन्होंने विवाह किया। इनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीपार्वती बहूजी था।

विवाह के अनन्तर सं० १८३८ मार्गशीर्ष कृ० १० को यह प्रदेश करने सूरत गये*, वहाँ से आकर तृतीय वर्ष सं० १८४० चैत्र वदी ६ शुक्रवार को यह द्विरागमन करने पुनः जयपुर गये, और सं० १८४१ वैशाख शु० १३ को वापिस कांकरोली

* इनके विषय में एक पद्य मिलता है—

जय श्रीगोकुलनाथ प्रथम परदेस पधारे।
भक्तन के सब काज प्रीति कर आप सुधारे॥
बुधि विक्रम व्यवसाय चतुर गुन रूप सुधा निधि।
विद्यावन्त अपार करत बहुवाद विविध विधि॥
इहि विधि सब परदेश में दूरि करत निज भक्त भय।
बोलत सब चहुँओर तें जय, श्रीगोकुलनाथ जय॥ १॥

"व्रजजीवन कवि-रचित" (फुटकर संग्रह से)
सर० भं० बन्ध ५२। २

आये। जयपुर में महाराज सवाई मानसिंहजी से इनका परिचय हुआ और उन्होंने वैष्णव-मन्त्र की दीक्षा लेकर राजा हो जाने पर एक गाम भेंट करने का वचन दिया।

सं० १८४६ के अन्त में गोकुलनाथजी महाराज की पत्नी के अष्टमासा का प्रस्ताव हुआ, जिसमें उदयपुर महाराणा की ओर से राज्य-दस्तूर आया। समयानुसार गोकुलनाथजी के निम्न-लिखित सन्तति हुई—

१	पुरुषोत्तमजी	प्रा० सं० १८४७ वै० कृ० ३०
२	पीताम्बरजी	,, ,, १८४९

प्रथम पुत्र पुरुषोत्तमजी विट्ठलनाथात्मज व्रजभूषणजी (तृ०) के अनन्तर कांकरोली के तिलायित-पद पर विराजमान हुए, क्योंकि व्रजभूषणजी के पुत्र गिरिधरजी का छोटी अवस्था में ही स्वर्गवास हो गया था। व्रजभूषणजी (तृ०) के नित्यलीला-प्रवेश के पूर्व गोकुलनाथजी भी गत हो चुके थे और पुरुषोत्तमजी सूरत में रहते थे। यह व्रजभूषणजी के काका के पुत्र (भाई) थे, अतः इन्हीं का अधिकार पहुँचता देखकर महाराणा भीमसिंहजी ने इन्हें बुलाकर सं० १८७६ में तिलकायित के स्थान पर बिठाया और अपने हाथ से राजकीय दस्तूर किया था, जिसका विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

गोकुलनाथजी छोटे भाई होने के कारण कांकरोली के तिलकायित नहीं हो सके *। अतः इनके नाम पर राजा-महाराजाओं के द्वारा किसी ग्राम के मिलने की सम्भावना भी नहीं थी। सं० १८४१ में द्विरागमन कराने को जयपुर जाने पर सवाई मानसिंहजी ने महाराजश्री से वैष्णव-मन्त्र की दीक्षा ली और गुरु-दक्षिणा में राज्यासन पर बैठ जाने पर एक गाम भेंट करने का वचन देकर वैशाख शु० ३ के दिन उसका रुक्का लिख दिया †, जैसा ऊपर कहा गया है।

सवाई मानसिंहजी की दीक्षा

* अभी तक अधिकांश ऐसा माना जाता रहा है कि—अपने बड़े भाई के बाद यह कांकरोली के तिलकायित हुए, पर पत्रादि से यह निश्चय हो चुका है कि इनके लिये ऐसा अवसर नहीं आया। इनके भतीजे व्रजभूषणजी (तृ०) वास्तविक उत्तराधिकारी थे और उन्हीं को वह पद प्राप्त हुआ। हाँ, यह उनके अभिभावक-रूप में अवश्य माने जाते थे।

† सीतारामजी
श्रीसीतारामो जयति सही
श्रीमहाराजाधिराज
सवाई मानसिंहजी

इससे इतना तो विदित होता है कि:—गोकुलनाथजी का प्रभाव और व्यक्तित्व भी अच्छा था। मानसिंहजी उस समय राजकुमार की हैसियत में थे, ऐसा ज्ञात होता है।

सं० १८४८ के अन्त अथवा ४९ के आदि में विट्ठलनाथजी के बाद जब उनके पुत्र व्रजभूषणजी १५ वर्ष की अवस्था में तिलकायित हुए, उस समय गोकुलनाथजी उनके अभिभावक हुए और दो-तीन साल तक अपनी देख-रेख में प्रभु की सेवा और कांकरोली का प्रबन्ध कराते रहे। पर यह व्यवस्था अधिक समय तक चली हो, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। काका-भतीजे में, प्रबन्ध-विषय को लेकर आपस में मनमुटाव हो जाने के कारण अन्त में गोकुलनाथजी ने प्रदेश-परिभ्रमण शुरू कर दिया, और उन्होंने सूरत को अपना स्थायी निवास बनाया। सम्भवतः इसमें सूरत की गादी का विवाद भी एक अन्यतम कारण था।

प्रदेश-भ्रमण

सं० १८५१ के प्रारम्भ में सूरत के बालकृष्णजी ठाकुरजी के घर में महाराणी बहूजी ने गोस्वामि गोकुलोत्सवजी को गोद लेकर उत्तराधिकारी बनाने का विचार किया। पर गोकुलनाथजी को यह सह्य नहीं हुआ। इनका अभिप्राय था कि सूरत के बालकृष्णजी ठाकुरजी—जो पहिले द्वारकाधीश के आगे विराजते थे, और व्रजरायजी के समय में सूरत आये थे—के यहाँ आवश्यकता पड़ने पर गुसाईंजी के तृतीय पुत्र बालकृष्णजी के वंशजों का ही अधिकार पहुँचता है, और सम्प्रति उक्त वंश में उसके उत्तराधिकारी कांकरोलीवाले ही हो सकते हैं। वे नहीं चाहते थे कि उस घर में किसी अन्य गोस्वामिबालक को गादी का मालिक बनाया जाय। यह सोचकर उन्होंने विवाद खड़ा किया और अपना पक्ष पुष्ट करने लगे।

सूरत का जातीय विवाद

गोकुलनाथजी ने चारों ओर इसकी लिखा-पढ़ी की और जाति के द्वारा इसका विरोध कराना शुरू किया। उस समय नाथद्वारा और कांकरोली को मिलाकर एक, और गोकुल की दूसरी जाति-पंचायत थी। पहली पंचायत में कांकरोलीवाले और नाथद्वारा-वाले गोस्वामिबालकों का विशेष प्राबल्य था। अतः इसकी विशेषतया सम्भावना थी

सिधिश्री महाराजाधिराज महाराजश्री सवाई मानसिंहजी वचनात् आगे म्हे गुसांइजी महाराजश्री गोकुलनाथजी को मंत्र सुन्यो जद गांव एक गुसांइजी महाराज की भेट कीवो छै सो मै राज पर बैठस्यां जद गांव भेट कीयौ छै सो सदावद गुसांइजी महाराज पाया करसी मिती वैशाख सुदि ३ सं० १८४१।

कि—जाति के सम्मुख सूरतवालों को अवश्य दबना पड़ेगा। इसलिये अपना पक्ष प्रबल करने के लिये गोकुलनाथजी ने यत्र-तत्र पत्र* लिखकर अपना विशेष दल तैयार किया था।

सूरत की गादी पर अपना अधिकार जमाने के लिये यद्यपि गोकुलनाथजी महाराज ने प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता मिलनी दुःशक्य हो गई। और ऐसा होने का कारण यह था कि—इनके भतीजे कांकरोली के तिलकायित व्रजभूषणजी (तृ०) पृथक् रूप से अपने लिये प्रयत्न कर रहे थे। और, यही कारण था कि काका-भतीजे (गोकुलनाथजी-व्रजभूषणजी) का पारस्परिक मनोमालिन्य हो गया था।

स्वत्व प्राप्त करने का प्रयत्न

इधर व्रजभूषणजी के पीठाधीश्वर होने के कारण जाति का विशेष समुदाय उनके पक्ष में आ गया था और गोकुलनाथजी कुछ अपने सगे-सम्बन्धियों का सहारा लिये ही बैठे थे। इस कारण उन्होंने धर्मशास्त्रीय व्यवस्था प्राप्त करने के लिये पूना में विद्वानों की एक सभा बुलाई और दक्षिणादि से उन्हें सत्कृत कर अपने लिये व्यवस्था तैयार करा ली। सं० १८५४ ज्येष्ठ कृ० १३ के दिन कितने ही धर्म-शास्त्रियों ने व्यवस्था लिखकर हस्ताक्षर किये, जिसमें यह सिद्ध किया गया कि—विधवा महाराणी बहूजी को गोद लेने का अधिकार एक प्रकार से नहीं है। यदि उनका अधिकार माना ही जाय,

* श्रीहरिः

श्रीमत्प्रभूणामग्रे स्मर्यते

स्वस्तिश्रीमत्सकलगुणगणालंकृतेषु सौजन्य सागरेषु परमाप्ततमेषु गोस्वामि गोकुलनाथजी त० लालजी पुरुषोतमजी शर्मसु गोस्वामि गोविन्दरायस्याशीर्नतयः शमत्र तत्रास्तु; अपरंच पत्र तुम्हारो आयो समाचार जाने इहाँ ते पत्र १ गोकुलोत्सवजी कों लिखि के तुम्हारे पत्र में बीडे है और अपने सदा सर्वदा स्नेह है तैसे ही रहेगो। हमारी ओरते काहू बात की चिन्ता न करोगे, स्नेह प्रतिक्षण वर्द्धमान राखोगे। कुशल पत्र लिखोगे, किमधिकम् मिती चैत्र सुदि १० भृगौ सं० १८५१, लालजी विट्ठलरायजी गोपेश्वरजी लक्ष्मण नृसिंहजी के नमस्कार।

श्रीहरिः

श्रीप्रभुन आगे सुधि करत हैं

स्वस्तिश्रीमत्परमाप्ततमेषु ज्येष्ठभ्रातृ-तनय प्राणाधिकप्रिय गोस्वामि गोकुलनाथजीषु गोस्वामि गिरिधराणामाशिषः शमिह तत्रास्तु; अपरंच पत्र आपुको आयो समाचार जाने आपु महज्जर की लिखे सो अत्र गोस्वामि गोविन्दरायजी दादा को त० पत्र १ हम लिखि दीने हैं सोजानिवे मे इनसुं कार्य होय जायगो। स्नेह प्रतिक्षण वर्द्धमान राखि कुशल पत्र लिखेगे किं बहु मिती चैत्र शुक्ल १२ सम्बत १८५१

तो वह अपने वंश के अधिकारी समीपवर्ती गोकुलनाथजी को ही गोद ले सकती हैं, अन्य को नहीं * ।

* इस विषय में पूना के पंडित-समाज ने जो व्यवस्थापत्र लिखा, वह इस प्रकार था—

श्रीः

श्रीमद् भगवत्पादारविन्द-परिचर्या-संपादित सकल सत्कार्य नरार्य गोकुलस्थाचार्य श्रीवल्लभाचार्यात्मजः श्रीविट्ठलनामा, तदात्मजो मानववर्य बालकृष्णनामास स्वजनकाचार्यादाराध्यदेवस्य प्रतिमाद्वयं, कतिपयानां गुर्जरदेशीयनृणां तद्दैवमनूपदेशदेशिकतां च लेभे । तस्य द्वारकेश्वर व्रजनाथ व्रजभूषण पीताम्बर व्रजालंकार पुरुषोत्तमाः षट् सुताः । तेषु ज्येष्ठो देवप्रतिमयोः पूजामकरोत् । अनूपदेशं च वणिग्जनेषु ।

तत्सन्तानोनमेनासन्तानेन श्रीगिरिधरलालाख्येन प्रतिमाद्वयं श्रीबालकृष्ण कूटस्थस्य तृतीय व्रजभूषणनामकपुत्रस्य प्रपौत्राय श्रीव्रजभूषणाय दत्तम् । तस्मात् कूटस्थपुरुषपुत्रान्तर पीताम्बरपौत्रो व्रजराजनामा तयोरेकां प्रतिमां श्रीबालकृष्णजातानामस्माकं साधारणस्वत्ववतां मत्वा महताग्रहेणाग्रहीत् । सासन्तानेन तेन पितृव्यपौत्रायादायि, सोप्यसन्तानः कूटस्थपुत्रान्तर व्रजालंकारप्रपौत्राय श्रीपुरुषोत्तमाय तामदात् । असन्ताना तत्स्नुषा श्रीबालकृष्णनामक कूटस्थान्वयानन्तर्गताय तां मूर्तिं दातुमिच्छन्ती श्रीव्रजभूषणस्य व्रजभूषणनामक प्रपौत्रस्य व्रजभूषणनामकपौत्रस्य पौत्राय श्रीगोकुलनाथाचार्याय प्रवरत्सन्तानाय मुधैव न प्रयच्छतीत्येतदसाम्प्रतम् । यतो भर्तुः कुलपरम्पराप्राप्ताया मूर्तेर्जीवनौपयिक्याः पतिसन्निहिताधीनीकरणस्याविच्छिन्नस्वकुलाचारपारम्पर्यस्य श्रेयस्करस्य स्वीकारस्यैवौचित्यम् । स्मरणेभ्यः (?) । तत्र भगवान्याज्ञवल्क्यः प्राह………………

पत्नी दुहितरश्चैव इत्यादिना तत्रत्य गोत्रजा इति प्रतीकमुपादाय सपिंड गोत्रजाभावे असपिंडा अपि गोत्रजा रिक्थहारिणः इत्यर्थं तस्योररीचक्रुः ।

सर्वेपि श्रीविद्यारण्य विज्ञानेश्वर प्रभृतयः मन्वाद्याचार्याः सामयिकाचाराः कुलाचारा अपि प्रमाणमित्यूचुः । राजभिश्च ते यथानुशासनं चालनीयाः इत्यपि तत्र………

जाति जानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांस्तथैव च, समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मान्प्रति पालयेत् । १ ।

जाति देश कुलानां च ये धर्माः प्राक् प्रवर्तिताः, तथैव ते पालनीयाः प्रजाः प्रक्षुभ्यतेन्यथा । २ ।

जातिदेशकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणमिति । कातिय वचने….

"मृते भर्तरि भर्त्रंशं लभ्यते कुलपालिका यावज्जीवं नहि स्वाम्यं दानाधमनविक्रये"

"अपुत्राशयनं भर्तः पालयन्ती गुरौ स्थिता, भुंजीतामरणात्क्षान्ता दायादादूर्ध्वमाप्नुयुः तस्मात्सन्निहित दायादपीडाकरं न कार्यम् । हठेन तथाकृतस्यापि प्रत्याहरण करण-बोधक वचांसि ….

"काम क्रोधास्वतन्त्रार्त क्लीबोन्मत्त प्रमोहितैः, व्यत्यास-परिहाराय यदद्त्तं तत्पुनर्हरेत् ।"

इत्यादीनि सन्ति । व्यास नारदावप्याहतुः स्म…..

स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः, तापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात्कथंचन । मृते भर्तर्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः, विनियोगेषु रक्षासु मरणेषु स ईश्वरः । परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये, तत्सपिंडेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः" इत्यादि वचनेषु सन्निहितगोत्रिणां असन्तानस्त्रीधनाधिकारित्वं प्रकृते च प्रतिमासेवावृत्तिरूपा, अतः सुतरामेव प्रतिमार्पणाधिकारो न तस्याः, इति शास्त्रनिषिद्धमार्गान्निवर्तितव्यं तया साध्व्येति युक्तम् ।

प्रस्तुत विषय में गोकुलनाथजी ने छठे घर पर अपना स्वत्व प्राप्त करने के लिये खूब दौड़-धूप की। एतदर्थ उन्होंने बम्बई, सूरत, पूना, भरूच आदि स्थानों की यात्रा कर वहाँ के मराठा, अंग्रेज एवं मुसलमान राज्य-कर्मचारियों से पत्रादि लिखवाये, पर भगवदिच्छा से इनका यह प्रयत्न सफल न हो सका।

नित्यलीला-प्रवेश

ननु यस्मा इमां वृत्तिं दातुमिच्छति तं तत्पुत्रादिकं वा दत्त्रिमत्वेन पुत्रीकृत्य तस्मैतां मूर्तिं दातुमर्हतीति चेदत्र वदन्ति। दत्तक पुत्र-ग्रहणे विधवाया नाधिकारः। अपुत्रेणैवेत्यादि श्रुतिवाक्ये पुंस्त्वश्रवणात्, "न स्त्री पुत्रं प्रतिगृह्णीयात्" इति वाशिष्ठे निषेधाच्च। यद्यप्यन्यत्र भर्तुरनुज्ञानादित्यनेन भर्त्रनुज्ञया स्त्रीणामपि पुत्रग्रहणाधिकारः सूच्यते, तथापि सधवाया एव तत्संभवात् विधवाया अधिकाराभाव एव। केचन विधवाया अपि सधवाया इवाधिकारमाहुः परन्तु प्रत्यासन्नाप्रत्यासन्नयोः पुंसोः प्रत्यासन्न एव पुत्रीकार्यः अस्मिन्विषये सर्वेपि दाक्षिणात्यादि निबन्धकाराः सम्प्रतिपन्ना एव।

तथाच प्रकृतायाः साध्व्याः धनादिग्रहणे श्रीगोकुलनाथाचार्याणामधिकारः सन्निहितत्वात्। पुत्र-ग्रहणेच्छाचेदपि तत्पुत्र एव ग्राह्यो नान्यस्यासन्निहितस्य। असन्निहिताभावे एव अन्यग्रहणस्योक्तत्वात्। इत्यत्र विद्वद्वराणां सम्मतयो मान्याः।

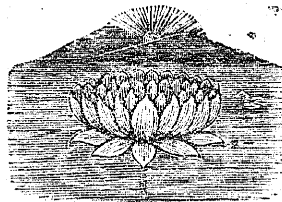
पिंगल नाम सम्वत्सरे ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदश्यामदः पत्रमभवत् संवत् १७१६ शाके (वि० सं० १८५४)

अनुमतोयमर्थो भवदेवमिश्रस्य काशीवासिनः।
श्रीशैलवंशसम्भूत वेंकटाचार्यसूनुना
तिरुवेंगलाचार्येण लिखिता सम्मतिस्त्विह।
चन्द्रिकेत्युपनामकबापूजोसीनामकस्य संमतोयमर्थः।
अयमर्थः संमतः पांडुरंगभट्ट पौराणिकस्य।
योग्यानां पंडितानांच दृष्ट्वा संमतिमादरात्।
काशीस्थदेवोपाख्यस्य कृष्णस्याप्यस्तिसंमतिः।
पत्रार्थः संमतो नीलकंठ ज्योतिर्विदः।
पत्रार्थः संमतो कृष्णाचार्यस्य।
अयमर्थः संमतोनन्तनामकस्य शास्त्रिणः।
अयमर्थः संमतो गिरिरंग शास्त्रिणः।
अयमर्थः संमतो वेंकटेश शास्त्रिणः।
अयमर्थः संमतो धर्मवरस्थ वेंकटेरामशास्त्रिणः।
अयमर्थः संमतो बेंगलूर नरसिंह शास्त्रिणः।
संमतिरत्र देवराम शास्त्रिणाम्।

श्रीमदधिकारिणोबालशास्त्रिणः सम्मतोयमर्थः
अयमर्थः सम्मतो महादेव दीक्षितस्य।
भूदेव वासुदेवेन सममानि यतस्त्विदं
मन्वाद्या पुनयः प्रोचुः सर्वं संप्रतिपद्यते।
संमतोयमर्थो राघवाचार्यस्य।
संमतोयमर्थो जगन्नाथ शास्त्रिणः।
अयमर्थः संमतो बापूज्योतिर्विदः।
अयमर्थः संमतो विट्ठलोपाध्यायस्य।
अयमर्थः संमतः काशीस्थगुर्जरोपनामक नृसिंह शास्त्रिणः।
पत्रार्थः संमतोयं काशीस्थ चिन्तामणिशास्त्रिणः
अयं संमतः शास्त्रानुरोधेनकाशीस्थ गौरीशंकरस्य।
संमतोयमर्थः साठोपनामक श्रीमयूरेश सूनोः महादेव शास्त्रिणः
संमतोयमर्थोयशवन्त शास्त्रिणो जनस्थान निवासिनः।
अयमर्थः संमतः श्रीनिवासाचार्यस्य।
अयमर्थः संमतः सूरनारायण शास्त्रिणः।

सं० १८५५ चैत्र कृ० १२ को इनके पुत्र पुरुषोत्तमजी का यज्ञोपवीत-संस्कार व्रजभूषणजी महाराज ने कांकरोली में किया और इसके कुछ महीने बाद अर्थात् सं० १८५६ वैशाख कृ० ३० को गोकुलनाथजी का नित्यलीला-प्रवेश हो गया। संयोग ऐसा हुआ कि—इसी वर्ष आश्विन मास में सूरतवाली महाराणी बहूजी का भी उज्जैन में देहान्त हो गया, जिससे कांकरोली के व्रजभूषणजी (तृ०) और सूरत के गोकुलोत्सव जी का ही अदालत में मुक़दमा चलता रहा, जो सं० १८७१ में पूरा हुआ। इसके परिणाम का उल्लेख व्रजभूषणजी के चरित्र में किया जायगा।

ऐसा अनुमान होता है कि—गोकुलनाथजी के बाद उनके पुत्र पुरुषोत्तमजी सूरत के गोकुलनाथजी उर्फ़ लल्लूजी महाराज की गोद चले गये और वहीं रहे। यह गोकुल-नाथजी लाडिलेशजी के मन्दिर के अधिपति थे, जिसका विशेष वर्णन पुरुषोत्तमजी महाराज के प्रसङ्ग में किया जायगा।





गो० श्रीव्रजभूषणजी (नन्दमहोत्सववारे)
प्रा० संत १८३५ चै० शुक्ल ६

सप्तम प्रकरण

(सं० १८४६ से १६०३)

——:※:——

श्रीव्रजभूषणजी महाराज (अष्टम ति०)

(प्रा० सं० १८३५, ति० सं० १८४६, नि० सं० १८७६)

तथा तत्पुत्र

चि० श्रीगिरिधरलालजी (तृ०)

(प्रा० सं० १८५४, नि० सं० १८७०)

——:※:——

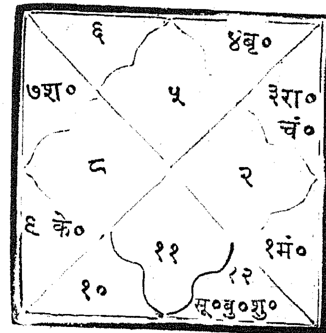
श्रीव्रजभूषणजी (तृ०) का जन्म सं० १८३५ चैत्र शु० ८ शनिवार के दिन हुआ* ।

जन्म, शिक्षा और संस्कार

इनके पिता का नाम श्रीविट्ठलनाथजी था, जो व्रजभूषणजी (द्वि०) के पौत्र और व्रजनाथजी के प्रथम पुत्र थे। यह महानुभाव और होनहार थे, जैसा कि—इनके चित्र की मुखाकृति को देखकर अनुमान होता है।

पिता की देख-रेख और लालन-पालन में इनका बाल्य-काल व्यतीत हुआ, पर सं० १८४९ के लगभग उनका गोलोकवास हो गया। अतः इनके काका गोकुलनाथ-जी इनके अभिभावक हुए।

सं० १८४८ प्र० चैत्र बदी ७ को इनका उपनयन-संस्कार हुआ, और यह



* जन्म-कुंडली—

संवत् १८३५ शाके १७०० प्रवर्तमाने वर्षे चैत्र शुक्ल ८ तिथौ घटी ५३।२९ शनिवासरे आर्द्रानक्षत्रे घटी ६।५८ परं पुनर्वसु जन्मर्क्षे अतिगंड योगे घटी ३०।९ विष्टिकरणे मीनार्क गतांशा २४।२९।२ सूर्योदयात् गतघटी २५।८ समये सिंहलग्ने श्रीविट्ठलनाथात्मज श्रीव्रजभूषणजी-जन्म ।

शास्त्रीय अध्ययन करने लगे। यथासम्भव इन्होंने अपने पिता और अन्य विद्वानों से भी साम्प्रदायिक अध्ययन किया, जिससे आगे चलकर यह विद्वान्, नीति-कुशल एवंच भक्तिपरायण बनकर अपने संस्थान को सँभाल सके।

इस समय देश और विशेषकर मेवाड़ का राजनैतिक वातावरण बड़ा ही पेचीदा हो रहा था। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि यह परिस्थिति—जिसका प्रभाव कांकरोली पर भी पड़ रहा था—व्रजभूषणजी (द्वि०) के समय से ही उपस्थित हो गई थी, और महाराणा भीमसिंहजी इस समय शासन का भार सँभाल रहे थे। ऐसी अवस्था में परिस्थिति का असर इन महाराजश्री पर भी पड़ा, और घटनाओं ने इन्हें भी अपने अनुकूल समस्या सुलझाने के लिये कटिबद्ध किया। अपने समय में यह भी एक योग्य तिलकायित और पूर्ण नीतिज्ञ व्यक्ति हुए।

तिलकायित होना

सं० १८४९ के लगभग यह अपने पिता विट्ठलनाथजी के अनन्तर इस घर के तिलकायित की गद्दी पर विराजे। इस समय का कोई प्रमाण नहीं मिलता है; फिर भी विट्ठलनाथजी के चरित्र में उनके अन्तिम समय का अधिकांश निर्णय किया जा चुका है।

जिस समय व्रजभूषणजी तिलकायित हुए, उस समय इनकी अवस्था लगभग १५ वर्ष की थी। अतः काका गोकुलनाथजी इनके अभिभावक हुए और उनकी देख-रेख में यह श्रीद्वारकाधीश की सेवा और कांकरोली-ठिकाने का कार्य-संचालन करने लगे। प्रस्तुत प्रसंग में कुछ ऐसा आभास मिलता है कि—व्रजभूषणजी अपने काका से कुछ मनोमालिन्य रक्खा करते थे, जिससे उन(काका)को अपना समय प्रदेश में अधिकांश बिताना पड़ा। पं० इच्छारामजी के पत्र से भी कुछ ऐसा ही सङ्केत होता है—उन्होंने लिखा है कि—मर्यादा का अतिक्रम नहीं करना चाहिये।

लीला का अनुभव

व्रजभूषणजी महाराजश्री द्वारकाधीश की सेवा बड़े प्रेम-भाव और समारोह के साथ करते थे। इन्हें सेवा में लीला का अनुभव होता था। ऐसा प्रसिद्ध है कि—यह नन्द-महोत्सव करते समय आनन्द-मग्न हो जाया करते थे और २-३ दिन को अन्तर्धान भी रहा करते थे। इसी कारण इनका नाम 'व्रजभूषणजी नन्दमहोत्सववारे', इस प्रकार प्रख्यात हो गया था। इच्छारामजी-

जैसे साम्प्रदायिक विद्वान् ने इस प्रसंग में भगवद्भावावेश के गोपन करने का संकेत अपने पत्र में किया है * ।

व्रजभूषणजी के विवाह का ठीक समय नहीं मिलता है, फिर भी इनके प्रथम पुत्र गिरिधरजी के जन्म सं० १८५४ से यह अनुमान होता है कि— इनका विवाह सं० १८५० के पूर्व इनके पिता विट्ठलनाथजी ने अपनी उपस्थिति में ही कर दिया था । इनकी पत्नी का नाम श्रीचन्द्रावली बहूजी था ।

विवाह और सन्तान

व्रजभूषणजी के समयानुसार निम्न-लिखित सन्तति हुई—

१	गिरिधरजी	प्रा० सं०	१८५४ भाद्र० शु० ९	प्रथम पत्नी से
२	गोपीनाथजी	,, ,,	१८५७ माघ १	प्रथम पत्नी से
३	बेटीजी	,, ,,	१८५९ (अनुमान)	प्रथम पत्नी से
४	श्रीलल्लूजी	,, ,,	१८७६ प्राचीन पंचांग में माघ शु० ५ को जन्म-दिन लिखा है ।	

प्रथम पुत्र गिरिधरजी एक होनहार महानुभाव बालक थे । इनका यथोपलब्ध परिचय इसी प्रकरण में आगे दिया जा रहा है । द्वि० पुत्र गोपीनाथजी भी छोटी उमर में ही गत हो गये । सं० १८६३ में गिरिधरजी के यज्ञोपवीत हो जाने के बाद माघ शु० ३ भौमवार को व्रजभूषणजी महाराज की पत्नी चन्द्रावली बहूजी का देहान्त हो गया ।

तृ० पुत्र श्रीलल्लूजी का जन्म सं० १८७६ में हुआ । इस समय इनकी माता (व्रजभूषणजी की द्वि० पत्नी) की वय कम-से-कम १८ वर्ष मानी जाय, तो कहना पड़ेगा कि उनका जन्म सं० १८५८ और विवाह सं० १८६६ के लगभग हुआ । सं० १८७१ में जबकि महाराजश्री इनका द्विरागमन करा कर लौट रहे थे, मार्ग

* "श्रीव्रजभूषण चरणेषु इच्छारामस्य पत्रदूतः । श्रीमदाचार्य प्राकट्यमारभ्य मर्यादातिक्रमो न जातः अतोऽधुनापि सा रक्षणीयावश्यम्, नैव त्याज्या । मिलनं तु वटपत्तन ग्रामात् निस्सरणानन्तरं……… सम्पादयिष्यति । अन्यत् कियल्लेख्यम् । जनकाभिमुखात्सर्वबोद्धव्यम् । भगवत्स्वभावावेशगोपनं सर्वथा कर्तव्यम् ।"

इनका परिचय पहिले दिया जा चुका है (व्रज० (२) परिशिष्ट—१) । प्रतिलिपि होने के कारण इसका संवत् और तिथि मिल नहीं सकी है, फिर भी इसके वाचक 'जनकाभिमुखात्' से व्रजभूषणजी के पिता का तात्पर्य लिया जाय तो मानना पड़ेगा कि यह संवत १८४६ के लगभग का पत्र है ; क्योंकि इस संवत् में उनके पिता का गोलोकवास हो गया था ।

में हुलकर की फौज द्वारा लूट लिये गये, जिसका वृत्तान्त आगे लिखा जा रहा है । द्वि० पत्नी का नाम चारुमती बहूजी था । तृ० पुत्र लल्लूजी का जन्म होते ही देहान्त हो गया था *, अतः व्रजभूषणजी के बाद महाराणा भीमसिंहजी ने सूरत से बुलाकर गोकुलनाथजी के पुत्र पुरुषोत्तमजी को— जो इनके भतीजे लगते थे— तिलकायित बनाया था ।

सूरत-मन्दिर के स्वत्व का झगड़ा

सं १८५१ के प्रारम्भ में सूरत में बालकृष्णजी के मन्दिर के अधिकार का झगड़ा चला । वहाँ के तिलकायित गोवर्धनेशजी के बाद किसी औरस पुत्र के अभाव में उनकी पत्नी श्रीमहाराणी बहूजी ने श्रीगोकुलोत्सवजी (ज० सं० १८१६ श्रा० शु० १३) को गोद लेने का विचार किया । इस विषय पर जाति में इसका विचार होने लगा कि—इस स्थान पर कांकरोलीवाले व्रजभूषणजी का ही स्वत्व होना चाहिये । प्रस्तुत विवाद को मिटाने के लिये गोकुलनाथजी ने अधिक भाग लिया । परिणाम यहाँ तक पहुँचा कि वहाँ की अदालत में इसका मुक़द्दमा दायर हुआ ।

इस समय में आये हुए पत्रों से यह स्पष्ट विज्ञात होता है कि—कांकरोलीवालों की ओर जाति का विशेष समुदाय था । इस समय गोस्वामिबालकों की जाति की गोकुल और सिंहाड (नाथद्वारा) प्रान्तीय दो पंचायतें ही थीं, जिसमें नाथद्वारा और कांकरोली का समुदाय एकमत रहा करता था । यह प्रथम लिखा जा चुका है कि—बालकृष्णजी ठाकुरजी द्वारकाधीश के आगे विराजते थे, और व्रजरायजी ने अहमदाबाद से ले जाकर उन्हें सूरत में विराजमान किया था । सन्तति न होने पर उन्होंने श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज (लेखवाले) को गोद लिया । उन्होंने भी पुत्र के अभाव में सं १७८२ के लगभग पुरुषोत्तमजी द्वितीय के नाम वसियतनामा लिखा ।

---

* अनुचरदास ने इस प्रकार लिखा है:—

तृतिय नंदन फेर प्रकटे नाम लल्लूजी धर्यो ॥
संवत अष्टादश छहोतेरा पूरन, पुन्यो हे ससी नेरा ॥
उदित इन्दू चारुमती कुख । गये दुख जु निरखि नैनन उदय अस्त एकै समै ॥
(बालकृष्णजी का मूल-पुरुष)

बाद में इनके पुत्र मुरलीधरजी और तत्पुत्र गोवर्धनेशजी ने ठाकुरजी की सेवा की। सं० १८२०-२१ के लगभग युवावस्था में गोवर्धनेशजी का नित्यलीला-प्रवेश हो जाने से उनकी पत्नी महाराणी वहूजी ने सं० १८५० तक अपना अधिकार रखकर स्वयं सेवा की। इस कारण कांकरोलीवाले महाराजश्री को अपना स्वत्व स्थापित करने का कोई अवसर नहीं था, क्योंकि जो भी वहाँ गोद आये, वे सब बालकृष्णजी (तृ० पुत्र) के वंशज ही थे। सं० १८५१ में महाराणी बहूजी ने जिन गोकुलोत्सवजी को गोद लिया, वे इस वंश-परम्परा में नहीं थे, और कांकरोलीवाले व्रजभूषणजी थे, इसीलिये इस समय यह सब विवाद उठ खड़ा हुआ था। प्रस्तुत प्रसङ्ग में अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये इनके काका गोकुलनाथजी ने भी बम्बई, सूरत, पूना आदि जाकर वहाँ के राज्याधिकारियों से परिचय बढ़ाकर अपने पक्ष में बहुत कुछ प्रमाण एकत्रित किये।

इधर सूरत से महाराणीजी बहूजी ने आदमी भेजकर महाराणा भीमसिंहजी से अपना अभिप्राय ज़ाहिर कर व्रजभूषणजी के विरुद्ध उन्हें तैयार करना चाहा। इस समाचार को सुनकर व्रजभूषणजी ने भी महाराणा को पत्र में उक्त सब वृत्तान्त लिखा और गुरुघर के प्रति न्यायोचित कार्य करने का निवेदन किया।

जातीय निर्णय (महज़र)

इस आपसी झगड़े में, जैसा पहिले कहा जा चुका है, व्रजभूषणजी और इनके काका गोकुलनाथजी ने अपना २ अधिकार प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना शुरू किया। यद्यपि व्रजभूषणजी को प्रथम यह ध्यान था कि गोकुलनाथजी मेरे लिये प्रयत्न कर रहे हैं, पर गोकुलनाथजी की जीवनी में यह लिखा जा चुका है कि वे अपने लिये ही प्रयत्न कर रहे थे, जिसकी सूचना मिलने पर अप्रत्यक्ष रूप में काका-भतीजे का मनोमालिन्य हो गया था।

इधर इसके लिये प्रबल प्रयत्न हो रहे थे, उधर सं० १८५६ में वैशाख में गोकुलनाथजी और आश्विन मास में महाराणी बहूजी का उज्जैन में नित्यलीला-प्रवेश हो गया, महाराजश्री ने शु० ५ के दिन से उनकी उत्तर-क्रिया शुरू की, और अपना उत्तरदायित्व तथा स्वत्व प्रकट किया। अब व्रजभूषणजी (कांकरोलीवाले) और गोकुलोत्सवजी (सूरतवाले), यही दो वादी-प्रतिवादी अवशिष्ट रह गए।

महाराजश्री ने अब जाति का सहारा लिया और नाथद्वारा आदि के समु-

दाय को एकत्रित कर सं० १८५७ श्रावण कृष्ण १४ रविवार को एक महज्जर लिखवाया*, जिसमें प्रस्तुत कार्य को साम्प्रदायिक मर्यादा के विरुद्ध बतलाया गया।

---

* श्रीगोवर्द्धनो जयति

लिखितं समस्त गोस्वामिवर्ग। आगे श्रीद्वारकानाथजी पास श्रीबालकृष्णजी श्रीगिरिधरजी की अनुमति सूं बहुत काल विराजे सो यह वार्ता परम्परा ते सर्व विदित है।

पाछे व्रजरायजी ने पृथ्वीपति कूं सेवासंतुष्ट करिके श्रीबालकृष्णजी मागे जो मोको दिवाओ, तब पृथ्वीपति ने कही सब "मेरी प्रजा है" कोई कोभोंठ के कोई को देनो यह अन्याय मैं न करूंगो। तुम मेरे पास तें जो मागो सो देऊं, तब कहे व्रजरायजी जो मेरे तो और कछू न चाहिए। तब पृथ्वीपति ने कही—अन्याय कैसे करूं? तब कही—जो मैं हूं छोटो भाई हूं, पिता को पुत्र हूं परंतु तुम्हारे प्रसाद तें मोकूं ठाकुर मिले यामें अन्याय नहीं, तब पृथ्वीपति ने अहमदाबाद के ऊपर पत्र लिख दीनो—यथा योग्य इनको न्याव करोगे।

तब श्रीहरिरायजी ने गंगाबेटी पास तें सेवार्थ श्रीबालकृष्णजी व्रजरायजी कों दिवाए। सो वार्ता हू परम्परा तें सब जानत है।

सो अब बालकृष्णजी को वंश छोड़ि के अन्य वंश में ठाकुर को दै सो कैसे जाय? पृथ्वीपति ने हू भाई जानि के आपने वंश में ही दिवाए हैं, और अपनी ज्ञाति की हू यही मर्यादा है। जो जाके वंश की वस्तु होय ताही के वंश कुं मिले, येही मर्यादा के बल ते व्रजरायजी पुरुषोत्तमजी कूं दिए, वे हु मुरलीधरजी सुत पुरुषोत्तमजी कूं दीये सो आज ताहीं श्रीबालकृष्णजी को वंश ही सेवा करत आयो है।

सो अब महाराणी बहूजी कोई द्वेषादिक तें अन्य वंश के गोकुलोत्सवजी कों दिए सो रीति शास्त्र तथा कुल तथा राज्यविरुद्ध है, तातें उन पासतें पाछे लेके स्ववंश में देने। याको वचन—

काम क्रोधास्वतन्त्रार्त क्लीबोन्मत्त प्रमोहितैः,
व्यत्यास परिहाराय दत्तं तत्पुनराहरेत्।

तातें अब श्रीबालकृष्णजी के कुल मुख्य ब्रजभूषणजी है सो या निधि के वारस है सो इनकूं पहौंचे यह कुल मर्यादा है। जो कोई अन्याय करिके काहू को घर लेहगो तो कुल मर्यादा उच्छिन्न होय जायगी। तातें सब पंच मिलि के मरियादा रहै एसो कर्तव्य या सम्मति उपरान्त कोई अन्याय करै सो श्रीनाथजी ते, सातों स्वरूप ते, श्रीआचार्यजीते, श्रीगुसाईजीते विमुख है। मिति श्रावण कृष्ण १४ रवौ संवत १८५७।

सर्वनिर्णीतेर्थे गोस्वामिश्री गोविन्दात्मज गिरिधारिणः सम्मतिः। सर्वनिर्णीतेर्थे मित्रविन्दा बहूजी, चन्द्रावली बहूजी साक्षी ऊपर को लिख्यो सही।

अत्र साक्षी गोस्वामि मथुरामल्लजीसुत गोकुलनाथजी ऊपर को लिख्यो सही।

लिखितं रघुनाथजी सुत गोविन्दरायजी श्रीबालकृष्णजी ठाकुरजी में हमारी सत्ता नहीं, हम या बाबत गोकुलोत्सवजी सूं भेले होय के झगडै नहीं।

सूरत के इस विवाद का अन्त सं० १८७१ के प्रारम्भ में आया और अदालत ने

अदालत का फ़ैसला

व्रजभूषणजी का दावा खारिज कर गोकुलोत्सवजी को स्वीकार किया, और साथ में उन्हें वादी से खर्च भी दिलवाया। सूरत की अदालत ने जो फ़ैसला दिया, उसका अनुवाद सारांश-रूप में यहाँ दिया जाता है:—

फ़ैसला अदालत सूरत तारीख १ फरवरी सन् १८१४ ई० नं० १००८

श्रीव्रजभूषणजी महाराज............वादी

श्रीगोकुलत्सवजी महाराज............प्रतिवादी

दावा.........१,००,००० रु० बालकृष्णजी की मूर्ति बाबत।

इस मुक़द्दमा की तजवीज से मालूम पड़ता है कि पहिले व्रजभूषणजी ने बादशाह के अमल में बालकृष्णजी की मूर्ति व्रजरायजी महाराज के हवाले की थी, और घर के बड़े लोगों ने फारकती लिखकर मूर्ति के वारसा से अपना सारा हक़ उठा लिया था। वही मूर्त्ति पीछे तीसरे बड़े घर को छोड़कर क्रमशः चौथे घरवाले पीताम्बरजी के पुत्र पुरुषोत्तमजी (लेखवाले), उनके बाद पाँचवे घरवाले पुरुषोत्तमजी और मुरलीधरजी महाराज के पास आई।

अत्र साक्षी कमला बहूजी। ऊपर को लिख्यो सही।
अत्र साक्षी यमुना बहूजी ,, ,, ,,
अत्र साक्षी रुक्मिणी बहूजी ,, ,, ,,
अत्र साक्षी गो० श्रीजगन्नाथजी के बहूजी कृष्णाप्रियाजी। ऊपर को लिख्यो सही।
अत्र साक्षी गो० श्रीदामोदरजी की बहूजी भामनी बहूजी। ऊपर को लिखो सही।
अत्र सर्वनिर्णीतिर्थें गो० श्रीव्रजरायात्मज रघुनाथस्य सम्मतिः।
लिखितं गोस्वामि श्रीयदुनाथजी सुत वल्लभजी अत्र साक्षी ऊपर को लिखो प्रमाण।
यथार्थधर्म-निर्णीतिर्थें गोस्वामि घनश्यामजी सुत जदुनाथजी शर्मणोपि सम्मतिरस्ति यदुपरिष्टाल्लिखितं तत्तथ्यं।
लिखितं गो० श्रीलक्ष्मणजी सुत गोवर्द्धनजी। अत्र साक्षी ऊपर को लिख्यो सही।
अत्र साक्षी गो० दामोदरजीसुत विट्ठलरायजी। ऊपर को लिख्यो सही।
अत्र साक्षी गो० श्रीगोपालात्मज रामकृष्णेन सम्मति। ऊपर को लिख्यो सही।
अत्र साक्षी मथुरानाथजीसुत द्वारिकेशजी ऊपर को लिख्यो सही।
लिखितं गोस्वामि लक्ष्मणजीसुत गोपीनाथजी साक्षी। ऊपर को लिख्यो सही।
अत्र साक्षी गो० श्रीगोकुलचन्द्जीसुत लल्लुजी के बहूजी भामनी बहूजी ऊपर को लिख्यो सही।
लिखितं गो० श्रीलक्ष्मणजीसुत श्रीद्वारकानाथजी अत्र सम्मतिः।
अत्र साक्षी गो० श्रीविट्ठलरायजीसुत गिरिधारिणः सम्मतिः ऊपर को लिख्यो सही।

पुरुषोत्तमजी मुरलीधरजी महाराज के पास से उनके पुत्र गोवर्धनजी को मिली, और उन्होंने बिना पुत्र के जब लीला विस्तारी, तब वह मूर्ति उनकी बहूजी महाराणी बहूजी को मिली, इसलिये इतना ही विचारना है कि—बहूजी को अपनी इच्छा से पुत्र गोद लेने की योग्यता है अथवा नहीं।

गंगा बेटीजी और जानकी बहूजी के, तीसरे घर के श्रीव्रजभूषणजी के वारसा को छोड़कर चौथे घर के व्रजरायजी को फारकती लिख देने से मालुम पड़ता है कि—मूर्ति हवाले करने की योग्यता स्त्री को है, और बाप-दादा के वारस न होने पर दूसरे घर में से किसी एक को सौंपने की रीति है।

अदालत के शास्त्रियों की व्यवस्था से मालूम होता है कि—विधवा को दत्तक पुत्र करने का अधिकार है। दूसरे आज से २० वर्ष पूर्व श्रीगोकुलोत्सवजी की दत्तक पुत्र की स्वीकृति शाहआलम बादशाह ने भी दी, जिस पर सूरत के नवाब तथा बख़्शी की मोहर भी की गई है।

यद्यपि श्रीजीद्वार और पूना के महज्जर ध्यान में लेने योग्य हैं, पर वे अदालत के आगे शपथ-पूर्वक उपस्थित नहीं किये गये, और महाराणी बहूजी के स्वामी ने युवा-वस्था में लीला विस्तारी, जिससे उनकी स्त्री के अधिकार में मूर्ति ५० वर्ष पर्यन्त रही, उस स्त्री का स्वामी बाप के बड़े पुत्र के कुल से पाँचवी पीढ़ी में है और वादी नवीं पीढ़ी में। इसलिये उन महज्जरों के ऊपर अदालत का हाकिम अमल कर सकने में विवश है। महाराणी बहूजी के पति के सगे-सम्बन्धियों में भी कोई नहीं है।

इसलिये इन सब बातों पर विचार करने पर दत्तक पुत्र क़ायम रहने का हुक्म दिया जाता है और फ़रियादी का दावा रद किया जाता है। फ़रियादी बिगत प्रमाण-ख़र्च दे।

ख़र्च की बिगत..................५००० रु० कमीशन
४२ रु० काग़ज़-ख़र्च
५०४२ रु० एकत्र

ग्रास जागीर और गाँव

व्रजभूषणजी महाराज (तृ०) के व्यक्तित्व का प्रभाव अपना विशेष स्थान रखता था। यह अपने प्रपितामह व्रजभूषण (द्वि०) की भाँति ही उदयपुर और जयपुर के महाराजाओं से अच्छा सम्बन्ध रखते थे, जिसके फलस्वरुप इनको कई स्थानों से जमीन-जागीर प्राप्त हुई। महाराणा भीमसिंहजी से

इनका घनिष्ठ व्यवहार था, जिसके द्वारा समय २ पर नीचे-लिखी ज़मीन और जागीरें प्राप्त हुईं। सं० १८४९ आषाढ़ सुदी १२ शनि के दिन बाबा बख़्तावरसिंह के साथ उनकी पत्नी राठोडनी के सती होने पर चार बीघा ज़मीन दी गई (ता० प० नं ३२)। सं० १८५२ फा० कृष्ण १० शुक्रवार के दिन आसोटिया के उन खेतों की राजसमुद्र की पिलाई माफ़ कर ताम्रपत्र किया गया, जिनकी महाराणा अरिसिंहजी के द्वारा पिलाई का परवाना दिया गया था, इस समय उसका ताम्रपत्र किया गया*।

सं १८५२ फा० कृ० ११ शनि के दिन बारोल गाम की उस ज़मीन की स्वीकृति का तामापत्र कर दिया गया, जो भुवा रतनकुँवरि बाई ने भेंट की थी†। यह महाराणा जगतसिंहजी (द्वि०) की पुत्री और जोधपुर के कुँवर विजयसिंहजी की पत्नी थीं। इन्होंने महाराजश्री के प्रपितामह व्रजभूषणजी (द्वि०) से ब्रह्म-सम्बन्ध दीक्षा ली थी।

सं० १८५४ फा० वदी १ शुक्र के दिन रणापुरा की २० बीघा ज़मीन, जो नाणसिंघ की चौहाण बहू की थी, भेंट कर तामापत्र कर दिया गया (ता० प० नं० ४१)।

---

* ता० प० नं० ३ श्रीरामोजयति

श्रीगणेश प्रसादात् श्रीएकलिंगप्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् गुसांइ श्रीव्रजभूषणजी जोग राजसमद रा नाला थी पाणी गाम कांकडोली आसोट्या रा खेत पीवे है सो पीवाई महाराणा श्रीअरसिंहजी गुसांई श्रीव्रजभूषणजी रे चडाइ भेट कीदी जणरो प्रवानो श्रीमहाराणाजी रो सही रो सो या तांबा पत्र श्रीदुरबारथी करे दीवाणो ऊदक आघट करे श्रीरामा अरपण करे पीवाई माफ है सदामद सो चोलण व्हेगा नहीं स्वदत्तां परदत्तां वा ये हरंति वसुन्धरां, षष्टि वर्ष सहस्राणि विष्टायांजायते क्रमिः प्रत दुवे पडिहार मयाराम लीखतां पंचौली वल्लभदास गीरधर लालोत, संवत् १८५२ वर्षे फागण वीद १० सुक्रे

† ता० प० नं० ६ श्रीरामो जयति

श्रीगणेश प्रसादात् श्रीएकलिंग प्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् गुसांई श्रीव्रजभूषणजी जो गाम बारोल प्रगणे ....जणी में कुडा ३ तीन खेरो १ अेक उदेराम बालो मीम नीम बीडा सुदी भुवा रतन कुवर बाई भेट कीदो तीरो यो तामापत्र श्रीदरबारथी करे दीवाणो ऊदक आघाट श्रीरामा अरपण करे चडाया लागत विलगत सरब सुदी सो चोलण वेगा नहीं। स्व दत्तां परदत्तां वा......................................
दुवे श्रीमुख लीखताँ पंचोली वल्लभदास गीरधरलालोत संवत् १८५२ वर्षे फागण वीद ११ सनौ.........

सं १८५५ असाढ़ बदी ५ के दिन खीची के महाराज दुरजनसालजी ने एक गाम, परगना साढौर मौज़ा वरोदिया का, भेंट किया* ।

इसके बाद महाराणा भीमसिंहजी ने फिर नीचे-लिखे गाम और ज़मीन भेंट की--

सं० १८५७ वैशाख बदी १ भौमवार के दिन अपनी भुवा धनकुँवरि बाईजी के देहान्त हो जाने पर उनके ठाकुरजी श्रीमदनमोहनजी की सेवा कांकरोली पधरा कर ७ बीघा ज़मीन सेवार्थ भेंट की गई † ।

इन्होंने इस घर से वैष्णव-धर्म की दीक्षा लेकर सेवा पधराई थी ।

सं० १८५८ जेठ सुदी ७ सोमवार के दिन मुखिया मलूकचंद के द्वारा आंजणा-नामक गाम भेंट आया ‡ ।

---

* ता० नं० २२ श्रीरामजी

सही

श्रीद्वारकेशो जयति

श्रीमन्महाराजाधिराज गोस्वामी श्रीव्रजभूषणजी के गाव १ प्रगने साढौरे को गाव मौजे वरोदिया खीची महाराज श्रीराजाबाहादुर दुरजनसालजी ने लागत बीलगत भेटकरयो। या गाव में काहात कीधो खेचल हौन पावे नहीं। श्लोक। स्वदत्तं परदत्तं........वा यो हरेत सुरविप्रयो। ....जायते विट भुक् वर्षाणामयुतायुतम्। या वक्का करिके हमारे वंस को होई सो दसा पाले जाय मीती आसाढ वदी ५ संवत १८५५। दसखत सेवक लाला नन्दलाल श्रीवासपति कायस्थ।

† ता० प० नं० ४० श्रीरामो जयति

श्रीगणेश प्रसादात् श्रीएकलिंग प्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् गुसांई श्रीव्रजभूषणजी जोग भुवाजी धनकुंवर बाई रे सेवा रा ठाकुरजी श्रीमदनमोहनजी था सो भुवा जी देवलोक हुआ सो सेवा कांकरोली श्रीद्वारकानाथ जी पधराई सो धरती बीघा ७ पीवल पता बावरी त्था गाम बडड्गाम महे भुवाजी रा हैवाला महे थी अम्बा रा गोड ८ राधेण १ सुदी आपरे उदक आघाट श्रीरामा अरपण करे चढाई रूख व्रख लागत बिलगत सरब सुदी सो चोलण वेगा नहीं स्व दत्तां पर दत्तां वा........

दुबे श्रीमुख लीखता पंचोली वल्लभदास गीरधर लालोत संवत् १८५७ वर्षे वैशाख विद १ भौम

‡ ता० प० नं० १६ श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादात् श्रीएकलिंग प्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् गुसांइजी श्रीव्रजभूषणजी जोग गाम आंजणो प्रगणे...............तीरो उदक आघाट करे श्रीरामा अरपण करे दीदो लागत बिलगत सरब सुदी सो कणी बात रो चोलण वेगा नहीं स्वदत्तां पर......प्रत दुवे पडियार मयाराम। लीखता पंचोली वल्लभदास गीरधर लालोत संवत १८५८ वर्षे जेठ सुदी ७ सोमे मारफत मुखिया मलूकचंद।

सं० १८५८ जेठ सुदी ७ सोमवार के दिन माजी महाराज के नाम पर गाम गोगुन्दा में २० बीघा धरती मुखिया मलूकचन्द के मारफत भेंट की गई (ता०प० नं० ३४)।

सं० १८५९ माह सुदी ७ शनिवार के दिन महाराणा भीमसिंहजी के द्वारा पेमा-खेडा-नामक गाम श्रीद्वारकाधीश के लिये भेंट चढ़ाया गया * ।

सं० १८६१ आसोज सुदी ९ के दिन मुकाम सवाई जयपुर से महाराजा सवाई जगतसिंहजी द्वारा क्यासा गाँव (परगनां टोडा रायसिंह) का पक्का परवाना कर दिया गया, जो स्व० महाराजा प्रतापसिंहजी से प्राप्त हुआ था और जिसका कच्चा पर-वाना अभी तक था ÷, अर्थात् महाराजा जगतसिंहजी के गादी बैठने पर पुनः इसका दाखिल खारिज किया गया ।

---

* ता० प० नं० १२ श्रीरामो जयति

सही

श्रीगणेशप्रसादात् श्रीएकलिंगप्रसादात्

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् ठाकुर श्रीद्वारकानाथजी रे गाम पेमाखेडो ऊदक आघाट रामा अरपण करे भेट कीदो लागत विलगत सरव सुदी सो कणी बात री चोलण व्हेगा नहीं। आगे तांबापत्र हो सो दगा रा सबब थी गमाणो यो करे दीवाणो। स्वदत्तां परदत्तां वा......

प्रत दुवे पडिहार मयाराम लीखता पंचोली वल्लभदास गीरधर लालोत। संवत १८५६ वर्षे माह सुदी ७ सीनु।

÷ श्रीरामजी

सही

श्रीसीतारामो जयति

श्रीमहाराजाधिराज सवाई जगतसिंहजी

सिधि श्रीमहाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई जगतसिंहजी देव वचनात् कमैती प्रगना टोडा रायस्यंघ का दसेसुप्रसाद वंच्या अपरंच बावति पुन्य गाँव गुसाईजी श्रीव्रजभूषणजी आसोट्या नै जो मुवाफिक यादिदा* सति में दसखत दीवानयान करार मिती आसोज बदी ४ संवत् १८६१ अरज पहौंची जो पुन्य गाँव क्यास्या प्रगना टोडा रायस्यंघ तननहीं ज्मा कमाल संवत् १७७५ मै रुपया ६६० को उपेजा रुपया १,००० मै भोमि वागैरह सुधां इवतदाय संवत् १८५२ थे मुवाफिक प्रवाने सवती महाराजा वैकुंठवासीजी श्रीसवाई प्रतापसिंहजी करार मिती सावण सुदि ५ साल संवत् १८५६ कै हुवो सो प्रवानं दफत्र मै दोडिय को हुओ न्ही कचो हाथि राखै अरहासिल गाँव को संवत् १८६० ताई पायो अब इवतदाय संवत् १८६१ थे प्रवानां सवती का दसखत करायो चाहै फुरमावाछांसो दसखत खास हुकम हुआ मुवाफिक लिखे प्रवानं सवती लिखोसो चाहिजे दीवान सरकार का प्रवाना लिखै मिती आसोज सुदि ३ संवत् १८६१ अरज मुकरर पहौंची मुकरर गाँव मजकूर उपेजा रुपया १,००० का भोमि वागैरह सुधां एक मुवाफिक यादि दासति मै दसखत खास दीवानयान। मिती आसोज सुदि ६ संवत् १८६१ मुकाम सवाई जैपुर।

रजू दफत्र दीवान संगही अमरचंद। रजू दफत्र दीवान हजूरी। रजू दफत्र सदासुख मसतोफी (संक्षिप्त)

कुछ समय बाद महाराणा भीमसिंहजी ने फिर नीचे लिखे गाँव और जमीन भेंट की—

सं०१८६९ फा० सुदी ९ शुक्रवार के दिन परगना मोही के गाँव अेमडी का आधा हिस्सा श्रीद्वारकानाथजी और महाराजश्री के नाम भेंट किया गया * ।

सं० १८७० (चैत्रादि सं० ७१) जेठ बदी २ शुक्रवार के दिन भाटोली गाम (परगना मोही) महाराणा ने श्रीद्वारकाधीश के दर्शनार्थ कांकरोली आकर भेंट किया † ।

सं० १८७४ जेठ सुदी ९ शुक्रवार के दिन भूरवाडा गाम का ताम्रपत्र किया गया, जो रानी बड़ी (राठौर) की ओर से बडम (?) नानालाल कुँवर अमरसिंह के अन्त समय में श्रीद्वारकाधीश को भेंट किया गया था ‡ ।

---

* ता० प० नं० ६ श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादात् श्रीएकलिंगप्रसादात्

सही

महाराजाधिराजमहाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् ठाकुरजी श्रीद्वारकानाथजी गुसाईंजी श्रीव्रजभूषणजी रे गाम अेमडी आदी प्रगणे मोही रे उदक आघाट श्रीरामा अरपण करे भेट करे चढाई । लागत बिलगत सरब सुदी सो अणी गाम थी कणी बात री चोलण वेगा नहीं । स्वदत्तां परदत्तां वा.........

प्रत दुबे पडिहार मयाराम लिखता पंचोली वल्लभदास गीरधरलालोत । संवत् १८६६ वर्षे फागण सुदी ६ शुक्रे ।

† ता० प० नं० ७ श्रीरामोजयति

श्रीगणेशप्रसादात् श्रीएकलिंगप्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् ठाकुरजी श्रीद्वारकानाथजी रे गाम भाटोली प्रगणे मोहीरे श्रीजीद्वार दरसण करवा पधारया जदी श्रीरामाअरपण करे भेट चढाई । लागत बिलगत डंड डोर सरब सुदी मां कणीं बात री चोलण वेगा नहीं । स्वदत्तां परदत्तां वा............

प्रत दुबे सहां सतां दास लीखता पंचोली चोखचन्द वल्लभदासोत । संवत् १८७० वर्षे जेठ बदी २ शुक्रे

डब्ल्यू० जी० २००

‡ ता० प०नं० ११ श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादात् श्रीएकलिंगप्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् गाम भुरवाडो प्रगणे मोही रे राणी बडा राठोड री तरफ सूं बडम नानालाल कुँवर अमरसिंह रे अन्त समे ठाकुर श्रीदुवारकानाथजी रे भेंट । यो गाम नीम सीम लाग भोग हासल बीराड लागत बिलगत रूख ब्रख सरब सुदी उदक आघाठ श्रीरामा अरपण करे चडायो सो

सं० १८७२ पौष सुदी १५ के दिन गाम चेकली रावत सवाई मेघजी के बेटे मोहकमसिंहजी ने श्रीद्वारकाधीश के दर्शनों को आकर भेंट किया। रावत सवाई महासिंहजी ने यह गाम मोहकमसिंहजी को दिया था और उनके पुत्र ने उनसे पूछकर श्रीठाकुरजी को भेंट किया *।

सं० १८७५ भाद्रपद सुदी ४ के दिन गाँव पचावडी का ताम्रपत्र किया गया, जो महाराणा के चीरण भाई शिवदानसिंह ने श्रीद्वारकाधीश को भेंट चढ़ाया था †।

सं० १८५८ के अंत में जसवंतराव होल्कर ने मेवाड़ देश को लूटना प्रारंभ कर दिया। इस समय नाथद्वारा और कांकरोली पर भी उसने घेरा डाला। इस विषय में श्रीओझाजी ने इस प्रकार लिखा है—

होल्कर की चढ़ाई

"वि० सं० १८५८ (ई० सं० १८०२) में जसवंतराव होल्कर सिंधिया से गहरी हार खाकर मेवाड़ में चला आया, परंतु सिंधिया की सेना उसका पीछा करती हुई वहाँ भी आ पहुँची। तब वह नाथद्वारे की ओर चला गया। वहाँ के गोस्वामियों से उसने तीन लाख रुपए वसूल करना और मंदिरों की सम्पत्ति लूट लेना चाहा। इस

सारी उपज श्रीदुवारकानाथजी रे भंडार पुगसी म्हारा वंसरा व्हेगा जोतो यो गाम अथापसी नहीं। स्वदत्तां परदत्तां वा··········

प्रत दुवे श्रीमुख लीखतां पंचोली सुरतीग नाथुराम रा। संवत् १८७४ वर्षे जेठ सुद ६ सुकरे।

* ता० नं० २१ श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुदरसणजी

रामा

सही

श्रीद्वारकानाथजी के मंदिर श्रीगोस्वामीजी श्रीव्रजभूषणजी माहाराज के भेट करयो गाम चेकली रेख रूपीया ५० अंके पचास की रावतजी सवाई मेघजी का बेटा रखवासराया मोहकमसिंहजी करयो रावत सवाई माहासिंहजी मोहकमसिंहजी ने बकसीसो म्है भेट करी रावत सवाई माहासिंहजी ने पुछने। स्वदत्तां परदत्तां······संवत् १८७२ मिती पोष सुदी १५। दरसन कूं आये तब भेंट करयो।

† ता० प० नं० १३ श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादात् श्रीएकलिंगप्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणाश्री भीमसिंहजी आदेशात् गाम पचावडी ठाकुर श्रीदुवारकानाथजी रे चीरण भाई सिवदानसिंह भेट चडायो है सो रूख अख नीम सीम लोग भोग कुडा नीवाण टासटी सोग सरब सुदी ठाकुर श्रीदुवारकानाथजी रे भंडार पुगसी, अणी गाम थी कोई बात री म्हारी तरफ सूं चोलण वेगा पावेगा नहीं, स्वदत्तां परदत्तां···।

प्रत दुवे श्रीमुख लीखता पंचोली सुरतसीव नाथुराम। संवत् १८७५ वर्षे भादवा सुदी ४।

पर गोस्वामियों ने महाराणा को इसकी सूचना दी, जिस पर उसने देलवाडे के राज-कल्याणसिंह झाला, कठूँवा के ठाकुर विजयसिंह, आगरया के ठाकुर राठौड जगतसिंह, मोई के जागीरदार अजीतसिंह भाटी, साह एकलिंगदास बोल्या और जमादार नाथूसिंह को सेना-सहित नाथद्वारे की ओर रवाना किया। ये लोग वहाँ पहुँचकर गोस्वामी और तीनों मूर्तियों को लेकर चले। इतने में कोठारिया का रावत विजयसिंह चौहान भी मदद के लिये आ पहुँचा। होल्कर के नाथद्वारा आने के पहिले ये लोग ऊनवास गाम में ठहरे। यहाँ से आगे कुछ भय न होने से विजयसिंह अपने ठिकाने के लिये बिदा हो गया। मार्ग में होल्कर की फ़ौज द्वारा घिर जाने पर वह वीर अपने राजपूतों-सहित वहीं मारा गया। ऊनवास से वे तीनों मूर्तियाँ उदयपुर पहुँचा दी गईं *।"

---

* घटना-बोधक एक प्राचीन पत्र—

संवत् १८५८ के वर्ष में दखिणी हुलकर जसवंतराव मेवाडि देश में आयो, ताके भय तें माघ बदी ४ शनौ (इस वर्ष के पंचांग में आज के दिन प्रातः मकर लग्न १० में श्रीनाथजी उठे) के दिन गोस्वामि श्रीगिरिधारीजी श्रीनाथजी को पाट ते उठाये। सो श्रीनाथजी त० श्रीविट्ठलेश रायजी तो उदयपुर पधारे और श्रीद्वारकानाथजी तो विराजे रहे। ता उपरान्त हुलकर के भले मनुष्य श्रीजीद्वार गये, सो मामलत रु० १,००,००० लाख एक ठहरे ताकी ओल में सिंघवी शंभूमल्ल को ले गए। ता पाछे हुलकर के भले मनुष्य कांकरोली में आए, सो मामलत रु० ४०,००० हजार ठहरे, तामे सुवर्ण को पालना त० रूपा की चोखट दीने, कछूक घटे तामे बहू बेटीन को गहना दीने। या रीति सों चालीस हजार की भरती करि दीने। और गोस्वामि श्रीव्रजभूषणजी एसे कहे—जो या शीतकाल में मेरे ठाकुर सुख सों विराजे रहे, ताकी न्योछावरि चालीस हजार है।

ता उपरान्त वसन्त डोल श्रीनाथजी के उदयपुर में भयो।

फेरि वैसाख में श्रीगिरिधारीजी ने घसार में मंदिर बनायवे को मुहूर्त करे। उष्णकाल, हिन्डोरा, जन्माष्टमी उदयपुर में भये।

फेरि भाद्र बदी में श्रीगिरिधारीजी के तीसरे लालजी को जन्म भयो। ता उपरान्त श्रीनाथजी स्वप्न में काहू को जताए जो मैं इहाँ दुखी हों, मोकों श्रीजीद्वार पाछे पधराओ, परन्तु पधराए नहीं।

ता पाछे आश्विन बदी में श्रीगिरिधारीजी के बड़े लालजी लीला विस्तारे, ता उपरान्त बहूजी दोउ लालजी को लेके श्रीजीद्वार आये।

ता उपरान्त श्रीगिरिधारीजी ने श्रीव्रजभूषणजी सों अन्नकूट पर ठाकुर पधरायवे को आग्रह तो बहुत करे, परन्तु श्रीव्रजभूषणजी तो यही कहे, जो एक दिन को मार्ग होय तो सर्वथा पधराऊँ। चारि पाँच दिन को मार्ग, तामे मेरे ठाकुर दुख पावे।

पाछे श्रीनाथजी श्रीविट्ठलेशरायजी तो उदयपुर में अन्नकूट अरोगे, और श्रीद्वारकानाथजी तो भली भाँति सों गोवर्द्धन पूजा करिके कांकरोली में ही अन्नकूट अरोगे।

नाथद्वारा से आकर जसवंतराव होल्कर ने कांकरोली पर घेरा डालने और यहाँ से भी रुपया वसूल करने के लिये अपने सरदारों को भेजा। इसके आने का समाचार पाकर महाराजश्री के सलाहकारों ने नाथद्वारा के गोस्वामियों की तरह श्रीद्वारकाधीश को उदयपुर लेकर चले जाने की सलाह दी, पर शीतकाल में ठाकुरजी को परिश्रम देकर ले जाना उन्होंने अपने सिद्धांत के विरुद्ध समझा, और भवितव्यता को द्वारकाधीश की इच्छा पर छोड़कर वे निश्चिंत हो गए।

कुछ दिनों बाद दल-बल-सहित होल्कर ने कांकरोली आकर डेरा जमाया और महाराजश्री से गहरी रकम अपने खर्च के लिये माँगी। उसे नाथद्वारा की सम्पत्ति में से बहुत कुछ द्रव्य मिल जाने के कारण इस बात का विश्वास हो गया था कि—इस सम्प्रदाय के मंदिर अत्यधिक सम्पत्तिशाली होते हैं, अतः उसने यहाँ भी अपना मुँह फैलाया।

महाराजश्री और होल्कर के बीच के भले आदमियों की दौड़-धूप तथा विचार-विनिमय से अंत में चालीस हजार रुपया लेकर कांकरोली में बिना किसी प्रकार का उपद्रव किये यहाँ से चले जाना तय हुआ और महाराजश्री ने रुपयों का प्रबंध कर देने का उसे वचन दे दिया।

कांकरोली-मंदिर के खज़ाने में उस समय इतना नगद रुपया नहीं था, जो होल्कर को देकर पिंड छुड़ाया जाता। फिर भी उसका किसी भी तरह भुगतान करना तो अनिवार्य ही था। फलतः एक सोने का पालना*, मंदिर के दरवाजे की चाँदी की

ता उपरान्त श्रीनाथजी जताए, जो मैं अन्नकूट नहीं अरोग्यो, तब कार्त्तिक सुदि १३ के दिन उदयपुर ते घसार पधारे। श्रीविट्ठलेशरायजी तो उदयपुर में ही रहे।

ता उपरान्त कार्त्तिक सुदी १५ के दिन श्रीनाथजी फेरि अन्नकूट अरोगे। श्रीविट्ठलेशरायजी तो अन्नकूट अरोगे बिना ही रहे।

ता उपरान्त श्रीगिरिधारीजी (कांकडोली) आय के पौष वदी में बहूजी दोऊ लालजी को घसार ले गये।

इस पत्र में मिती संवत् नहीं है, पर जो वृत्तान्त लिखा गया है, वह ऐतिहासिक सत्य है।

* इस सोने के पालना के विषय में इस तरह कथानक प्रसिद्ध है—

बड़ौदा-निवासी हरिभक्तिवाले इस नाम से प्रख्यात एक सेठ ने आवश्यकता समझ और महाराजश्री की आज्ञा पाकर श्रीद्वारकाधीश के लिये यह पालना तयार कराकर भेट किया था। इसकी चार सांकले कमजोर देखकर महाराजश्री ने सेठ से उन्हें मोटी बनवा देने का आदेश दिया। सेठ के मन में महाराजश्री के लोभी होने की बात समा गई। जब इस बात की भनक महाराजश्री के कान में पड़ी, तो उन्होंने इसे आसुरी

चौखट और शेष में अपनी बहू-बेटियों के सोने-चाँदी के गहने देकर महाराजश्री ने उससे पीछा छुड़ाया * ।

देवोत्तर सम्पत्ति के द्वारा भी अपनी निश्चित रक़म का भत्ता पूरा कराकर जसवंतराव होल्कर मेवाड़ के सरदारों से दंड के रूप में लाखों रुपये वसूल करता हुआ अजमेर होकर जयपुर की ओर चला गया ।

इस प्रकार सं० १८५८ के अंत में कांकरोली संस्थान पर यह पहिला ही राजकीय अशांति का हमला हुआ । महाराजश्री ने धैर्य और विश्वास के साथ उस संकटमय विभीषिका का सामना किया, जिसकी सूचना-मात्र से नाथद्वारा के तिलकायित गोस्वामि श्रीगिरिधारीजी महाराज श्रीनाथजी जैसी अचल निधि को भी उदयपुर और घसियार जैसे विकट स्थानों में ले जाने को बाध्य हुए † ।

हिंदुत्व के नाते होल्कर से यह तो आशा नहीं की जा सकती थी कि—वह सनातन धर्म का अनुयायी होते हुए भी औरंगज़ेब के समान देवताओं की मूर्ति तोड़ता और सारी सम्पत्ति लूटकर ले जाता । इस समय उसे द्रव्य की अत्यधिक आवश्यकता थी, अतएव उसने ऐसे स्थानों पर जमा किए हुए धन में से ले लेने की अपनी आसुरी इच्छा को पूरा किया था । इस घटना से इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि—कांकरोलीवाले महाराजश्री ने जो अपनी दृढता दिखलाई, वह अनुपम थी । इस आदर्श ने आगे के लिये होल्कर के हृदय में धर्मस्थानों के प्रति ऐसी बर्बरता न करने की भावना अवश्य उत्पन्न कर दी, जिसका आगे चलकर यह फल हुआ कि—सं० १८६७ में उसने पुनः कांकरोली आने पर संस्थान की सुरक्षा का शिला-लेख लगवाया, जिसका वर्णन आगे किया जायगा ।

द्रव्य कहकर ठाकुरजी के अंगीकार के योग्य न समझकर रख दिया । सेठ भी इसे छोड़कर चला गया । अन्त में यह होल्कर को दिया गया । कहते हैं, आजकल यह इन्दौर में अहिल्याबाई के मंदिर में रखा हुआ है ।

* संवत् १८६२ (कार्त्तिकादि ६१) की रोकड़ में वैशाख शु० ६ के दिन इस रकम का जमा-ख़र्च हुआ । वहाँ लिखा है—"हुलकरनी फौज आवी, जीवराजसिंह वापू तथा शुभकर्णजी ए धनीए जुल्म करी रु० ४०४००) लीधा । ते मंदिर मांथी मूलजी भाई तथा भाईदासजी ए जनस आपी तथा रोकड़ा हुन्डी आपी ते नामे मडी छे ।" (रो० पा० १४४)

† प्रस्तुत प्रसंग में 'व्रजजीवन' कवि के कुछ पद्य मिलते हैं—
(स० मं० हि० वन्ध ५२ । २) 'कवित्त-संग्रह' ले० का० १८६७ आ० ब० १४ रवि ।
ठारह से अट्ठावन की माह बदि चतुर्थी की, मद्धि अधराति को मनसूबो उपायो है ।

महाराजश्री के अधिकांश समय में महाराणा भीमसिंहजी की बाल्यावस्था के कारण मेवाड़ में प्रबंध की शिथिलता हो रही थी, जिसका लाभ उठाकर उपद्रवी लोग जहाँ-तहाँ लूट-मार मचाने लगे थे। महाराणा ने यद्यपि शनैः-शनैः सुचारु प्रबंध करना शुरू कर दिया था, पर परितः प्रदीप्त उपद्रव-दावानल एकदम शांत न किया जा सकता था।

मेरों का उपद्रव

जिस प्रकार मरहठों ने मेवाड़ में आकर ठिकानों को लूटना शुरू किया था, उसी प्रकार 'मेरवाड़' के मेर लोग भी चुप नहीं बैठे रहते थे, वे भी जहाँ-तहाँ धावा मारते और जान-माल की बरबादी कर अपने देश को लौट जाते थे।

इनके उपद्रवों से कांकरोली का ठिकाना भी अछूता न बचा और उसके गाँवों पर उन्होंने ज़ोर-ज़ुल्म जारी कर दिया, जिससे जनता तंग आ गई थी।

प्रस्तुत विषय में ऐसा कहा जाता है कि—कांकरोली ठिकाने में जब मेर लोगों का उपद्रव बहुत बढ़ गया, तब सुरक्षा के लिये जनता ने महाराजश्री से कुछ प्रबंध करने की प्रार्थना की। महाराणा यद्यपि इसके लिये सतर्क थे, फिर भी उनकी शक्ति बटी हुई थी, अतः स्वयं महाराजश्री ने इसका उचित बंदोबस्त करने का विचार किया। कुछ समय बाद उन्होंने मौक़ा मिलने पर मेरों के एक सरदार को कांकरोली बुलाया। उसने महाराजश्री के व्यवहार और द्वारकाधीश के दर्शनों से अत्यधिक प्रभावित होकर वैष्णव-धर्म की दीक्षा ली, और अपने आस-पास के समस्त जातीय सरदारों को एकत्र किया। इस विषय में ऐसा भी कहा जाता है कि—महाराजश्री ने एक मेर सरदार को बुलाकर बहुत-सा महाप्रसाद अपनी जाति के

बराजोरी इच्छा बिन प्रभु पधराए तबै बनास पार जाय भार अति ही बढ़ायो है।
बिनती कर्त-कर्त प्रभाकर छिपन लाग्यो बहुत मनुहार कर ह्वांते पधरायो है।
मारग में कष्ट पाय भौत दिन बीते तबै उदियापुर माँझ जाय मंदिर बनायो है॥ १०॥
वल्लभ-कुल राज महराज व्रजभूषणजी जिन्के गुन गनत न पार सेस पायो है।
तन, मन, धन प्रीति करि प्रभु को समर्पि दियो सेवा में मग्न होय आनंद बढ़ायो है।
दूरि ही की धमकि सों नाथ-नग्र भाजि गयो, परयो आय निकट तो हू साह बल पायो है।
जैजैकार होत व्रजभूषण द्वारिकेश ज को देश परदेश सब सुजश सुगायो है॥ १६॥

लोगों में बाँटने को दिया था। महाप्रसाद के खाने से उन लोगों की बुद्धि सुधर गई और उन्होंने कांकरोली के आस-पास लूट-मार बंद कर दी*।

रावतों का शिलालेख

सं० १८६५ ज्येष्ठ मास में समस्त गाँवों के समस्त पंच जो रावत कहलाते थे, कांकरोली के पास आसोटिया में एकत्र हुए और आगे इस जाति का कोई भी व्यक्ति उपद्रव न करे, इसके लिये उन्होंने कांकरोली में मंदिर के प्रधान द्वार पर दाहिनी ओर एक शिलालेख लगवा दिया। इन सबमें रावत श्रीगोकुलदासजी प्रधान थे, और उन्हीं के कथनानुसार यह लिखा गया था। इसमें ऊपर एक ओर सूरज दूसरी ओर चंद्रमा और बीच में सुरभि गाय की आकृति खुदी हुई है, इसी कारण यह 'सुरहपत्र' कहलाता है। इसके आधे से ज़्यादे भाग में समस्त गामों के रावतों के नाम लिखे हुए हैं, अतः उनके लिखने की यहाँ आवश्यकता न समझकर जो अंश अपेक्षित है, वह यहाँ लिखा जाता है—

"अतरी जागारा समस्त रावत भेला बेने गामणोत तथा लोग समसत भेला बेने रावतजी श्रीगोकुलदासजी रा हुकुम थी श्रीद्वारकानाथजी री बंदगी आदरी जीरो लखत करीने सुरे रोपी। जो अठा पाछे अब गामारा रावत श्रीद्वारकानाथजी गाम कांकरोली आसोठिया तथा स्मस्त पटारा ई जाइगारा गामारो कोइ रावत बगाड़ उजाड़ करवा पावे नहीं, तथा लोगाने फांसणो पकड़ो नहीं। लखतां। माफक समस्त रावतां ने तथा बेटा पोता सुदी...सो श्रीठाकुरजी...माहे कसर पडसी नहीं। ए लख्या माहे कसर पाडेजीने श्रीद्वारकानाथजी पुगसी। ओ लख्यो मैं राजी बेने। लख दीधोने हवे सुरे रोपी। सो अठा पाछे लोपे जीने गंदेगाल है। आ वात श्रीरावतजी रा हुकम थी साहा डुंगरसी...चंद पोरवाल वंसारा रावतां के... श्रीजी री सेवा की धो। सो सारा रावत आसोटिआ। और सुरे रोपी कांकरोली श्रीद्वारकानाथजी रा मंदिर......संवत् १८६५ वरषे जेठ सुदी १४...वार"

---

* लल्लूभाई छगनलाल देसाई ने मूल घटना को श्री द्वा० प्रा० वार्ता पत्र १०८ में विट्ठलनाथजी के समय लिखी है, जो ठीक नहीं है।

इस समय मेवाड़ की हालत बहुत खराब हो रही थी । आस-पास के राजा और नवाब तथा सिन्धिया-होल्कर उसे लूट-खसोटकर अपनी २ आर्थिक शक्ति बढ़ाते चले जाते थे ।

अमीरखाँ का धावा—

इसी समय टोंक के नवाब अमीरखाँ ने भी मेवाड़ को लूटना चाहा । वि०सं० १८६६ (ई० स० १८०९) में वह बड़ी सेना लेकर उदयपुर आया, और धमकी दी कि या—तो ग्यारह लाख रुपया दो, नहीं तो मैं एकलिंगजी के मन्दिर को तोड़ दूँगा । उसे ये रुपये नहीं दिये जा सके, इसलिये महाराणा के कर्मचारियों के साथ उसने बहुत बुरा व्यवहार किया । उसने देवारी के रास्ते से और उसके दामाद जमशेदखाँ ने चीरवा के रास्ते से प्रवेश किया । थोड़ी देर तक लड़ाई हुई, जिसमें महाराणा को हारकर लौटना पड़ा । मेवाड़ से रुपये वसूल करने के लिये जमशेदखाँ को उदयपुर में छोड़-कर अमीरखाँ लौट गया * ।

इसी समय (सं० १८६७ के प्रारम्भ में) लौटती समय अमीरखाँ कांकरोली में आया और उसने यहाँ भी उपद्रव मचाने का विचार किया । 'छापरा भेरूँ'-नामक स्थान में उसने पड़ाव डालकर महाराजश्री से कहलाया कि—या तो कुछ दैवी चमत्कार दिखलाओ, अन्यथा मैं मन्दिर को लूटकर बरबाद कर दूँगा ।

इसके पहिले (सं० १८५८ में) हुलकर के धावा और लूट के कारण मन्दिर की ऐसी स्थिति नहीं रही थी कि—सम्पत्ति देकर अमीरखाँ का समाधान किया जा सकता । विशाल बर्बर सेना के सामने लड़ने की सामर्थ्य भी कहाँ थी ? और महाराणा भीमसिंहजी की स्थिति भी ऐसी न थी, जो कुछ सहायता प्राप्त होती । इन सब कारणों से विवश होकर महाराजश्री को स्वयं अपने स्थान की रक्षा की चिन्ता करनी पड़ी । उन्होंने बड़े कौशल से अपने मन्दिर और कांकरोली की रक्षा की ।

प्रस्तुत प्रसंग में इस प्रकार प्रसिद्ध है—

अमीरखाँ की बात स्वीकार कर महाराजश्री ने उसे दैवी चमत्कार दिखलाने का वादा किया और दूसरे दिन प्रातः मन्दिर के गोवर्द्धन-चौक में आने का समाचार कहला भेजा । इस दिन महाराजश्री तो नित्य नियमानुसार द्वारकाधीश की सेवा करने गये और अपने पुत्र श्रीगिरिधरजी को कह दिया कि-वे नवाब के आने पर उसक यथेष्ट समाधान कर दें ।

* उदय० रा० इ० पत्र ६६६ ।

निश्चित दिन सबेरे नवाब अपने कुछ साथियों के साथ मन्दिर के चौक में आया। उसका आना सुनकर श्रीगिरिधरजी मुख्य दरवाज़े के सम्मुख 'कानतिवारी' नामक स्थान में जा बैठे। जैसा कहलाया गया था, नवाब अदब के साथ चौक की सीढ़ियों से चढ़कर मन्दिर में ऊपर जाने लगा। उसने जैसे ही अपनी दृष्टि ऊपर की ओर की, कानतिवारी में उसे श्रीगिरिधरजी ने श्रीद्वारकाधीश के स्वरूप के दर्शन कराये। अतिशय सुन्दर और तेजोमय स्वरूप के दर्शन कर नवाब चकित हो गया। वह जैसे ही आगे सीढ़ियों पर चढ़ने लगा, सहसा असह्य ज्योति की चका-चौंध से उसकी आँखों में अन्धकार-सा छा गया, और वह आगे कुछ न देख सका। नवाब ने अब अधिक परीक्षा करने का विचार छोड़ दिया। वह ईश्वर की अलौकिक शक्ति पर विश्वास कर वहीं बैठ गया, और सीढ़ियों पर प्रणाम कर महाराज-श्री से क्षमा-याचना करता हुआ अपने डेरे पर चला गया।

इस दृश्य के अलौकिक प्रभाव से प्रभावित होकर उसने कांकरोली गाम और मन्दिर को कुछ भी नुक़सान नहीं पहुँचाया। इसके साथ ही उसने भविष्य में मुसलमानों के द्वारा किसी प्रकार की आपत्ति न आवे, एतदर्थ फ़ारसी में लिखा हुआ अपनी मुहर का फ़रमान और हिंदी में लिखवाकर एक शिलालेख सं० १८६७ वैशाख शु० ४ के दिन महाराजश्री को भेंट किया * और वह अपना मुक़ाम उठाकर गन्तव्य स्थान को चला गया।

अमीरख़ाँ का फ़रमान इस प्रकार है—

(यह मुहर फ़ारसी लिपि में है)

१२१६
मुहम्मद अमीरख़ाँ
बहादुर नवाब
अमीरुद्दौला

* प्रस्तुत विषय का एक शिलालेख भी कांकरोली के प्रवेश-द्वार के दक्षिण-भाग में लगा हुआ है, जिसमें बीच की इबारत तो वही है, परंतु ऊपर-नीचे यह लेख विशेष है।

श्रीद्वारिकानाथजी
सूकर की आकृति है

× × × × ×

संमत १८६७ बर्षे। मारफत मुनसी दातारामजी की तथा जमायत मानसिंहजी की।

"सुरहपत्र भेंट कीनो श्रीद्वारकानाथजी महाराज के दरबार में सीरकार श्रीनवाब आमीरुद्दौला महमद आमीरखाँजी बहादुर की सीरकार सों आगे श्रीजीदुवार की सेवा सीरकार तरफ़ परमपरा सों चली आई है सो हमेसा नवाब के बनस में सेवा-टहल करत रहै। नवाबस्याही में जो होय हींदु व मुसलमान श्रीजी के दरसन को आवे आदब मरजाद राखे। जो कोई श्रीजी की सेवा सूँ विमुख होय ताकों सुरै गऊ व खुदा व कुरान की आन है। मी० वैसा० सु० ४ समत १८६७"।

(इसमें परम्परा से सेवा चले आने का तात्पर्य संभवतः उस जागीर से है, जो सं० १८४५ में सवाई महाराजा प्रतापसिंहजी ने टोंक के ज़िले में भेंट की थी, क्योंकि बाद में यह इलाक़ा जयपुर के द्वारा अमीरख़ाँ को दिया गया था।)

होल्कर का शिलालेख

अमीरख़ां के जाने के बाद ही सं० १८६७, वैशाख मास में कांकरोली में जसवन्तराव होल्कर भी आया, और उसने भी अमीरख़ाँ की देखादेखी अथवा अपने मन से ही कांकरोली के ठिकाने में किसी प्रकार का उपद्रव न हो, एतदर्थ मन्दिर के लिये एक शिलालेख लगवा दिया—

श्रीरामजी
सुरैपत्र पटे कीनो सुब सुथान
कांकरोली के मुकाम श्रीठाकुर
जी श्रीदुवारकानाथजी के।

सरकार श्रीमहाराजाधिराज सुबेदारजी श्रीजसवन्तराव होलकर आलीजा बहादुर के श्रीठाकुरजी की सेवा परम्परा सूँ इस सरकार के तरफ़ करनी चली आवे है वसी

चैत्र कृष्ण १ को (होली के दूसरे दिन) प्रतिवर्ष कांकरोली में मन्दिर से इसी के स्मारक-स्वरूप बादशाह की सवारी निकाली जाती है। इसमें पहिले वह चौक की सीढ़ियों पर उपस्थित होकर श्रीठाकुरजी को प्रणाम करता है, और अपनी डाढ़ी से एक-दो सीढ़ियाँ साफ़ करता है।

यद्यपि यह एक प्रकार से फाल्गुन का खेल माना जाता है, फिर भी इसमें यही ऐतिह्य तत्त्व सन्निहित माना जा सकता है। और संभव है, उसी समय से इसका चलन हुआ हो। साम्प्रदायिक अन्य किसी मन्दिर में इस प्रकार का रिवाज देखने में नहीं आता, इससे भी उक्त वृत्त की बहुत कुछ पुष्टि होती है।

प्रमाण सरकार होलकर के...........जो इस सरकार के वंश मे होवेगा सो टहल-सेवा मे हाजिर रहेगे, मरजाद कायदा राख टेहेल करेगे, जो होलकर साही मे से हिन्दू तथा मुसलमान श्रीठाकुरजी के दरसन को आवे सो सुरेपत्र देख सेवा मे हाजिर रहै। कदाचित मुसलमान सेव कदी कदी करै उसकूँ सुवर गाय वा श्री सूरज की आन है। मिती वैशाख सुदी ७ सं० १८६७'' * ।

इसके देखने से विदित होता है कि इस समय हुलकर की वह खूँखार वृत्ति नहीं रह गई थी, जो आज से ७-८ वर्ष पूर्व थी, और जिसके वशवर्ती होकर उसने कांकरोली से चालीस हजार रुपया वसूल किया था। इस शिलालेख में लिखा हुआ है कि—हमारी सरकार के वंश में जो कोई भी विद्यमान हो, इस मन्दिर की टहल-सेवा करता रहे और इसे किसी प्रकार की क्षति न पहुँचावे।

श्रीनाथजी को घसियार से पधराना

सं० १८६७ श्रावण बदी ५ के दिन मेवाड़ की करुण घटना की मुख्य पात्री कृष्णाकुमारी के जीवन के समाप्त होते ही जोधपुर-जयपुर के महाराजा और नवाब अमीरखाँ के उपद्रव, मार-काट आदि भी एक प्रकार से शान्त हो गई थी। इधर अंग्रेजों के साथ मेवाड़ के सहयोग की बातचीत ने एवं उनके आस-पास के फैले हुए प्रभाव ने भी उस अन्धाधुन्धी को समाप्त करने में सहयोग दिया था। इस कारण नाथद्वारा के लिये अब किसी भय की आशङ्का नहीं रह गई थी। फिर भी वहाँ के तिलकायित गिरिधारीजी महाराज के नित्यलीला-प्रविष्ट हो जाने से इस समय उस घर में उनकी पत्नी और बाल-तिलकायित दामोदरजी उपनाम दाऊजी महाराज ही अवशिष्ट रह गये थे। इस समय उनकी वय १३ वर्ष की थी। ऐसी अवस्था में श्रीनाथजी को घसियार-नामक दुर्गम स्थान से वापिस नाथद्वारा पधरा लाने का कठिन काम कोई समर्थ व्यक्ति ही कर सकता था। उस समय कांकरोली के महाराजश्री ही ऐसे व्यक्ति थे, जो इस काम को उठा सकते थे। अन्य दूसरे गोस्वामि-बालकों की सामर्थ्य नहीं थी कि—वे अशान्तिमय देश के वातावरण से अपने-अपने घरों की रक्षा भी करते और सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण इस कार्य को पूरा करते।

ऐसा भी प्रसिद्ध है कि—व्रजभूषणजी महाराज को श्रीनाथजी ने स्वप्न में इस प्रकार की प्रेरणा की कि सिंहाड (नाथद्वारा) मुझे वापिस आना है।

* यह शिलालेख प्रधान दरवाज़े के वाम बग़ल में गड़ा हुआ है।

इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर महाराजश्री ने महाराणा भीमसिंहजी से उदयपुर जाकर प्रस्तुत विषय में बातचीत की और उनके द्वारा उचित प्रबन्ध हो जाने पर वे घसियार गये। वहाँ दाऊजी महाराज की माता ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया। इस महत् कार्य का सारा खर्च महाराज व्रजभूषणजी ने अपने जिम्मे लिया और माजी महाराज ने श्रीनाथजी की मुख्य सेवा का भार उनको प्रदान किया।

महाराणा के द्वारा रक्षा का इन्तिजाम हो जाने पर महाराजश्री ने सं० १८६७ फाल्गुन बदी ७ के दिन श्रीनाथजी को बड़े ठाट-बाट के साथ घसियार से नाथद्वारा में लाकर विराजमान किया और पाटोत्सव कर उनकी पुनः यथावस्थित सेवा-प्रणाली प्रचलित की।

श्रीनाथजी के पुनः नाथद्वारा में आ विराजने के कारण वैष्णव-समुदाय का बड़ा उपकार हुआ। समुचित साधन एवं पूर्ण सुरक्षा का प्रबन्ध न होने से जो दर्शनार्थी-समुदाय श्रीनाथजी के दर्शनार्थ घसियार-जैसे दुर्गम स्थल में नहीं जा सकता था, पुनः नाथद्वारा आने-जाने लगा, जिससे वह स्थल फिर आबाद हो गया, जो आगे न जाने कब होता ? श्रीनाथजी को नाथद्वारा में पधराकर श्रीव्रजभूषणजी महाराज ने कई महीनों तक पूर्ण अधिकार से वहाँ का शासन-प्रबन्ध और सेवा की *।

---

* द्वा० प्रा० वार्ता (लल्लूभाई) पत्र ११७ में लिखा हुआ है कि—इस कार्य में श्रीव्रजभूषणजी के ७ लाख रुपया खर्च हुए, जिसमें से ४ लाख तो आ गये बाक़ी ३ लाख अब तक बाक़ी हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा भी सुनने में आया है कि—श्रीव्रजभूषणजी महाराज ने श्रीनाथजी को कुछ दिनों कांकरोली में विराजने की प्रार्थना की, जिस पर श्रीनाथजी ने प्रतिवर्ष विजयादशमी के दिन भावना-स्वरूप से आना स्वीकार कर लिया। अब भी प्रतिवर्ष विजयादशमी के दिन कांकरोली में श्रीनाथजी भावना-रूप से पधारते हैं। यहाँ श्रीनाथजी की की वेणु अब भी विराजमान है।

यह भी प्रख्यात है कि—श्रीनाथजी की सेवा हो जाने पर "तालामंगल" (ताले बंद) हो जाने पर चाबियाँ (झूमकाजी) नाथद्वारा से कांकरोली लाई जाती थीं, और प्रतिदिन प्रातःकाल पुनः महाराजश्री की आज्ञा लेकर नाथद्वारा ले जाकर सेवा का काम चालू होता था। महाराजश्री कभी नाथद्वारा में श्रीनाथजी की और कभी कांकरोली में रहकर श्रीद्वारकाधीश की सेवा किया करते थे।

संभवतः इसी कारण नाथद्वारावाले दाऊजी महाराज से इनका वैमनस्य हो गया था, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

जैसा प्रथम कहा जा चुका है, इस समय मेवाड़ में होल्कर तथा सिन्धिया का दौरदौरा और ज़ोरज़ुल्म चालू था। कभी कोई एक और कभी दोनो अथवा कभी उनके मुसाहिब यहाँ आकर लूट-मार करते और प्रजा को तंग कर रुपया वसूल करते थे। इस बार-बार की विपत्ति को सहते-सहते मेवाड़ की प्रजा जिस प्रकार दुर्दशाग्रस्त हो गई थी और उसकी इन ६० सालों में जो दयनीय दशा हो गई थी, वैसी मुग़ल-साम्राज्य के ४५० वर्षों के आक्रमण से भी नहीं हुई थी।

इसका प्रत्यक्ष और परोक्ष फल कांकरोली को भी भोगना पड़ता था। मेरवाड़ और मारवाड़ से मार्ग होने के कारण होनेवाले हमलों और सेनाओं के पड़ावों से कांकरोली के ठिकाने को बहुत नुक़सान उठाना पड़ता था। अराजकता के समय कौन किसकी पूछता, और कौन किसकी रक्षा करता था? उस समय अपने पैरों पर खड़े होकर अपने आप अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। यदि इस समय तात्कालिक सूझ और साम-दाम से काम न लिया जाता, तो नाश तो अवश्यम्भावी ही था। इन सब बातों से महाराज व्रजभूषणजी की सावधानता और व्यवहार चातुर्य का पता चलता है।

सिन्धिया से पत्र व्यवहार

ऊपर कहे जा चुके प्रसङ्गों से अमीरख़ाँ और होल्कर की ओर से तो महाराजश्री को एक प्रकार से निर्भयता हो गई थी, पर अभी सिन्धिया की ओर से होनेवाले उपद्रवों और लूट-मार की आशङ्का उनको बनी हुई थी। सिन्धिया की फ़ौज और उनके सहयोगी गायकवाड़ कानूजीराव के पड़ाव पड़ते रहने के कारण कांकरोली को समय-समय पर भारी हानि उठानी पड़ती थी, और उजाड़-बिगाड़ होते रहने से जनता तंग आ जाती थी। इस झंझट को मिटाने के लिये महाराजश्री ने दौलतराव सिन्धिया से परिचय बढ़ाया और उसको पत्र * लिखकर इसका उचित प्रबन्ध कराया। सं० १८६१ की रोकड़ वही से पता चलता है कि—

---

* श्रीद्वारकेशो जयति
श्रीद्वारकानाथचरणशरणव्रजभूषणस्य
मुद्रिका

स्वस्ति श्रीव्रजभूषणजीगोस्वामिनां श्रीमन्नन्दनन्दनचरणनलिनानुरागरञ्जितान्तःकरणेषु शौर्यौदार्य-वीर्याद्यखिलगुणमंडितेषु श्रीमन्महाराजाधिराज आलीजाह सूबेदारजी श्री श्री श्री दौलतरावजीसिन्धेषु सपरिवारेषु शुभाशिषां राजयो राजन्तां शमिह श्रीमतां तदनुदिनमेधमानमाशास्महे। अपरंच हमारे यहाँ गायकवाड श्रीकानूजी राव को मुकाम आसोटियाके नाले के ऊपर पडे है सो ऊजाड-बिगाड बहुत होय है और भय हू बहुत बतावे है तासूँ आप याको पको बन्दोवस्त कर पको हजूरात भलो मनुष्य त०

सिन्धिया और उनके घर तथा परिवार के लोग यहाँ माघ शु० ३ के दिन आये थे, और उन्होंने श्रीप्रभु के दर्शन कर ४१११।।)।। भेंट के जमा किये थे *।

महाराणा द्वारा सुरक्षा का प्रबंध

इन पिछले वर्षों में मेवाड़ की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई थी, जिसके साथ कांकरोली भी सम्मिलित थी। महाराणा जहाँ मेवाड़ की दशा सुधारने की चेष्टा कर रहे थे, वहाँ ठिकाने के प्रति भी उनकी उपेक्षा-दृष्टि नहीं थी। पूर्व-प्रकाशित ताम्रपत्रों से इसकी पुष्टि होती है कि—

हलकारो पटाय के कुंच कराय दिवावेगे। या आपकी बड़ी सेवा है। हम यहाँ सेवा करिके प्रतिक्षण शुभोदय वांछत है। आपकों सिरे राज्य होहू। आपकी सदैव फतेह होहू यही निरन्तर आशीर्वाद देत है। और विशेष समाचार देवकृष्ण कहे तासूँ जानेगे। हमारे आप उपरान्त और कछू है नहीं आप सर्व खे आप ही है। आपकी सेवा को कहा कहनो। कोटि वर्ष चिरंजीवि रहो। अखंडित प्रताप होहू सकल मनोरथ सिद्ध होहू। यह तो आपको घर है या घर विषे जैसो स्नेह चित्त भक्ति श्रद्धा राखत हो तैसो ही राखोगे। कुशल पत्र पठवत रहैगे। मिती माघ सुदि ८।

चि० लालजी गिरिधरलालजी के आशीर्वाद।

संभवतः यह पत्र सं० १८६६ माघ शु० ५ के पूर्व का है; क्योंकि इस दिन जिन सरदारों को पत्र और प्रसाद भेजा गया है, उनमें गायकवाड़ कानूजी का भी नाम है। यह पत्र और प्रसाद प्रतिवर्ष जिन-जिन सरदारों को भेजा जाता था, उनके नाम इस प्रकार थे। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय कौन-कौन व्यक्ति किस-किस अधिकार पर थे :—

१ हुलकर श्रीजसवन्तरावजी
२ सेव बालारामजी
३ धरमानी कुँवरजी
४ दीवान गणपतरावजी
५ बाई तुलसाबाई हुलकर की बहू
६ शास्त्री अम्बारामजी
७ बाबा सखारामजी
८ फरनिवेश राजेश्री बालुरावजी
९ फरनिवेश राजेश्री वामनरावजी
१० पण्डित बापूजी
११ तात्या माधोरावजी
१२ सूबेदार भाउजी
१३ सूबेदार तालाजी खांडेराव, माधोकुँवरजी मुकाम अजमेर
१४ रावत श्रीलाखाजी मेर
१५ श्रीमन्त गायकवाड कानूजी
१६ दौलतराव सिन्धिया
१७ बापू सिरजीत रावजी
१८ करनल हीरासिंहजी
१९ कृष्णाजी भाउ
२० एगले श्रीमन्त अम्बाजी
२१ एगले श्रीमन्त बालेरावजी

मेवाड़ के सरदारों से तो महाराजश्री का पत्र-व्यवहार था ही, जिसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं है। नवाब अमीरख़ाँ के पत्र की लेखन-पद्धति इस प्रकार थी—

"स्वस्ति श्रीव्रजभूषणजी गोस्वामि के सबशुभोपमायोग्य नवाब साहिब श्री श्रीअमीरखाजी को आशिषः। इहाँ कुशल है, आपके कुशल चाहत है। अपरंच......

* एक प्राचीन नोटबुक से।

महाराणा ने इस बीच में कांकरोली की आर्थिक स्थिति के सुधारने में क्रियात्मक भाग लिया था।

सं० १८७१ (श्रावणादि ७०) चैत्र मास में महाराणाजी भीमसिंहजी ने कांकरोली आकर श्रीद्वारकाधीश के दर्शन किये। परम्परागत गुरुभक्ति का परिचय देते हुए उन्होंने कई गामों की उठंत्री उठा दी और ठिकाने को सुरक्षित रखने के लिये वैशाख शु० ३ शनि के दिन एक शिलालेख (सुरे) लगवा दिया। रोकड़ बही (पाना २४७) देखने से पता चलता है कि—महाराणा ने सूरत के विषय में एक पत्र लिख दिया था। ऐसा अनुमान होता है कि इसी पत्र से महाराणा ने सूरतवाले गोस्वामियों का मेवाड़ में आना रोका था, क्योंकि इसी वर्ष सूरत की अदालत से महाराजश्री का दावा खारिज कर दिया गया था, जिसका वर्णन किया जा चुका है। इसी दर्शन के सिलसिले में महाराणा ने भाटोली-नामक गाम भी भेंट किया, जिसका उल्लेख हो चुका है। इस समय महाराणा ने सभी प्रकार के मनुष्यों के उपद्रव को रोकने के लिये राजाज्ञा-स्वरूप एक शिलालेख (सुरे) चांदपोल दरवाज़े पर लगवाया, जो अपना विशेष महत्त्व रखता है। वह इस प्रकार है—

श्रीद्वारकेशो जयति

श्रीएकलिंगप्रसादात् श्रीगणेशप्रसादात्

सूर्य गाय बछड़ा की आकृति चन्द्र

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् प्रत दुवे सा सती-दास भट्ट अमरेश्वर, अपरंच श्रीठाकुरजी श्रीद्वारकानाथजी गुसाईंजी महाराज श्रीव्रजभूषणजी राजथान कांकरोली बैठक रायसमुद्र की पाल, सो दिवाणजी चैत्र बदी ११ अग्यारस गुरे संवत् १८७० रा वर्ष फौजबंदी करै दिवाणजी कांकरोली पधारया, चैत्र बदी १२ शुक्रे डेरो कीदो ने चैत्र सुदी १३ शनिवार के दिन श्रीदिवाण श्रीठाकुरजी रा दरसण करवा पधारा सो श्रीदिवाण श्रीठाकुरजी रे राजनगर किलादार तथा थाणेदार तथा कानूगा चौदरी तथा रजपूत सिपाई पठाण रंगडो तथा गिरि गुसाईं राजनगर माहे रहेगा, सो श्रीठाकुरजी थी तथा श्रीठाकुरजी री रेत तथा श्रीठाकुरजी रे शरणे आवे जणी थी चोलण करेगा जणीने श्रीजी पुगेगा। और मारा

वंसरो तथा जाला चौहाण चुण्डावत सकतावत राठोड तथा देसी परदेसी फौज आपणी तथा पराई सो श्रीठाकुरजी री पूरी मरजादा श्रीदिवाण अठे पधार्या जणी दिन सूं मरजाद बंधी जणी माफक पाल्या जाएगा। श्रीठाकुरजी तथा श्रीठाकुरजी री रेत री मरजादा सरणो तोडेगा जणी हे श्रीजी पूगेगा। हिन्दु मुसलमान ने, हिन्दु ने गौ मुसलमान ने सुअर राजनगर किला म्हे रहेने श्रीठाकुरजी री मेड मरजादा तोडेगा जणीने श्रीचितौड मार्यारो पाप गधेपत गाल अगवाणी श्रीहुजूर रे दुवा थी। लिख्यो संवत् १८७० वैशाख सुदी ३ शनीवार मुखिया जगन्नाथजी। श्लोक—स्वदत्तं परदत्तं वा विप्रदत्तं हरेत्तु यः, षष्टि वर्ष सहस्राणि विष्टायां जायते क्रमिः। १। श्रीः"।

(इसमें चैत्रादि संवत् १८७१ होता है।)

व्रजभूषणजी महाराज को प्रदेश-भ्रमण और वैष्णव-सृष्टि में धर्म-प्रचार करने का

प्रदेश-यात्रा

अवसर अधिक नहीं मिला, क्योंकि उनके अधिकांश समय में मेवाड़ की स्थिति बहुत कुछ डवाँडोल थी। ऐसे समय घर छोड़कर जाना खतरे से खाली नहीं था, फिर भी आवश्यकतानुसार इन्होंने दो-तीन बार गुजरात आदि की यात्रा की और वैष्णव-धर्म का प्रचार कर अपनी वैष्णव-सृष्टि को सँभाला।

सं० १८५५ में भाद्र कृ० ६ के दिन प्रदेश कर वापिस कांकरोली आए। इसी वर्ष कार्तिक कृ० ६ भौमवार को महाराजश्री की दादीजी (विट्ठलनाथजी की माता और व्रजनाथजी की पत्नी) का गोलोकवास हो जाने पर महाराजश्री ने उत्तर-क्रिया की थी।

सं० १८५६ आषाढ़ शु० ६ के दिन महाराणा के आह्वान पर उदयपुर गए। जहाँ यथोचित स्वागत-सत्कार कर महाराणा तथा उनके परिवार ने सम्मान-पूर्वक भेंट चढ़ाई।

सं० १८६२ आश्विन शु० १० को महाराजश्री उत्तर-भारत में व्रज-यात्रा करने गए और मार्ग में, पुष्कर में ठहरकर सविध तीर्थ-स्नानादि किया। कार्त्तिक कृ० ४ शनिवार को वहाँ के पुरोहित को वृत्तिपत्र लिखकर प्रदान किया। इस यात्रा में खड्गसेन सवाई-नामक कोई व्यक्ति इनके साथ था। महाराजश्री यहाँ से मथुरा गए और वहाँ के समस्त स्थलों की यात्रा कर गिरिराज में विविध मनोरथोत्सव किए।

सं० १८७०-७१ में महाराजश्री पुनः गुजरात गए, और वहाँ इन्होंने कुछ समय निवास कर आनन्द और बड़ौदा में दो मन्दिरों की स्थापना की। यह दोनों 'बैठक' इस नाम से प्रसिद्ध हैं। आनन्द में 'श्रीदयालुमदन-मोहनजी'-नामक ठाकुरजी पधराए, और बड़ौदा में टाँकाकुई-नामक स्थान में श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर सेवा-प्रणाली प्रचलित की। इसके पहिले यहाँ इस घर के वैष्णवों के लिये कोई मन्दिर नहीं था, पर मन्दिर के स्थापित हो जाने से उनको बड़ा मनस्तोष हुआ।

इस यात्रा से लौटते समय महाराजश्री के साथ रास्ता में एक घटना घट गई, जो आज तक इस घर के तिलकायितों के साथ कभी नहीं हुई थी। इसके पूर्व प्रायः सभी महाराजश्री यात्रा करने जाते थे और सकुशल लौटते तथा भेंट का द्रव्य भी साथ लाते थे। अस्तु।

इस वर्ष कार्त्तिक के पूर्व महाराजश्री प्रदेश-भ्रमण कर कांकरोली लौट रहे थे, 'सागवाडी'-नामक स्थान में उनका मुक़ाम हुआ। यहाँ से मुक़ाम उठने पर 'उनरी'-नामक गाँव में पहुँचे, जहाँ उस समय होल्कर की फ़ौज का पड़ाव था। इन सबके सरदार रामदीन पुरबिया, चिमनाजी भाऊ, बक्सी बलंदखाँ, मलारखाँ और भवानीसिंह आदि ने जब भेंट का बहुत-सा द्रव्य, सेवा के लिये वैष्णवों द्वारा दिया हुआ उत्तम क़ीमती सामान महाराजश्री को साथ लाते देखा, तो लूटने का हुक्म दे दिया। सिपाहियों ने सारा साज-सामान लूटकर सपरिवार महाराजश्री को भी घेर लिया। कुछ समय बाद उन लोगों ने उनसे पौने चार लाख रुपये के तीन रुक़्के लिखवाकर जाने की इजाज़त दी।

इधर महाराजश्री के लुटने का समाचार जब आठ-दस दिन में कांकरोली पहुँचा, तो लोगों को बड़ा सङ्कट सामने दिखाई दिया। महाराजश्री की माता ने महाराणा को एक पत्र लिखकर सूचना भेजी कि 'जब तक होल्कर (जसवन्तराव), मल्हारराव और अहल्याबाई को सूचना भेजकर मेरे पुत्र को छुड़वाया न जायगा, मैं अन्न-जल ग्रहण न करूँगी *।'

माजी महाराज के पत्र द्वारा महाराजश्री के लुट जाने का समाचार पाकर

* सं० १८७१ मार्गशीर्ष बदी (अमान्त) ७ सोमवार की रोकड़बही, नोंधपाना १५७, तथा माजी महाराज के पत्र से।

महाराणा ने बड़ी सतर्कता दिखलाई और शीघ्र ही होल्कर आदि को पत्र लिखकर तथा मनुष्य भिजवाकर उनके छुड़वाने का प्रबन्ध किया।

पत्रादि लिखकर महाराणा के व्यवस्था करने के पूर्व ही महाराजश्री से पौने चार लाख के रुक्के लिखाकर उपद्रवियों ने उन्हें छोड़ दिया था। फिर भी महाराणा के पत्र का प्रभाव पड़ा और होल्कर आदि ने अपने सरदारों को कड़ी चेतावनी दी और लूट का सब धन वापिस करने का हुक्म भेजा।

यह पहिले लिखा जा चुका है कि—सिन्धिया, होल्कर आदि महाराजश्री के व्यवहार से सन्तुष्ट थे, और धर्म-स्थान के प्रति ज़ोर-ज़ुल्म न करने का उन्होंने आदेश शिलालेख द्वारा जारी कर दिया था। फिर भी अपनी फ़ौज के द्वारा जान या अनजान में इस लूट से उन्हें पश्चात्ताप हुआ। अस्तु, उन्होंने इसका उचित प्रबन्ध करा दिया।

सं० १८७२ वैशाख शु० १० के दिन होल्कर की फ़ौज के रामदीन राजाबहादुर ने लिखिया सदाराम और दोला ब्राह्मण के द्वारा साज-बाज, घोड़ा, गहना, वस्त्र, पौने चार लाख रु० के ३ रुक्के और द्रव्य आदि जो कुछ भी सामान लूटा था, 'राईरत्ती' भिजवा दिया *, और साथ में इसके लिये क्षमा-याचना की। इस प्रकार महाराजश्री ने वैष्णवों का वह समस्त दैवी द्रव्य लूट से पुनः प्राप्त किया, जो श्रीद्वारकाधीश के लिये भेंट-रूप में प्रदेश में आया था।

सं० १८७१ में होल्कर की फ़ौज का एक सरदार सखाराम बापू मेवाड़ के गाँवों महाराणा का सौजन्य को लूटता हुआ कांकरोली-ठिकाने के 'एमड़ी' गाम में पहुँचा। यहाँ भी जनता को उसने लूटने का विचार किया, पर वहाँ लोगों के प्रार्थना करने पर दण्ड-रूप ३,१४९) रुपयों का रुक्का लिखवाकर वह आगे चला गया।

महाराणा को जब इसका समाचार मिला, तो उन्होंने गुरुघर के प्रति हुए इस आर्थिक नुक़सान को अपने ऊपर उठा लिया, और यह रक़म अपनी ओर से ठिकाने में जमा-करा दी†।

* सं० १८७२ (कार्त्तिकादि ७१) वैशाख शु० १० की रोकड़, नोंधपाना १५६, से।

† सं० १८७० (कार्त्तिकादि) के चैत्र बदी ६ (अमांत) रोकड़-पाना २४६, में इसका जमा-ख़र्च है।

सं० १८७४ में नवाब हिम्मतबहादुर, माधोकुँवरजी, तथा सुखराम बापू ने मेवाड़ में होकर गुज़रते समय ठिकाने के 'अमलोई' ग्राम में अपनी फ़ौज का पड़ाव डाला, और वहाँ के जमींदारों से ५०००) रुपया वसूल किया। महाराणा के द्वारा यह रक़म भी खालसा के गाम राजनगर के खाते लिखवा दी गई *।

इस प्रकार महाराणा ने जहाँ तक बन सका, ठिकाने को आर्थिक हानि नहीं उठाने दी और समय-समय होनेवाले उपद्रव, अशान्तियों को उन्होंने अपने उत्तरदायित्व में समझा, जिससे खराब स्थिति में भी कांकरोली पर विशेष बोझा नहीं पड़ा।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि—महाराजश्री ने श्रीनाथजी को घसियार-जैसे दुर्गम

व्रजभूषणपुरा का झगड़ा

स्थान से लाकर वापिस नाथद्वारा में विराजमान किया था, और इसी प्रसङ्ग में वहाँ का कुछ समय तक शासन भी। सम्भवतः इसी कारण को लेकर वहाँ के तिलकायित श्रीदामोदरजी (दाऊजी) महाराज से इनका मनोमालिन्य हो गया। इस कारण स्वत्व-सम्बन्धी किन्हीं छोटे-मोटे कारणों को लेकर झगड़े की नौबत आ गई, जिसमें वहाँ के कर्मचारियों ने आहुति का काम दिया।

व्रजभूषणजी महाराज (द्वि०) के समय उनके तथा उनके भाई गोपालजी महाराज के नाम से नाथद्वारा की सीमा में 'व्रजभूषणपुरा' और 'गोपालपुरा'-नामक दो मुहल्ला बसाये गये, जिनके लिये तत्कालीन तिलकायित श्रीगोविन्दरायजी महाराज ने भी प्रसन्नता से सहमति दी और साथ ही अपने नाम पर भी लालपुरा-नामक मुहल्ला बसाया था। व्रजभूषणजी (तृ०) के तिलकायित होने पर नाथद्वारा के तिलकायित गो० श्रीगिरिधरजी महाराज ने व्रजभूषणपुरा की नीति अपने पत्र द्वारा स्पष्ट कर दी †। उनके अनन्तर दाऊजी महाराज की अल्पावस्था के कारण नाथद्वारा का राज्य-कार्य भंडारी नारायणदास और सिंघवी शम्भूमल के हस्तगत था। वे अपने अधिकार-मद में आकर

* सं० १८७३ (कार्त्तिकादि) आषाढ़ शु० ६ की रोकड़, पाना ३२६ से।

† श्रीहरिः

श्रीप्रभून आगे सुधि करत है

उहाँ सुधि करोगे।

श्रीविट्ठलो जयति

स्वस्ति श्रीमत्सकलगुणगणालंकृतेषु सौजन्यसागरेषु चिरंजीविव्रजभूषणजीषु गोस्वामिगिरिधराणामाशिषः। शमिह तत्रास्तु अपरंच पुरा की दादाजी के आगे सूं मरियादा राखे है वाही प्रमाण रहेगी। विना समझी कोई खेचल करेगो सो ओलंबो पावेगो। मिती मार्गशीर्ष कृष्ण २ संवत् १८५०।

सभी ऊँच-नीच करने को तैयार थे, अतः उन्होंने महाराजश्री की देख-रेख से चिढ़कर उनके पुरा में ऊधम मचाना और वहाँ के रहनेवालों को तंग करना शुरू किया।

सं० १८७० से ७३ (अनुमान) के बीच में इस मनमुटाव ने उग्र रूप धारण किया और लालपुरा के सिपाहियों ने किसी छोटी-सी बात पर व्रजभूषणपुरा के एक तुलावट्या को पकड़कर क़ैद कर दिया। वहाँ से भी इसी प्रकार उत्तर दिया गया, फलतः तनातनी बढ़ गई और अढ़ाई सौ सिपाहियों ने व्रजभूषणपुरा को जा घेरा। इधर महाराजश्री ने भी मुखिया मलूकचन्द के साथ ५० बन्दूकें कांकरोली से भेजीं, जिन्होंने वहाँ पहुँचकर अपने पक्ष के आदमियों को छुड़ाया।

इसके परिणाम में कितनी खून-खराबी और हानि हुई, कुछ पता नहीं लगता है, पर इतना अनुमान होता है कि—महाराणा के बीचबचाव करने से यह झगड़ा जहाँ का तहाँ दब गया। सम्भवतः यह घटना भाद्रपद-आश्विन के बीच की है, क्योंकि जिस पत्र से इसका वृत्त मालूम हुआ है, उससे यह भी ज्ञात होता है कि—ऐसे झगड़े के समय महाराजश्री प्रतिवर्ष की भाँति अन्नकूट पर श्रीद्वारकाधीश को नाथद्वारा नहीं पधराना चाहते और कांकरोली में ही अन्नकूट का उत्सव करने का विचार कर रहे थे।

इस वर्ष द्वारकाधीश को महाराजश्री ने नाथद्वारा पधराया अथवा नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। पर इतना निर्विवाद है कि—यह झगड़ा उस समय से चलता ही रहा और भूतपूर्व महाराणाश्री फ़तेहसिंहजी ने अपने समय में इसे कांकरोली के पक्ष में तय किया, और इस स्थान पर कांकरोली का ही अधिकार मान लिया।

अपनी अन्तिम अवस्था में व्रजभूषणजी एक बार श्रीनाथजी की सेवा करने नाथद्वारा गए। श्रीनाथजी की सेवा करते समय बातचीत चलने पर दाऊजी महाराज ने उनसे हास्य करते हुए कहा कि—आपकी अपने भाई-बन्धुओं से भी नहीं पटती और हम लोगों से भी आपका वैमनस्य रहता है, पर अन्तिम समय हम लोग ही काम आवेंगे।

नित्यलीला-प्रवेश

इस बात को सुनकर महाराजश्री ने कहा कि—श्रीनाथजी हमारी लाज रक्खेंगे, आप लोगों की आवश्यकता न पड़ेगी। इस कथन को सुनकर श्रीदाऊजी महाराज चुप हो रहे। व्रजभूषणजी श्रीनाथजी की सेवा कर कुछ दिनों बाद वापिस कांकरोली आए।

अपना अन्तिम समय समीप आया जानकर उन्होंने मन्दिर के मुखियाजी से कहा

कि—मेरा अन्तिम समाचार नाथद्वारावालों के पास तब पहुँचाना, जब अग्नि-संस्कार हो जाय। यदि ऐसा न करोगे, तो तुम्हें प्रत्यवाय लगेगा।

कहते हैं, इस कथन के आठ दिन बाद महाराजश्री ने अपना इहलौकिक कर्तव्य समाप्त समझकर द्वारकाधीश का ध्यान करते हुए देह छोड़ दिया। आज्ञानुसार उनका अन्तिम संस्कार करने के पहिले चिता पर कर्मपात्र से जल सींचा गया। सहसा लोगों ने देखा कि—अग्नि प्रकट होकर चिता प्रज्वलित हो गई है। इस कृत्य के समाप्त हो जाने के बाद नाथद्वारा के सजातीय पुरुषों को सूचना भेजी गई। उन लोगों ने आकर समस्त वृत्तान्त सुनकर आश्चर्य प्रकट किया, और महाराजश्री की महानुभावता और वचन की दृढ़ता पर प्रसन्नता व्यक्त की।

सं० १८७६ (अनुमान) में महाराजश्री ने अपने इहजीवन का कृत्य समाप्त कर श्रीद्वारकाधीश के चरणारविन्द प्राप्त किए। इनके अनन्तर किसी औरस पुत्र के न होने से पुरुषोत्तमजी महाराज कांकरोली के तिलकायित हुए, जिसका उल्लेख अगले प्रकरण में किया जा रहा है।

महाराजश्री का व्यक्तित्व

महाराजश्री व्रजभूषणजी सम्प्रदाय के एक अच्छे विद्वान् थे और अपने जीवनकाल में इन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। पर इनके रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। इसका कारण उस समय की अशान्तिमय राजनैतिक परिस्थिति हो सकती है। यह कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता होने के साथ ही साथ कविता-प्रेमी और ग्रन्थ संग्रहकर्ता थे। सरस्वती-भंडार में इनके संगृहीत कई ग्रन्थ विद्यमान हैं, जिन पर इनके हस्ताक्षर हैं। इसी प्रकार इनके समय का विविध कवियों का स्फुट काव्य-संग्रह भी।

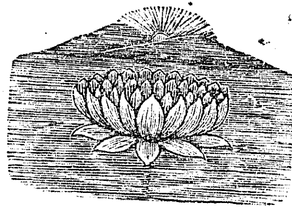
गोकुल से श्रीद्वारकाधीश के पधारने के समय से लेकर सं० १८७६ के भीतर एक सौ पचास वर्षों में 'श्रीव्रजभूषणजी' नाम के कांकरोली में तीन तिलकायित हुए। यह एक रहस्य-पूर्ण बात है कि—इन तीनों समान नामधारी महाराजाओं के समय ठिकाने को विलक्षण राजनैतिक उथल-पुथल का सामना करना पड़ा, और तीनों ने अपनी विलक्षण प्रतिभा, एवं नीतिज्ञता से संस्थान की रक्षा की और उसे सम्पन्न बनाया।

परिशिष्ट—१

महाराजश्री के समय आगत राजा, महाराजा और उमराव तथा भेंट

संवत्	मिती	नाम तथा स्थान
१८५५	आषाढ़ सुदी १	राजाजी ज़ालिमसिंहजी जोधपुरवाले विजयसिंहजी के पुत्र ने गाम काछवाला में देह छोड़ी, तब सिरपेच, हाथी, घोड़ा भेंट आया।
१८६३	माघ सुदी ३	दौलतरावजी सिन्धिया की फ़ौज और कबीला आया, तब भेंट की।
१८६७	भाद्र० सुदी ९	दीवानजी के कुवँरजी अमरसिंहजी।
१८७१	वैशाख वदी ११	महाराणा भीमसिंहजी, उदयपुर।
१८७२	रोकड़-पाना १३३	सवाई महासिंहजी बेगम।

(प्राचीन रोकड़ से)



चि० श्रीगिरिधरलालजी (तृ०)

(प्रा० सं० १८५४, नि० सं० १८७१-७३ अनुमान)

——:०:——

जन्म, शिक्षा और संस्कार

चि० श्रीगिरिधरलालजी (तृ०) का जन्म सं० १८५४ भाद्र० शु० ८ उपरान्त ९ मंगलवार के दिन हुआ था *। यह होनहार और महानुभाव बालक थे। सं० १८६१ आषाढ़ बदी १० सोमवार को इनका मुण्डन-संस्कार हुआ और सं० १८६३ ज्येष्ठ कृ० ५ के दिन कांकरोली में इनके पिता महाराजश्री व्रजभूषणजी (तृ०) ने इनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया। जनेऊ के इसी वर्ष माघ शु० ३ भौमवार को इनकी माता का देहान्त हो गया, जिससे इन्हें मातृ-वियोग का दुःख उठाना पड़ा।

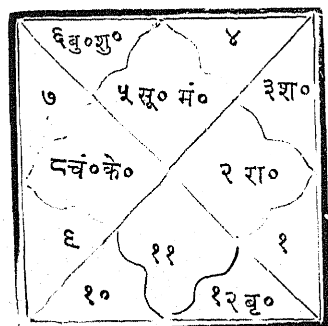
चमत्कार-दर्शन

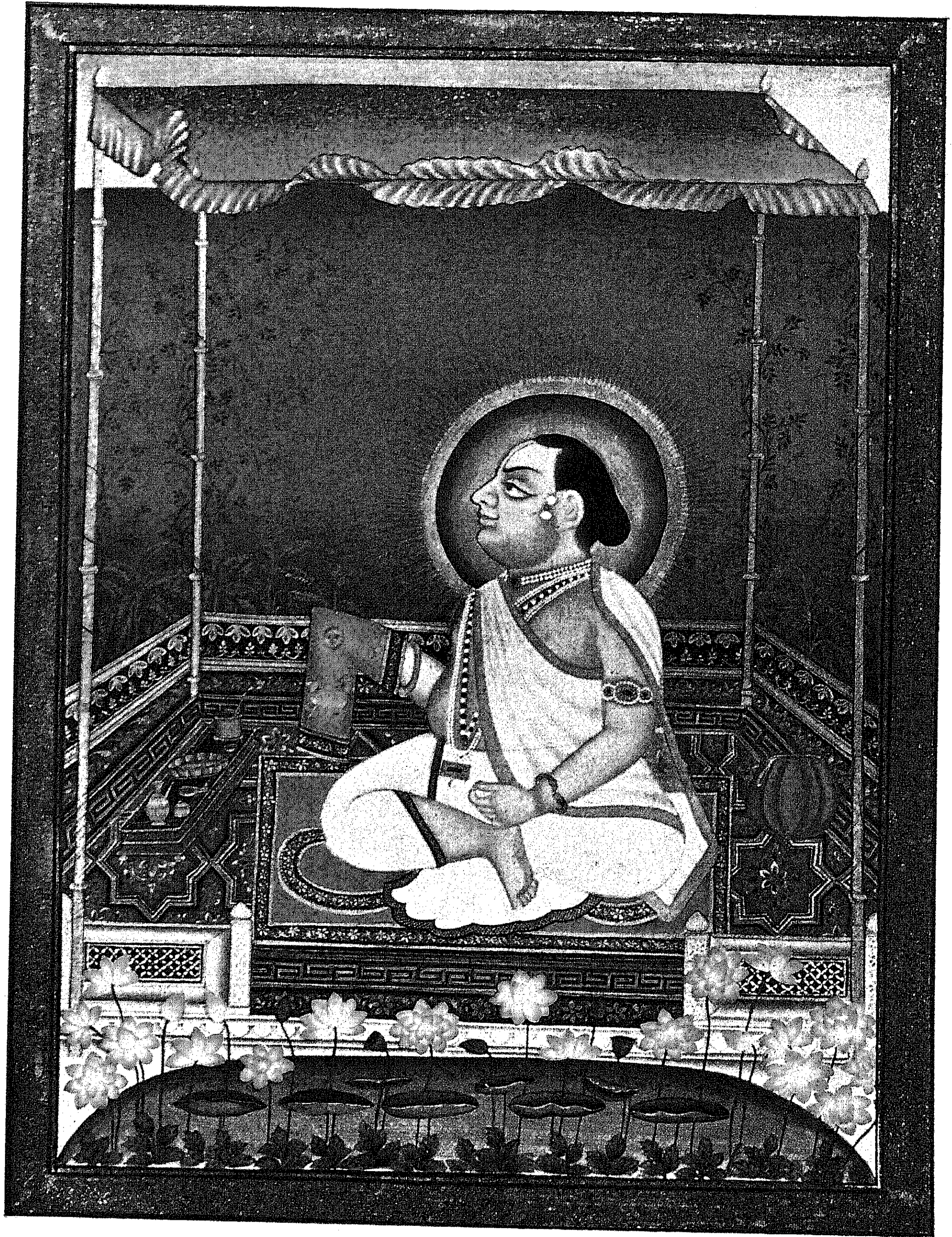
गिरिधरलालजी बाल्यावस्था से ही श्रीद्वारकाधीश की सेवा के रसिक थे। यह अपने पितृचरण की देख-रेख में अपने मार्ग के ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। जिस समय इनकी वय लगभग १३-१४ वर्ष की थी, कांकरोली में नवाब अमीरखाँ सं० १८६७ वैशाख शु० ४ के दिन आया, और उसने महाराजश्री से कुछ चमत्कार दिखाने अन्यथा मन्दिर लूट लेने की धमकी दी। जैसा कहा जा चुका है, महाराजश्री ने इन्हीं गिरिधरलालजी के द्वारा उसे श्रीद्वारकाधीश के स्वरूप के दर्शन कराए, जिससे उसने यहाँ उपद्रव करने का विचार छोड़ दिया। इस घटना से इनकी छोटी वय में ही महानुभावता का पता चलता है।

---

* जन्म-कुंडली—

सं० १८५४ शाके १७१९ प्रवर्तमाने वर्षे भाद्रपदमासे शुक्ल-पक्षे ८ तिथौ घटी ५०।२० भौमवासरे अनुराधानक्षत्रे घटी २९।२३ परं ज्येष्ठानक्षत्रे वैधृतियोगे घटी १७।१७ बालवकरणे सूर्योदयात् गत घटी ५६।१ समये सिंहलग्ने श्रीव्रजभूषणात्मज श्रीगिरिधरजी जन्म।





गो० श्रीगिरिधरलालजी महाराज
प्रा० सं० १८५४ भाद्र० कृ० ६

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

उक्त घटना के समय चमत्कार दिखलाने के अतिरिक्त इनका कोई अन्य प्रसंग नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि—यदि यह विद्यमान रहते तो एक आदर्श व्यक्ति होते। जहाँ तक ज्ञात होता है, इनका प्रारम्भिक साम्प्रदायिक और शास्त्रीय अध्ययन लगभग पूर्ण हो गया था।

सं० १८६८ वैशाख वदी १२ के दिन गिरिधरलालजी की सगाई के लिये गहना-कपड़ा भेजने का रोकड़ में उल्लेख मिलता है। अतः जाना जाता है कि—यह इस समय तक विद्यमान थे।

अपने पिता के पूर्व ही सं० १८७० से ७३ के भीतर इनका देहान्त हो गया*, जिससे उन्हें पुत्र-वियोग उठाना और अपने उत्तराधिकारी के लिये चिन्तित होना पड़ा। इनके गत हो जाने से इनके पिता के बाद पुरुषोत्तमजी महाराज तिलकायित हुए।

नित्यलीला-प्रवेश

---

* प्रस्तुत विषय में एक पत्र प्राप्त होता है—

श्रीहरिर्विजयते।

श्रीद्वारकाधीश चरणनलिन सन्निधौ कृपया सपरिवारः स्मर्तव्यः

स्वस्तिश्रीमन्नन्दराज कुमार चरण परिचरण प्रवर्तित स्वीयेषु परम पूज्यतमेषु श्री ६ गोस्वामि श्रीव्रजभूषणजी महाराज के माजी महाराज चरण सरोजेषु निदेशानुवर्ति सकुमार जालिमसिंह वर्मणो असंख्याता दंडवत्प्रणतयः। समुल्लसन्तु शाश्वतिक शुभं भवताम् भवतामनुकम्पयात्रापि भव्यं, अपरंच श्रीमहाराज ने कृपापत्र महाप्रसाद प्रसादी वस्त्र पठायो सो माथे चढाय लीनो। साम्प्रत असमंजस भयो सो बहुत ही मन मे खेद भयो परंतु शक्य नहीं, ईश्वर चरित्र दुर्विभाव्य है सो श्रीमहाराज बड़े है, ज्ञाता है आपके श्रीमस्तक पर बड़ी निधि विराजे है तासों चित को समाधान राखेगे। सेवक को आज्ञा लिखी सो सेवक कौन बात लायक है परन्तु आपने कृपा करिके कृपापत्र महाप्रसाद पठायो सो बडी कृपा भई। आज्ञा लिखी सेवा की सो आज्ञानुसार तत्पर है। जापता की बंदूक बीस जमादार १ पठाए है सो हाजर रहैगी। विशेष प्रार्थना मुखिया जैकृष्ण मालुम करेगो। आपकी कृपा क्षण भूलत नहीं। वर्द्धमान रखावेगे, महत्सु किमधिकम्। मिति वैशाख शुक्ल ८ सं० १८७३।

रेखांकित वाक्यों पर ध्यान देने से उक्त अनुमान होता है।

श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज (नवम ति०)

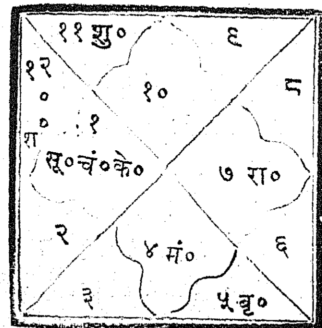
(प्रा० सं० १८४७, ति० सं० १८७६, नि० सं० १९०३)

——:०:——

जन्म, शिक्षा और संस्कार—श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज का जन्म सं० १८४७ वैशाख शु० प्रतिपदा बुधवार के दिन कांकरोली में हुआ था। इनके पिता का नाम गोकुलनाथजी महाराज था, जो श्रीविट्ठलनाथजी के लघु भ्राता और श्रीव्रजनाथजी के द्वि० पुत्र थे।

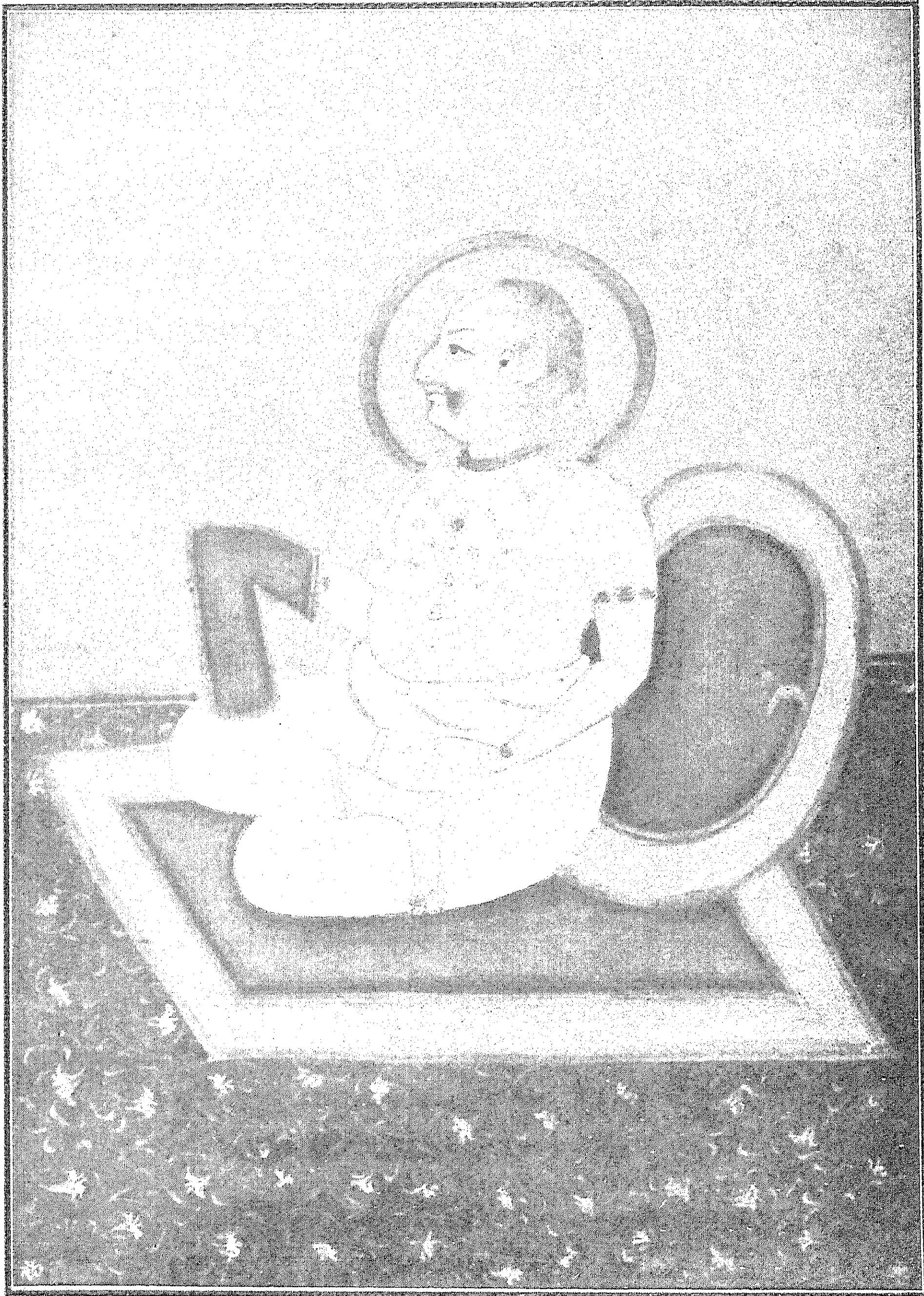
सं० १८५५ में इनका मुण्डन, कर्ण-वेध आदि संस्कार हो जाने पर चैत्र कृ० १२ के दिन यज्ञोपवीत-संस्कार तत्कालीन तिलकायित श्रीव्रजभूषणजी महाराज (तृ०) ने बड़े उत्साह से किया। जबकि यह ९ वर्ष के थे, सं० १८५६ चै० आमावास्या के दिन इनके पिता दिवंगत हो गये। ऐसी अवस्था में व्रजभूषणजी महाराज ने इनकी समुचित देख-रेख रक्खी और आवश्यक शास्त्रीय अध्ययन कराया।

पुरुषोत्तमजी ने किसके पास और कितना अध्ययन किया, इसका कुछ विशेष अनुसन्धान नहीं मिलता। फिर भी यह साम्प्रदायिक साधारण वैदुष्य से वञ्चित नहीं थे, यह कहा जा सकता है। तलस्पर्शी विद्वान् न होने पर भी यह काव्य-प्रेमी और स्वयं कवि थे। ग्रन्थ-संग्रह का इन्हें शौक था और कवियों का यह आदर किया करते थे। इनके रचित कुछ हिन्दी-पद्य, कीर्तन और गद्य-वार्ताएँ उपलब्ध होती हैं। सरस्वती-भंडार में इनके हस्ताक्षर से लिखित कई भाषा-कविता-ग्रन्थ विद्यमान हैं।



* जन्म-कुंडली—

संवत् १८४७ शाके १७१२ प्रवर्तमाने वर्षे वैशाखमासे कृष्णपक्षे अमायां तिथौ घटी २८। २० परं बुधवासरे रेवती नक्षत्रे घटी ७। २३ परं अश्विनी जन्मर्क्षे प्रतिपदि विष्कुंभयोगे घटी ५१। ५ किंस्तुघ्नकरणे मेषार्के गतांशाः ४।३२।५५ सूर्योदयात् गत घटी ४८।१६ समये मकरलग्ने श्रीगोकुलनाथात्मज पुरुषोत्तमजी जन्म।



गो० श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज
प्रा० सं० १८४७ वै० शु० १

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

पुरुषोत्तमजी महाराज को चित्रकला का खूब शौक था। इन्होंने चित्रों का अच्छा संग्रह किया था। यह चित्रकार द्वारा अपने चित्र भी तैयार कराया करते थे, जिनमें वह विभिन्न वेश-भूषा में सज्जित दृष्टिगोचर होते हैं।

इन्होंने अपने शिष्य अभयराम(अनुचरदास)-नामक व्यक्ति से हिन्दी-पद्यात्मक 'श्रीबालकृष्णजी का मूल-पुरुष'-नामक ग्रन्थ बनवाया, जो साधारणतया एक छोटा-सा ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

विवाह और सन्तति

पुरुषोत्तमजी महाराज का प्रथम विवाह सं० १८६९ ज्येष्ठ मास के लगलग गोविन्दकृष्ण महात्मा गोष्टीशाल दामोदर भट्टजी की पुत्री श्रीचारुमतीजी के साथ अहमदाबाद में हुआ, जिसके लिये यह वैशाख शु० ८ को कांकरोली से बरात लेकर रवाना हुए। सं० १८७४ वैशाख बदी ११ के दिन द्विरागमन कराकर महाराजश्री कांकरोली आये, और वैशाख शु० १ के दिन गृह-प्रवेश तथा सं० १८८० में आषाढ़ शु० १३ रविवार के दिन 'अष्टमासा' का प्रस्ताव हुआ, जिससे निम्न-लिखित कन्या सन्तति हुई—

१ जमना बेटीजी प्रा० सं० १८८०

२ व्रजकुँवरि बेटीजी प्रा० सं० १८९५ पौ० शु० ५

प्रथम पुत्री का विवाह सं० १८९६ मार्ग० कृ० १० को और द्वितीय का सं० १९०५ में हुआ*। द्वि० बेटीजी के पति का नाम पंचनदी विट्ठलनाथ भट्ट था, जो जयपुर-निवासी थे।

सं० १८९६ के श्रावण में महाराजश्री की प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया। सं० १८९७ के श्रावण में इनका वार्षिक श्राद्ध हो जाने पर महाराजश्री ने अपनी मौसी चन्द्रावली बहूजी (गोकुल) के आग्रह और उत्तराधिकारी पुत्र की प्राप्ति की इच्छा से सं० १८९८ आषाढ़ मास में दुबारा विवाह किया, जिसके लिये इन्हें चारों ओर कन्या के अन्वेषणार्थ पत्र-व्यवहार करना पड़ा। इसी वर्ष मार्ग० कृ० ५ के दिन द्वि० पत्नी श्रीपद्मावती बहूजी का गृह-प्रवेश हुआ†। इस समय महाराजश्री की वय ५१ और पत्नी की ६ वर्ष थी, जो सामाजिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित थी।

---

* प्राचीन रोकड़। सं० १८९६ भा० कृ० ४ का चन्द्रावली बहूजी का पत्र।

† सं० १८९८ वैशाख शु० ८ का महापात्र पद्माकर भट्ट का पत्र।

तिलकायित होना

व्रजभूषणजी महाराज (तृ०) के चरित्र में लिखा जा चुका है कि—उनके एक-मात्र पुत्र चि० गिरिधरजी का सं० १८७३ के पूर्व नित्यलीला-प्रवेश हो जाने से कोई उत्तराधिकारी पुत्र नहीं था। यद्यपि पुरुषोत्तमजी अधिकांश कांकरोली में ही रहे थे, पर वे इनके अवसान-समय यहाँ उपस्थित नहीं थे, और सम्भवतः सूरत के लल्लूजी महाराज के मन्दिर के अधिपति हो गए थे। व्रजभूषणजी के औरस पुत्र के अभाव में निकट होने से इनका ही स्वत्व पहुँचता था। अतः सं० १८७७ में महाराणा ने भले मनुष्य भेजकर, इन्हें सूरत से बुलाकर कांकरोली के तिलकायित-पद पर विराजमान किया, और राजकीय दस्तूर कर अपनी सद्भावना प्रकट की।

सूरत का लल्लूजी का मन्दिर

यह पहिले लिखा जा चुका है कि—पुरुषोत्तमजी के पिता गोकुलनाथजी महाराज महाराणी बहूजी के उत्तराधिकार के झगड़े के समय सं० १८५१ में अपना अधिकार स्थापित करने को सूरत गए थे, जहाँ उन्होंने गोपीपुरा के लाडिलेशजी के मन्दिर में निवास किया था।

इन लाडिलेशजी ठाकुरजी को कामवन-निवासी माधवदास कक्कड़ की स्त्री चिम्मो बहू ने गो० श्रीमुरलीधरजी के पास सं० १७३० आश्विन कृ० ५ शनिवार के दिन पधरा दिए थे *। यह मुरलीधरजी तृ० पीठाधीश्वर बालकृष्णजी के पञ्चमात्मज व्रजालंकारजी के पौत्र और विट्ठलरायजी तृ० के पुत्र थे।

---

* इस विषय का एक प्राचीन पत्र उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है—

श्रीहरिः

रामचन्द्र कक्कड ताको सुत मोहनदास, ताको सुत बाबूराय, ताको सुत माधवदास ताकी स्त्री चिम्मो बहू तिन लिखायतं, आगे ठाकुर श्रीलाडिलेशजी को मैं आपनी खुसी सों श्रीमुरलीधरजी श्रीविट्ठलजी सुत उनको दिये। ठाकुर श्रीलाडिलेश में इनके और भाई बंधु तथा मेरे और कोऊ वारिस तिनको दावा धक्का नहीं। आगे मेरे मूए गए इनके और भाई-बंधु तथा मेरे वारिस कोऊ श्रीमुरलीधरजी सां ठाकुर श्रीलाडिलेशजी को दावा धक्का करे सो झूठो।

मुकाम कामवन.........

मतं चिम्मो बहू ऊपर को लिख्यो सही।

मतं कृष्णाई ऊपर को लिख्यो सही, मतं लीछमन सेठी वोनीसुत ऊपर लिख्यो सो सही।

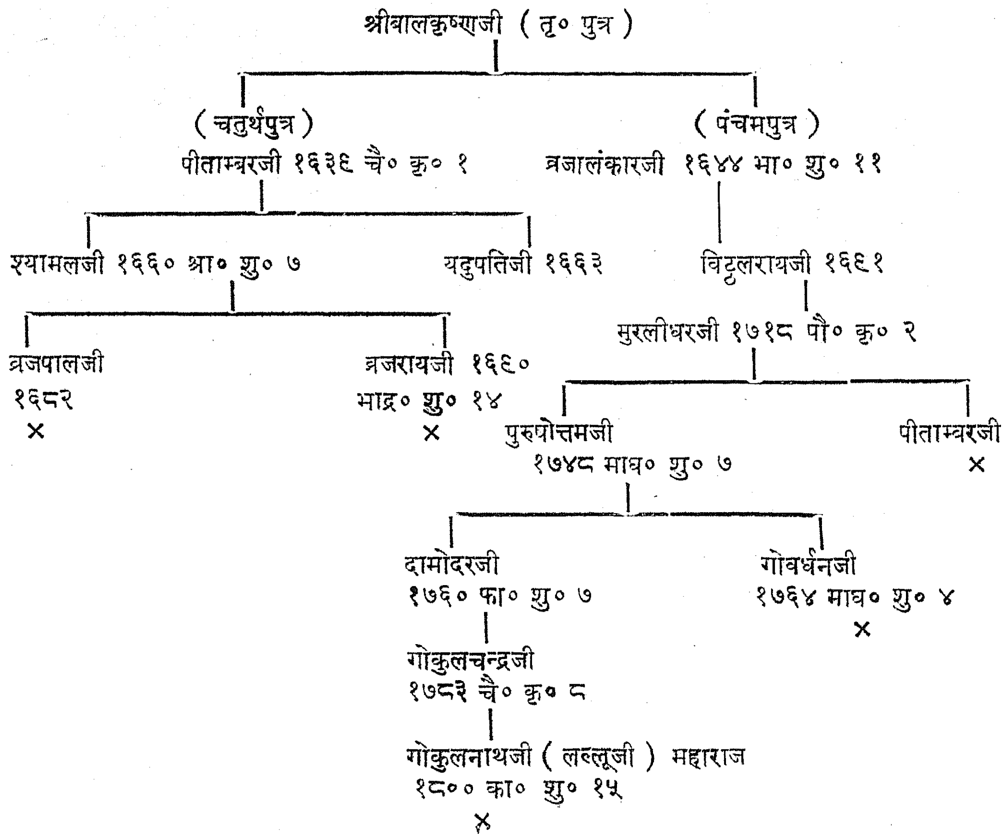
संवत् १७३० बर्ष आश्विन बदी ५ शनौ। सही...स्वस्तिक का चिन्ह है।

तात्कालिक राजनैतिक स्थिति को देखते हुए ऐसा भासित होता है कि—मुरलीधरजी अपने पिता के साथ औरंगज़ेब के भय से सूरत जाकर बस गए थे। इसी समय व्रजरायजी ने भी द्वारकाधीश के पास से बालकृष्णजी ठाकुरजी को ले जाकर सूरत में अपना मुक़ाम बना लिया था। यह मुरलीधरजी के सहकुटुम्बी भी थे, अतः सूरत में बसने में एक आश्रय लेने के कारण लाडिलेशजी का वहाँ मन्दिर बनाया गया।

इस हिसाब से सं० १७३०-४० के भीतर सूरत में इस मन्दिर की स्थापना मानी जा सकती है। मुरलीधरजी के वंश में सं० १८०० कार्तिक शु० १५ के दिन श्रीगोकुलनाथजी (उपनाम लल्लूजी) महाराज* का प्राकट्य हुआ। इनके समय में यह मन्दिर 'लल्लूजी के मन्दिर' के नाम से प्रख्यात हुआ।

---

* इनकी वंशपरम्परा इस प्रकार है:—



लल्लूजी महाराज के कोई पुत्र-सन्तति नहीं हुई, ऐसा अनुमान होता है। अतः यह अपनी उत्तरावस्था में उत्तराधिकारी के लिये चिन्तित थे। इधर सूरत के मुकदमा के प्रसंग में कांकरोलीवाले गोकुलनाथजी का आवागमन सूरत होता था, और वे अधिकांश यहीं लल्लूजी के मन्दिर में ठहरा करते थे। इनका मनोमालिन्य अपने भतीजे व्रजभूषणजी (तृ०) से था, यह कहा जा चुका है। इन दोनों बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि—कांकरोलीवाले गोकुलनाथजी ने अपने पुत्र पुरुषोत्तमजी को लल्लूजी के दत्तक पुत्र बनाने का विचार किया होगा। यद्यपि पुरुषोत्तमजी अपने पिता गोकुलनाथजी के गोलोक-वास के समय सं० १८५६ में १० वर्ष के थे, और अधिकांश कांकरोली ही में रहा करते थे।

सं० १८७४ में पुरुषोत्तमजी के द्विरागमन कराकर कांकरोली ही आने से ज्ञात होता है कि—इस समय तक न तो यह सूरत के मन्दिर के मालिक ही हुए थे, और न वहाँ के गोकुलनाथजी (लल्लूजी) महाराज का देहान्त ही हुआ था। इसके बाद पुरुषोत्तमजी सूरत के मन्दिर के मालिक हो गये, और सं० १८७७ में व्रजभूषणजी (तृ०) के नित्यलीलास्थ हो जानें पर कांकरोली के तिलकायित बनाये गये। अतः सं० १८७४ से ७६ के भीतर इनका वहाँ गोद जाना अथवा मालिक बनना माना जा सकता है।

जैसा कहा गया है—सूरत का गोपीपुरा का यह मन्दिर लाडिलेशजी अथवा लल्लूजी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। लल्लूजी के जन्म-दिन कार्त्तिक शु० १५ को यहाँ पाटोत्सव माना जाता है। मन्दिर में गोकुलनाथजी (लल्लूजी) और पुरुषोत्तमजी महाराज की चित्रसेवा विद्यमान होने से ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि—सं० १७३०-४० के लगभग इस मन्दिर की स्थापना न हुई हो, और लल्लूजी महाराज ने ही अपने समय में इसे स्थापित किया हो। कुछ भी हो, पुरुषोत्तमजी महाराज के वहाँ अधिष्ठित हो जाने से और बाद में कांकरोली में उनके तिलकायित बन जाने से इस मन्दिर पर तृतीयपीठाधीश्वरों का स्वामित्व हो गया।

राजनैतिक परिस्थिति

विगत प्रकरणों में कहा जा चुका है कि—महाराणा भीमसिंहजी के राज्यकाल में अधिक अशान्ति रही। उनकी सहायता, और अंगरेजों के सहयोग से इस समय मेवाड़ की अशान्ति का कुहरा दूर हो रहा था और सुखशान्ति की किरणों के छिटक का समय आ रहा था। यद्यपि सं० १८७३

में नवाब दिलेरखाँ ने चित्तौड़ के आसपास गाँवों में लूटमार मचाने पर महाराणा और सरदारों द्वारा उसके मार भगाये जाने पर देश में चिरशान्ति का सूत्र-पात होने लग गया था।

सं० १८७४ पौष सुदी ७ (ता० १३ जनवरी सन् १८१८) के दिन महाराणा भीमसिंहजी और ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से गवर्नर जनरल हेस्टिंग के प्रदत्त अधिकारों से मि० चार्ल्स थियोफिलस मेटकाफ के द्वारा मेवाड़ में सन्धि हो जाने से चारों ओर शान्ति का प्रभाव जमने लगा। मेवाड़ सरकार और अंगरेज सरकार एक दूसरे की रक्षा और शान्ति स्थापन के लिये प्रयत्नशील बन गये। इस प्रकार की प्रशान्त राजनैतिक स्थिति हो जाने पर कांकरोली को अब कोई भय नहीं रह गया था, उसके ऊपर से आतंक और हुल्लड़बाजी के बादल निकल गये थे। महाराणा की छत्रच्छाया से अब उसे फलने फूलने का अवसर अधिगत हुआ था।

सं० १८८५ चैत्र शु० १४ को भीमसिंहजी के कैलासवास हो जाने पर महाराणा जवानसिंहजी का राज्याभिषेक हुआ।

महाराणा जवानसिंहजी ने जब अपने राज्य की व्यवस्था सुधारने के लिये शेरसिंह को प्रधान बनाया, तो कुछ समय बाद पुरुषोत्तमजी महाराज ने भी अपने ठिकाने की आन्तरिक और पारस्परिक शासन-व्यवस्था सुधारने का प्रयत्न किया, एतदर्थ उन्होंने महाराणा से मिलकर कुछ माँगें पेश कीं।

सं० १८९४ कार्तिक शुक्ल १० के पत्र में महाराणा जवानसिंहजी ने पुरुषोत्तमजी महाराज को लिखकर यह अधिकार दिया कि—कांकरोली के ठिकाने का शासन कांकरोली के महाराजद्वारा होगा और न्याय दंड यहीं से हुआ करेगा। यदि किसी मुकदमा की अपील उदयपुर में होगी तो उसकी तगसीर आपको दी जाया करेगी।

संभव है, इसी समय से कांकरोली को आन्तरिक शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि—महाराजश्री का महाराणा पर अच्छा प्रभाव था जिसके कारण वह एक प्रकार से स्वायत्त शासन प्राप्त कर सके। सं० १८९५ में १० वर्ष राज्य करने के बाद इन महाराणा का कैलासवास हो गया और इनके

बाद उदयपुर की राजगद्दी पर सं० १८९५ भाद्र० शु० १५ के दिन महाराणा सरदारसिंहजी का राज्यतिलक हुआ।

सं० १८९८ में महाराणा सरदारसिंहजी अथवा उनके सरदारों द्वारा नाथद्वारा के स्वर्गीय तिलकायित श्रीदाऊजी महाराज की पत्नी श्रीलक्ष्मीबहूजी के साथ स्थानीय प्रबन्ध-विषय में कुछ अन्याय हो गया, जिससे वैष्णव-समाज और गोस्वामिबालकों में खलबली मच गई। अस्तु, राज्य-कर्मचारियों का यह काम पुरुषोत्तमजी महाराज को भी सह्य नहीं हुआ, और इन्होंने भी भविष्य में अपने साथ इसी प्रकार के अन्याय होने की आशंका से श्रीद्वारकाधीश को जयपुर पधरा ले जाने का विचार कर लिया। पर पता नहीं चलता है कि आगे क्या हुआ और यह समस्या किस प्रकार सुलझी।

सं० १८९९ के आषाढ़ सुदी ७ के दिन महाराणा सरदारसिंहजी का भी देवलोक हो गया, और उनके स्थान पर अष्टमी के दिन महाराणा सरूपसिंहजी का राज्य-तिलक हुआ।

इस थोड़े-से समय में ही तीन महाराणाओं के बदल जाने से महाराजश्री को ऐसा अवसर नहीं मिल पाया, जो उनका कुछ अधिक परिचय उनसे होता, और कुछ गुरु-घराने के लिये प्राचीन प्रथा के अनुसार ग्राम-जमीन भेट आदि प्राप्त होती। महाराणा भीमसिंहजी के बाद जो उदयपुर के दो राणा हुए, उन्हें इतना अवकाश ही नहीं मिल पाया कि—वे इस ओर विशेष ध्यान देते। यद्यपि महाराणा सरूपसिंहजी ने सं० १९१८ कार्तिक शु० १४ तक कुछ लम्बे समय तक राज्य किया था, पर इधर सं० १९०३ में ही पुरुषोत्तमजी का नित्यलाला-प्रवेश हो गया, जिससे दोनों के विशेष परिचय होने का अवसर भी नहीं आने पाया।

इन सब कारणों से पुरुषोत्तमजी महाराज के समय उदयपुर के महाराणाओं के राज्याश्रय द्वारा कांकरोली को विशेष स्थायी सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकी। और न बाहर के अन्य महाराजाओं से भी इनका विशेष परिचय हो सका। फिर भी जो कुछ ग्राम प्राप्त हुए, वे निम्नलिखित हैं—

सं० १८६९ पौष शु० २ के दिन १५११ रु० सालीना आमदनी के 'सादी'-नामक गाम (ठिकाना वेगूँ) की जमीन वेगूँ के सरदार रावत सवाई महासिंहजी ने

प्रदान की। इसके साथ सं० १८७८ में 'चमनपुरा' गाम में एक हवेली भी भेंट हुई*।

इसके प्रथम पौष शु० १ के दिन महाराजश्री ने वेगूँ पधारकर कुँवर किशोर-सिंहजी को नाम-दीक्षा दी थी। अतः इसी गुरु-दक्षिणा में यह गाम भेंट हुआ।

सं० १८७७ कार्त्तिक बदी ५ गुरुवार के दिन महारावत गोकुलदासजी के द्वारा राजावत जवानसिंहजी ने श्रीप्रभु के लिये ५०१ रु० सालाना उपज वाला गाँव पवराणा का खेड़ा भेंट किया†।

सं० १८८१ जेठ बदी २ के दिन महाराजा सवाई जयसिंहजी (तृ०) ने गाँव 'मानपुर' (परगना चाटसू) श्रीद्वारकानाथजी के मन्दिर, जयपुर के लिये भेंट किया।

---

* ता० नं० ४२। १। ३

श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुद्रसणजी

दसकत हथअखरा राम सही प्रखदल जो मारा वंस
को असल होसी जो अणी गाम री नभासी।
दसकत रावत सवाई म्हासीध का जात सीसोदा
चूडावत गोवत। खास वेगुं।

श्रीदुवारकानाथजो का मद्र गोस्वामीजी श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्री परसोत्तमलालजी माहाराज बेगम पदारया समत १८६६ का पोस सुद १ कुवर किसोरसिंग ने नाव सुणा जदी जदी भेट करी रावत सवाई माहासींघ कुंवर कसोरसिंग पटा बेगु का प्रगणो आतरी का मे बीगत गाम सादी १५०० रोपिया पदरासो की सत्र काल साको पीवल माल चौतरफ काकड सुदी ओर आगणो होली हजे जीकी जीक सावत छे।

११ बावडी अेक साहा भीमजी मोगरा की वाडी बीगा २ रोख व्रष सुदी चमनपुरा मद्द जंम रुपीया १५११ पंदरासो ग्यारा की आपदत्तं परदत्तं.......................................

प्रवानगी साहा सवलाल सीसोदया की दसगत साहा जसकरण कानोडा का हाथ का। मिती पोस सुद २ समत १८६६।

१ हवेली अेक चमनपुरा मद्द परोत रामलाल रहतो ज्या कपडदार मोडा की भेट करी समत १८७८ सावण बुद १।

† ता० नं० २०। ५ श्रीरामजी

सही

सिधश्री महारावतजी श्रीगोकलदासजी वचनात गाम कांकडोली श्रीदवारकानाथजी री भेट गाम पवराणा रो खेडो सीव नीव सुदी चंडायो गामरी रेख रुपया ५०१ अखरे पांचसो एक रो श्रीहुजूर श्रीरामा अरपण कीधो जीरो पुन श्रीहजूर ने होसी। दः राजावत जवानसिंग। श्लोक—अपदत्तं परदत्तं.................
दसखत पंचोली गोमदराम राघु चंदोत नरानदास। श्रीरामजी संवत १८७७ काती वदी ५ गुरे।

यह मन्दिर स्व० महाराजा सवाई जगतसिंहजी की रानी माजी श्रीसीसोदणीजी ने तिरपोलिया के भीतर बनवाया था। जिसकी सेवा-पूजा कांकरोली के महाराजश्री की देखरेख में होती थी। इस गाँव की उपज १६०२ में, ९७३ रु० आठ आना श्रीद्वारकानाथजी की और ८८ रु० आठ आना श्रीगुलाबेश्वर महादेवजी की, सेवा के लिये नियत थी *।

सं० १८८२ फा० वदी १३ सोमवार के दिन महाराणा भीमसिंहजी ने गाम सादी परगना वेगूँ श्रीद्वारकानाथजी के लिये भेंट किया (जिसका ताम्रपत्र वेगूँ के ताम्रपत्र नं० ४२ के साथ सम्मिलित है)। इस गाम को महाराणा ने महाराजश्री के इस साल उदयपुर पधारने पर भेंट किया था †।

---

* श्रीरामजी

सही

श्रीसीतारामो जयति
श्रीमहाराजाधिराज
सवाई जयसिंहजी

सिधश्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीसवाई जयसिंहजी देव वचनात कमैती प्रगना चाटसू का दसेसु प्रसाद वंच्या अपरंच बावति भोग गांव भोमि वागैरह सुधां उपेजा रुपया १०६२ का मैं ठाकुर श्रीद्वारकानाथजी वागैरह विराजमान कसबा सवाई जयपुर में मुसतलिख तिरपोल्या के मन्दिर माजी श्रीसीसोदणीजी महैल महाराजा वैकुंठवासीजी श्रीसवाई जगतसिंहजी का नवो वणायो त्यां के वास्ते मुवाफिक यादिदासति में दसखत दीवानयान करार मिती चैत सुदी १३ साल संवत १८८१ अरज प्रहौंची भोग नैसे जीनां वसूली रुपया ३ का सालीना रुपया १०६२ करि देवा को हुकुम हुवो। मुकररा तनखाह गांव मानपुर गेट प्रगना चाटसू को इब्तदाय साख उन्हालू संवत १८८१ थे सीगे भोग के जाणि हासिल हवाले करिवो कीज्यो। भोमि वागैरह सुधां उपेजा रुपया एक हजार बासठ......१०६२..........

ठाकुरश्री द्वारकानाथजीरो जीनां रुपया २॥।) का सालीना रुपया नौसै साढा तिहेत्रि ६७३॥)

महादेवजीश्री गुलाबेश्वरजी रोजीना रु० आना ४ चार का सालीना रुपया साढा अठ्यासी ८८॥)

मुवाफिक यादि दासति में दसखत खास व दीवानयान मिती जेठ सुदि २ संवत १८८१।

मुकाम सवाई जैपुर — रजू दफत्र दीवान नौ नंदराम — रजू दफत्र दीवान संगही अमरचन्द — रजू दफत्र सूरजमल मुसतोफी हजुर

जयसिंहजी का जन्म सं० १८७५ और निधन सं० १८९१ है। (नाथावतों का इतिहास)।

† ता० प० नं० ४२। २

श्रीरामो जयति

श्रीगणेशप्रसादात् — श्रीएकलिंगप्रसादात्

सही

महाराजाधिराज महाराणा श्रीभीमसिंहजी आदेशात् ठाकुर श्रीदुवारकानाथजी रे गाम सादी प्रगणे बेगम रे लोग भोग डंड बीराड नीम सीम सुदी लागत बीलगत सरब सुदी ऊदक आघाट श्रीरामा अरपण

वेगूँ-ठिकाने के सरदार महासिंहजी ने अपने यहाँ श्रीद्वारकानाथजी श्रीव्रज-गोपालजी का मन्दिर बनवाकर सेवा-पूजा स्थापित की, और उसका सारा प्रबन्ध महाराजश्री की देख-रेख में रखकर उसे भेंट किया था। इन्हीं स्वरूपों के साथ श्रीबाल्लकायजी और श्रीसुदर्शनजी की भी सेवा-पूजा होती थी। सं० १८९५ के आश्विन शु० पूर्णिमा के दिन जब यह सब स्वरूप तुला में विराजमान हुए, उस समय दो बीघा ज़मीन रावत महासिंहजी ने और भी भेंट चढ़ाकर कार्त्तिक बदी १ के दिन इसका ताम्रपत्र कर दिया *।

प्रदेश-यात्रा और राज्य-सम्मान

पुरुषोत्तमजी महाराज ने समय-समय पर प्रदेश-यात्रा की और वैष्णव-समुदाय को धार्मिक उपदेश दिया। सबसे प्रथम ११ वर्ष की वय में सं० १८५८ में इन्होंने गुजरात का प्रदेश किया, और वैष्णव-शिष्य-समाज से श्रीप्रभु के लिये सेवा-संग्रह किया।

सं० १८६३ में जयपुर-जोधपुर के देश का परिभ्रमण कर यह पाली के मार्ग से कांकरोली आये। सं० १८६९ के द्वि० वैशाख में, अहमदाबाद में, अपना विवाह कर कांकरोली आये, और पौष मास में यह वेगूँ-रावजी के आमन्त्रण पर वेगूँ पधारे। वहाँ कुँवर किशोरसिंह को जनोई में गायत्री की दीक्षा दी तथा नाम सुनाया था।

सं० १८७६ में जब महाराजश्री गुजरात का भ्रमण कर रहे थे, उस समय कांकरोली में व्रजभूषणजी महाराज (तृ०) के गोलोक-वास हो जाने पर यह महाराणा भीमसिंहजी के बुलाने से कांकरोली आये।

करे भेट चडायो है। सो हासल भोग श्रीजीरे भंडार पुगसी श्रीगुसांइजी म्हाराज श्रीउदेयपुर पदारया। जदी यो गाम प्रसन व्हेने चडायो है सो कणी बात री चोलण व्हेगा नहीं कुसी थी आवादान करेगा। स्वदत्तां परदत्तां वा...प्रत दुवे पाणीरी एकलिंगदास लीखता पंचोली सुरतसिंह नाथुरामोत। संवत् १८८२ रा फागण वोद १३ सोमे।

* ता० नं० ४२।६

श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुद्रसणजी

राम
सही

स्वस्तिश्री महाराजाधिराज श्रीश्री१०८ श्रीद्वारकानाथजी श्रीव्रजगोपालजी श्रीबाल्लकायजी श्रीसुद्रसणजी तला विराज्या संवत् १८९५ का आसोज सुदी १५ चंद्रग्रहण समे दस रावत सवाई माहासिंहजी वचनात जमी बीगा दोय पीवल आछ गाम डोराई म्हे सुप्रत करी जात दायमी वास बेगम रहे ब्रम्हणी किसना बहने दीदी थी जीवे जतरे या वाआये दे का वस को वेसी सो आपे। श्रोक—स्वदत्तं परदत्तं ... ...
कातक बदी १ संवत् १८९५।

सं० १८८० भाद्रपद में सपरिकर मथुरा जाकर इन्होंने बड़ी धूमधाम से व्रज-परिक्रमा की, और पौष मास में जयपुर पधारे। यहाँ के महाराजा सवाई जयसिंहजी (द्वि०) ने परम्परागत सम्मान किया, और वैकुण्ठवासी जगतसिंहजी की रानी द्वारा बनवाये हुए श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर और उसकी जागीर भेंट की, जिसका वर्णन किया जा चुका है। यहाँ से माघ में सोरों-क्षेत्र की यात्रा कर वहाँ के तीर्थ-पुरोहित 'दुगू' और 'गणेश'-नामक उपाध्याय को श्रीगुसाईंजी के हस्ताक्षर देखकर वृत्तिपत्र लिख दिया।

सं० १८८१ कार्त्तिक के बाद यह धंधूका का प्रदेश करने पधारे। सं० १८८२ फाल्गुन में उदयपुर जाने पर महाराणा भीमसिंहजी ने इनका अच्छा स्वागत किया, और प्रसन्न होकर वेगूँ-परगना का 'सादी' गाँव भेंट किया। इसमें से सालाना १५००) का जमीन का हासिल वहाँ के रावतजी द्वारा सं० १८६९ में भेंट हो चुका था।

सं० १८८५ चैत्र शु० १५ के दिन भीमसिंहजी के बाद महाराणा जवानसिंहजी * के राज्याभिषेक के समय महाराजश्री ने उदयपुर जाकर उन्हें तिलक किया। इसी वर्ष मार्गशीर्ष शु० १२ को महाराणा ने कांकरोली आकर द्वारकाधीश के दर्शन किये और परम्परागत प्रथा के अनुसार नक़द रुपया, वस्त्र, गहना और घोड़ा भेंट किया। इन्हीं महाराणा ने आगे चलकर सं० १८९४ में १०,०००) भेंट किए †।

सं० १८८६ मार्गशीर्ष में गुजरात में धंधूका का प्रदेश और वहाँ की वैष्णव-सृष्टि में धार्मिक प्रचार किया। सं० १८८८ वैशाख शु० २ को बड़ौदा गए और भाद्रपद १५ बुध के दिन पुष्कर-स्नान कर पुरोहित को वृत्तिपत्र प्रदान किया। आश्विन मास में गया जाकर धार्मिक श्रद्धादि किए, और कार्त्तिक मास में कांकरोली आए। सं० १८९१-९२ में बड़ौदा-प्रान्त का प्रदेश किया।

सं० १८९५ भाद्र शु० १५ को जवानसिंहजी के अनन्तर महाराणा सरदारसिंहजी ‡ का राज्यतिलक हुआ। उन्होंने पौष शु० १२ के दिन अपनी बड़ी पुत्री के विवाह में

* इनका जन्म सं० १८५७ मार्ग० शु० ३ और कैलास-वास सं० १८९५ भाद्र० शु० १० को हुआ।
† सं० १८९४। रोकड़ पाना ८०।
‡ इनका जन्म सं० १८५५ भाद्र० कृ० ३ और कैलास-वास सं० १८९९ आषाढ़ शु० ७ को हुआ।

महाराजश्री को उदयपुर आमन्त्रित किया। यह विवाह बीकानेर के कुँवर सरदार-सिंह के साथ हुआ था। इस समय कन्या और वर के पक्षवालों ने महाराजश्री का यथोचित राजकीय सम्मान किया था। सं० १८९७ में वैशाख के अन्त में सूरत से कांकरोली आए। सं० १८९८ में कार्त्तिक के बाद महाराजश्री ने पुनः सूरत और बड़ौदा जाकर वहाँ के मन्दिरों की व्यवस्था की।

सं० १८९९ आषाढ़ शु० ८ को सरदारसिंहजी के बाद सरूपसिंहजी महाराणा हुए* इस समय महाराजश्री ने उदयपुर जाकर राज्यतिलक किया। महाराणा ने भी इनका यथोचित सत्कार किया।

सं० १९०० में महाराजश्री ने मथुरा आकर व्रज की यात्रा की। और इसी वर्ष मथुरा में 'सतघरा'-नामक स्थान में श्रीनाथजी की चरण-चौकी प्रकट की। यह स्थान गुसाईंजी के निवास के लिये रानी दुर्गावती ने बनवा दिया था। गुसाईंजी के चरित्र में लिखा जा चुका है कि—उनके प्रदेश चले जाने पर सं० १६२३ के अन्त में गिरिधरजी ने श्रीनाथजी को मथुरा लाकर इसी स्थान पर २-३ मास तक विराजमान किया था। इसके बाद यह स्थान यवनोपद्रव से नष्ट-भ्रष्ट हो गया और उस ज़मीन का नाम केवल 'सतघरा' रह गया था। महाराजश्री ने वहाँ प्राचीन खंडहरों में इस समय तक अज्ञात अवस्था में पड़ी हुई श्रीनाथजी के विराजने की चरण-चौकी प्रकट की, और इस ऐतिहासिक स्थान की सुव्यवस्था कर वहाँ पुनः सेवा-पूजा प्रचलित की†।

सं० १९०२ आषाढ़ कृ० १० को महाराजश्री महाराजा सवाई रामसिंहजी को कंठी बाँधने जयपुर पधारे। उदयपुर के महाराणाओं की भाँति जयपुर में भी गद्दी बैठ जाने पर महाराजा इस घर की वैष्णव-धर्म की दीक्षा लेते थे। राज्य की ओर से इनका स्वागत हुआ और शुभ मुहूर्त में रामसिंहजी ने वैष्णव-धर्म की दीक्षा ली‡।

---

* इनका जन्म सं० १८७१ पौ० कृ० १३ और देवलोक सं० १९१८ कार्त्तिक शु० १४ को हुआ था।

† १२० वचनामृत (गिरिधरजी महाराज-कृत)।

‡ रामसिंहजी (द्वि०) का जन्म सं० १८९० द्वि० भाद्र शु० १४ को हुआ था, सं० १८९१ के माघ में पिता के गत हो जाने पर १॥ साल की उम्र में यह गद्दी पर बैठे थे। सं० १९३७ भाद्र० कृ० १४ को

सं० १८७८ में नाथद्वारा के तिलकायित दामोदरजी (दाऊजी) महाराज ने अगले वर्ष कार्त्तिक मास में सम्प्रदाय के सातों स्वरूपों को नाथद्वारा में पधराकर एक महान् उत्सव करने का विचार किया, और सर्वत्र पत्र लिखकर तथा मनुष्य भेजकर सहमति प्राप्त की। प्रायः अधिकांश स्थानों से स्वीकृति आ जाने पर वह स्वयं निमन्त्रण देने कोटा और गोकुल गये, और वहाँ से गोकुलनाथजी एवं मथुरेशजी को सं० १८७९ वैशाख में नाथद्वारा पधरा लाये। जब मथुरेशजी कुरज ग्राम में आये, तब श्रीमित्रवृन्दाबहूजी ने उन्हें द्वारकाधीश के पास कांकरोली पधराने का मन्तव्य प्रकट किया। पर वृष्टि की अधिकता और दाऊजी महाराज की ज़िम्मेवारी न लेने के कारण उसे स्थगित कर देना पड़ा। फलतः मथुरेशजी सीधे नाथद्वारा पधारे*।

नाथद्वारा में सात स्वरूप का उत्सव

इस समय महाराजश्री गुजरात में प्रदेश-भ्रमण कर रहे थे। अतः उत्सव के समय श्रीद्वारकाधीश को नाथद्वारा पधराने के विषय में पत्र-व्यवहार होने लगा। यदि इस समय द्वारकाधीश नहीं पधारते, तो समस्त उत्साह और मनोरथ की शोभा नष्ट होती थी। छठे घर का झगड़ा उठ खड़े होने की आशंका से दाऊजी को सूरत से बालकृष्णजी ठाकुरजी को पधराने का विचार छोड़ देना पड़ा। जिससे वहाँ के तिलकायित और ठाकुरजी बालकृष्णजी नाथद्वारा नहीं पधार सके, और उत्सव के समय उनकी भावना करके ही मनोरथ पूरा किया गया था †।

सं० १८७९ भाद्रपद मास में पुरुषोत्तमजी महाराज के प्रदेश से आ जाने पर शुक्ल १४ शनि के दिन नाथद्वारा से दाऊजी महाराज गो० गोपालजी और वल्लभजी के साथ कांकरोली आये, और उन्होंने द्वारकाधीश को भावी उत्सव में पधराने की

वैकुण्ठवास हुआ (नाथावत इ०)। होश सँभालने पर इन्होंने एक लक्ष्मणगिरि-नामक शैव-संन्यासी से दीक्षा लेकर ऐसी साम्प्रदायिक कट्टरता बरती, जिसके कारण समस्त वैष्णवाचार्यों को जयपुर से अपने २ ठाकुर लेकर और मंदिरों की जागीर छोड़कर अन्यत्र चले जाना पड़ा। इसी प्रसंग में कांकरोली की परंपरागत जागीर भी जाती रही। उक्त संन्यासी ने चारों वैष्णव-सम्प्रदायों से ६४ प्रश्न किये, जिसका सप्रमाण उत्तर भा० मा० पं० श्रीगट्टूलालजी ने "सत्सिद्धान्तमार्तण्ड" द्वारा दिया था। सवाई रामसिंहजी कांकरोली के घर के अन्तिम वैष्णव-शिष्य थे।

* ज्ये० शु० ३ सं० १८७६ को मित्रवृन्दा बहूजी का पत्र। यह मथुरेशजी (कोटा) के तिलकायित श्रीगिरिधरजी की पत्नी और अपने पति के बाद मंदिर की अधिष्ठात्री थीं।

† 'गोस्वामिकुलयशोवर्णन' (मथुरानाथात्मज गो० द्वारकेशजी-रचित)।

प्रार्थना की। परन्तु पुरुषोत्तमजी महाराज ने अपने बहनोई भट्टजी से सलाह कर अपनी शर्तें पूरी हो जाने पर ही द्वारकाधीश को पधराने का विचार व्यक्त किया।

प्रस्तुत विषय में प्रसिद्ध किम्बदन्तियों और 'सप्त स्वरूपोत्सव' की वार्ता* में उक्त भट्टजी पर ही दोषारोपण कर पुरुषोत्तमजी को अकिंचित्कर बताया गया है। पर प्राचीन पत्रों के देखने से यह निराधार ज्ञात होता है। यह भट्टजी व्रजभूषणजी (तृ०) के बहनोई थे, और कुल-प्रथा के अनुसार कांकरोली में ही रहते थे। वृद्ध और मान्य होने के कारण ऐसे विषयों में इनसे परामर्श लिये जाने का अर्थ यह नहीं था कि—उस समय इन्हीं का बोल बाला था, और महाराजश्री नाममात्र के मालिक थे। अस्तु।

नाथद्वारा और कांकरोली के तात्कालिक आगत पत्रों से विदित होता है कि—पुरुषोत्तमजी के सम्मुख स्वत्व और अधिकार की रक्षा का सवाल था, जिसके तीन पहलू थे—

१—सूरतवाले बालकृष्णजी ठाकुरजी कांकरोलीवालों को दिला दिये जावें, और इस उत्सव में यदि वे आवें तो उनकी पृथक् स्वतंत्र सत्ता न मानी जावे।

२—नाथद्वारा के व्रजभूषणपुरा का परंपरा-प्राप्त अधिकार कांकरोलीवालों को दे दिया जाय, जो कुछ समय से झगड़े में डाल दिया गया है।

३—नाथद्वारा में आते समय कांकरोलीवाले महाराजश्री का नकीब बोलना, छड़ी, छत्र, चमर आदि की समान मर्यादा पर कभी भी आघात न किया जाय, और बंद करने के लिये क्षमा माँगी जावे।

उपर्युक्त तीनों बातों पर दाऊजी महाराज ने कुछ ध्यान नहीं दिया और महाराणा भीमसिंहजी के आदेश द्वारा द्वारकाधीश को पधराने की चाल चली। पर उन्होंने जब अपना भला आदमी भेजकर कांकरोलीवालों का मन्तव्य मँगवाया तो वे भी उक्त शर्तों को सुनकर चुप हो गए। उक्त वार्ता में लिखा है कि—"हम भट्टजी-सहित रायसागर में पड़ेंगे।" इस प्रकार के पुरुषोत्तमजी के उत्तर से महाराणा चुप हो गए। पर यह सर्वथा मिथ्या है। न तो महाराणा को ऐसा उत्तर ही दिया जा सकता था, और न वे इस घर के प्रति गुरुभाव से बलात् द्वारकाधीश को नाथद्वारा पधरा ही

* 'शुद्धाद्वैत' (वर्ष १४, अंक ८) में प्रकाशित।

सकते थे। वास्तव में स्वयं महाराणा उक्त तीनों माँगों की पूर्ति करने में विवश थे। अन्तिम दो बातें आपसी व्यवहार से सम्बन्ध रखती थीं, और पहिली सम्प्रदाय की बहुत पुरानी उलझी हुई पहेली थी। इस झमेले में अन्य उत्सवों की बात तो दूर रही, अन्नकूट पर भी प्रतिवर्ष की भाँति द्वारकाधीश के पधारने का विचार स्थगित हो गया, और कांकरोली में ही उसकी तैयारी होने लगी।

यह कहा जा चुका है कि—सात स्वरूपों को पधराने की अभिलाषा से यद्यपि दाऊजी महाराज बालकृष्णजी को भी सूरत से पधराना चाहते थे, पर उनका आना ही झगड़े की जड़ समझकर उन्होंने इसके लिये विशेष आग्रह नहीं बतलाया था। परंतु द्वारकाधीश के पधारने की व्यवस्था जब महाराणा के द्वारा होते न देखी, तो उन्होंने जाति के प्रधान २ व्यक्तियों को इसका भार सौंपा। कुछ गोस्वामिबालक, भट्टजी, व्रजवासी और वैष्णवों ने मिलकर कार्त्तिक कृ० १४ के दिन कांकरोली आकर महाराजश्री से वर्तालाप किया, पर कुछ भी निश्चय न हो सका, और वे सब बैरंग वापिस लौट गये। इसके पहिले अहमदाबाद से नटवरलालजी, जयपुर से गोकुल-चन्द्रमाजी तथा मदनमोहनजी नाथद्वारा पधार चुके थे। अब अन्नकूट के लिये केवल द्वारकाधीश का पधारना अवशिष्ट और आवश्यक था। सूरतस्थ बालकृष्णजी के तिलकायित श्रीव्रजरत्नजी महाराज ने तो कांकरोलीवालों का अभिप्राय जानकर अपने ठाकुरजी को नाथद्वारा पधराना ठीक नहीं समझा, अतः यह पहिली समस्या स्वतः सुलझ गयी, और अन्तिम दोनों बातें दाऊजी के ऊपर निर्भर रह गईं।

प्रस्तुत विषय में किसी प्रकार का निश्चय न हो सकने से कांकरोली में ही अन्नकूट की सब सामग्री सिद्ध की जाने लगी, जिससे विवश होकर दाऊजी महाराज ने दीपावली के दिन अन्तिम निश्चय कर गो० कल्याणरायजी और माधवरायजी को कांकरोली भेजा। उन्होंने पुरुषोत्तमजी महाराज को बतलाया कि—दाऊजी ने उनकी दोनों शर्तें स्वीकार कर ली हैं। अतः श्रीप्रभु को अन्नकूट के दिन नाथद्वारा पधराने में अब आपको आग्रह नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार पुरुषोत्तमजी महाराज की प्रथम माँग तो बालकृष्णजी के न आने से जहाँ की तहाँ रह गई, और शेष दो माँगें दाऊजी महाराज ने अपने उच्च मनोरथ के

लिये स्वीकार कर लीं * । अतः पुरुषोत्तमजी को अब कोई विपत्तिपत्ति नहीं रही, और द्वारकाधीश के नाथद्वारा पधारने का निश्चय दृढ़ हो गया ।

* सं० १८७६ कार्त्तिक बदी १३ और का० शु० ३ के श्रीदाऊजी के पत्र ।

श्रीहरिः

श्रीप्रभून आगे सुधि करत है

उहाँ सुधि करेंगे ।

श्रीविट्ठलो जयति ।

स्वस्तिश्रीमत्सकलगुणगणालंकृतेषु सौजन्य सागरेषु गोस्वामि पुरुषोत्तमजीषु गोस्वामि दामोदराणामाशिषः । शमिह तत्रास्तु अपरंच आपको पत्र आयो तामे लिख्यो सो श्रीद्वारकानाथजी को द्रव्य उठे है तासूं प्रभु हमारे मनोरथ में नहीं पधारे । परन्तु हम श्रीजी को द्रव्य या मनोरथ में खरचे है नहीं परभारो पट्टन सूं बाबू बैजनाथदास को द्रव्य आयो सो उठेगो । आप सुखेन श्रीद्वारकानाथजी को पधराइए, और आपने लिखी सो श्रीजी को द्रव्य नहीं उठे सो धरम की बात है । याकूं लोपे सो अधरमी है और आज पाछे हम तथा हमारे बंस के बहू बेटी भाई भानेज जमाई चाकर कामेती त० सेवक यामेसूं जो द्रव्य श्रीजी को लियो चाहे तो आप तथा आपके बंस के जो होंय तो श्रीजी को द्रव्यादिक बिगड़बे देवे नहीं । सदासूं आपकी श्रीजी के घर में सेवा सिवाय या प्रमाण मरजादा है सो लिख दीनी है और हमारे इहाँ व्रजभूषणपुरा तथा खिडक तथा मंदिर वगेरे त० मथुरा दरवाजे वगेरे आपके है तासूं कबहूँ खेचल होयगी नहीं, और जो कोई आपके चाकर वगेरे या लिखे ऊपरांत कसर दीखे तो सुखेन पूछबे को अखत्यार है, या लिखे को जो कोई मेटेगो सो श्रीजी सूं बहिर्मुख होयगो । पन श्रीद्वारकानाथजी को सर्वथा पधरावोगे । आपके मंदिर में जल की अडचन पडती जानो तो मंदिर में कुवा खुदाय लेहोगे आपकी प्रसन्नता होय तहां । स्नेह राखोगे । कुशल पत्र लिखोगे । किमधिकम् । मिती कार्त्तिक बदी १३ संवत् १८७६ के ।

श्रीगोवर्द्धनो जयति ।

लिखितं गोस्वामी दामोदरजी श्रीबालकृष्णजी की गादी सूरत की गोस्वामी पुरुषोत्तमजी कूं पहुँचे । श्रीबालकृष्णजी के वंश विना और कोई वारस नहीं । गोस्वामी व्रजरत्नजी कूँ पहुँचे नहीं । हम गोस्वामी पुरुषोत्तमजी मे भेले है गोस्वामी व्रजरत्नजी मे भेले नहीं । अरु सातों स्वरूप को अन्नकूट पीछे कार्त्तिक सुदी ३ कूं समस्त पंचन को लिख्यो कराय देनो । जो गोस्वामी व्रजरत्नजी हमारो तथा पंचन को कह्यो न माने तो श्रीनाथजी के चरणस्पर्श करे नहीं स्ववंश सुद्धा । अरु पंचन सूं बाहिर स्ववंश सुद्धा अरु पर के हम विना विचारे ही गोस्वामी व्रजरत्नजी कूं अन्नकूट पे बुलाये तापे गोस्वामी पुरुषोत्तमजी के अरु हमारे विरुद्धता बहुत भई श्रीद्वारकानाथजी अन्नकूट पे पधारे नहीं । सो अब के संवत् १८७६ की साल हम सातों स्वरूपन कूं अन्नकूट भेले अरोगायवे को मनोरथ करे तापे बड़ो समुदाय भयो । तासूँ हम गोस्वामी पुरुषोत्तमजी सूं ऐक्यता किए अरु इहाँ श्रीनवनीतप्रियजी के सृंगार करवाए । सो टीकेत जब आवे तब सदा करै हम उहाँ न करै । अब हमारे मनमें द्वेष तथा कछू कापत्र्य राखे नहीं । यह सब हमारी प्रसन्नता सूं उचित हती सो लिखे अरु शास्त्र में कह्यो है सो झूंठ ही बोल के बड़ो कार्य करावनो सो वा श्लोक को या लिखे में प्रमाण नहीं या लिखे में न्यूनता पडे तो हमकूं श्रीजी की शपथ है ।

दीपावली की रात्रि में जब अन्नकूट के दिन श्रीद्वारकाधीश के पधारने के निश्चय का समाचार दाऊजी महाराज को मिला तो वे अतिशय प्रसन्न होते हुए प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल सेवा से पहुँचकर कांकरोली प्रभु को पधराने आये। यहाँ सेवा में स्नान कर उन्होंने पुरुषोत्तमजी महाराज के साथ अन्नकूट के लिये सिद्ध की गई समस्त सामग्री गोपीवल्लभ-भोग में समर्पी, और राजभोग कर मध्याह्न में बड़ी सजधज, लवाज़मा और उत्साह के साथ श्रीप्रभु को नाथद्वारा पधराया।

नाथद्वारा में श्रीद्वारकाधीश के पधारने से चारों ओर उल्लास और आनन्द का सागर उमड़ उठा। दाऊजी महाराज तो अपने मनोरथ की पूर्त्ति समझकर कृत-कृत्य हो गये। श्रीनाथजी के पास विराजे हुए अन्य उपस्थित स्वरूपों के साथ श्रीद्वारकाधीश के अन्नकूटोत्सव के दर्शन कर वैष्णव-जनता कृतार्थ हो गई। इस अन्नकूटोत्सव पर श्रीनाथजी—नवनीतलालजी के समीप मथुरेशजी, विट्ठलनाथजी, द्वारकाधीशजी, गोकुलनाथजी, गोकुलचन्द्रमाजी और मदनमोहनजी, यह छै स्वरूप पधारे। केवल छठी निधि बालकृष्णजी नहीं आ सके। मथुरेशजी के गोद के ठाकुरजी नटवरलालजी भी अहमदाबाद से पधारे थे। इस प्रकार सम्प्रदाय की प्रत्यक्ष छै निधियों, और भावना से सातों निधियों के पधारने से सं० १८७९ कार्त्तिक शु० १ का यह अन्नकूटोत्सव 'सातस्वरूप' का उत्सव नाम से प्रसिद्ध हुआ *।

इस उत्सव में अन्नकूट अरोग कर श्रीद्वारकाधीश दूसरे दिन कांकरोली पधार आये, और शेष स्वरूप नाथद्वारा में ही कुछ दिन रहे, जहाँ दाऊजी महाराज ने अन्य मनोरथ किये। इसी वर्ष मार्गशीर्ष मास में मथुरेशजी वापिस कोटा पधारे, और जब 'राजियावास' गाम में मुक़ाम हुआ, तब अमावास्या के दिन पुरुषोत्तमजी महाराज ने वहाँ जाकर उनकी सेवा की और मनोरथ किया †।

यह कागद गोस्वामी दामोदरजी पंचों की सामे सबके श्रीत्रिधरा बालकृष्णभट्टजी सूं समक्ष आज्ञा करिके लिखवाए। संवत् १८७९ कार्त्तिक सुदी १ गुरु।

* इसका विशेष वर्णन 'गोस्वामि-कुल-यशोवर्णन' (मथुरानाथात्मज द्वारकेश्वर-रचित, रचना सं० १८८०) में दिया गया है। इस समय नाथद्वारा में ६६ गोस्वामी और महाराणा भीमसिंहजी उपस्थित थे।

† प्राचीन रोकड़।

सूरतवालों में असहकार

यद्यपि नाथद्वारा के इस उत्सव में सूरतवाले व्रजरत्नजी महाराज ने अपने ठाकुरजी को नाथद्वारा नहीं पधराया था, उन्हें भय था कि—महाराणा के राज्य में शासन-बल से कहीं बालकृष्णजी ठाकुरजी छीन न लिये जायँ, पर उनके आने का विचार अवश्य था। सं० १८७८ के अन्त में उनके उत्पात की आशंका से पुरुषोत्तमजी महाराज ने कुछ सिपाही नौकर रक्खे थे, और महाराणा भीमसिंहजी तथा नाथद्वारावालों से प्रस्तुत प्रसंग में उचित न्याय एवं प्रबन्ध करने की इच्छा प्रकट की थी। जिस पर नाथद्वारावाले तिलकायित दामोदरजी ने सूरतवालों के लिये श्रीनाथजी की सर्वदा के लिये सेवा बन्द कर दी और पत्र * लिखकर महाराजश्री को विश्वास दिला दिया। इस प्रकार आपसी सलाह से सूरतवालों को सेवा से वंचित होना पड़ा।

कांकरोली, नाथद्वारा का पारस्परिक व्यवहार

सं० १८७८ से सं० १९०० तक कांकरोली और नाथद्वारा के पारस्परिक व्यवहार में बहुत कुछ परिवर्तन हुए, जिनका यहाँ प्रासंगिक वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है—

सं० १८७८ में नाथद्वारा के तिलकायित दाऊजी महाराज ने श्रीनाथजी का अन्नकूट का उत्सव किया था। जिसमें किसी कारण से पुरुषोत्तमजी महाराज ने आगे के लिये वहाँ जाना बन्द कर दिया। परंपरा से नाथद्वारा में कांकरोलीवाले महाराज की सवारी में राजकीय चिह्न आया-जाया करते थे, जिसमें वहाँ के तिलकायितों को कोई आपत्ति नहीं होती थी। पर सं० १८७८ के लगभग दाऊजी महाराज को यह सह्य नहीं हुआ, और उन्होंने कांकरोलीवालों की सवारी में

* पत्र की प्रतिलिपि—

श्रीहरिः
श्रीप्रभुन आगे सुधि करत है
वहाँ सुधि करोगे।
श्रीविट्ठलो जयति

स्वस्तिश्रीमत्सकलगुणगणालंतेषु सौजन्यसागरेषु गोस्वामि श्रीपुरुषोत्तमजीषु गोस्वामि दामोदराणामाशिषः। शमत्र तत्रास्तु अपरंच आपके श्रीबालकृष्णजी बाबत झगडा है सो गोस्वामि व्रजरत्नजी के वंस बगेरे कोई श्रीजी द्वार में आयवे दे नहीं चरणस्पर्श करवे दे नहीं। या मे जो हमारे वंस को पलटे तो श्रीजी सूँ बहिर्मुख हमारे वंस को होयगो सो इनको नाम नहीं लेहेगो। यह हमारी प्रसन्नतापूर्वक लिख दीनो है। किमधिकं। मिती वैशाख सुदी ३ संवत् १८८१ के।

चमर, छत्र, छड़ी, नकीब बोलना आदि महाराणा द्वारा प्रदत्त सम्मान भी नाथद्वारा की सरहद में बन्द करने का आदेश दे दिया। इस कारण कदाचित् मानभंग हो जाने के भय से पुरुषोत्तमजी महाराज ने वहाँ जाना ही बन्द कर दिया, और साथ ही श्रीद्वारकाधीश का भी अन्नकूट पर पधारना स्थगित हो गया; क्योंकि तिलकायित के बिना प्रभु के पधारने की रीति नहीं थी। यह मामला यहाँ तक बढ़ा कि दोनों स्थानों के तिलकायितों में आन्तरिक वैमनस्य-सा हो गया और विवाह आदि प्रस्तावों पर भी आना-जाना स्थगित कर दिया गया *।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, इस आपसी झगड़े का सूत्रपात व्रजभूषणजी महाराज (तृ०) के समय से व्रजभूषणपुरा के मामले से पैदा हुआ था। उस समय के एक पत्र से विदित होता है कि—व्रजभूषणपुरा के किसी आसामी को नाथद्वारावालों ने मारा-पीटा और पकड़कर अपने यहाँ क़ैद कर दिया था। इस पर कांकरोलीवालों ने भी उनका मुक़ाबिला किया, और नाथद्वारा के एक आसामी को पकड़कर अपने यहाँ क़ैद कर दिया। इससे मामला बढ़ गया और परस्पर वैमनस्य का बीज जमा। सं० १८७९ में सातस्वरूप के उत्सव के समय विवश होकर दामोदरजी महाराज ने परस्पर पत्र-व्यवहार कर कांकरोलीवालों की मान-मर्यादा पूर्ववत् स्वीकार कर ली†, जिससे इस वैमनस्य का अन्त हो गया। सं०

* प्राचीन रोकड़ से पता लगता है कि—सं० १८८४ से १८८८ तक लगातार ५ वर्ष अन्नकूट कांकरोली में ही हुआ। सं० ८९ से नाथद्वारा में द्वारकाधीश के पधारने का उल्लेख मिलता है, और फिर १९०० और १९०१ में पुनः कांकरोली में अन्नकूट होना पाया जाता है। सं० ८४ से ८८ तक नाथद्वारा न पधारने का कारण वहाँ का जातीय झगड़ा था।

(सं० १८८५ मार्ग० ब० ४ त्रिगृह मथुरानाथ भट्ट का पत्र)

श्रीहरिः

श्रीप्रभुन आगे सुधि करत है

उहाँ सुधि करेगे।

श्रीविट्ठलेशो जयति

स्वस्तिश्रीमत्सकलगुणगणालंकृतेषु सौजन्यसागरेषु गोस्वामि श्रीपुरुषोत्तमजीषु गोस्वामि दामोदराणामाशिषः। शमत्र तत्रास्तु अपरंच हमने सुना है के आप यहां नहीं पधारेगे क्योंके यहां भैया बन्द सब भेले भये है सो सवारी मे सबन की छडी चमर बन्द है परन्तु आपकी तो सदा सूं छडी चमर हमारी सवारी मे तथा प्रस्ताव मे विनेगी मे नकीब बोले याही प्रमाणे ठेठसूं परंपरा सूं है ताही प्रमाण रहेगी क्योंके आपके इहां को यहां के ऊपर भोत यस है। सो आपके घर के वंस केन की सदेव मर्यादा है ता प्रमाणे

१८८१-८२ में नाथद्वारा के दाऊजी महाराज के गोलोक-वासी हो जाने पर गोविंद-रायजी तिलकायित हुए। इनके छोटे होने के कारण इनको गोद लेनेवाली माता लक्ष्मीबहूजी अपनी देख-रेख में सेवा का कार्य चलाने लगीं। इधर नाबालिगी का अनुचित लाभ उठाकर श्रीनाथजी के सेवा-अधिकार में अपना हस्तक्षेप करने का प्रयत्न श्रीकृष्णरायजी महाराज ने शुरू किया, जो द्वि० गृह के तिलकायित श्रीगोपेश्वर-जी के द्वि० पुत्र थे। जब इसकी शिकायत महाराणा के निकट पहुँची, तब उन्होंने एजन्ट साहब के द्वारा ५ कलमें क़ायम कर दीं *, और नाथद्वारा की योग्य व्यवस्था कर लक्ष्मीबहूजी को कुछ अधिकार प्रदान किये। परन्तु योग्य कार्यकर्ता के अभाव में कुछ दुष्ट कर्मचारियों के द्वारा जब काम विशेष बिगड़ने लगा, तो बहूजी महाराज को चिंता होने लगी। अंत में सं० १८८५ वैशाख शु० ३ के दिन उन्होंने पत्र † लिखकर पुरुषोत्तमजी महाराज को अपना सरमुखतार बनाया और उनके परामर्श से ठिकाने का कार्य करने लगीं। इसके पहिले इसी साल चैत्र शु० १४ के दिन महाराणा भीमसिंहजी का देवलोक हो गया था, और जवानसिंहजी गादी बैठे थे। इस समय किसी प्रकार की उथल-पुथल न हो, इसके लिये भी किसी प्रभावशाली आत्मीय व्यक्ति की आवश्यकता थी, और इस योग्य सन्निकटस्थ पुरुषोत्तमजी महाराज ही थे। अतः

रहेगी और हमारे वंस के या घर से होयगे सो माने जायगे। आप प्रसन्नता सूं वेग पधारेगे कोई बात को सन्देह जानोगे नहीं। स्नेह प्रतिक्षण वर्द्धमान राखेगे। कुशल पत्र लिखेगे। किमधिकं। मिती कार्त्तिक सुदी ३ संवत् १८७६।

* दामोदरजी महाराज का प्रा० सं० १८५४, नित्यलीला-प्रवेश सं० १८८२ में हुआ। गोविंदरायजी का जन्म सं० १८७६ है।

श्रीहरिः

† श्रीप्रभून आगे सुधि करत है

उहाँ सुधि करोगे।

स्वस्तिश्रीमत्सकलगुणगणालंकृतेषु सौजन्यसागरेषु गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीषु गोस्वामिनी लक्ष्मी-बहूजीनामाशिषः। शमत्र तत्रास्तु अपरंच श्रीजी के घर को द्रव्यादिक की त० बेमरजाद कोई वल्लभ-कुल त० हमारे बंस के बालक त० चाकर करे तो तिनकूं तुम रस्ता चलावो और श्रीजी को घर बिगडवे देनो नहीं, इतनी मुखत्यारी तुम कूं दीनी हमारी प्रसन्नता सूं और या निमित्त द्रव्य खरच पड़े तो श्रीजी को उठेगो, परंतु आपसूं बने इतरो तो आप करोगे त० राजा राणा उमराव अंगरेज वगेरे से बन्दोबस्त करावोगे। हमारे इहाँ की मुखत्यारी तुम कूं सौंपी है या बात कूं उत्थापे कोई तो श्रीजी सूं बहिर्मुख। किमधिकम्। मिती वैसाख सुदी १३ संवत् १८८५।

उन्हें ही यह काम सौंपा गया। संभवतः यह व्यवस्था सं० १८८७ तक चलती रही और नाथद्वारा पर पुरुषोत्तमजी का प्रभाव बना रहा। गोविंदरायजी तथा उनकी माता लक्ष्मीबहूजी महाराजश्री की आज्ञानुसार बर्ताव करती रहीं। महाराजश्री ने भी उदयपुर जाकर बहूजी महाराज की कई असुविधाएँ दूर कीं, और दुष्ट कर्मचारियों के त्रास से उन्हें बचाकर ठिकाने की रक्षा की।

कुछ समय के अनंतर पुरुषोत्तमजी महाराज ने गोविंदरायजी के वयस्क हो जाने अथवा अन्य किसी कारण से बाध्य होकर नाथद्वारा का प्रबंध करना छोड़ दिया। जिसके अनंतर नाथद्वारावालों ने सं० १८८८ में उदयपुर-महाराणा से स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न किया, पर उद्योग करने पर भी वे कृतकार्य न हो सके*।

संभव है, इसी प्रकार की आन्तरिक मन्त्रणा अथवा षड्यन्त्र के कारण पुरुषोत्तमजी महाराज अपना भविष्य उज्ज्वल रखने के लिये नाथद्वारा के प्रबन्ध से पृथक् हो गए, जो उनकी तात्कालिक नीतिमत्ता का एक अच्छा नमूना है। अन्यथा वे भी स्वतन्त्र होने की मृग-मरीचिका के वश होकर उदयपुर-राज्य में अपने गुरुघर की पूर्ववत् श्रद्धा-भक्ति क़ायम नहीं रख सकते थे। नाथद्वारावालों की इस भूल ने राज्य को सशंक बना दिया, जिसके कारण उन पर उदयपुर की कड़ी निगाह रहने लगी। जिससे तंग आकर अन्त में लक्ष्मीबहूजी ने पुनः महाराजश्री को मध्यस्थ बनाया। उन्होंने भी यथाशक्य उनकी मर्यादा पूर्ववत् क़ायम रखने का प्रयत्न किया†।

इस परिवर्तन के समय में नाथद्वारा और कांकरोली के बीच सौहार्द-पूर्ण बर्ताव होने लगा। नाथद्वारावालों के पत्र-व्यवहार से यह ज्ञात हो जाता है कि—समय-

---

* "इसी वर्ष—सं० १८८८—नाथद्वारे के गोस्वामी ने स्वतंत्र होने का विचार कर अपने वकील मुखिया राधिकादास को राजपूताने के एजन्ट गवर्नर जनरल के पास हाज़िर होने के लिये भेजा। पर एजन्ट ने उसे यह कहकर लौटा दिया कि नाथद्वारा उदयपुर-राज्य के अधीन है, इसलिये वहाँ की ओर से वकील होकर मेरे पास तुम्हारे रहने की ज़रूरत नहीं है, तुम्हारे मालिक को मुझसे जो कुछ कहना या पूछना हो, उसे वह महाराणा के द्वारा कहे या पूछे। महाराणा की सिफ़ारिश के बिना उसके कहने-सुनने का कुछ भी ख़याल नहीं किया जा सकता। इसकी सूचना उसने महाराणा को दे दी।" (उदयपुर रा० का इति० पत्र ७२८)

† सं० १८९२ कार्त्तिक बदी ४ का लक्ष्मीबहूजी और गोविन्दरायजी के पत्र।

समय पर दोनों ठिकानों की मित्रता और शर्तों का दुहरान होता रहा है* । इस समय नाथद्वारा तथा कांकरोलीवालों का एक गुट्ट था, जिसका जाति पर अच्छा प्रभाव पड़ता था, और जाति की पंचायत का निर्णय दोनों स्थानों के महाराजश्री के परस्पर ऐकमत्य पर ही अवलंबित रहा करता था ।

चार स्वरूप का मनोरथ

संवत् १८९६ में काशीस्थ श्रीगिरिधरजी महाराज ने श्रीमुकुन्दरायजी को काशी से नाथद्वारा पधराकर मनोरथ करने का विचार किया । और वहाँ के तिलकायित गोविन्दरायजी तथा उनके अभिभाविका माता लक्ष्मीबहूजी से आज्ञा प्राप्त की । वहाँ से स्वीकृति आ जाने पर गिरिधरजी महाराज अपने ठाकुरजी को आषाढ़ मास के पूर्व नाथद्वारा पधरा लाये । आषाढ़ में उन्होंने श्रीनाथजी के साथ मुकुन्दरायजी का छप्पन भोग का मनोरथ कर कार्तिक में चार-स्वरूपों का उत्सव करने का विचार किया । आषाढ़ शु० ५ को श्रीलक्ष्मी-बहूजी ने तथा सप्तमी को गिरिधरजी महाराज ने पत्र द्वारा पुरुषोत्तमदासजी से विज्ञप्ति की कि—वे द्वारकाधीश को का० शु० १० के दिन चार-स्वरूप के उत्सव में पधरावें ।

---

* पत्र की प्रतिलिपि—

श्रीहरिः
श्रीप्रभुन आगे सुधि करत है
उहाँ सुधि करेंगे ।

श्रीविट्ठलो जयति श्रीजी

स्वस्तिश्रीमत्सकलगुणगणालंकृतेषु सौजन्यसागरेषु श्रीगोस्वामि पुरुषोत्तमजीषु गोस्वामि गोविन्दरायस्य नतयः । शमिह तत्रास्तु अपरंच आपकूं तीनो कलम प्रसन्नता सूं लिख दीनी ताकी विगत—

१ गोस्वामि श्रीव्रजरतनजी तथा विनके वंश को बालक तथा बहू बेटी कोहु कबहु श्रीजी द्वारे में आयबे पावे नहीं ।

२ ओर आपके श्रीव्रजभूषणपुरा वगेरे तथा पुरा की रईयत वगेरे कू कबहू टंटा करेंगे नहीं और आपके हमारे स्नेह में कबहूं कसर पडेगी नहीं ।

३ ओर हम और आप मिलके श्रीजी को घर सुधरे ताके लीने मेहनत करनी तथा ओर पन गेर मर्यादा करे तासूँ समजनो तामे राजान सूं तथा ज्ञात सूं तथा और पण काहू सूं विरोध पडे तो आपन दोउ भेले है तथा स्नेह करवे में पण भेले है या भाँति हमने लिख्यो कर दीनो है तामे पलटेगे नहीं । पलटे तो श्रीजी सु विमुख है । उपर लिख्यो सावत है । किमधिकं । मिती फालगुण कृष्ण १३ संवत् १८९६ के वर्षे ।

गिरिधरजी महाराज ने तो इस विषय में अत्यधिक नम्रता बतलाते हुए अपने पत्र में लिखा है कि—मेरी लाज रखना आपके हाथ है। यदि आप श्रीद्वारकाधीश को नाथद्वारा नहीं पधरावेंगे तो यह चार-स्वरूप का उत्सव सम्पन्न न हो सकेगा। ऐसा ज्ञात होता है कि—महाराजश्री ने अन्नकूट के दिन और पुनः इस का० शु० १० को होनेवाले मनोरथ में श्रीद्वारकाधीश को पधराकर गिरिधरजी महाराज (काशीस्थ) के अनुरोध की रक्षा की थी। इस समय श्रीनाथजी के पास श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीद्वारकाधीशजी, श्रीनवनीतप्रियजी तथा श्रीमुकुन्दरायजी पधारे और महान् उत्साह के साथ यह महोत्सव पूर्ण हुआ।

छप्पन भोग का मनोरथ

पुरुषोत्तमजी महाराज श्रीप्रभु की सेवा के बड़े प्रेमी एवं विविध मनोरथों के द्वारा अपने संचित द्रव्य का सदुपयोग करने के आग्रही व्यक्ति थे। सं० १८९६ मार्गशीर्ष कृ० १० को इन्होंने अपनी पुत्री श्रीजमना बेटीजी का विवाह-संस्कार बड़े रंग-ढंग से किया, और उसके बाद प्रभु का मनोरथ करने का विचार किया। फलतः बड़े पैमाने पर तैयारी की जाने लगी। गुजरात आदि प्रदेशों में वैष्णवों के लिये निमंत्रण-पत्र भेजे गये, और सजातीय महानुभावों तथा राजा-महाराजा, उमराव, ठाकुर, जागीरदार, सेठ आदि सभी को आग्रह-पूर्वक आमंत्रण दिया गया। आनेवाले दर्शनार्थियों के निवास, भोजन-प्रसाद आदि का सुचारु प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार सं० १८९६ पौष कृष्ण ७ के दिन श्रीद्वारकाधीश का बड़े उत्साह के साथ छप्पन भोग का मनोरथ हुआ। यह छप्पन भोग मंदिर के विशाल गोवर्द्धन-चौक में किया गया, जिसमें नाना प्रकार के पक्वान्न मिष्ठान्न, सखडी तथा फल आदि सामग्रियों से समस्त चौक भर गया था। महाराणा सरदारसिंहजी तथा हजारों दर्शनार्थियों ने श्रीप्रभु के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य किया। उत्सव के अनन्तर महाराजश्री ने सेवक, टहलुआ तथा कार्यकर्ताओं को अच्छा पारितोषिक वितरण किया, और उपस्थित समाज को प्रसाद से सन्तुष्ट किया था।

महाराजश्री का व्यक्तित्व

यह महाराजश्री जिस प्रकार राजा, महाराजा और सरदारों पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालते थे, उसी प्रकार जाति के ऊपर भी उनका दबदबा था। नाथद्वारावाले दाऊजी महाराज के समय जहाँ महाराजश्री का बराबरी का दावा था, वहाँ तिलकायित गोविन्दरायजी की बाल्यावस्था के समय

उनके स्वत्वाधिकारों की रक्षा करने का भी उत्तरदायित्व उन पर था। पत्रों के देखने से सिद्ध होता है कि श्रीलक्ष्मीबहूजी की प्रार्थना और आग्रह पर नाथद्वारा की तात्कालिक विषम समस्याओं को सुलझाने में महाराजश्री ने काफ़ी प्रयत्न किया था। जहाँ महाराजश्री न्यायोचित अधिकारों के लिये नाथद्वारा के बाल-तिलकायित का पक्ष करते थे, वहाँ अव्यवस्था, अधाधुन्धी और अनुचित कार्यों से अपने को तटस्थ भी रखते थे। यही कारण था कि—गोविन्दरायजी के उदयपुर से स्वतन्त्र होने के समय वे तटस्थ हो गये थे।

महाराजश्री के समय जातीय प्रायश्चित्त-सम्बन्धी बहुत-से झगड़े हुए। ऐसा भासित होता है कि—श्रीवल्लभाचार्य के वंशजों में इसी समय से प्रायश्चित्त-युग का प्रारंभ हुआ, और जातीय उच्च आदर्श की न्यूनता आने लगी। इसका कारण विद्वत्ता एवं सात्विक जीवन का प्रायः अभाव और वैभव-विलासिता का सूत्रपात था। अस्तु। जहाँ तक विदित हुआ है, पुरुषोत्तमजी महाराज ने अपने निर्णयों की बहुत कुछ रक्षा की है। उन्हें जो कार्य करना होता था, वे करते थे, और जो नहीं करना होता था, उसे वे किसी से प्रभावित होकर भी नहीं करते थे। इसी विशेषता के कारण जाति का गोकुल-प्रान्तीय समुदाय इनकी समालोचना और छिद्रान्वेषण भी करता था। ऐसे भी पत्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें महाराजश्री के स्वेच्छाचार के प्रति जातिवालों ने अंगुलीनिर्देश कर उनसे प्रायश्चित्त लेने का षड्यन्त्र चलाया है, पर उन सबको इनके विशाल व्यक्तित्व से पराहत होकर अन्त में चुप होकर बैठ जाना पड़ा है।

महाराजश्री ने अपने समय में कांकरोली-ठिकाने को अधिकांश सम्पन्न बनाने का कार्य किया। राजनैतिक वातावरण की विषमता और उदयपुर के महाराणाओं के थोड़े-थोड़े समय में ही बदलते रहने के कारण, यद्यपि जैसा चाहिये, अवसर नहीं मिला; फिर भी एतदर्थ प्रयत्न कर सफलता प्राप्त की गई। इन्होंने द्वारकाधीश की सेवा-शृंगार-प्रणाली क़ायम की और मंदिर की श्रीवृद्धि। इनके समय में कांकरोली-नगरी की उन्नति हुई, और उसमें एक नियमित शासन-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। इन्होंने ठिकानों से प्राप्त जागीर का भी सुप्रबन्ध कर यथावस्थित हासिल मिलते रहने के लिये योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की। सं० १८९१ में जयपुर की समस्त जागीरों की हासिल के लिये प्रति वर्ष ६००१) रु० पर दस साल का ठेका गोरवा श्रीकृष्ण को दिया गया।

महाराजश्री के कोई पुत्र-संतति नहीं थी, यह पहिले कहा जा चुका है। एतदर्थ इन्होंने प्रथम पत्नी के गत हो जाने पर द्वि० विवाह भी किया था, जिसे अधिक समय भी व्यतीत नहीं होने पाया था कि सहसा इनका अन्तिम समय आ पहुँचा, जिससे वह अपना कोई उत्तराधिकारी भी नियत न कर सके।

नित्यलीला-प्रवेश

सं० १९०३ में महाराजश्री सर्वदा की भाँति गुजरात का परिभ्रमण करने गए और बड़ौदा में जाकर अपना मुक़ाम किया। यात्रा करते समय स्वस्थ और पूर्ण हृष्ट-पुष्ट होने के कारण किसी को भी इनके रोगाक्रांत होने की संभवना नहीं थी, पर सहसा वे बीमार पड़ गए। उपस्थित परिकर एवं वैष्णव-समाज ने कुशल वैद्यों के द्वारा उपचार कराया, पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में आश्विन कृ० ७ के दिन महाराजश्री का बड़ौदा में नित्यलीला-प्रवेश हो गया, जिससे समस्त परिवार और वैष्णव-वर्ग में शोक छा गया। यहीं टाँकाकुई के श्रीद्वारकाधीश के मंदिर के पीछे खेतों में महाराजश्री का अन्तिम संस्कार किया और वहाँ एक स्मारक बनाया गया *। उक्त महाराजश्री की पेटलाद और डभोई, इन दो स्थानों में भी बैठकें हैं। महाराजश्री के अनन्तर ४ वर्ष के बाद उनकी पत्नी श्रीपद्मावती माजी महाराज ने श्रीगिरिधरलालजी को गोद लेकर उत्तराधिकारी बनाया।

परिशिष्ट—१

महाराजश्री के समय आगत राजा, महाराजा और उमराव अथवा भेंट

संवत्	मिती	नाम तथा गाम
१८७८	मार्गशीर्ष बदी ५	महाराजा सूरतसिंहजी, बीकानेर। भेंट आई।
१८८०	आश्विन बदी ५	रावत सवाई महासिंहजी, वेगूँ की भेंट।
१८८५	श्रावण बदी २	महाराणा भीमसिंहजी के कैलासवास और रानियों के सती होने पर भेंट।
,, ,,	मार्गशीर्ष सुदी २	महाराणा जवानसिंहजी। गादी बैठने के बाद आये।

* ऐसा प्रसिद्ध है कि—अन्तिम संस्कार की अग्नि के शान्त हो जाने पर महाराजश्री का यज्ञोपवीत और तुलसी-माला प्राप्त हुई, जो हरि-भक्तिवाले सेठ के यहाँ अद्यापि विद्यमान है।

१८८७	वैशाख सुदी १०	महाराजा गोविन्दसिंहजी।
१८९०		ठाकराँ माधोसिंहजी, गाम रायपुर जुटाना।
१८९१	आश्विन बदी १२	रावतजी महासिंहजी बेगूँवालों की भेंट।
,, ,,	,, ,, ,,	महाराजा नवलसिंहजी, जहाजपुर।
,, ,,	,, ,, ,,	ठाकराँ जोधसिंहजी, गाम बदनौर।
१८९१		जयपुर के गामों के मुकाते गोरवा श्रीकृष्णजी हस्ते १० साल की उघाई साठ हजार एक सौ रुपए की लिखत हुई, प्रतिवर्ष ६००० रु०।
१८९३	आषाढ़ सुदी ११	बनेड़ा-राजाजी।
१८९४	श्रावण सुदी ४	रावतजी सवाई महासिंहजी की भेंट आए।
१८९६	पौष बदी ७	महाराणा सरदारसिंहजी, छप्पनभोग के दिन आये।
१८९७	ज्येष्ठ शु०	जैसलमेर के महाराज गजसिंहजी आये।

जो स्वयं आये, उनके नाम दिये गये हैं, और जिनकी भेंट आई है, उसका उल्लेख किया गया है। प्राचीन रोकड़ में कार्त्तिकादि संवत् और अमान्त मास को दिया गया। चैत्रादि और पूर्णिमान्त बतला दिया गया है। बीच की कुछ रोकड़ों के अनुपलब्ध होने या बिगड़ जाने से अन्य नोट नहीं मिल सके।

परिशिष्ट—२

श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज के नाम आवश्यक पत्र

(१) व्रजपुरा (नाथद्वारा) के बाबत महाराणा भीमसिंहजी का पत्र—

श्रीएकलिंगजी

श्रीबाणनाथजी श्रीनाथजी

म्हारी डंडवत मालम व्हे।

स्वस्तिश्री सरब ओपमा लायेक श्रीम्हाराजाधिराज म्हाराजश्री श्रीगुसाईजी श्रीश्री-

प्रसोत्तमलालजी म्हाराज श्रीहजुर सदा सेवग दासानदास राणा भीमसिंघ री डडव्रत, पगे लागणो मालम व्हे । अप्र आपरो कीरपापत्र आयो समाचार वाचे माथे चढ़ाये ली दो । आपसु पुरा बाबत श्रीश्रीगुसाईंजी म्हाराज श्रीश्रीदामोदरजी म्हाराज रा भला मनष खेचल करी जीरो जाब लखवा म्हे आयो सो म्हारा लखवारी ही जभी तो म्हे सगली लखी ने पुराम्हे श्रीश्रीठाकुर श्रीश्रीदुवारकानाथजी रो अमल वो म्हारे तो आप सवाये कई दूजी बात न्ही है । आप घणा प्रसन रहेगा और समाचार मुनसी अमरलाल अरज करेगा । कीरपा करे पत्र लखवो करवी अठे तो आपरा हुकम री बात हे । संवत् १८७५ र्वे काती सुद ५ ... ।

※ ※ ※

(२) अधिकार बाबत महाराणा जवानसिंहजी का पत्र—

श्रीएकलिंगजी

श्रीबाणनाथजी श्रीनाथजी

स्वस्तिश्री सरब ओपमा लायेक म्हाराजाधिराज म्हाराजश्री श्रीश्रीगुसाईजी श्री-पुरुषोत्तमजी म्हाराज हजुर सदासेवग दासानदास राणा जवानसिंघ री सासटाग डंडवरत पगे लागणो मालम व्हे । १ अप्रं अठे ऊठारी बात झुठी साची ऊठी जी ऊप्रे आपसु बीणती कराई जद आपरो पदारवो अठे हुवो सो आप प्रसन्न व्हेने पत्र लख दीदो अर सेवग या बीणती लख दीदी है सो अणी माहे दुसरी न्ही वेगा । आप प्रसन्न रहेगा.........श्रीदवारकानाथजी म्हारे माथे वीराजे हे, सो म्हासु बणे जणी मरजाद सेवा म्हे कसर नहीं पडेगा । त्था आपरी मरजाद म्हे कसर नहीं पडेगा...काकडोली म्हे त्था दुजा पटा रा गामा म्हे कणी म्हे चुक तगसीर पडेगा तो न्याव कांकडोली मे वेगा । ऊठे दुरस न्ही वे और अठे आवे तो न्याव कर समजाये देवायगा । तगसीर आवेगा सो भंडार पुगाये देवायेगा कुंवा झगडा ऊठे वे जी से अठे बुलावा सो मेल देगा । न्याव करावा श्रीलालजी म्हाराज छोटा मंदरवाला री आपरा गरमे मरजाद रे जीमे तफावज न्ही पाडेगा । हमेसा सनेव रवो करे अर अणी में कोई वचहार आदमी भ्रात पाडवारी करे ज्यो आपने दीखे तो सेवग ने आज्ञा लखे । सो ज्यो भ्रात पाडवारी सावत पकी वेजावेगा तो कसुर प्रमाणे करेगा जीने संज्या दागा ओर पंडपो म्हे सुर लख्यो करपो हे । सेवा वा चाकरी भडार

ई हे । जणी म्हे कसर पडे तौ न्यावरी राट सु बाजवी साबत होये सो आपसु बीणती कराये । कसुर प्रमाणे लीख्या देणी...चाकर हे सो आपरी आज्ञा प्रमाणे सेवा चाकरी करे । जणारी तो आप प्रवसती रखावेगा अर आपरी आज्ञा ऊलंघन करेगा जणी रे आप लखेगा जी प्रमाणे सीख्या देवायगा कसुर प्रमाणे देखने । संवत् १८९४ वर्ष काती सुद १० भोमे ।

* * *

(३) कर्नल जान सदरलेन्ड का पत्र—

श्रीरामजी

सिधिश्री सरब ओपमां बिराजमांन गुशांईजी श्रीपरशोतमजी महाराज जोग्य करनेल जांन सद्रलेन साहिब बहाद्र लिखावतां डंडवत बचावसी अठा का समाचार भला है । म्हाराज का सदा भला चाहिजै । अपरंच खरीता आपका आया बहोत खुसी हुई वास्ते परवाने राहदारी ओर चपडासी कै आपने लिखा थो सो चपडासी कुं मयै परवाने कै आपकै मुखया की साथ कर दीया है सो जानोगे । कृपा करके हमेसे खूसी मीजाज की लिखावोगै । ता० २९ अकतुवर सन १८४२ ईस्वी

जान सदरलेन्ड (अंग्रेज़ी में दस्तखत)
२९, अक्टूबर, १८४२

* * *

(४) नाथद्वारा के प्रबन्ध-सम्बन्ध में कर्नल टामस राबिन्सन का पत्र—

४५ नंबर श्रीरामजी १

(अंग्रेज़ी में दस्तखत)

सिधश्री कांकडोली सुभ सुथाने सरब उपमां लायक गोसामीजी श्रीपुरसोतमानन्दजी महाराज एतांन राजेश्री करनेल तामीस राबिनसन साहेब बाहदुरजी ली० सलाम बचावसी ईठारा स्माचार भले है । आपके सदा भला चाहिजे । अपरंच खरीता आपका माघ बुदी १३ का लीखा आया । स्माचार बांच वाकीफ हुआ । श्रीजी दुवारे की वेबदोबसती का स्माचार सुण अफसोस हे । हमने ईसके बदोबसत वासते श्रीद्रवार महा-

राणा साहेब बहादुर ओर गोसामी श्रीगोबींदरयजी महाराज के नाम खरीते लिखे हे। ईकीन है महाराणा साहेब की मेरबानी से बदोबसत हो कदीम मरजाद माफीक बरतन रेसी। आप खातर ज्मा राखसी ओर कांम काज हमेसे लीखसी। समत १९०१ का माह सुदी २, तारीख ८ फरवरी १८४५ ईसवी।



अष्टम प्रकरण

सं० १६०३ से सं० १६३६ तक

श्रीपद्मावती माजी महाराज

(प्रा० सं० १८६२, नि० सं० १६३६)

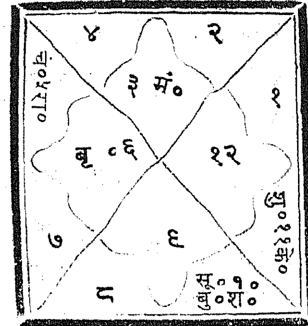
जन्म और विवाह—श्रीपद्मावती माजी महाराज का जन्म सं० १८६२ माघ कृष्ण ५ बुधवार* को हुआ। यद्यपि इनके असली जन्म-पत्र में संवत् के अंक स्पष्ट नहीं थे, पर एक वर्ष-पत्र के संवत् से उक्त जन्म-संवत् की पुष्टि हो जाती है †।

सं० १८६८ आषाढ़ मास में, जबकि इनकी वय ६ वर्ष की थी, इनका विवाह कांकरोली के नवम तिलकायित गो० श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज के साथ हुआ। यह महाराजश्री की द्वितीय पत्नी थीं। जिस समय इनका विवाह हुआ, उस समय महाराजश्री की वय लगभग ५१ वर्ष

---

* जन्म-कुंडली—

संवत् १८६२ शाके १७५७ प्रवर्तमाने वर्षे माघ कृष्ण ४ तिथौ घटी २०।५२ परं ५ बुधवासरे पूर्वा फा० नक्षत्रे घटी ११।११ परं उत्तरा फा० जन्मर्क्षे शोभनयोगे घटी १०।२४ कौलवकरणे मकरार्क गतांशाः १०।५३ सूर्योदयात् गत घटी २४।२५ समये वागरोदी रघुनाथ भट्ट—गृहे श्रीपद्मावती जन्म।



† इनके पितृगृह के विषय में प्राचीन रोकड़ में एक सूचना लिखी मिली है। पद्मावती माजी महाराज का पितृगृह हैदराबाद से १६ कोस दूर नरसिंहपुर, पितृनाम—अनन्तराम भट्टजी, मातृनाम—अंतमा अम्माजी। अम्माजी तीन बहिन थीं—१ रामक्का, २ कृष्णाक्का, ३ चेसक्का। माजी महाराज का प्रथम नाम तीम्मक्का था। कृष्णचन्द्र भट्टजी—माजी महाराज के पितृपक्ष के काका और गो० दाऊजी दामोदरजी साङ्ग थे। पितृगोत्र—कौशिक, यजुर्वेद। अतः यह कहाँ तक प्रामाणिक है, कहा नहीं जा सकता, क्योंकि जन्म-कुंडली और इसके पितृनाम में अन्तर है।

की थी। महाराजश्री की प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया था और उनके केवल दो पुत्रियाँ थीं, पुत्र सन्तति कोई नहीं थी, इसलिये यह विवाह किया गया। इसी वर्ष मार्गशीर्ष ५ को इनका कांकरोली में नवगृह-प्रवेश हुआ।

वैधव्य—गार्हस्थ्य सुख की बात तो दूर रही, युवावस्था को भी जब यह प्राप्त नहीं हुई थीं, सं० १६०३ में, इनके पति का गोलोकवास हो गया, और १२ वर्ष की वय में इन्हें बाल-वैधव्य का दुःसह दुःख उठाने को बाध्य होना पड़ा। वास्तव में यह इनके साथ एक सामाजिक अन्याय था, जो दैवेच्छा से होकर ही रहा।

पति के इस असामयिक निधन के कारण इनको जो दारुण दुःख उठाना पड़ा, वह लेखनी से लिखा नहीं जा सकता, किसी योग्य अवस्थावाले पुत्र के न होने और कांकरोली के घर का भार सँभालने की चिन्ता से इन पर जो गुरुतर शोक और उतरदायित्व आ पड़ा, वह भी एक विचारणीय विषय हो गया। फिर भी इन्होंने ऐसे समय धैर्य से काम लिया, और ठिकाने का कार्य सँभालकर श्रीद्वारकाधीश की आजन्म सेवा की, यह एक अभिनन्दनीय कार्य था।

इस समय मेवाड़ के राजसिंहासन पर महाराणा सरूपसिंहजी* विराजमान थे, यह महाराणा योग्य शासक होने के साथ-ही-साथ धर्मनिष्ठ और प्राचीन मर्यादा के परिपालक थे। इस कारण माजी महाराज को किसी राजकीय हस्तक्षेप का भय नहीं था, माजी महाराज के इच्छानुसार महाराणा ने ठिकाने का प्रबंध कर दिया, और ठिकाने की समस्त जिम्मेवारी उनको ही सौंप दी। माजी महाराज के समय में उदयपुर में मेहता शेरसिंहजी का प्राधान्य था, जो कांकरोली के घर के शिष्य थे। अतः वे माजी महाराज के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते और उन्हें कार्य-संचालन में उचित परामर्श दिया करते थे। समय-समय पर आगत पत्रों से इसकी पुष्टि होती है।

गिरिधरलालजी को गोद लेना

सं० १६०४ से लेकर सं० १६१८ के लगभग जब तक कि गोद लिये हुए गिरिधरलालजी महाराज वयस्क नहीं हो गये, तब तक माजी महाराज ने श्रीद्वारकाधीश की सेवा और ठिकाने का अच्छा प्रबंध किया। प्रथम तीन-चार वर्ष तक इसी प्रकार कार्य चलता रहा, पर वैष्णव-सृष्टि के संतोषार्थ और तृतीय घर की गादी चलाने के लिये किसी तिलकायित की आवश्यकता थी। किसी योग्य बालक को गादी पर बैठाने और उसे अपने अधीन रखकर सुशिक्षित

* इनका जन्म सं० १८७१ पौष बदी १३, राजगद्दी सं० १८९६ आषाढ़ सुदी ८ और कैलासवास सं० १६१८ कार्तिक शु० १४ को हुआ था।

बनाने के विचार से माजी महाराज ने छोटी अवस्था के किसी बालक को ही गादी बैठाने का निश्चय किया।

सं० १६०७ के प्रारम्भ में माजी महाराज ने मथुरा से पत्र-व्यवहार कर गोस्वामी श्रीद्वारकेश्वरजी के कनिष्ठ पुत्र लालजी यशोदानन्दनजी को गोद लेने का विचार किया, यह द्वारकेश्वरजी गुसाईंजी के प्रथम पुत्र श्रीगिरिधरजी के वंशज थे। महाराणा के आदेश से परस्पर कुछ बातें तय हुईं और आपस में लिखा-पढ़ी की गई, माजी महाराज ने कुछ शर्तें लिखीं, जिनको यशोदानन्दनजी तथा उनके पिता द्वारकेश्वरजी ने स्वीकार किया। महाराणा के आदेश के अनुसार भी तीनों ओर से लिखा-पढ़ी हुई और सब कुछ तय हो जाने पर लालजीय शोदानन्दनजी को गोद लेने का प्रबन्ध हो गया।

लालजी यशोदानन्दनजी, जिनका कांकरोली में श्रीगिरिधरलालजी नाम रक्खा गया, का जन्म सं० १८६८ फाल्गुन कृ० ४ के दिन हुआ था।

प्रस्तुत विषय में माजी महाराज को पत्र लिखकर श्रीयशोदानन्दनजी (गिरिधरलालजी) ने जो शर्तें स्वीकार कीं, वे इस प्रकार थीं—

श्रीहरिः

श्रीमन्नवनीत प्रियो जयति

स्वस्तिश्रीमत्सकल गुणगणालंकृतासु सौजन्य सुरसरित्सु गोस्वामिनी श्री ६ माजी महाराज श्रीपद्मावती बहूजी महाराज कूं आज्ञाकारी चिरंजीव लालजी यशोदानन्दनस्य प्रणतयः शमिह तत्रास्तु, अपरंच श्रीदरबार की सत्ता ले श्रीदादाजी महाराज के नामे लिखी जो आपके लालजी कूं श्रीद्वारकानाथजी की सेवा के लीने पठावोगे सो श्रीदादाजी ने लिखितं कर दीनो है सो हमारे कबूल है और या प्रमाणे हमने लिख दीनो है—

१ श्रीद्वारकाधीशजी की सेवा सिंगार आपके तथा श्रीबेटीजी के करते बचेगो सो आपकी आज्ञा ते मैं करूँगो।

२ श्रीदोई बेटीजीन को सिरस्ता श्रीमहाराज ने बाँध दियो है तथा आप बाँध देंगे श्रीदरबार की सत्ता सूं तामे कसर पड़ेगी नहीं।

३ जमाई भटजी के सिरस्ता प्रमाणे इनकूं वरतेंगे।

४ श्रीद्वारकाधीशजी के भंडार तथा मंदिर को काम सामधरमी चाकर आपकी आज्ञा और श्रीदरबार की सत्ता को होय जासूं करावनो, बिगाडू आदमी के चाले लगनो नहीं।

५ श्रीदरबार के माथे श्रीद्वारकाधीशजी विराजे हैं और उनको गुरुद्वारा है, सो सब तरह की ठीक श्रीदरबार कूं राखी चाहिजे और हम श्रीदरबार की बीनती प्रमाणे वरतेंगे चलेंगे।

६ और सब तरह सूं हुकुम के मालिक आप है, आपके हुकुम बिना हम कछू करेंगे नहीं। और हम कोई सटपट करै ताके चाले लगै नहीं और हमारी ओर सूं कोई भूल साबित होय तो एक बेर तो आप समुझाय दीजियो, कदाच हम आपके समझाये प्रमाणे नहीं चलै तो आप और श्रीदरबार राखेंगे जेसे रहैंगे ताको उज्जर नहीं करेंगे। और आप सिरस्ता बांध देंगे ता प्रमाणे करेंगे। हमारे तो आपकी आज्ञा प्रमाणे और श्रीदरबार की सत्ता प्रमाणे चलेंगे।

७ हमारे पिता काका बाबा भाई सगे सोई वगैरह कोई आवे सो हमारे पास नहीं रहेंगे। और विनके ठेठ सूं सेवा सिंगार को ब्योहार है, सो आवें तो दोय च्यार दिन रेह के चले जावेंगे। हमारे उनसूं कछू वास्तो नहीं।

८ श्रीठाकुरजी के घर में नौकर खवास बाई अधिकारी भंडारी मुखिया साबधरमी होय तो जासूं आपकी आज्ञा प्रमाणे, काम लेंगे हमार आदमी कोई रहेगो नहीं।

ये लेख हमारी राजी खुसी सूं लिख दीनो। यामे कसर पड़े, तो श्रीद्वारकाधीशजी सूं बहिर्मुख होय, वा श्रीमाजी महाराज हजूर ये कलमे लिख दीनी और हम यामे कसर पाडे तो श्रीमाजी महाराज हम कूं दूरकर मरजी होय जिनकूं गादी बैठावे श्रीदरबार की सत्ता सूं, जामे हमारो उज्जर नहीं। और जो बिगाडू आदमी हमारे पास राखे, वाकूं श्रीदीवानजी पकड़ लेये। हमारी सद्रा आज्ञा है। ये अक्षर हम राजी खुसी सूं लिख पठाये, कृपा स्नेह प्रतिक्षण वर्द्धमान राखेगे। कुशल पत्र लिखेंगे, किमधिकम् मिती मार्गशीर्ष शुक्ल १३ शनौ संवत् १९०८ (अन्तिम अंक स्पष्ट नहीं है।) अक्षर गोस्वामि द्वारिकेश्वरजी के तथा लालजी गोपिकालंकारजी के।

ऊपर को लिख्यो सही ये अक्षर श्रीलालजी यशोदानन्दनजी के कहे सूं करे। अक्षर लालजी गोपिकालंकारस्य। ऊपर को लिख्यो सही। ये अक्षर लालजी यशोदानन्दनजी के कहे सूं करे।

अक्षर लालजी यशोदानन्दनजी के, ऊपर को लिख्यो सही।

श्रीमथुरानाथजी के मंदिरवारेन की सेवासिंगार वगेरे की परंपरा की रीत है, तामे कभी कसर नहीं पड़ेगी।

——:o:——

स्थानीय प्रबंध

सं० १९०८ फाल्गुन कृ० ४ के दिन यशोदानन्दनजी को माजी महाराज ने गोद लिया और श्रीगिरिधरलालजी—इस नाम से कांकरोली के घर का तिलकायित बनाया। महाराणा ने भी इसके लिये राजकीय दस्तूर भेजकर मान्यता प्रदान की। गिरिधरलालजी ने भी अपनी माता की आज्ञा में रहकर श्रीद्वारकाधीश की सेवा की और ठिकाने का प्रबन्ध करना सीखा। गिरिधरलालजी महाराज के तिलकायित हो जाने पर भी उनकी

बाल्यावस्था के कारण ठिकाने का सारा काम माजी महाराज के नाम से ही होता था और महाराणा के यहाँ से माजी महाराज के नाम ही लिखा-पढ़ी होती थी।

माजी महाराज ने गिरिधरलालजी का १० वर्ष की वय में सं० १९०८ में कोटा में विवाह किया। महाराजश्री की धर्मपत्नी का नाम श्रीकमलावती बहूजी था।

जब तक गिरिधरलालजी महाराज जीवित रहे, तब तक वे और उनकी पत्नी कमलावती बहूजी माजी महाराज की आज्ञानुसार वर्तन करते रहे। पर सं० १८३५ में गिरिधरलालजी का स्वर्गवास हो जाने पर उनकी पत्नी कमलावती बहूजी से माजी महाराज का कुछ मनमुटाव हो गया।

गिरिधरलालजी के कोई सन्तान नहीं थी, अतः उनकी पत्नी किसी अन्य गोस्वामिबालक को गोद लेना चाहती थीं, पर यह उनकी सास की विद्यमानता में अनधिकार चेष्टा थी। इधर माजी महाराज ने बालकृष्णलालजी को सं० १९३६ में गोद लिया, इसी कारण कमलावती बहूजी अपनी सास से अलग होकर मथुरा जा बसीं। यहाँ उन्होंने श्रीगोवर्द्धननाथजी का मन्दिर कुछ द्रव्य लेकर भेंट-स्वरूप में किसी से ले लिया और आजीवन यहीं निवास किया। बालकृष्णलाल-जी महाराज ने भी ३००) मासिक देकर उनका प्रबन्ध कर दिया। सं० १९६७ फाल्गुन कृ० १४ के दिन कमलावती बहूजी का मथुरा में देहान्त हो गया। इसके बाद यह मन्दिर और सम्पत्ति कांकरोली-ठिकाने के अधिकार में आ गयी*।

गिरिधरलालजी को गोद लेकर माजी महाराज ने जिस निश्चिन्तता का अनुभव किया था, वह उनके असामयिक निधन और किसी उत्तराधिकारी पुत्र के अभाव के कारण फिर न रही, माजी महाराज को पुनः इसके लिये चिंता करनी पड़ी।

संवत् १९३६ के प्रारंभ में माजी महाराज ने गुसाईंजी के छठे पुत्र श्रीयदुनाथजी के वंशज मथुरानिवासी श्रीकल्याणरायजी के तृ० पुत्र श्रीबालकृष्णलालजी को अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित किया, और महाराणा श्रीसज्जनसिंहजी से पूँछकर संवत् १९३६ कार्त्तिक बदी ७ के दिन उनको कांकरोली के घर का तिलकायित बनाया। महाराणा ने कांकरोली आकर राजकीय दस्तूर किया, और कांकरोली के स्वायत्त शासन के लिये १० कलमे नियत कीं, जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

महाराजश्री की अवस्था इस समय १२ वर्ष की थी, अतः ठिकाने का सारा कामकाज माजी महाराज की आज्ञा से ही होता था। इस प्रकार उन्होंने क्रमशः गिरिधरलालजी और बालकृष्ण-लालजी, इन दोनों की योग्य वय होने तक राज्य का भार सँभाला। कहना पड़ेगा कि—इनके

* इस मन्दिर को सेठ कुशाल ने सन् १८३० (सं० १८८७) में बनवाया था, जो बड़ौदा-राज्य के सेठ बाबू कामदार नाम से प्रसिद्ध थे। "मथुरा" पत्र १७८।

समय में इस ठिकाने को किसी प्रकार की असमञ्जस उठानी नहीं पड़ी। यह सम्प्रदाय में पहिला ही संयोग था, जब एक महिला ने इस योग्यता के साथ राजकीय कार्य का संचालन किया। पुत्र-संतति के अभाव में राज्य का कितना हस्तक्षेप हो सकता है, यह बात राजनीति के जानकारों से छिपी नहीं है। ऐसी अवस्था में अपने ठिकाने की मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए उसे किसी प्रकार के आर्थिक संकट में न पड़ने देना, यह सर्वतोभावेन योग्य व्यक्ति के अभाव में असंभव है। इन सब बातों को देखकर कहना पड़ता है कि—पद्मावती माजी महाराज में जो योग्यता विद्यमान थी, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रदेश-यात्रा और राज्यसम्मान

अपने पति के गत हो जाने पर श्रीपद्मावती बहूजी, जो अब माजी महाराज के नाम से सम्बोधित होने लगी थीं, किं-कर्तव्य-विमूढ़ बनकर बैठी नहीं रहीं। उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता और तत्सामयिक चतुर कर्मचारियों के द्वारा श्रीद्वारकाधीश की सेवा का प्रबन्ध करना शुरू कर दिया। उन्होंने ठिकाने की प्रतिष्ठा और मना-मर्यादा रखकर उसे समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। एतदर्थ अपने घर के शिष्य सेवक राजा-महाराजाओं के साथ सम्मान-पूर्ण व्यवहार चालू रक्खा और आवश्यकता पर प्रदेश-परिभ्रमण कर स्थानीय वैभव बढ़ाने का प्रयत्न किया।

सर्वप्रथम माजी महाराज ने अपनी पुत्री श्रीव्रजकुँवरि बेटीजी के साथ सं० १६०६ के वैशाख में देवगढ़-रावरणजीतसिंहजी के आमंत्रण पर देवगढ़ की यात्रा की, जहाँ इनका राजकीय सम्मान किया गया। देवगढ़-राव रणजीतसिंहजी ने दो कोस आगे आकर स्वागत किया, और शहर के दरवाजे से महल तक स्वयं चमर डुलाते हुए, नंगे पैर साथ में चलकर उन्हें मुकाम पर पधराया। ठिकाने की ओर से सब प्रकार के साधन उपस्थित किये गये।

यहाँ कुछ दिन निवास हो जाने के अनन्तर एक दिन माजी महाराज की महलों में पधरावनी हुई, जहाँ भेंट में १४५७) चढ़ाये गये, और माजी चम्पावतजी का बनवाया हुआ नया मन्दिर कांकरोली-ठिकाने को भेंट किया गया। यहाँ के ठाकुरजी की पुष्टिमार्गीय पद्धति से प्रतिष्ठा की गई और साम्प्रदायिक सेवा-प्रणाली प्रचलित हुई।

देवगढ़ से लौटते समय मार्ग में आमेट-राव पृथ्वीसिंहजी ने अपने महलों में सत्कार के साथ पधरावनी की और भेंट चढ़ाई।

सं० १६०६ आश्विन बदी १ को माजी महाराज श्रीगिरिधरलालजी महाराज को लेकर उदयपुर पधारे, जहाँ महाराणा सरूपसिंहजी ने उनका राजकीय परम्परागत सम्मान किया, और ठिकाना का क़र्ज़ चुकाने के लिये पच्चीस हज़ार रुपया चांदौडी भेंट किया। सं० १६१३ आषाढ़

शु० ६ को वे पुनः उदयपुर पधारे और वहाँ से श्रावण शु० ४ को वापिस कांकरोली आए। इस यात्रा में महाराणा ने पुनः भेंट आदि चढ़ाकर इनका सम्मान किया।

सं० १६१० जेष्ठ शु० ६ को रावत सवाई महासिंहजी ने अपने ठिकने की जमीन में से ८ बीघा जमीन भेंट कर प्रतिवर्ष उसका हासिल कांकरोली पहुँचाते रहने का ताम्रपत्र किया*। यह रावतजी इस घर के सेवक थे, और यह जमीन उन्होंने भागवत तथा तुलसीजी के विवाह के अर्थ भेंट की थी।

सं० १६१४ पौष बदी १० गुरुवार को माजी महाराज गिरिधरलालजी को लेकर गुजरात की यात्रा और प्रदेश करने गए, और वहाँ इस घर की वैष्णव-सृष्टि से सेवार्थ द्रव्य प्राप्त किया। यह यात्रा प्रायः एक वर्ष में समाप्त हुई, और यह सब सं० १६१५ कार्तिक बदी अमावस्या को कांकरोली आए।

सं० १६१६ में माजी महाराज ने ८४ कोस व्रजमंडल की यात्रा की, और यथास्थान इन्होंने श्रीप्रभु के विविध मनोरथ कर वैष्णव-सृष्टि को आनंदित किया। इस यात्रा में कई हजार वैष्णव यात्री साथ थे, जिनका समस्त प्रबंध और रक्षा माजी महाराज की ओर से किया गया था।

सं० १६२८ आश्विन कृ० ११ शुक्रवार के दिन पुनः माजी महाराज ने व्रजयात्रार्थ कांकरोली से प्रस्थान किया, और मथुरा जाकर दूसरी बार सपरिकर ८४ कोस व्रजमंडल की सविधि यात्रा सम्पूर्ण की।

इसी वर्ष पौष शु० ६ शुक्र के दिन वैष्णवों के आग्रह से यह मन्दसोर प्रदेश करने गये। जहाँ वैष्णवों ने बड़े उत्साह और श्रद्धा से इनका स्वागत किया, तथा सेवार्थ द्रव्य भेंट किया।

सं० १६२६ मार्गशीर्ष कृ० ११ मंगलवार को माजी महाराज अलवर पधारे, तब बाई साहबा रूपकुँवरि तथा राजाजी शिवदानसिंहजी बाग में पेशवाई के लिये आये, और लवाजमा के

---

* ता० नं० ४२। ७

श्रीव्रजगोपालजी। श्रीसुदर्षणजी

राम

सिद्धिश्री महाराजाधिराज महाराजा रावजी श्रीसवाई महासिंहजी वचनात श्रीकांकडोलीजी-श्रीद्वारकानाथजी के जमी बीगा ८ ई मुजब भेट करी…६ बहराजावतजी भेट करी गाम पलास्या में

२ श्रीभगवतीजी की भेट खाती का कुडाम धाकड भागचंद सामा की कर जीमध

४ श्रीतुलसाजी का वाब में भेट नुवा कुडी मे सु धाकड नमो सकवाड्या कर जी मध २ लाडी बहू में भेटकरी श्रीभागवत क कसवा बेगम दलथमण मे सूं माली कतो सखो कर अनीम

बीगा ८ आठ भेट करी जो ई जमी को हासल श्रीकांकरोली भंडार पुगसी आपदत्त परदत्त जे…… प्रवानगी श्रीहजुर का हुकम सु दसकत साहा सुरजमल……कानोडा का। समत १६६० जेठ सुद ६।

संग-संग नगर में पधरा ले जाकर दरबार के मन्दिर में उनका मुक़ाम कराया। चार-पाँच दिन निवास और आतिथ्य हो जाने के अनन्तर अलवर-नरेश ने राजकीय सम्मान के साथ बड़े हर्ष से मार्गशीर्ष कृ० ३० के दिन माजी महाराज की जनाना महल में पधरावनी कराई, और ८२४ रु० भेंट किये। माजी महाराज के व्यक्तित्व का वहाँ अच्छा प्रभाव पड़ा, जिससे मार्गशीर्ष शु० ७ के दिन माजी महाराज से बाई रूपकुँवरि ने ब्रह्म-संबंध-दीक्षा ली और गुरु-दक्षिणा में १०००) सालाना अपनी जागीर से भेंट किया*। मार्ग शु० ८ को माजी महाराज की बिदाई हुई, जिसमें महाराजा आदि की ओर से ६८४) भेंट हुए।

सं० १६३२ आषाढ़ बदी ११ के दिन माजी महाराज के नाम राजस्थानवाले रावल मोखम-सिंहजी ने पाँच बीघा जमीन भेंट की, रावलजी इन दिनों कांकरोली में श्रीप्रभु के दर्शनार्थ आये थे, और यहाँ आकर इन्होंने नाम-दीक्षा ली थी †। मालूम पड़ता है, इस समय गिरिधरलालजी

---

* सही श्रीरामजी

श्रीद्वारकाधीसजी

श्रीसीतारामजी

सिद्धश्री सर्वोपमाविराजमान अनेक ओपमा लायक पुज्य श्रीगोस्वामीजी माजी महाराज श्री ५ श्री-पद्मावती बहूजी जोग अलवर थी बाई रूपकुँवरजी लिखतां दंडवत मालुम हो अपरंच महाराज की सेवा के वास्ते हमने अपनी जायदाद की आमदनी मेसू रुपैया १०००) एक हजार सालयाना अर्पण की या है, जब तक जायदाद हमारे नाम मुकर्रिर रहेगी जितने रुपैया साल दर साल दिया जायगा ता तफसील।

साख सीयालूनी आमद मेसूं ६००) साखउनालीनी आमदमेसूं ४००)

इस माफिक भेट होती रहेगी। मगसर सुदी ७ संवत् १६२६

(रोकड से) (मुहर)

† ता० नं० ३८ श्रीः

सही

सधश्री माहाराजाधराज गोस्वामीजी श्री १०८ श्रीपदमावती बहूजी माहाराज ठाकर रावले मोखम-सिंघजी राजथान बाल बाला श्रीकांकरोली दरसण करवाने आया नाव सुण्या जदी चरस १ जमी बीघा पाँच ५ अखरे पाँच भेट कीदी सो रामा अरपण कीदी ई जमी सु कोई मारा बंस रोवै ज्यो खेचल करे नही पाल्यां जवगा ई रो हासल माल वीगोडा वै सी सो श्रीजी में आया जायगा, मुखिया आय ले जावेगा, स्वदत्त परदत्त वा ... चरस भोम्या बालो, दुवे भाई लछमणसिंगजी हुकुम थी मारफत मुखोया घनस्यामजी लालुसुत संवत १६३२ आसाड व्दी ११।

दः रषभ वजेराम, खुदाई उसंता, अमाम बगस सुत पीर बगस, १६३२ री नुकसारी वही मद्दे खाते पाने ६

महाराज प्रदेश में होने के कारण कांकरोली में विद्यमान नहीं थे, अन्यथा यह भेंटपत्र उन्हीं के नाम होता।

सं० १६३५ का० सुदी ५ के दिन रावजी राज श्रीहरीसिंहजी ने ५० रु० सालाना की, पार्वती-विलास बाग और रूपाहेली माताजी के मन्दिर के पास की जमीन भेंट की *।

माजी महाराज की एक बार पुनः व्रजयात्रा करने का समय सं० १६३५ से ३८ के भीतर कहा जाता है। इस प्रकार प्रसिद्ध है कि—इस व्रजयात्रा के समय इन्होंने बड़े उत्साह से खर्च किया था और साथ के हजारों यात्रियों के लिये सब प्रकार का प्रबन्ध कराया था। इस यात्रा में, जब कि ज्येष्ठ मास था, व्रज में जल का बड़ा त्रास था, गिरिराज में यात्रियों के लिये प्रबन्ध कराकर नहरों से जल पहुँचाया गया था। राधा-नामक कंजरी को जनता की जान-माल की रक्षा का भार सौंपा गया था। इस व्यक्ति का इतना दबदबा था कि—यात्रा में कभी किसी प्रकार की चोरी नहीं होने पाई। गुमा हुआ यात्रियों का सामान तलाश कर यथास्थान पहुँचा दिया जाता था, जिससे वैष्णव-जनता को बड़ा संतोष था।

माजी महाराज ने गिरिराज में अभूतपूर्व छप्पन भोग का मनोरथ किया और बारहों महीनों के उत्सव कराये। वृद्ध लोगों के मुख से सुना जाता है कि—ऐसे उत्साह और प्रबन्ध के साथ ऐसी व्रजयात्रा फिर नहीं हुई, और न ऐसे उत्सवों का आयोजन ही किया गया। इस

---

* ता० नं० ३६

श्रीपीताम्बरजी माहाराज श्रीरामजी

सही

सीध श्री रावजी राजश्रीहरीसिंघजी बचनात श्रीजी माहाराजराजश्री जी १०८ श्रीश्री दुवारकाधीसजी कांकडोली के मंदिर पुन अरथ बाग पारवती विलास रुपाहेली माताजी महाराज का मीदर कने लगावो सो भेट करो जाको हासल का रुपिया ५० पचास सीक चीतोडी श्रीजी के भेजा जावसी रुपीया २५ पचीस सावण रुपीया २५ पचीस उनालू जुमले रुपीया ५० पचास भेजा जावसी और जलधाती का चडस में जमी पीवल नडाग बीघा २ भोग तालुक भेट करी सो बुको हासल सदीव आया जावसी जणी माह कोई तफावत करै नही जो करै तो हीदुन तो गाय मारा की हीसा मुसलमान ने सुर मारा की हीसा होसी''''''आपदत्त परदत्तं......जो कोई ई लीखा में दखल करसी सो श्रीजी की दरगा में दामनगीर होसी, समत १६३५ का काती सुदी ५ सनीवार, दसखत मुनसी पंनालाल पंचौली मेडतावाला का छै श्रीहुकमसूं लीखो छै, ई बाग की जमी बीघा ५ पांच छै।

राजथान देवलो हरी सीघ सादुल सीघ
त खोप जोधाचंद सीणोत
दसगत हरीसीव का ऊपरलो लख्यो सही छै

यात्रा का प्रबन्ध माजी महाराज ने सेठ नारायणदासजी को सौंपा था, जो राजाधिराज मन्दिर के सेठ साहब के मुनीम मांगीलालजी के पुत्र थे।

इस प्रकार जहाँ तक पता चलता है, माजी महाराज ने अपने समय में आवश्यक प्रदेश-भ्रमण किया। तत्कालीन राजा, महाराजा, सरदार और सेठ-साहूकारों के साथ उचित सम्मान-पूर्ण व्यवहार करके इन्होंने उन्हें अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया, जिससे ठिकाने की वैभव-वृद्धि को बहुत कुछ अवकाश मिला। महाराणा सज्जनसिंहजी इन पर बड़ी भक्ति रखते थे। उन्होंने माजी महाराज के प्रति लिखे गये पत्रों में अपने को 'सेवक' और 'दासानुदास' शब्द से बोधित किया है*। स्त्री-विग्रह होने पर भी इस प्रकार व्यक्तित्व स्थापित करने का एक यही उदाहरण पुष्टि-सम्प्रदाय के इतिहास में सर्व-प्रथम मिलता है।

हम पहिले पुरुषोत्तमजी महाराज के प्रसंग में कह आये हैं कि—महाराणा जवानसिंहजी ने

अधिकार-प्राप्ति

सं० १८६४ कार्तिक शु० १० के पत्र द्वारा कांकरोली के ठिकाने को कुछ अधिकार प्रदान किये थे, जिनका पालन अभी तक होता आया था। सं० १६३५ में सज्जनसिंहजी ने राज्य की सुव्यवस्था के लिये कलमबन्दी की और ठिकानों के सभी उमरावों को यह प्रदान की, जिनमें ८ कलमें हैं। परन्तु गुरुवर की कुछ विशेषता रखने के लिये जब महाराणा से मालूम की गई, तब उन्होंने कांकरोली के लिये दो विशेष कलमें लिखकर प्रदान की। सं० १६३६ कार्तिक बदी ७ गुरुवार के दिन नीचे-लिखी कलमबन्दी कांकरोली के लिये पद्मावती माजी और कमलावती बहूजी के नाम प्राप्त हुई—

नम्बर ३२

श्रीबाणनाथजी श्रीएकलिंगजी श्रीनाथजी

स्वस्तिश्री सर्वोपमा लायक श्रीश्रीश्री० माजी श्रीश्री पदमावतीजी बहूजी श्रीकमलावती बहूजी महाराज हजुर सदा सेवक दासानुदास राणा सज्जनसिंह की साष्टांग दंडवत ज्ञात होवे अपरंच आपको लिखो काती वद ३ संमत हाल को बाबत काररवाई दीवाणी फौजदारी को आयो सो आप कलमा लिखी है जी माफिक आप अमल दरामद रखावे, अठासूं नीचे कलम लिखी है जी माफिक बरताव रहेगा............

१—इजलास खास या मेहकमे खास के हुकुम या फेसले की तामील करावता रहै, मुकदमात दीवाणी व फौजदारी जीन मे के मुदई और मुदायेला पटे कांकरोली का हो उनसे सिवाय मुकदमात मुनदरजे दफे ४ अलावा अपील के दसत अन्दाजी न होगी।

२—जब कीसी आसामी को तलब करना या कीसी कीसम की काररवाई करना जरूर

* देखो आगे सं० १६३६ का 'कलमबन्दी' का महाराणा का पत्र।

होगा तो ईजलास खास या मेहकमे खास कांकरोली का वकील की मारफत करेगा, और म्होलत वकील को ईस कदर दी जावेगी के जीससे वो तामील हुकुम की बखूबी करसके, अगर मयाद के अन्दर वकील जवाब नहीं देगा तो ईजलास खास अपने तौर पर आसामी तलब करेगा, या मुनासिब काररवाई करेगा।

३—फौजदारी मुकदमात जीनमे के रयाया किसी जागीर के पटे की एक फरीक हो और काकडोली पटे की दुसरा फरीक हो याने वारदात की हो या उस वारदात के मुजरम पटे कांकरोली मे पनाह पंजीर हो तो उन मुजरमों को माफिक तलबी इजलास खास या मेहकमे खास के भेज दिया करे।

४—मुकदमात कतल वस्ती वड के तीरहजनी जिनमे की कोई सखस मारा गया हो या खोफ मरजाने का हो और वरदाफरोसी व जालसीका ईनकी इतेला वकत वारदात के इजलास खास में करा दीया करै, और मीसल बाद तेहकीकात के मनजूरी के वास्ते इजलास खास भेज दिया करै, और इन जुरमों के मुजरमों को भी तलब करने प्र भेज दीया करै, या मुकदमा मे ईजलास खास या म्हेकमे खास मुनासिब समझेगा तो परभारी तेहकीकात भी कराय लेगा।

५—कानून हकरसी जो जारी हुआ है या और कोई कानून ज्यो वास्ते कुल मेवाड के जारी होगा उसी माफिक काररवाई पटे काकरोली में भी करावे।

६—मुकदमात दीवाणी वो फौजदारी में जब के एक फरीक पटे काकडोली का अर दुसरा फरीक खालसा या दुसरे पटे का हो तो एसे मुकदमात मे मुदेई को हाकम कुमलगढ़ के पास नालस करना चावै और हाकम कुमलगढ़ को एसे मुकदमात में ज्यो आसामी तलब करना या कोई काररवाई करना जरूर होवेगा तो काकडोली की मारफत कीया करेगा, और एसे मुकदमात में अपील हाकम कुमलगढ़ के सिवाय इजलास खास के किसी दुसरी अदालत मे समाग्रेत न होगी।

७—मुकदमात दीवाणी जीन में की मुदाएला पटे काकडोली में रहेता हो अर मुदेइ कीसी दुसरी जगे का होवे अर तेदाद दावा ५०० पानसै से जादा न हो तो मुदेई को नालीस काकडोली करनी होगी, और जरे काकडोली से मुकदमा तैह हो जावेगा उसकी अपील सिवा ईजलास खास के और किसी दुसरी अदालत में न होगी, और एसे मुकदमे में जबाव बगेर वजै काफी काकडोली से देर होगी तो ईजलास खास को दो दफे ईतला देने के बाद मीसल तलब करने या फैसला करने का ईखतार है।

८—जब के काकडोली के पटे की कीसी आसामी को कीसी जुरम की सजा ईजलास खास या हाकम कुमलगढ़ के याहा से दी जावे और मयाद केद की ५ साल से ज्यादा न होवे तो

एसे मुजरमो कु केद भुगताने के वास्ते काकडोली के जेलखाने मे वसीरस्ते उठे जेलखाना को उमदा बन्दोवस्त होगा भेज दिया जायेगा।

९—मुकदमात फौजदारी में जब किसी काकडोली पटे के मुजरीम पर जुरमाना किया जावे तो काकडोली की मारफत वसुल किया जावा की आप पत्र में लीखी सो यो गरुघर है जीसु याहा की प्रसनता सु काकडोली पटे की आसामी प्र जुरमानो वेगा वो......श्री......जी के भेट होय भंडार जमा करायो जायगा।

१०—जब के पटे काकडोली की रयाया राज की किसी अदालत में नालिस करेगा तो इस्टाम माफक दसतूर के देगा और कायदा ईसटाम माफक अमल द्रामद राखेगा। समत १९३६ रा काती बुद ७ गरुवार।

इस पत्र के प्रारम्भ मे हासिया मे महाराणा के इस प्रकार हस्ताक्षर है.........
"सेवक को साष्टांग दंडवत परणाम ज्ञात होवे।"

अन्य कार्य—माजी महाराज ने जहाँ प्रदेश-भ्रमण कर श्रीप्रभु के लिये सेवा एकत्रित की, वहाँ उन्होंने नगर में गृह-निर्माण के भी अनेक कार्य किये।

सं० १९०४ वैशाख कृ० ११ को रात्रि में मन्दिर में 'पादुकाजी'-नामक स्थान में अग्नि के प्रकोप से बहुत कुछ प्राचीन भवन का नुकसान हो गया था, अतः ज्येष्ठ कृ० ६ को उसकी शांति कराकर उन्होंने वह स्थान पुनः नवीन बनवाया।

सं० १९०५ के लगभग इन्होंने श्रीव्रजकुँवरि बेटीजी का विवाह जयपुर-निवासी विट्ठलनाथ भट्टजी के साथ किया और उसमें मुक्त-हस्त होकर व्यय किया। यद्यपि यह पुरुषोत्तमजी महाराज की प्रथम पत्नी की पुत्री थीं, पर माजी महाराज का इस विषय में कोई द्वैध-भाव नहीं था। सं० १९०७ वै० कृ० १२ को इनके द्विरागमन का प्रस्ताव हुआ।

सं० १९०६ में 'नजरबाड़ी' की बावड़ी की मरम्मत कराई गई, और संवत् १९०७ में दरबार से आज्ञा लेकर पनघट-घाट पर रहट बनवाये, जिससे बाग के लिये तालाब का पानी ले जाया जा सके। इसी वर्ष मन्दिर में 'कमल चौक' में संगमरमर के पत्थर लगवाये जाकर उसकी शोभा बढ़ाई गई।

सं० १९०८ आषाढ़ कृ० ३ को नगर के बाहर 'सूरजपोल' दरवाजे का मुहूर्त किया गया, और उसके निर्माण का कार्य शुरू हुआ।

सं० १९११ के मध्य में कांकरोली में महामारी (हैज़ा) की बीमारी फैली, जिससे माजी महाराज ने जनता को आवश्यक साहाय्य प्रदान किया, और रोगोपद्रव की शान्ति के लिये मन्दिर में अनुष्ठान कराया।

सं० १९१५ में, माजी महाराज के समय में, जबकि गिरिधरलालजी महाराज नाबालिग थे, कांकरोली के आस-पास सिपाही-विद्रोह की विपत्ति आई। इस समय कांकरोली के पास के गाँव जावद, रतनगढ़ आदि में उपद्रव की आशंका होने लगी, जिसे कप्तान शावर्स ने शान्त किया। इसके बाद एक बार पुनः इस उपद्रव की घटा ने इस ओर अपना रुख फेरा। उदयपुर-राज्य के इतिहास में उस समय की परिस्थिति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

राजनैतिक स्थिति

"इसके उपरान्त फ़ीरोज़ तथा दो हज़ार बागियों को साथ लेकर ताँतिया टोपी मारवाड़ की ओर से मेवाड़ में घुसा। ई० स० १८५९ ता० १७ फ़रवरी (वि० सं० १९१५ माघ सुदी १५) को कांकरोली पहुँचा*। फिर ब्रिगेडियर सामरसेट तथा कप्तान शावर्स के आने की ख़बर पाकर वे बाँसवाड़े की ओर चले गए। पर सामरसेट ने रास्ते में ही उन्हें जा दबाया और उनकी सेना तितर-बितर कर दी।" (पत्र ७७५)

इस समाचार से यह विदित नहीं होता कि—कांकरोली के पास लड़ाई हुई, तथापि किन्हीं लोगों के साथ, चाहे वे उदयपुर-राजनगर के सिपाही हों या कांकरोली के, उन लोगों की मुठभेड़ अवश्य हुई थी। जावद के पास का मैदान अब भी लड़ाई के लिये प्रख्यात है। इस समय विद्रोहियों के पास से छीनकर लाया हुआ एक लम्बा, पैना खाँडा कांकरोली के संग्रहालय में विद्यमान है, जिससे इसका पता लगता है।

इस प्रकार माजी महाराज के समय में एक यही राजनैतिक विपत्ति कांकरोली पर आई या आनेवाली थी; पर वह उदयपुर-राज्य की तात्कालिक सतर्कता से शीघ्र ही निकल गई।

माजी महाराज की विद्यमानता में मेवाड़ से सरूपसिंह, शम्भुसिंह और सज्जनसिंह, इन तीन महाराणाओं का राज्य-काल रहा। यद्यपि यह तीनों महाराणा भिन्न २ प्रकृति के थे, पर माजी महाराज के साथ सबका योग्य श्रद्धा-भाव था। अतः ऐसा कोई अवसर नाथद्वारा की तरह कांकरोली पर नहीं आया, जब महाराणाओं की दृष्टि कुछ भी टेढ़ी हुई हो। जैसा पहले कहा जा चुका है, उदयपुर के महाराणाओं की सदा कांकरोली के घर के प्रति आदर की दृष्टि रही है। उसी प्रकार कांकरोली का ठिकाना भी सदा इस राज्य का शुभेच्छु रहता आया है। इस घर का यह भाव किसी स्वार्थ-वश नहीं, प्रत्युत उस हेतु से था, जो गुरु का शिष्य के प्रति होता आया है। सं० १९२२ पौष बदी ११ के, महाराणा शम्भुसिंहजी के, पत्र से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता

* कांकरोली की इस वर्ष की रोकड़ में श्रावण सु० ३ को काले लोगों की फ़ौज के द्वारा भेंट किये हुए रुपयों का और अँगरेज़ों की फ़ौज के लिये घास-लकड़ी के रुपयों का जमा-ख़र्च होने से ओझाजी द्वारा लिखित मिती ठीक नहीं जँचती। इन लोगों का आवागमन सं० १९१५ श्रावण मास में हुआ था।

है। जिसमें माजी महाराज ने गिरिधरलालजी के प्रदेश जाने के लिये महाराणा से आदेश माँगा था, और इस पत्र के द्वारा महाराणा ने शीघ्र ही वापस आने की सलाह देते हुए उन्हें अपनी स्वीकृति दी थी।

पद्मावती माजी महाराज ने इस प्रकार औरस पुत्र न होने पर भी गिरिधरलालजी और आगे चलकर बालकृष्णलालजी महाराज के साथ जो पुत्र-वात्सल्य निभाया और इन दोनों को सुशिक्षित, योग्य एवं गुणी बनाकर अपने घर की मर्यादा अक्षुण्ण रक्खी, यह कांकरोली के लिये सौभाग्य की बात होने के साथ ही एक दृष्टान्त था, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

अपने पति पुरुषोत्तमजी के अनन्तर क्रमशः गोद लिये हुए पुत्रद्वय, गिरिधरलालजी और बालकृष्णलालजी, की बाल्य अवस्था में योग्य कर्मचारियों के द्वारा माजी महाराज ने जो अनुभव प्राप्त किया, उसी का यह फल था कि—उनके समय में कांकरोली में किसी प्रकार की अशान्ति का वातावरण उत्पन्न नहीं हुआ और संस्थान का कार्य सुचारु रूपेण चलता रहा।

माजी महाराज ने सं० १९२९ भाद्रपद मास में व्रज की यात्रा की, और तीर्थस्थल में जाकर यथायोग्य दान-पुण्य किया। इन्होंने श्रीगिरिराजजी जाकर वहाँ एक विशाल छप्पन भोग का मनोरथ किया। योग्य वय में गिरिधरलालजी महाराज का विवाह कर आप निश्चिन्त हो गई थीं, पर उनके आगे किसी उत्तराधिकारी पुत्र के उत्पन्न न होने से आपको चिन्ता बनी ही रही। श्रावण कृष्ण २ सं० १९३५ में गिरिधरलालजी के बसोगाम में निधन हो जाने पर सं० १९३६ श्रा० कृ० ७ गुरुवार के दिन आपने बालकृष्णलालजी को गोद लिया।

व्रजयात्रा और गिरिराजजी के छप्पन भोग (सं० १९३५ से ३८ के बीच) के बाद आप व्रजमंडल में ही कुछ समय तक निवास करती रहीं। अन्त में सं० १९३९ के आश्विन कृ० ६ के दिन इनका गोलोकवास श्रीराजाधिराज के मन्दिर में हुआ, जहाँ यह निवास करती थीं।



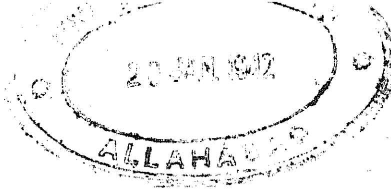
परिशिष्ट—१

श्रीमाजी महाराज के समय आगत राजा, महाराजा तथा उमराव अथवा भेंट

संवत्	मिती	नाम तथा स्थान
१६०७	वैशाख कृष्ण १४	महाराणा सरूपसिंहजी की ओर से सालाना सामग्री के लिये ५० रु० भेंट।
" "	पौष सुदी १४	रावजी रणजीतसिंहजी, देवगढ़ दर्शनार्थ आये।

यहाँ जो स्वयं आये हैं, उनके नाम लिखे गये हैं, जिनकी भेंट आई है, उसका उल्लेख किया गया है। प्राचीन रोकड़ से लिया हुआ यह नोट है, इसमें कार्तिकादि संवत् और अमान्त तिथियाँ दी गई थीं, जो यहाँ चैत्रादि और पूर्णिमान्त बतलाई गई हैं। अन्य व्यक्तियों का श्रीगिरिधरलालजी महाराज के प्रसंग में उल्लेख किया गया है।





श्रीगिरिधरलालजी महाराज (दशम ति०)

(प्रा० सं० १८६८, आ० १६०८, नि० १६३५)

:o:

श्रीगिरिधरलालजी महाराज (च०) का जन्म सं० १८६८ भाद्रपद शु० २ बुधवार के दिन हुआ था*। इनका प्रथम नाम यशोदानन्दनजी (उपनाम चट्टूजी महाराज) और औरस पिता का नाम श्रीद्वारकेश्वरजी था। यह द्वारकेश्वरज गुसाईंजी के प्र० पुत्र गिरिधरजी के वंशज थे और जतीपुरा (गिरिराज) में रहा करते थे।

जन्म, संस्कार और विद्या-प्रेम

इनके पिता ने इनकी आठ वर्ष की वय हो जाने पर सं० १६०६ के लगभग इनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया, और सम्प्रदाय के आवश्यक ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ कराया। यशोदानन्दनजी बाल्यावस्था से ही मेधावी, धीर, गम्भीर और भगवत्-सेवा-रसिक पुरुष थे। अतः इनके बाल्य-जीवन से ही इनमें साम्प्रदायिकता का भाव आ गया था, फिर भी यह अन्य धर्मों के लिये बड़े उदार थे। कांकरोली में गोद आ जाने पर इन्होंने और भी अध्ययन किया, साथ ही श्रीप्रभु की सेवा का विशेष ज्ञान प्राप्त किया।

जहाँ यह महाराजश्री सेवा के रसिक, अनुभवी और मन्दिर की सम्पत्ति के बढ़ानेवाले थे, वहाँ स्वयं विद्वान् और विद्या-प्रेमी तथा गुण के पारखी थे। इन्होंने मथुरानाथात्मज गो० श्रीद्वार-केश्वरजी से दीक्षा ली थी, अतः उन्हें अपना गुरु मानते थे। इनको लेखनकला से विशेष प्रेम था। अवकाश मिलने पर यह अपने हाथों से श्रीभागवत लिखा करते थे। इन्होंने अपने जीवन में १०८ भागवत लिखवाकर योग्य, विद्वान् ब्राह्मणों को दक्षिणा के साथ प्रदान की थीं। इनकी लिखी हुई एक भागवत† विद्या-विभाग के सरस्वती-भण्डार में विद्यमान है। इन्होंने कई अच्छे २

---

* जन्म-कुंडली—

संवत् १८६८ शाके १७६३ प्रवर्तमाने वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे २ तिथौ बुधवासरे इष्ट घटी ३१।६

† महाराजश्री ने अपने श्रीहस्त से जो भागवत लिखी, उसका समय इस प्रकार है—"सं० १६३२ चैत्र शुक्ल १३ वार आदित्ये लिखितमिदं गोस्वामि गिरिधरलालेन।" इन्होंने मंगलाचरण लिखने के बाद इस प्रकार लिखा है—





गो० श्रीगिरिधरलालजी महाराज, कांकरोली

१० ति० प्रा० सं० १८६८ भाद्र० शु० २.

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

ग्रंथ मूल्य से खरीदकर अथवा लिखवाकर अपने सरस्वती-भंडार के लिये संगृहीत किये। सरस्वती-भंडार की पुस्तकों का अधिकांश संग्रह इन्हीं के द्वारा किया गया है, जिस पर इन्होंने अपने हस्ताक्षर किये हैं। समय-समय पर आगत विद्वानों, कवियों और गुणियों का सत्कार कर महाराजश्री ने अपने जीवन में अपनी विद्या-प्रियता का कई बार परिचय दिया था।

यथावकाश यह वैष्णवों को कुछ-न-कुछ स्वमार्गीय उपदेश दिया करते थे। इस प्रकार के उपदेशों का संग्रह इनके शिष्य अमथाभाई * ने किया, जो "श्रीगिरिधरलालजी के १२० वचनामृत" के नाम से प्रकाशित हो गया है। इस ग्रंथ की रचना पौष कृष्ण ११ मंगलवार सं० १९३३ के दिन हुई थी।

गोद आकर तिलकायित होना

सं० १९०३ में जब कांकरोली के नवम तिलकायित पुरुषोत्तमजी महाराज का नित्यलीला-प्रवेश हो गया, तब कुछ वर्ष बाद उनकी पत्नी पद्मावत माजी महाराज ने किसी योग्य बालक को द्वारकाधीश के घर का तिलकायित बनाने का विचार किया। प्रस्तुत विषय में माजी महाराज की दृष्टि यशोदानन्दनजी पर पड़ी, और उन्होंने इन्हें योग्य देखकर उनके पिता द्वारकेश्वरजी से पत्र-व्यवहार किया। इधर उदयपुर के तात्कालिक महाराणा सरूपसिंहजी से परामर्श कर इसका निश्चय किया गया।

माजी महाराज ने यशोदानन्दनजी तथा उनके पिता द्वारकेश्वरजी से कुछ शर्तें लिखाईं, जो सं० १९०८ मार्ग० शु० १३ शनि के दिन लिख दी गईं। यह पत्र माजी महाराज के चरित्र (पत्र ४) में प्रकाशित किया गया है।

"बालकृष्णमहं वंदे विट्ठलेशसुतं गुरुं, कमलाप्राणनाथं च पद्मात्मज सुवं परम् ॥ २९ ॥ श्रीमद्-गिरिधरं वन्दे तत्सुतं व्रजभूषणं। तत्सूनुं व्रजनाथं च बालकृष्णान्वयं भजे ॥ २७ ॥ श्रीमद्विट्ठलनाथं च कांकरोल्यां विराजितं। अनेकराजभिः सेव्यं तत्सूनुं व्रजभूषणं ॥ २८ ॥ श्रीमद्गोकुलनाथं च व्रजनाथसुतं भजे। पार्वतीवल्लभं शश्वन्नानाग्रन्थकरं प्रभुम् ॥ २९ ॥ श्रीमद्गोकुलनाथानामात्मजं पुरुषोत्तमम्। पार्वतीनन्दनं वन्दे सदापद्मावतीप्रियम् ॥ ३० ॥ श्रीगुरुं द्वारकेशं च शास्त्राभरणभूषितम्। श्रीमद्भागवताब्धीन्दुं तं नमामि पुनः पुनः ॥ ३१ ॥ पंचाक्षरप्रदातारं पुष्टिलीलारसप्रदम्। एतादृशं गुरुं वन्दे मथुरानाथनन्दनम् ॥ ३२ ॥

इस भागवत के साथ गीता भी है। इस प्रकार कुल मिलाकर महाराजश्री के हस्त-लिखित पत्रों की संख्या १६५५ है। उक्त संवत् में इसका लेखन प्रारम्भ हुआ है, और यह कांकरोली में लिखी गई है। इसकी समाप्ति सं० १९३२ पौष सुदी १३ को हुई।

* अमथाभाई संखेडानिवासी खुसालदास वैश्य के लड़के थे, और महाराज के समय कांकरोली के मन्दिर में कुछ समय अधिकारी का काम कर चुके थे। इन्हें भी प्राचीन साहित्य के संग्रह करने का शौक़ था।

बात यह थी कि—सं० १८८८ में नाथद्वारा के तिलकायित गोविंदरामजी ने महाराणा से अलग होकर स्वतन्त्र राजा बनने का प्रयत्न किया, और कुछ मुँहलगे आदमियों के कहे-सुने में आकर राजपूताना के एजेन्ट गवर्नर जनरल के पास अपना वकील भेजा, पर उनका यह षड्यंत्र सिद्ध न हो सका। इसी प्रकार का कोई उपद्रव आगे चलकर कांकरोली में न हो, इस बात को सोचकर महाराणा और माजी महाराज ने गिरिधरलालजी से इस प्रकार की शर्तें लिखवा ली थी, अन्यथा गोद लेते समय इस प्रकार की किसी लिखा-पढ़ी की कोई आवश्यकता नहीं थी। अस्तु।

सं० १६०८ फाल्गुन कृष्ण ४ के दिन बड़ी धूमधाम के साथ माजी महाराज ने यशोदानन्दन-जी को गोद लेकर पुरुषोत्तमजी महाराज का उत्तराधिकारी और कांकरोली के घर का तिलकायित बनाया। इस समय उनका नाम श्रीगिरिधरलालजी महाराज रक्खा गया। महाराणा की ओर से उनके प्रधान कर्मचारियों ने उपस्थित होकर राजकीय दस्तूर किया। माजी महाराज ने इस समय ठिकाने में खूब उत्सव मनाकर श्रीप्रभु का मनोरथ किया। कांकरोली की गद्दी के लिये यह प्रथम ही अवसर था, जब गुसाईंजी के तृ० पुत्र और तृ० पीठ के प्र० तिलकायित श्रीबालकृष्णजी के वंश की पूर्णता हो जाने से षष्ठ पुत्र श्रीयदुनाथजी के वंश से इन्हें गोद लिया गया ❀।

महाराजश्री ने माजी महाराज की आज्ञा में चलकर श्रीद्वारकाधीश की सेवा और ठिकाने का प्रबन्ध करना सीखा, जिससे इनके व्यवहार से माजी महाराज को यावज्जीवन किसी भी प्रकार की शिकायत नहीं रही, यह एक सौभाग्य की बात थी। यही कारण था कि महाराजश्री के प्रति उदयपुर के महाराणाओं का सदा आदर-भाव बना रहा। इनके गोद आजाने से इस घर में फिर चहल-पहल दीखने लगी और श्रीद्वारकाधीश की सेवा में सौकर्य हो गया। वैष्णवों को भी अपने गुरुघर में तिलकायित के दर्शनों का सद्भाग्य मिला।

विवाह

सं० १६१३ चै० सु० १५ को माजी महाराज ने गिरिधरलालजी का कोटा में विवाह किया। इनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीकमलावती बहूजी था, जो रेही बालमुकुन्द भट्टजी की पुत्री थीं †। एक वर्ष-पत्र के देखने से विदित हुआ है कि—इनका जन्म सं० १६०४ वैशाख सुदी ३ के दिन हुआ था। सं० १६१७ में द्विरागमन हुआ, और कार्त्तिक सुदी १३ को व्रजयात्रा समाप्त कर महाराजश्री सपत्नीक कांकरोली आए, जहाँ इनका गृह-प्रवेश का प्रस्ताव किया गया।

❀ सम्प्रति गोस्वामिबालकों में गुसाईंजी के सात पुत्रों में से प्रथम और छठे पुत्र का ही वंश विद्यमान है। † सं० कल्पद्रुम का नकशा।

जहाँ तक पता लगता है—गिरिधरलालजी के कोई सन्तान नहीं हुई, यदि हुई भी तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रही। यही कारण था कि सं० १९३५ में इनके गत हो जाने पर पद्मावती माजी महाराज ने मथुरानिवासी गोस्वामी श्रीकल्याणरायजी के तृ० पुत्र श्रीबालकृष्ण लालजी को सं० १९३६ में गोद लेकर उत्तराधिकारी बनाया। इस गोद के विषय में जैसा प्रथम कहा जा चुका है—गिरिधरलालजी की पत्नी कमलावती बहूजी के साथ माजी महाराज का मनमुटाव भी हो गया, जिससे सं० १९३८ में कमलावती बहूजी मथुरा में जा बसीं, और वहाँ कुछ रुपयों में खरीदकर गोवर्द्धननाथजी के मंदिर* में उन्होंने अपना शेष जीवन व्यतीत किया। यहाँ बालकृष्णलालजी महाराज ने उनके खर्च के लिये मासिक ३००) का प्रबन्ध राजाधिराज के मन्दिर द्वारा करा दिया †। सं० १९६७ फाल्गुन कृ० १४ को कमलावती बहूजी का गोलोकवास हो गया।

जब तक गिरिधरलालजी वयस्क नहीं हुए, तब तक माजी महाराज महाराणा से सम्मति लेकर इन्हें प्रदेश भेजती और कांकरोली के घर की वैष्णव-सृष्टि को सँभालती रहीं। इसके बाद भी कई वर्ष तक महाराणा से प्रदेश जाने के लिये सम्मति मँगाई जाती रही, जिससे ऐसा मालूम पड़ता है कि—पैदल रास्ता होने के कारण महाराणा यात्रा की कुछ सुविधाएँ प्रदान करते थे ‡।

राज्य-सम्मान

यद्यपि नियमानुसार वयस्क न हो जाने तक गिरिधरलालजी के नाम ग्राम प्राप्त न होकर माजी महाराज के नाम पर प्राप्त हुए हैं, जिन्हें हमने उन्हीं के चरित्र में लगा दिया है, पर फिर भी, सं० १९१३ के लगभग गिरिधरलालजी का नाम राजकीय लिखा-पढ़ी में आने लगा था। इस प्रकार का सं० १९१३ का एक जयपुर-रियासत का रुक्का मिलता है $।

* मथुरा में द्वारकाधीश के मन्दिर को छोड़कर यह सबसे अधिक लम्बा-चौड़ा है। इसे सेठ कुशाल नामक एक गुजराती धनी व्यक्ति ने सं० १८८७ में बनवाया था। यह कांकरोली ठिकाने के अधीन है।

† सं० १९३८ आषाढ़ शु० ४ गुरुवार का, महाराजश्री का, आज्ञा-पत्र।

‡ सं० १९२२ पौष बदी ११ का महाराणा शंभुसिंहजी का पत्र।

$ श्रीरामजी

श्रीरामजी

श्रीमहाराजाधिराज सवाई रामसिंहजी

गुसाईंजी श्रीगिरिधरलालजी काकडोली का मुखिया अधकारना अत्र थाकै मातमपुरसी का रु० २९७९. साढ़ादस आना ठहरया ती मैं सीगै परवरस कै छोड्या रु० ६७८ साढ़ दस आना बाकी रु० २३०१ अंके रुपया

सं० १९१३ आषाढ़ शु० ६ को महाराज गिरिधरलालजी, माजी पद्मावतीजी, दोनों बेटीजी तथा बहूजी उदयपुर गये और श्रा० शु० ४ को वापिस कांकरोली आये। उदयपुर में महाराणा ने इन सबका स्वागत-सत्कार किया और अच्छी बिदाई की।

सं० १९१३ चैत्र शु० १५ के दिन महाराणा सरूपसिंहजी ने गिरिधरलालजी महाराज के लिये ३०२ तोला सोना भेंट किया, जिसके ५७४३ ।।) रु० ह० मेहता शेरसिंह तथा भंडारी विट्ठलदास के जमा हुए। ऐसा भासित होता है कि इस समय महाराजश्री तथा उनकी धर्मपत्नी के लिये पहिनने को सोने के लंगर भेंट किये गये थे, जो राजकीय एक बड़ा सम्मान है।

सं० १९१३ पौ० सुदी ३ को रावराजा रणबहादुरचन्द्र (गाम कोट कांगड़ा, इलाक़ा जम्बू) दर्शनार्थ कांकरोली आये और ३००० रु० सालाना का धोलपुर गाम (परगना नादौन) भेंट किया और खत लिख दिया।

सं० १९१५ * और १७ † में कुछ ज़मीन गिरिधरलालजी के समय श्रीठाकुरजी के नाम पर भेंट आई। जिससे ज्ञात होता है कि इस समय से इनका नाम राजकीय लिखा-पढ़ी में आ चुका था।

दोय हजार तीनसै एकै हाली ठहरया सौ ख़ातर जमा राखि खजाने भर रसीद लीज्यो। मिती काती बदी ११ सामाती १९१३।

* श्रीलछमीनारायणजी श्रीरामजी

सीही

श्रीजी की भेट करी काकडोली क मदर नासरीज दरजण सीवजी माल बी० २ तेली का माल म सु ई ज्मी को हासल आयसी जो श्रीजी क अरपण होसी ई म कोई अरगर करसी जीन श्रीजी रहसी। माली बी० दोई भाई परतापजी मोकजी काजोड़ा को। अप दत्तंग परदत्तंग जेपाल जे बसंधरा जबलग दवे चदेक राजे लोप जे नरक जायग जबलग दवेचदकरा।

द० भरुदास का दरजणसीघजो का कामदार। मी० भाद ब० १ सं० १९१५।

† श्रीरामजी

सही

गव सगर

सधाश्री काकडोली श्रीदुवारकाधीसजी माहाराज का हजुर म ताबादार चरणारवन्दा की रज बका जोदपुरी बावराहाला की सांस डंडोत परणाम सत मालम होसी अप्रंच मानो श्रीठाकुरजी सीवक अरण कराओ अ आदो तो श्रीदवारकाधीसजी महाराज के अर आदले रामदुवारा है सो आदा का भगत भंग तो श्रीजी क है अर आदा का भगत भोथ रामदुवारा है। सलोक आप दत्त परदत्त .... वसाख सुद १ समत १९१७ का दसखत बड़ा जोदपुरीजी का साल दरसाल लक मुजब आपक रामदुवार भगतो जासी दीन लाप न होला पतो सात भो नरक भुगतसी।

मारफत परसराम की।

सं० १६१६ चैत्र शु० १० मंगलवार को झालरापाटन के राजा पृथ्वीसिंहजी दर्शनार्थ कांकरोली आये। उन्होंने श्रीप्रभु के दर्शन कर भेंट चढ़ाई और एक मनोरथ कराया।

इसी वर्ष चैत्र कृष्ण ६ के दिन कोटा के महारावजी अपने राजकुमार, रानी तथा परिकर-सहित कांकरोली आये। दर्शन कर इन्होंने श्रीप्रभु की गुलाब-मंडली का सामयिक मनोरथ कराया।

सं० १६१८ कार्त्तिक शु० १४ को महाराणा सरूपसिंहजी का कैलासवास हो गया, अतः उनकी मातमपुरसी करने के लिये महाराजश्री प्रदेश से आये। और मार्ग० बदी ६ को उदयपुर जाकर ६ को कांकरोली आए। पौष बदी ६ को महाराणा शंभुसिंहजी की * गद्दीनशीनी हो जाने के बाद पौ० शु० १३ को महाराज उन्हें कंठी बाँधने उदयपुर पधारे। महाराणा ने भी योग्य सम्मान कर उनसे दीक्षा लेकर अपना गुरु बनाया। महाराजश्री यहाँ से बिदा होकर माघ बदी १० को कांकरोली आये।

सं० १६२३ प्र० जेठ बदी ७ सोमवार के दिन बेगम के रावत सवाई महासिंहजी ने ३७ बीघा ज़मीन महाराजश्री को भेंट की। इस समय उनको बेगम रावजी ने अपने यहाँ पधराया, और यथायोग्य सम्मान प्रदान किया था। इस समय बेगम रावजी तथा उनके परिवार के कुछ लोगों ने दीक्षा ली और गुरुदक्षिणा में यह ज़मीन भेंट की †।

सं० १६२५ आषाढ़ बदी ८ शुक्रवार के दिन बेगम रावजी महासिंहजी के पुत्र मेघसिंहजी ने बेगम ठिकाने में कुछ ज़मीन और कुआँ भेंट किया। इस ताम्रपत्र में

---

* इनका जन्म सं० १६०४ पौष बदी १, और कैलासवास १६३१ आश्विन बदी १२ को हुआ था।

† श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुद्रसणजी

राम सही

सीधरी श्रीकांकडोलीजी का टीकेत गुसाईंजी श्री महाराज श्रीगिरिधरलालजी महाराज बेगम पदारा प्रथम जेठ बुद ७ क दिन जद रावत सुवाई माहासीगजी कुडो १ गाम सोनगर में बीगा बीस २० पीथा वालो भेट कर्यो, अर कुवर आसकरणजी गाम मडावदा कुडी का वाड में बीगा ७ सात पटेल मोती अप्र कानो काहाडे नुवो कुडो खोदो जी मे सु भेट करी, अर कुवर अमरसिंगजी गाम सुरजपुरा में जमी बीगा ५ देवो करजी कुडा म सु भेट करी अर बहु राठौडजी जमी बीगा ५ पाच गाम खेडी बाग ५ पाच गाम खेड़ी बाग पाछली महताई का कुडा मधे कह सुखा पोकड दो करजी वट मे सु भेट करी जो आकरे हासल भोग श्रीकांकडोली जी सु भेटिया आसी ज्या के हात पुगसी, आप दत्तं परदत्तं जे... ... . प्रवानगी होकम सु दसकत साहा सुरजमल कानोडा का समत १६२३ प्रथम जेठ सुदी ७ सोम।

सं० १६२३ में महाराजश्री के बेगम गाम आने और महासिंहजी के ज़मीन भेंट करने का भी उल्लेख है ❀।

सं० १६२७ का० कृ० १ के दिन महाराणा शंभुसिंहजी गादी बैठने के बाद प्रथम ही अजमेर जाते समय दर्शनार्थ कांकरोली आये। अजमेर में इन दिनों लार्ड मेयो का आगमन हुआ था और दर्बार में महाराणा का आमन्त्रण किया गया था। कांकरोली आकर महाराणा ने राजकीय दस्तूर के मुताबिक़ दर्शन तथा भेंट की, एवं महाराजश्री से बिदा होकर दशमी के दिन अजमेर पहुँचे। अजमेर से महाराणा पुष्कर गये, और वहाँ चाँदी की तुला करके पौष कृ० १ के दिन वापिस कांकरोली आये। यहाँ उन्होंने श्रीप्रभु की सेवा में कई जड़ाऊ आभूषण भेंट किये, और महाराजश्री से बिदा होकर उदयपुर गये।

सं० १६२८ ज्ये० शु० १ के दिन मोही-ठाकुर प्रतापसिंहजी ने अपने पुत्र गोपालसिंहजी के विवाहोत्सव पर महाराजश्री की पधरावनी की, तथाच योग्य सत्कार कर ५ बीघा ज़मीन और कुछ द्रव्य भेंट किया।

सं० १६३० कार्त्तिक कृ० ६ बुधवार को दरबार शंभुसिंहजी राणीजी तथा माजी-सहित चारभुजा होकर पुनः कांकरोली आये। कांकरोली में प्रभु के सपरिवार दर्शन कर महाराणा ने भेंट चढ़ाई।

सं० १६३२ ज्ये० कृ० १२ को महाराणा सज्जनसिंहजी † गादी बैठने के बाद प्रथम ही दर्शन करने कांकरोली आये, भेंट चढ़ाकर और बिदा होकर महाराणा यहाँ से चारभुजाजी

❀ श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुद्रसणजी

म्हारी डंडवत मालम होसी आ

जमी भेट करी ह जो हासल राज लेसी

सीध श्रीकांकडोलीजी सुभस्थाने सरवओपमा लायक गोसवामीजी माहाराज श्रीगिरधरलालजी माहाराज अेतान बेगम सु रावत सुवाई मेगसीगकी डंडोत मालम हयसी अप्रंच मारा मनोरथ सु कुडो १ गाम सोनगर मधे कडपीथका नामा को जमी सुदा भेट करो......२० आप बेगम पदारा जद मारा श्रीहजुरवा माहासीगजी भेट करी बीगा बीस पीवल च० २ हु सेदल परण काकडोली आया जद मैंभेट करी बीगा सुवा आठ दो बसवा जाम पीवल २...१ अेक साली ५...१...१ ही कुडा को खड लाखड लागजो। जमी बीगा २६ ..२ में भेट करी, ओ कुडो जमी नीम सीम रुख व्रख बडल खडल सुदी भेट करी जो ई को हासल भोग आवसी को आपक श्री भंडार पुगसी, आपदत्तं परदत्तं..............................प्रवानगी मारी वा मामा साब मेरतणीजी आचारज बालमुकुनजी दसकत सुरजमल कानोडा का समत १६२५ का आसाड बुद ८ सुके।

† इनका जन्म सं० १६१६ आषाढ़ शु० ६, गद्दीनशीनी सं० १६३१ आश्विन बदी १३ और कैलासवास सं० १६४१ पौष शु० ६ को हुआ था।

गये और ज्येष्ठ शु० २ को यह वापिस कांकरोली आये। इस समय महाराजश्री ने महाराणा का अच्छा स्वागत किया। गुरुघर के प्रति आदर-भाव से महाराणा ने अपनी बग्घी नगारखाने के दरवाजे के बाहर ही खड़ी रक्खी और भीतर चौक में पैदल ही पधारे। महाराजश्री ने भी एक दिन महाराणा की बिनौली बड़े ठाठ-बाठ से निकाली और खोल भरी। महाराणा भी ने मन्दिर और महाराजश्री को अच्छी भेंट चढ़ाते हुए एक हथिनी और घोड़ा दिया और बिदा ली।

बिनोली काढ़ने और खोल भरने से अनुमान होता है कि महाराणा का शीघ्र ही विवाह होनेवाला था। इस वर्ष की रोकड़ से पता चलता है कि महाराणा का यह विवाह कृष्णगढ़ में हुआ था। जब वह वहाँ से विवाह कर रानीजी-सहित लौटे, नाथद्वारा से उन्होंने श्रीद्वारकाधीश के लिये भेंट भेजी।

सं० १९३३ चैत्र कृ० १४ को झाबुआ-नरेश राजा गोपालसिंहजी अपने ज़नाना के साथ कांकरोली दर्शन करने आये, यहाँ आकर उन्होंने प्रभु की सामग्री के लिये द्रव्य भेंट किया।

सं० १९३४ आषाढ़ बदी ८ और पौषी अमावास्या को महाराणा सपत्नीक पुनः दर्शनार्थ कांकरोली आये, और नौचौकी पर मुक़ाम हुआ।

एक ताम्रपत्र ❋ सवाई महासिंहजी का प्राप्त होता है, जिससे मालूम होता है कि उन्होंने जब जनोई की दीक्षा ली, तब श्रीठाकुरजी के लिये दो बीघा ज़मीन भेंट की थी।

सं० १९३६ में बेगम के रावजी मेघसिंहजी ने २३ बीघा के आसरे भेंट की हुई ज़मीन का ताम्रपत्र भेंट किया †। यद्यपि इस समय के पूर्व महाराजश्री का देहान्त हो गया था, पर ऐसा ज्ञात होता है कि ज़मीन महाराजश्री को भेंट हो गई थी और बाद में ताम्रपत्र भेजा गया।

❋ श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुद्रसणजी

राम

सही

सीध श्रीमाहाराजाधिराज माहाराज श्रीरावतजी श्रीसुवाई महासीगजी वचनात श्रीहजुर ने जनेव लीदी जद लार देरा सरी सवलाल ने जनेव लुवाई जद जमी बीगा दो अेरो नदी क ढाव पुन अरप दीदी जो आज मीदरासरी की बहु श्रीकांकरोली जी श्रीदुवारकानाथ जी क भेट करी है जो ई जमी को हासिल भोग श्रीकांकरोलीजी के भंडार पुगसी। आपदत्तं पर दत्तं ....प्रवानगी श्रीहजुर हुकुमसु दसगत सहा सुरजमल कानोडा का.........

† श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुद्रसणजी

सेवग की सासटांग डंडोत मालम होसी

सीधश्रीश्री गोसवामीजी श्री श्री श्री श्री श्री १०८ श्रीश्रीगिरिधरलालजी महाराजश्री कांकडोलीजी वाला का

महाराजश्री ने अपने जीवन में भारत के कई प्रान्तों की यात्रा की, और वहाँ अपने सम्प्रदाय के साथ धार्मिक जागृति उत्पन्न की। इनकी यात्रा का बहुत-सा विवरण इनके रचित १२० वचनामृत-नामक ग्रन्थ से प्राप्त होता है।

प्रदेश-यात्रा

सं० १९१४ में महाराजश्री माजी महाराज के साथ प्रदेश करने बड़ौदा, गुजरात में गये और यहाँ के आस-पास के गाँवों में इन्होंने परिभ्रमण कर अपनी वैष्णव सृष्टि को सँभाला। यह यात्रा विशेषकर श्रीद्वारकाधीश की सेवा-सौकर्य और कांकरोली की आर्थिक व्यवस्था सुधारने के लिये हुई थी। इन्होंने यात्रा में वैष्णव-समाज से भेंट लेकर श्रीप्रभु की सेवा के लिये नित्य काम में आनेवाले चाँदी-सोने के पात्र बनवाकर भेंट किये। मन्दिर में इसके प्रथम ऐसा वैभव नहीं था। और कहते हैं, साधारण पात्र ही श्री की सेवा में काम आया करते थे।

इस प्रदेश-यात्रा से सं० १९१५ का० कृ० ३० को महाराजश्री वापिस कांकरोली आये।

सं० १९१६ के मध्य में महाराजश्री ने बड़े हर्ष और ठाट-बाट से सपरिकर व्रज चौरासी कोस की परिक्रमा की, जिसमें हज़ारों वैष्णव यात्री आपके साथ में थे।

सं० १९१७ के प्रारम्भ में यह जगदीशपुरी की यात्रा करने गये। महाराजश्री ने श्रीजगन्नाथराय-जी की सेवा और मनोरथ किया। यहाँ से वापिस लौटकर अन्नकूट का उत्सव किया, तथाच मार्ग कृ० १२ को माजी महाराज के साथ मन्दसोर का प्रदेश करने गये।

सं० १९१८ कार्त्तिक शु० १४ को महाराणा सरूपसिंहजी का देवलोक हो गया। अतः महाराजश्री मार्ग कृ० ६ को मातमपुरसी करने उदयपुर गये, और ६ को वापिस आये। इनके बाद का० शु० १५ को शंभुसिंहजी राजगादी पर विराजमान हुए। पौष बदी ६ को उदयपुर में राज्य-दरबार हुआ। इसके बाद महाराजश्री पौष शु० १३ को उदयपुर पधारे और यहाँ माघ

चरणारवन्दा बेगं सु सेवग रावत सुवाई मेघसिंग का सासटाग डंडोत मालम होसी। अप्रञ्च आपरा चरणार वन्दा जमी ई प्रमाणे भेट करी। जी की बीगत.........

७ समत १९३१ का मगसर में काकाजी आसकरणजी रामसरण हुआ जद जमी बीगा आठ मडावदा म धाकड दीपा पडोप की डोरी म सु पावल जा पकी डोरी सु बीगा

७ बडो कुडो कुडी का खडम ह जी मसु जमी बीगा ७ सात धाकड हीरो गुलगावोपा कसनो खानो वानदी पोपडो कर जा श्रीग काकाजी भेट करी जो।

६। १ कसब कुडो मालो हरज वरं कुसाल नादर का नामा को बीगा ६। १ नो बीगा छ कसबा काकीजी खीचणजी बरम समबन्द लीदो जद भेट करी। बार मुडोद वाई महाकुडो हो जो।

२३। १ तईस बीगा छई बसवा पकी डोरी सुही प्रमाण श्रीत्रोडरी जमी चरणारवन्दा म भेट करी जी को हासल भोग आप लीजो आपर पुगाआ जावागा। आपदत्त पर दत्त.........प्रवानगी प्रमे दवो काकाजी अमरसिंगजी को दसगत साहा कसनलाल कानोडा का समत १९३६.........बुद १३।

कृ० १ को उन्होंने प्राचीन प्रथा के अनुसार महाराणा को वैष्णव-धर्म की दीक्षा देकर कण्ठी बाँधी। महाराणा ने भी महाराजश्री को गुरु-भेंट चढ़ाई, तथाच बिदाई से सत्कार किया।

उदयपुर से लौटने के बाद महाराजश्री अपने बड़े भ्राता श्रीमट्टूजी महाराज की अस्वस्थता का समाचार पाकर माघ शु० १५ को गिरिराज गये।

सं० १९२० में सूरतवाले गोस्वामी श्रीयदुनाथजी के झगड़े में महाराणा के परामर्शानुसार महाराजश्री समझौता करने के लिये पोष शु० ३ शनि को उदयपुर गये, और वहाँ से फाल्गुन बदी ५ बुध को वापिस आये। इस प्रसंग में फा० कृ० ११ को पुनः उदयपुर जाना एवं चैत्र बदी ६ को पुनः आना पड़ा। महाराजश्री ने महाराणा की सलाह से सूरतवालों के झगड़े को मिटाने के लिये क़रीब पाँच हज़ार रुपया व्यय किया, पर यदुनाथजी उदयपुर न गये। इस पर नाराज होकर महाराणा ने सूरतवालों का मेवाड़-प्रवेश बंद कर दिया*।

सं० १९२३ वैशाख शु० ६ को महाराजश्री प्रदेश-यात्रा करने रवाना हुए और ज्ये० कृ० ७ को वेगूँ रावजी के आमन्त्रण पर स्वकीय परिकर के साथ वेगूँ पधारे, यहाँ रावजी तथा उनके परिवार के बहुत-से लोगों ने महाराजश्री से नाम-दीक्षा लेकर शिष्यता प्राप्त की और गुरुदक्षिणा में ज़मीन भेंट की, जिसका प्रथम निर्देश किया जा चुका है। वेगूँ से प्रस्थान कर महाराजश्री ने गुजरात का भ्रमण किया, और सेवा एकत्र कर कार्तिक कृ० ११ को कांकरोली पधारे। सं० १९२६ मार्ग कृ० ३ को महाराजश्री ने पुनः गुजरात की यात्रा की।

सं० १९२८ में महाराणा शम्भुसिंहजी को अंग्रेज़ सरकार की ओर से जी० सी० एस० आई० का ख़िताब मिला। उसके लिये मार्गशीर्ष बदी ६ के दिन बड़ा भारी दरबार हुआ और उत्सव मनाया गया। इस समय महाराणा ने अपने मित्र-भाव से गिरिधरलालजी महाराज को उदयपुर आमन्त्रित किया और उत्सव में उन्हें भी सम्मिलित कर सम्मानित किया।

सं० १९२९ में, काशी में, श्रीगिरिधरजी महाराज की बेटी श्यामाबेटीजी ने श्रीगोपाललालजी का छप्पनभोग का मनोरथ किया, और उस समय महाराजश्री को वहाँ बुलाया। इन्होंने बड़ौदा से वहाँ जाकर श्रीप्रभु की सेवा की, और सविधि काशी-यात्रा। कार्तिक बदी ६ को काशी से लौटकर कांकरोली आये।

सं० १९३९ के अन्त में श्रीराजाधिराज मन्दिर के सञ्चालक सेठ गोविन्ददासजी आदि ने महाराजश्री को मथुरा पधराया, और यहाँ लिखा-पढ़ी कर उस मन्दिर का इनको गद्दीनशीन आचार्य बनाया। यहाँ महाराजश्री के परामर्शानुसार सं० १९३० ज्येष्ठ शु० ११ के दिन से

* आगे चलकर बालकृष्णलालजी महाराज के द्वि० विवाह के समय महाराणा फ़तहसिंहजी ने इसका खुलासा किया।

श्रीराजाधिराज की सेवा-पूजा प्रचलित की गई। इस मन्दिर का पूर्व वृत्त और लिखा-पढ़ी का विवरण आगे दिया जा रहा है। सं० १६३० में माघ शु० ६ सोम के दिन छप्पनभोग कर महाराजश्री द्वारका-यात्रा करने पधारे, और श्रीद्वारकानाथजी की सेवा कर उन्होंने सविधि तीर्थ-यात्रा की।

सं० १६३१ आश्विन बदी १२ को महाराणा शम्भुसिंहजी का देहान्त हो जाने का समाचार सुनकर महाराजश्री बम्बई से कांकरोली आये और उदयपुर जाकर उन्होंने मातमपुरसी का दस्तूर किया। इसके बाद जब मार्गशीर्ष बदी २ को महाराणा सज्जनसिंहजी की गद्दीनशीनी का उत्सव हुआ, तब महाराजश्री राजतिलक करने उदयपुर पधारे, और वहाँ २० दिन रहकर मार्गशीर्ष शु० ७ को कांकरोली आये।

सं० १६३३ ज्येष्ठ कृष्ण ८ के दिन आपने तीसरी बार पुष्कर-क्षेत्र की यात्रा की, और वहाँ के पुरोहित को वृत्तिपत्र लिखकर प्रदान किया, जिसमें सं० १६१३ ज्येष्ठ बदी ५ शनि और सं० १६२६ माघ बदी १४ की अपनी गत दो यात्राओं का भी उल्लेख किया है।

सं० १६३४ के प्रारम्भ में इन्होंने अन्तिम बार गुजरात की यात्रा और प्रदेश-परिभ्रमण किया। इसी प्रदेश में वसो-नामक ग्राम में इनका गोलोकवास हुआ था।

महाराजश्री के समय में यद्यपि मेवाड़ में राजनैतिक विषम वातावरण पैदा नहीं हुआ, फिर बाग़ियों का आगमन— भी भारत के ग़दर का असर इस ओर अवश्य पड़ा।

सं० १६१४-१५ में जब कि महाराजश्री पूर्ण वयस्क नहीं हुए थे, हिन्दुस्थान में फ़ौजी विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसकी एक लपट मेवाड़ में भी आई, और उससे कांकरोली भी अछूती न बची। सं० १६१३ के माघ मास में यह विद्रोह फैलने लगा। इन दिनों मेवाड़ के पोलीटिकल एजन्ट कप्तान शावर्स आबू पर रहते थे। सं० १६१४ ज्येष्ठ मास में वे उदयपुर आकर महाराणा की सुरक्षा में रहने लगे। इसके एक-दो दिन बाद नीमच-छावनी में सेना बाग़ी हो गई और उसने चारों ओर उपद्रव मचाना शुरू कर दिया।

सं० १६१५ के श्रावण मास में विद्रोही सेना और उनका पीछा करती हुई गोरों की फ़ौज कांकरोली आई। विद्रोही सेना ने ठिकाने में कुछ भी उपद्रव नहीं किया सो तो ठीक; पर उसने किस अज्ञात शक्ति से प्रभावित होकर द्वारकाधीश के दर्शन किये, और कुछ रुपये भेंट चढ़ाये। कांकरोली के महाजन, सेठ-साहूकारों ने दबाव डाले जाने पर श्रीमन्दिर के भण्डार से खाने-पीने का सामान उधार लेकर उस फौज को दिया, और उसकी क़ीमत भण्डार में जमा कराई *।

* रोकड़ से।

बाग़ी सैना के आगे बढ़ जाने पर उनका पीछा करती हुई सरकारी गोरों की फ़ौज आई, उसके लिये भी महाजनों द्वारा इसी प्रकार रसद का प्रबन्ध किया गया।

कप्तान शावर्स साहब मेवाड़ में बाग़ियों के आने की ख़बर पाकर उनका पीछा करने के लिये भीलवाड़ा होकर हमीरगढ़ गये, और बाद में चित्तौड़ होकर गङ्गापुर। गुल्लूजी को पीछा करने के लिये कुवाँरिया की ओर भेजा गया। वे कुवाँरिया होकर कांकरोली आये। सरकारी फ़ौज की, बाग़ियों से कोठारिया के नवाएया गाम के मैदान में, मुठभेड़ हो गई, पर अन्त में दुश्मन भाग निकले, जिनका पीछा किया गया। इसके कुछ समय बाद शावर्स साहब और उनके साथी अर्जुनसिंह सहीवाला कांकरोली आये। इस समय साहब के लिये दो घोड़ों की आवश्यकता हुई, जिसमें एक महाराजश्री की आज्ञानुसार मन्दिर से दिया गया *।

इस समय के लगभग नौचौकी मुक़ाम पर ग्यारह दिन तक गोरी फ़ौज का पड़ाव रहा। यद्यपि देवस्थान से रसद आदि किसी रूप में देने का रिवाज नहीं था, फिर भी राजनगर के कामदार प्रतापमल झब्बर तथा महता फूलचन्दजी उदयपुरवालों के आपसी व्यवहार के कारण दिया गया, जिसकी क़ीमत के लगभग ६००) रुपया उन्होंने भंडार में जमा कराये †।

इस प्रकार महाराजश्री तथा देवस्थान के प्रभाव से कांकरोली इस राजनैतिक उथल-पुथल से बच गई और विद्रोहियों ने यहाँ किसी प्रकार का उपद्रव नहीं किया। इसके साथ ही विकट राजनैतिक परिस्थिति के समय भी देवस्थान पर किसी प्रकार का बोझा न डालने की नीति बर्ती गई, जो महाराणा अरिसिंहजी (द्वि०) के समय पुष्ट हुई थी।

सूरतवालों का झगड़ा

महाराजश्री अपनी जातीय मान-मर्यादा के कट्टर रक्षक और जाति-विद्वेष को दूर करने के लिये सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। पहिले लिखा जा चुका है कि—श्रीद्वारकाधीश के पास से श्रीबालकृष्णजी ठाकुरजी को ले जाने के कारण सूरतवाले गोस्वामियों का मेवाड़-प्रवेश निषिद्ध था। यहाँ तक कि वे श्रीनाथजी की सेवा के लिये भी मेवाड़ में नहीं आ सकते थे। महाराजश्री के समय में सूरत के गोस्वामि श्रीयदुनाथजी महाराज ने मेवाड़ में आकर श्रीनाथजी की सेवा करनी चाही, और उसके लिये नाथद्वारा के तिलकायित से आज्ञा प्राप्त कर ली। वहाँ के तिलकायित ने इस शर्त पर कि—आगे के लिये कांकरोलीवालों से मिलकर झगड़े का फ़ैसला कर लिया जाय, उन्हें इजाज़त दे दी और कांकरोलीवालों को ऐसा करने के लिये राज़ी कर लिया। नाथद्वारा और

* अर्जुनसिंह सहीवाला का जीवनचरित्र (पत्र ७३)।

† प्राचीन रोकड़ से। इस लड़ाई के समय मिला हुआ एक तेगा कांकरोली के संग्रहालय में विद्यमान है।

कांकरोली के महाराजों में इस प्रकार की एक लिखा-पढ़ी हो गई थी, जिसके कारण सूरतवाले महाराज को श्रीनाथजी की सेवा कांकरोलीवालों से विना पूछे नहीं दी जा सकती थी।

सं० १९२० में भाद्रपद मास में महाराणा शंभुसिंहजी से भी परामर्श कर नाथद्वारा के तिलकायित गिरिधारीजी महाराज ने दोनों ठिकानों का वैमनस्य दूर कर देना चाहा, और परस्पर पत्र-व्यवहार कर सूरतवाले महाराजश्री को नाथद्वारा बुलाया। सूरतवालों ने यह स्वीकार कर लिया कि—हम महाराणा के समक्ष उनके आदेशानुसार आपस में तसफ़िया कर लेंगे।

यह सब तय हो जाने पर सूरतवाले महाराज ने नाथद्वारा आकर श्रीनाथजी की सेवा की, पर वे महाराणा के आह्वान करने पर भी अपने वचन को भूल ही नहीं गये, प्रत्युत उसकी उपेक्षा भी कर दी। महाराणा के आदेशानुसार गिरिधरलालजी महाराज कांकरोली से माघ मास के लगभग और सं० १९२१ में कार्तिक के लगभग, इस प्रकार दो बार उदयपुर गये। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने मनुष्य भेजकर भी क़रीब पाँच हजार रुपया व्यय किया। पर सूरतवाले महाराजश्री ने इसकी कोई परवाह नहीं की और वे श्रीनाथजी की सेवा का अपना मतलब निकालकर नाथद्वारा से सीधे सूरत को रवाना हो गये। महाराणा ने इस प्रकार की चालाकी से अतिशय क्रुद्ध होकर सूरतवालों को मेवाड़ में आने के लिये रोक लगा दी। यह रोक सूरतवालों के लिये सं० १९४८ तक लगी रही, जब तक आगे महाराज श्रीबालकृष्णलालजी का विवाह सूरत में नहीं हुआ।

अन्नकूट का झगड़ा

नाथद्वारा के तिलकायित श्रीगिरिधारीजी महाराज स्वतन्त्र प्रकृति के व्यक्ति थे, अपने आग्रह पर उचितानुचित का विचार न कर विषम परिस्थिति पैदा करने में वे हिचकिचाते नहीं थे। इस प्रकार की एक घटना कांकरोलीवाले महाराज गिरिधरलालजी के साथ भी घटी, जिससे अन्नकूट पर श्रीद्वारकाधीश का नाथद्वारा पधारना भी बंद हो गया। इस आपसी खींचातानी ने सम्प्रदाय की प्राचीन प्रथा पर भी अपना प्रभाव डाला।

गत प्रकरण में कहा जा चुका है कि—पुरुषोत्तमजी महाराज के समय में सं० १८८८ तक श्रीद्वारकाधीश का अन्नकूटोत्सव कांकरोली में ही हुआ, जिसका कारण पारस्परिक जातीय व्यवहार था। सं० १८८९ में यह झगड़ा समाप्त हुआ, और अन्नकूट उत्सव पर श्रीप्रभु नाथद्वारा पधारे। यह क्रम सं० १८९९ तक क़ायम रहा, पर सं० १९०० में फिर यही नौबत आई, जो सं० १९०१ तक विद्यमान रही। इसके बाद पद्मावती माजी महाराज के समय पुनः समझौता हो गया। जिससे प्रभु सं० १९०२ से लेकर लगातार सं० १९१७ तक नाथद्वारा पधारते रहे।

जहाँ तक ध्यान है, जातीय प्रायश्चित्तादि-प्रथा का प्रभाव, सर्वप्रथम नाथद्वारा और

कांकरोली के बीच ही साम्प्रदायिक सेवा पर पड़ा, और लौकिक व्यवहार की प्रधानता ने अलौकिक व्यंवहार को दबा दिया।

सं० १६१८ के लगभग कोटा में गिरिधरलालजी महाराज का द्विरागमन हुआ। कोटा और नाथद्वारा की जातीयता में एक दूसरे के प्रति ऊँच-नीच के भाव बहुत समय से चले आ रहे हैं—और यही कारण विदित होता है कि—गिरिधरलालजी के कोटा में विवाह-सम्बन्ध ने नाथद्वारा के तिलकायित को अपनी मर्यादा रखने को बाध्य किया। फलतः सेवा में सम्पर्क मिल जानें का बहाना लेकर कांकरोलीवालों से प्रायश्चित्त लेने की आपत्ति खड़ी की गई। इसका असर यहाँ तक पड़ा कि—सं० १६१८ से सं० १६३२ तक नाथद्वारा में सम्मिलित अन्न-कूट होने का अवसर नहीं आया। इसमें सूरतवाले यदुनाथजी महाराज का झगड़ा भी एक अन्तर्निहित कारण था।

यद्यपि बीच में, सं० १६२३ में, दोनों स्थानों के जातीय व्यक्तियों में पारस्परिक मेल हो गया, और श्रीपद्मावती माजी महाराज आषाढ़ कृ० ६ शुक्रवार को सेवा का खुलासा हो जाने से श्रीनाथजी के चरण-स्पर्श सेवा करने नाथद्वारा गये, परंतु इसके प्रथम दोनों ठिकानों के तिलकायितों में एक व्यक्ति-विशेष के कारण मनोमालिन्य हो चुका था। जिसका वृत्तान्त इस प्रकार है:—

नाथद्वारावाले श्रीगिरिधारीजी महाराज के पास एक वृद्ध, अनुभवी भगवती-नामक गूजर वैष्णव रहकर श्रीनाथजी की सेवा कुछ किया करता था। वह निस्पृही और भगवत्सेवा का अभिलाषी होने के साथ कार्य करने में चतुर और प्रखर-बुद्धि था। एक दिन किसी साधारण कार्य पर गिरिधारीजी महाराज उस पर नाराज़ हो उठे और उसे उन्होंने क़ैद कराना चाहा। वह भागकर कांकरोली पहुँचा, और महाराजश्री गिरिधरलालजी से अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना कर शरणागत हो गया।

महाराजश्री उसके व्यवहार और नेकचाल से परिचित थे, अतः उन्होंने उसे अभय-वचन देकर अपने पास रख लिया और कुछ समय बाद मन्दिर का अधिकारी बना दिया। नाथद्वारा-वाले इस बात को कब सह सकते थे ? वे मन-ही-मन कुडकुडा रहे थे। पर कुछ कर न सकते थे। अब वे कोई अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

सं० १६२३ में कार्तिक बदी अमावस्या बुधवार को अन्नकूट का उत्सव आया और प्राचीन प्रथा के अनुसार श्रीद्वारकाधीश की सवारी श्रीनाथजी के पास अन्नकूट के लिये नाथद्वारा पधारी। सवारी में श्रीठाकुरजी के आस-पास महाराजश्री और अधिकारी घोड़े पर सवार होकर साथ में जा रहे थे। गिरिधारीजी महाराज ने जब यह सुना कि—ठाकुरजी के साथ वही

निकाला हुआ व्यक्ति अधिकारी बनकर आ रहा है, तो वे क्रोध से लाल हो गये। परिणाम का विचार किये बिना ही उन्होंने महाराजश्री से यह कहलवा भेजा कि—आप अपने साथ उस व्यक्ति को मत लाइये।

गिरिधरलालजी महाराज अपने अधिकारी का अपमान भला कब सह सकते थे? उन्होंने उसे साथ में लाने का ही आग्रह किया। परिणाम यह हुआ कि—दोनों ओर से बात का बतंगड़ उठ खड़ा हुआ, जिस पर गिरिधारीजी महाराज ने उक्त व्यक्ति के साथ नाथद्वारा में प्रवेश करने के लिये सर्वथा उन्हें मना कर दिया।

इस समाचार का पहुँचना था कि—महाराजश्री गिरिधरलालजी को आवेश आ गया और उन्होंने कहलाया कि—आपको ठाकुरजी के परिश्रम का कुछ भी खयाल नहीं है? महाराजश्री ने अपनी माता पद्मावती माजी महाराज से सलाह ली, और उनका आदेश पाकर ठाकुरजी की वापिस कांकरोली के लिये सवारी का कूच का डंका बजवा दिया। शीघ्र ही श्रीद्वारकाधीश की सवारी कांकरोली के लिये रवाना हो गई। नाथद्वारा में और विशेष कर दर्शनार्थी वैष्णव-समाज में हाहाकार मच गया। सायंकाल होने के पूर्व ही द्वारकाधीश की सवारी कांकरोली आ पहुँची, महाराजश्री तथा माजी महाराज को ठाकुरजी के इस परिश्रम पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अन्त में कार्तिक शु० अक्षय नवमी के दिन श्रीद्वारकाधीश का अन्नकूट का उत्सव बड़ी सजधज के साथ कांकरोली में हुआ, और हज़ारों वैष्णवों ने यहाँ आकर दर्शन किये। इस वर्ष से सं० १९३२ तक कांकरोली में ही अन्नकूट होता रहा *।

अन्त में अपने पिता के स्थान पर नाथद्वारा के तिलकायित होकर गोवर्द्धनलालजी ने सं० १९३३ आश्विन शु० १३ के पत्र में गिरिधरलालजी से नाथद्वारा आकर श्रीनाथजी की सेवा करने एवं अन्नकूट पर प्रभु को पधराने का पूरा आग्रह किया। अतः इस वर्ष से पुनः श्रीद्वारकाधीश नाथद्वारा में अन्नकूट पर पधारने लगे।

इसी वर्ष किन्हीं राजनैतिक कारणों से नाथद्वारा के तिलकायित श्रीगिरिधारीजी महाराज को महाराणा सज्जनसिंहजी ने पदच्युत कर बाहर भेजा और आषाढ़ बदी १ के दिन गोवर्द्धनलालजी महाराज को तिलकायित बनाया था †।

* द्वा० प्रा० वार्ता (लल्लूभाई) पत्र १२८।
† उदयपुर रा० का इतिहास पत्र ८१२।

जैसा हम पहले कह आये हैं, महाराजश्री और महाराणा शम्भुसिंहजी के साथ पूर्ण मित्रता का व्यवहार था। जहाँ इन दोनों में प्राचीन मर्यादा के अनुसार गुरु-शिष्य का भाव था। वहाँ नवीनता के अनुरूप मित्र-भाव भी विद्यमान था। यह पहला ही अवसर था, जब किसी गोस्वामिबालक ने किसी प्रतिष्ठित महाराजा के साथ इस प्रकार का मैत्री-पूर्ण सद्भाव स्थापित किया हो।

महाराणा के साथ घनिष्ठता

महाराणा और महाराजश्री का एक फोटो द्वा० चित्रशाला कांकरोली में विद्यमान है, जिसमें दोनों कुर्सियों पर विराजमान हैं। यद्यपि उक्त चित्रशाला में गुरु-शिष्य-भाव के द्योतक हस्त-लिखित चित्र प्रायः सभी महाराज और महाराणाओं के विद्यमान हैं, पर इस प्रकार समान आसन पर आसीन, इन दोनो महानुभावों का यही चित्र मिलता है।

लल्लू भाई छगनलाल देसाई ने स्वकीय द्वा० प्रा० वार्ता (पत्र १२५) में महाराणा और महाराजश्री के इस प्रकार के मित्र-भाव के द्योतक एक प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

"एक बार महाराणा शम्भुसिंहजी कांकरोली आये और उन्होंने 'नौचौकी'-नामक स्थान में निवास किया। श्रीद्वारकाधीश प्रभु के दर्शन कर और भेंट चढ़ाकर जब वह महाराजश्री की बैठक में उनसे मिलने आये, तब उन्होंने अपने गुरु के प्रति शिष्टाचार दिखलाते हुए महाराजश्री के चरण-स्पर्श किये। इस समय महाराणा ने सोने के लंगर भेंट किये *। उस समय से कांकरोली के तिलकायित पैर में सोने के लंगर महाराणा के सामने पहिनकर जा सकते हैं। इसके बाद राजकीय मान-मर्यादा के अनुसार महाराणा बिदा होकर उदयपुर चले गये।

दूसरी बार महाराणा चैत्र कृष्ण पक्ष में कांकरोली आकर रहे। दर्शन और राजकीय व्यवहार कर चुकने के बाद फाग की सवारी के लिये जब उदयपुर जाने की बात कहकर महाराजश्री से बिदा माँगी, तो महाराजश्री ने भी महाराणा की फाग की सवारी देखने की अपनी इच्छा व्यक्त की। इस पर महाराणा ने यही उचित समझा कि इस वर्ष कांकरोली में ही सवारी निकाली जाय। इस विचार के अनुसार महाराणा ने उदयपुर समाचार भेजकर तैयारी कराई, और भाई-बन्दों को बुलवाकर लवाजमा, हाथी-घोड़ा आदि वहाँ से मँगाये।

तीन-चार दिन में सब प्रकार की तैयारी हो जाने पर कांकरोली में मन्दिर से बड़े सजधज के साथ महाराणा की फाग की सवारी निकली, जिसमें महाराजश्री गिरिधरलालजी भी सम्मिलित हुए। गुलाल, रंग, कुंकुमा आदि उड़ाते हुए सवारी बाज़ार में होकर निकली, और मध्याह्न में विट्ठल-विलासबाग़ में जा पहुँची। यहाँ गोठ, गाना-बजाना और खेल-तमाशे हुए।

* रोकड़ के अनुसार महाराणा सरूपसिंहजी के द्वारा सं० १९१३ में ही सोना भेंट होने का उल्लेख किया जा चुका है। अतः उपर्युक्त कथन कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता।

सायंकाल लौटते समय महाराजश्री तामझाम में आये और साथ में महाराणा तथा उनके भाई-बन्द सरदार आदि सवारी में शामिल होकर मन्दिर में वापिस आये। इस प्रकार कांकरोली में ही सवारी के जलसे से महाराणा और महाराजश्री तथा जनता को बड़ा आनंद आया।

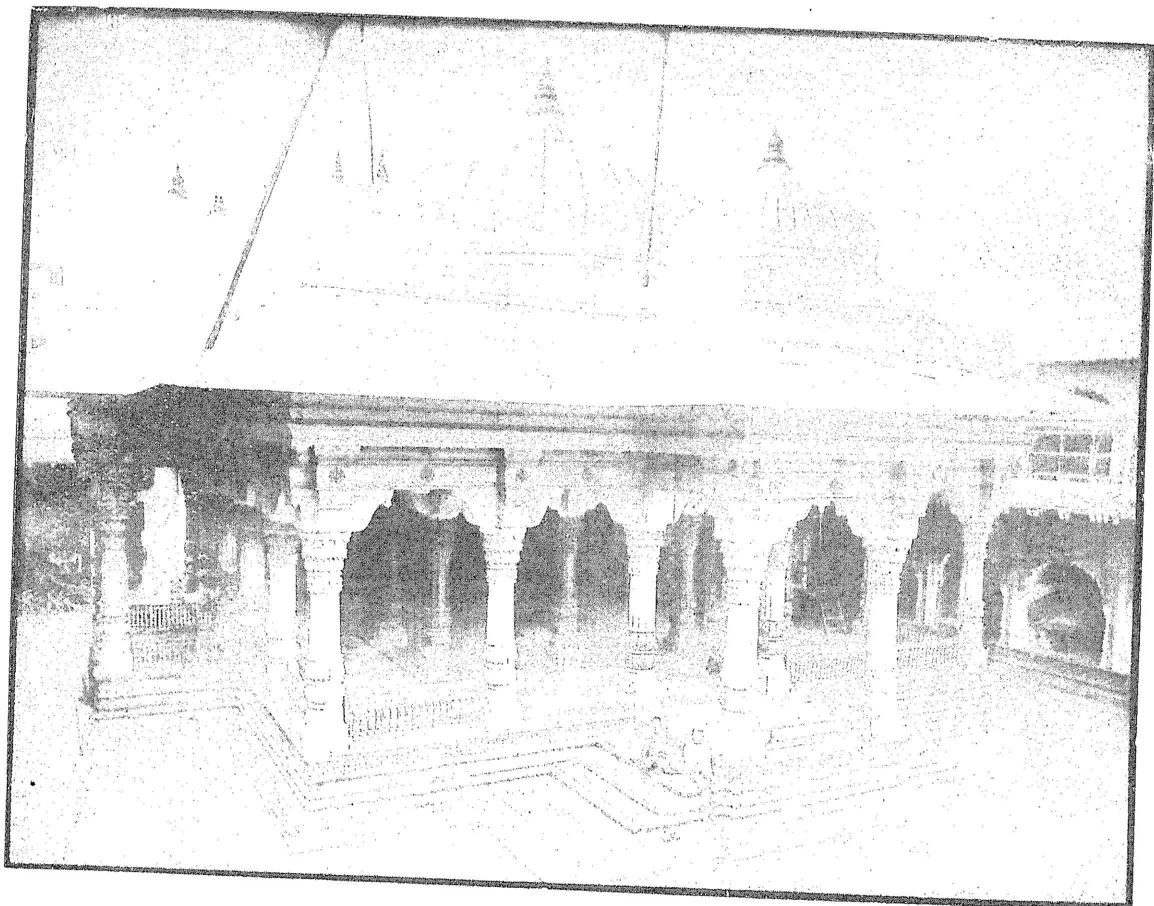
एक बार महाराणा के आग्रह से महाराजश्री गनगौर के दिनों में उदयपुर पधारे। दरबार की ओर से वहाँ नाव की सवारी निकाली गई, जिसमें महाराणा ने गिरिधरलालजी को भी साथ में विराजमान किया। चारों ओर रोशनी और सजावट की गई तथा आतिशबाज़ी छुड़ाई गई। इस समय महाराजश्री ने अपने गोपाल ख़वास को पीछे तकिया लगाने का हुक्म दिया, पर इसे प्राचीन मर्यादा के विरुद्ध देखकर राजपुरोहितजी ने उसे मना कर दिया। महाराणा को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अपने गुरुघर के प्रति ऐसी कोई रुकावट नहीं रक्खी, फलतः महाराणा के आदेश से गिरिधरलालजी की गादी पर तकिया लगाया गया। महाराणा के इस प्रकार के व्यवहार से महाराजश्री के मन में किसी भी प्रकार का विषम विचार नहीं आया और महाराणा ने गुरुघर के लिये एक प्रकार से और भी प्रतिष्ठा प्रदान कर अपने उदार हृदय का परिचय दिया।" इस प्रकार उदयपुर जाकर गिरिधरलालजी ने महाराणा के साथ निजत्व का व्यवहार स्थापित किया।

राजाधिराज मन्दिर के संस्थापक पारिखजी का परिचय

पारिख गोकुलदासजी नागर बनिया और बड़ौदा राज्यान्तर्गत सीनौर के निवासी थे। यह कांकरोली के घर के सेवक और गवालियर के महाराजा दौलतराव सिन्धिया * के ख़ज़ाञ्ची थे। इनकी राजप्रियता के कारण आस-पास के कर्मचारी इनसे आन्तरिक ईर्षा रख इन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न किया करते थे, फिर भी इनकी नीति-कुशलता के कारण ऐसा अवसर नहीं आया, जब इनको राजा के सामने नीचा देखना पड़ा हो।

यद्यपि सिन्धिया-सरकार ने उज्जैन सर कर लिया था, फिर भी वहाँ के नागाओं ने अपना उपद्रव कम न किया। फलतः जब-तब वहाँ टंटा-बखेड़ा उठ खड़ा होता था। इस उपद्रव को शांत करने के लिये सिन्धिया-सरकार ने अपने अच्छे, प्रतिष्ठित कई सरदार समय-समय पर भेजे, पर वहाँ चिर शांति स्थापित नहीं हो सकी। ऐसा ही समय जब एक बार फिर आया तो कर्मचारियों को अवसर मिला और पारिख गोकुलदासजी को नीचा दिखाने का षड्यंत्र रचा गया। दौलतराव

* इनका जन्म सं० १८३५ के लगभग हुआ, और सं० १८५१ के लगभग १६ वर्ष की उम्र में अपने काका माधवजी सिन्धिया की गोद आये। सं० १८५२ के लगभग इन्होंने गवालियर पर क़ब्ज़ा हासिल किया, और १८६७ में उज्जैन से राजधानी उठाकर वहाँ राजधानी क़ायम की। सं० १८८४ के लगभग दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु हो गई।



श्रीराजाधिराज-श्रीद्वारकाधीश का मन्दिर
मथुरा

पाटोत्सव
सं० १८७१
आषाढ़ कृ० ८

अधिकृत
सं० १९३०
वैशाख शु० ७

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ



श्रीगिरिधरलालजी महाराज कांकरोली तथा श्रीशम्भुसिंहजी महाराणा उदयपुर

सिन्धिया ने उज्जैन का उपद्रव शान्त करने और नागाओं को सर करने का भार पारिखजी को सौंपा।

महाराजा का आदेश पाकर पारिखजी ने उज्जैन जाकर नागाओं को सर्वदा के लिये पस्त-हिम्मत कर उनके सारे धन-वैभव पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया। कहते हैं, पारिखजी २०-२२ करोड़ रुपयों की सम्पत्ति लेकर गवालियर लौटे, और महाराजा को विजय का समाचार सुनाया। इस विजय के कारण पारिखजी के विरोधियों को नीचा देखना पड़ा और राज्य में उनकी अच्छी मान-वृद्धि हुई। पारिखजी ने जब समस्त सम्पत्ति महाराजा को पेश करनी चाही, तो उन्होंने यह कहकर कि "यह कौड़ी हमारी गंगाजली के काम की नहीं है", लाया हुआ सारा धन पारिखजी के पास ही अलाहदा रखवा दिया। महाराजा ने कौड़ी शब्द धन के लिये, जो नागाओं के रक्तपात द्वारा प्राप्त हुआ था, व्यवहृत किया था। गंगाजली राजकोष कहलाता था।

पारिख गोकुलदासजी के पास मनीरामजी और चम्पारामजी-नामक दो मुनीम रहा करते थे *। इनमें मनीराम पर पारिखजी का अत्यधिक प्रेम था।

मुनीम मनीरामजी सरावगी बनिया (खंडेलवाल) और जयपुर राज्यांतर्गत मालपुरा गाँव के निवासी थे। दरिद्रता के कारण अपनी भाभी से एक दिन बात-बात में कहा-सुनी हो जाने पर यह घर छोड़कर निकल गये और पास की पीतल की लुटिया गिरवीं रखकर मार्ग का व्यय निकालते हुए लश्कर पहुँचे। यह लुटिया आज भी भड़भूँजा के यहाँ रक्खी है। संयोगवश पारिख गोकुलदासजी से इनका परिचय हो गया और यह उनके पास रहने लगे। विवेक और बुद्धि-कौशल के कारण पारिखजी के यहाँ इनका अच्छा प्रभाव जम गया और यह कुछ समय बाद उनके कार्य करते रहने के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये। यहाँ तक कि कुछ वर्ष बाद पारिखजी के कारोबार के यह कर्ता-धर्ता हो गये *।

पारिखजी के कोई संतति नहीं थी और यह अपने सगे-संबंधियों से भी तटस्थ रहते थे। राज्य का कार्य करते हुए वृद्धावस्था में इन्हें वैराग्य हो गया और यह अपना भक्तजीवन बनाने लगे। इन्होंने अपना सारा कारोबार मुनीम मनीरामजी को सौंप दिया।

* "सिन्धिया-दरबार के मुख्य ख़ज़ांची गोकुल पारख थे। जब वे (दौलतराव) सन् १८२७ ई० (सं० १८८४) में मर गये, तब इनकी जगह पर बायजाबाई ने जयपुर-निवासी मनीराम सेठ को अपना ख़ज़ांची नियत किया। पहिले यह बहुत ग़रीब थे, परन्तु आगे वे बड़े धनाढ्य हो गये। सिन्धिया-दरबार में उस समय ये अव्वल दर्जे के मालदार गिने जाते थे। इनका उस समय इतना दबाव था कि इनकी सलाह लिए बिना कोई सरकार को एक पैसा तक क़र्ज़ नहीं देता था। इनकी दुकान का नाम 'मनीचंद और लखमीचंद' करके मशहूर था।"

"महारानी बायजाबाई सिन्धिया" पत्र ६६

गवालियर में पारिखजी का नाम खूब प्रसिद्ध हुआ। इधर उनके व्यवहार से सब लोग मनीरामजी को ही उनका उत्तराधिकारी मानने लगे थे। जब मनीरामजी के पुत्र हुआ, तब पारिखजी ने उसका दष्टौन बड़ी शान-शौकत के साथ किया। इस व्यवहार में मेल-मुलाक़ात के लोगों से क़रीब एक लाख रुपया आया। जब बालक का नाम रक्खा जाने लगा, तो पारिखज ने कहा कि—जिसके नामकरण मे ही इतना द्रव्य आया है, उसका क्या नाम रक्खा जाय ? वह तो स्वयं लक्ष्मीचन्द है। फलतः मनीरामजी के पुत्र का नाम लक्ष्मीचन्द रक्खा गया। मनीरामजी के राधाकृष्णजी और गोविन्ददासजी-नामक दो पुत्र और हुए। लक्ष्मीचन्दजी को पारिखजी ने आगे चलकर अपना उत्तराधिकारी बना लिया।

पारिखजी के अनुग्रह अथवा भाग्य के फेर से मनीरामजी तो वैभवशाली बन गये, पर पारिखजी के दूसरे मुनीम चम्पारामजी साधारण स्थिति में ही रह गये *।

पारिख गोकुलदासजी गवालियर में जिस स्थान में रहकर अपना कारोबार करते थे, वह 'पारिखजी का बाड़ा' इस नाम से आज भी प्रसिद्ध है। कुछ समय बाद उन्होंने वहाँ नये सिरे से मकान बनवाना शुरू किया और खुदाई का काम होने लगा।

राजाधिराज का प्राकट्य

कहते हैं, एक दिन प्रातःकाल जब नींव की खुदाई जारी थी, ज़मीन के नीचे से 'होले-होले' इस प्रकार की प्रतिध्वनि मज़दूरों को सुन पड़ी। काम बन्द कर इसकी ख़बर पारिखजी को दी गई। सन्ध्यावन्दन नित्य-कर्म से उठकर वे उस स्थान पर आये और अपने गत रात्रि के स्वप्न को सच होते देख स्वयं अपने हाथ से वहाँ की मिट्टी हटाने लगे। कुछ देर के परिश्रम के फल-स्वरूप "श्रीद्वारकाधीश, राजाधिराज" और एक शिवजी का स्वरूप उन्हें प्राप्त हुआ। रात्रि के स्वप्न के अनुसार प्रभु का स्वरूप पाकर वे अपने को कृतार्थ समझने लगे। पारिखजी ने वहीं मन्दिर बनवाकर श्रीप्रभु की सेवा-पूजा बड़े वैभव के साथ प्रारम्भ की। राज्य ने भी उसका उचित प्रबन्ध कर दिया। वह स्थान "श्रीद्वारकाधीश का मन्दिर" (पारिखजी का बाड़ा) नाम से आज भी प्रख्यात है।

श्रीप्रभु को व्रज में पधराना

वृद्ध हो जाने पर पारिखजी ने व्रज-वास करने के विचार से अपने इष्टदेव श्रीद्वारकाधीश को भी वहीं पधरा ले जाने की राजा से इच्छा प्रकट की। राजा ने उनकी इतने दिनों की राजसेवा के परिणामस्वरूप उज्जैन के द्रव्य के साथ "श्रीद्वारकाधीश राजाधिराज" को ले जाने की इजाज़त दे दी। वैष्णवों

* इस विषय में लोगों में "दौलत दौलतराव की पारिखजी का जस, चम्पाराम चूतिया और मनीराम मस्त।" यह कहावत प्रसिद्ध हो गई।

के मनस्तोषार्थ उक्त स्थान में श्रीप्रभु का एक दूसरा स्वरूप पधरा दिया गया, जो आज भी वहाँ विराजमान है।

पारिखजी 'श्रीद्वारकाधीश' के साथ समस्त द्रव्य लेकर व्रज में आये और उन्होंने मथुरा-वृन्दावन के बीच 'भतौड़'-नामक स्थान में एक विशाल मन्दिर बनवाया और बाग़ लगवाया, जो आज भी वर्तमान है। यह वह स्थान है, जहाँ यज्ञपत्नियों ने भगवान् श्रीकृष्ण को भोजन कराया था। भतौड़ में श्रीप्रभु की बड़े राजवैभव से सेवा-पूजा होने लगी और उनके प्रसाद से हजारों ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराया जाने लगा। साथ ही प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक रुपया दक्षिणा दी जाने लगी। यहाँ पारिखजी ने सारा वैभव प्रभु-सेवार्थ लगा दिया।

मथुरा के वर्तमान मन्दिर का निर्माण

यद्यपि पारिखजी ने इस स्थल पर मन्दिर बनवा लिया था, पर इससे वैष्णवों को जैसा चाहिये, दर्शन का सुख नहीं था। कारण कि—यह स्थान मथुरा और वृन्दावन दोनों के बीच में स्थित होने से दूर पड़ता था। यात्रियों के सौकर्य के विचार से पारिखजी ने 'श्रीद्वारकाधीश का मन्दिर' इन दो स्थानों में से किसी एक में बनवाने का निश्चय किया। उनके इस विचार को सुनकर वृन्दावन और मथुरा के ब्राह्मणों में तनातनी बढ़ गई। दोनों दल अपने-अपने लाभ के लिये अपने-अपने नगर में ठाकुरजी को पधरा ले चलने का आग्रह करने लगे। इस प्रसङ्ग से आपस में लड़ाई होने तक का प्रसङ्ग आ खड़ा हुआ। इस ब्रह्मक्लेश को मिटाने के लिये पारिखजी ने युक्ति सोच-कर श्रीठाकुरजी के सामने दोनों स्थानों की दो चिट्ठियाँ डाली। बालक के द्वारा एक चिठी उठाये जाने पर मथुरा का नाम आया, जिससे पारिखजी ने श्रीप्रभु को वहाँ पधराने का विचार पक्का कर लिया। अधिक क्लेश बढ़ जाने की संभावना से शीघ्र ही प्रबन्ध कर श्रीद्वारकाधीश मथुरा नगर में पधरा लाये गये और वहाँ 'गोलपाडा जूना मन्दिर' (जहाँ आजकल रामगोपाल मालानी की धर्मशाला है।) में विराजमान किये गये। मथुरा पधराते समय वहाँ के चौबों ने बड़ा हर्ष मनाया ❀।

पारिखजी ने यहाँ एक विशाल मन्दिर बनवाने का विचार किया और उसका काम शुरू किया गया। इस ज़मीन (जहाँ मन्दिर वर्तमान है) के लिये पारिखजी को बहुत कुछ द्रव्य ख़र्च करना पड़ा था। कहते हैं, जहाँ आजकल जनाना दरवाज़ा है, उस ओर की सारी ज़मीन शर्फुद्दीन-नामक एक मुसलमान के ताबे में थी। उससे बहुत कुछ कहा-सुनी करने पर यह

❀ कविरत्न स्व० नवनीतजी के पुत्र पं० गोविन्ददत्त चतुर्वेद के द्वारा ज्ञात हुआ कि उस समय चौबों ने बड़े उल्लास के साथ यह गीत बनाकर गाया था—

ज़मीन बराबर रुपया बिछाकर एवं चार-चार रुपयों के बीच में जो छिद्र रह जाता था, उस पर भी रुपया ढककर (अर्थात् समग्र ज़मीन चाँदी से सफ़ेद करके) ली गई थी। इसी प्रकार जहाँ आजकल रोकड़ का कोठा है, उसके नीचे की ज़मीन एक चौबे के अधिकार में थी। वह किसी भी दाम पर ज़मीन बेचने को तैयार न था। वह चाहता था कि—पारिखजी-जैसा धनीमानी जन मेरे आगे भीख माँगें, तो मैं ज़मीन दूँ। अन्त में विवश होकर पारिखजी को श्रीठाकुरजी के लिये विश्रान्त घाट पर हाथ पसार कर चौबे से वह ज़मीन माँगनी पड़ी और उसने उसे सहर्ष विना मूल्य प्रदान कर दिया।

इस भव्य, नव्य, विशाल मन्दिर के* आवश्यक स्थानों के तैयार हो जाने पर बड़े उत्साह एवं सजधज के साथ श्रीद्वारकाधीश राजाधिराज की सवारी पधराई गई। सवारी के समय मार्ग में सोने-चाँदी के फूल बरसाये गये और हाथी पर बड़ा नगाड़ा कसाया गया, जो आज भी मन्दिर में विद्यमान है।

सं० १८७१ आषाढ़ बदी ८ को नवीन मन्दिर में श्रीप्रभु का पाटोत्सव† हुआ, और प्रतिदिन उनकी सेवा बड़े वैभव और राजोपचार से होने लगी। नित्य १०८ मन दूध से प्रभु के स्नान होते थे। जो स्नानोदक के कुंड में भर जाने पर ग़रीबों के काम आता था। शाक-भाजी, फल-फूल इतना ख़रीदा जाता कि—काम में आने योग्य रखकर शेष वितरण कर दिया जाता था। ऐसा प्रसिद्ध है कि—इस शाक-भाजी के लाने के लिये चौबे लोग हँसी-मज़ाक़ में कहा करते थे कि चलो पारिख कुँजड़े के यहाँ से शाक ले आवें। नित्यप्रति जो कुछ भी प्रभु को भोग लगता, वह सब ब्राह्मण, साधु, संन्यासी, अभ्यागतों को प्रसाद-रूप में वितरण कर दिया जाता था। इस प्रकार पारिखजी ने प्रभु-सेवा के साथ लोक-सेवा का आदर्श भी स्थापित किया था।

"जय श्रीद्वारकाधीश की।
गैया खोई तीस की। पाय गई चालीस की।
वृन्दावन ते ब्याह लाये बीस की बाईस की।"

अन्तिम चरण से ज्ञात होता है कि—प्रथम लक्ष्मीजी का स्वरूप साथ में नहीं था, और वृन्दावन से प्राप्त कर मथुरा साथ में पधराया गया था। यह स्वरूप आज भी साथ में विराजमान है।

* इस मंदिर की लम्बाई १८०, चौड़ाई १२० फ़ीट है। भारत भ्र० प्र० खं० पत्र १४६।
† पाटोत्सव का उक्त संवत् १८७१ हमें उक्त मंदिर से प्राप्त हुआ है।

पारिखजी ने मन्दिर और सेवा-पूजा की स्थायी व्यवस्था और समय पर काम आने के लिये श्रीप्रभु की चरण-चौकी के नीचे बहुत-सा द्रव्य सञ्चित कर रखवा दिया था। पारिख गोकुलदासजी की इच्छा थी कि—इस मन्दिर और उसकी सम्पत्ति को अपने गुरुवर कांकरोली के महाराजश्री को भेंट कर जाते, पर देवलोकवासी हो जाने से उनकी यह मंशा पूरी न हो पाई। वे मरते समय अपने मुनीम सेठ मनीरामजी के पुत्र लक्ष्मीचन्दजी के नाम इसकी वसीयत और भेंट करने की इच्छा प्रकट कर गये। सेठ मीनरामजी के बाद उनके पुत्र सेठ लक्ष्मीचन्दजी इस सम्पत्ति के कर्ता-धर्ता बने।

मन्दिर के स्थायी प्रबन्ध का सूत्रपात

जैसा पहिले कहा जा चुका है—लक्ष्मीचन्दजी के राधाकृष्णजी और गोविन्ददासजी-नामक दो छोटे भाई और थे, जिन्हें भी मनीरामजी की सम्पत्ति में से हिस्सा मिला था। यह दोनों पारिखजी के भाई 'रायजी भाई' के कथनानुसार श्रीराजाधिराज की सेवा-पूजा किया करते थे। और सरावगी बनिया होने के कारण जैन-मत के भी अनुयायी थे। सेठ राधाकृष्णजी का एक मुँहलगा नाई था, जो नहीं चाहता था कि—सेठजी 'रायजी भाई' के कथनानुसार काम किया करें। एक दिन उसने उन्हें रङ्ग चढ़ाया, और एक ऐसा ही दूसरा नया मन्दिर बना डालने की बात कही। सेठ राधाकृष्णजी और उनके छोटे भाई गोविन्ददासजी के मन में यह बात जँच गई। और एक दिन वे दोनों अशरफियों का थाल लेकर श्रीमदनमोहनजी दाउजी के मन्दिर के गोस्वामि श्रीविट्ठलनाथजी के पास शिष्य बनने को जा पहुँचे। विट्ठलनाथजी महाराज उस समय गायों की सेवा-पूजा करने में लगे हुए थे। उन्होंने गो-सेवा को छोड़कर सेठों के पास जाना ठीक न समझकर कहला भेजा कि वे हमारे भाई श्रीपुरुषोत्तमजी के सेवक बन जावें। दोनों सेठों को पुरुषोत्तमजी महाराज पर श्रद्धा न थी, अतः वे वहाँ से वापिस लौट गये।

श्रीरङ्गजी का मंदिर

इस अवसर को देखकर रामानुज-सम्प्रदायानुयायी साथ के एक मुनीम ने सेठ राधाकृष्णजी को ले जाकर श्रीगोवर्द्धनाचार्य श्रीरङ्गाचार्य की दीक्षा दिलवा दी। जो गोवर्द्धन गाम में मानसी गंगा पर विद्यमान लक्ष्मीनारायणजी के मंदिर के गद्दीनशीन आचार्य थे। इनके आदेशानुसार सेठ राधाकृष्णजी ने वृन्दावन का सुप्रसिद्ध 'श्रीरङ्गजी का मन्दिर' अपने बड़े भाई सेठ लक्ष्मीचन्दजी के अनजान में ही बनवाना शुरू किया, पर पास में अधिक सम्पत्ति न होने के कारण वह पूरा न बन सका। एक दिन सेठ लक्ष्मीचन्दजी ने अपने छोटे भाई सेठ राधाकृष्णजी का मुख मलीन देखकर उसका कारण पूछा, तो उनके नेत्रों में आँसू छलछला आये। अन्त में समस्त वृत्त विदित

हो जाने पर लक्ष्मीचन्दजी ने छोटे भाई को सान्त्वना दी। उन्होंने स्वयं वृन्दावन जाकर अपना धन ही नहीं लगाया, अपितु भ्रातृ-सौहार्द से परिश्रम कर स्वयं मन्दिर के लिये बड़े-बड़े पत्थर भी ढोये। श्रीरङ्गजी का मन्दिर बन जाने पर उन्होंने अपने भाई को वह मन्दिर सौंप दिया और उसकी स्थायी व्यवस्था भी बाँध दी*।

सेठ राधाकृष्णजी ने रामानुजसम्प्रदाय के आचार्य द्वारा मन्दिर की प्रतिष्ठा और दक्षिण से लाकर श्रीरङ्गजी की स्थापना कराई। जब वह मन्दिर की सम्पत्ति का सङ्कल्प छोड़ने लगे, तो सेठ लक्ष्मीचन्दजी ने उन्हें ऐसा करने को मना कर दिया। उन्होंने कहा कि—मन्दिर को केवल भेंट कर देना चाहिये। शास्त्र के अनुसार सङ्कल्पित द्रव्य की कोई भी वस्तु अपने काम में नहीं आती, पर वैष्णव-सिद्धान्त के अनुसार प्रसादी वस्तुओं का ग्रहण करना आवश्यक होता है। अतः वैष्णव-धर्म में सङ्कल्प या दान न कर श्रीप्रभु को समस्त वस्तुएँ भेंट-समर्पण या निवेदन की जाती हैं। इस प्रकार उनकी प्रसादी वस्तु लेने से धर्मशास्त्रानुसार किसी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं लगता। अस्तु, अपने बड़े भाई के कथन को आदर देकर सेठ राधाकृष्णजी ने श्रीरङ्गजी का मन्दिर और उसकी समस्त सम्पत्ति भेंट कर दी, उसका दान नहीं किया।

राजाधिराज के मन्दिर का भेंट आना

सेठ लक्ष्मीचन्दजी अफ़ीम का व्यापार किया करते थे। एक-दो बार घाटा पड़ जाने से उन्हें अपनी स्थिति सँभालना कठिन हो गया। अन्त में विवश होकर उन्होंने राजाधिराज की चरण-चौकी में रक्खा हुआ द्रव्य निकाला और अपनी स्थिति ठीक की। इस आर्थिक संकट के समय जामनगर के गोस्वामी श्रीव्रजरायजी महाराज ने सेठ लक्ष्मीचन्दजी को अच्छा सहारा दिया था, जिसकी कृतज्ञता में उन्होंने 'श्रीराजाधिराज का मन्दिर' इन्हीं महाराजश्री को भेंट कर देने का विचार पक्का कर लिया। आह्वान आने पर महाराजश्री भी इसे लेने के लिये मथुरा आते समय मार्ग में जबलपुर के आस-पास के जङ्गल में शेर के शिकार हो गये। उनके इस प्रकार गत हो जाने से सेठजी की इच्छा पूरी न हो पाई। फलतः मन्दिर भी भेंट होते-होते रह गया। इस प्रकार पारिखजी गोकुलदासजी की अन्तिम इच्छा ने मन्दिर को अन्यत्र भेंट हो जाने से रोक दिया।

सेठ लक्ष्मीचन्दजी के पुत्र रघुनाथदासजी और सेठ राधाकृष्णजी के पुत्र लक्ष्मणदासजी हुए। रघुनाथदासजी के कोई सन्तति नहीं हुई। सेठ लक्ष्मणदासजी आगे चलकर एक प्रसिद्ध पुरुष और विद्वान् व्यक्ति हुए। इन्हें राजा की उपाधि और सी० आई० ई० का ख़िताब मिला। इनके द्वारकादासजी और दामोदरदासजी-नामक दो पुत्र हुए।

* इस मन्दिर का निर्माण सं० १६०२ में प्रारंभ हुआ, और सं० १६०८ में यह सम्पूर्ण बनकर तैयार हुआ था। इसमें ४५,००,००० रु० व्यय हुआ। भारत-भ्रमण प्र० खं० पत्र १६६।

सेठ लक्ष्मीचन्दजी और राधाकृष्णजी के गत हो जाने पर उनके छोटे भाई सेठ गोविन्ददासजी रह गये। इनके भी कोई सन्तान नहीं थी, अतः उन्होंने पारिखजी की अन्तिम इच्छा को आदर देकर अपने दोनों भतीजों से सलाह की और कांकरोली के तिलकायित श्रीगिरिधरलालजी महाराज को मन्दिर भेंट करने का विचार किया।

सं० १६२६ माघ बदी ६ के दिन महाराजश्री कांकरोली से मथुरा पधारे। वहाँ सेठों ने उनका अच्छा स्वागत-सत्कार किया। मन्दिर की व्यवस्था के लिये बातचीत तय होकर कुछ नियम बनाये गये और उनकी पाण्डुलिपि महाराजश्री को सुनाई गई। इन नियमों में एक कलम यह भी थी कि—"इस मन्दिर की सम्पत्ति में से महाराजश्री कुछ भी कमोबेश न कर सकेंगे।" महाराजश्री ने इस पर आपत्ति की और इसे स्वीकार करने से निषेध कर दिया। जब इसका कारण पूछा गया, तो उन्होंने सेठों को बुलाकर कहा कि—सम्पत्ति में से कम करने का अधिकार तो हम स्वयं नहीं चाहते, पर क्या उसमें बेश (आधिक्य) करने का भी हमें अधिकार नहीं है ? यदि ऐसा है, तो हमें यह स्वीकृत नहीं है। इस बात से महाराजश्री की नीयत साफ़ देखकर सेठ लोग गद्‌गद् हो गये और उन्होंने लिखावट के इस मुहावरे के लिये माफ़ी माँगी। सब कुछ तय हो जाने पर मन्दिर की सुव्यवस्था के लिये सं० १६३० वैशाख शु० ७ (ता० ३ मई सन् १८७३) के दिन सेठ गोविन्ददासजी आदि ने दस्तावेज़ लिखकर महाराजश्री को भेंट किया और ता० १६ मई को नियमानुसार इसकी रजिस्ट्री करा दी गई, जिसका संक्षिप्त सारांश आगे दिया जा रहा है।

इस प्रकार बहुत समय बाद स्व० पारिख गोकुलदासजी की इच्छा कार्य-रूप में परिणत हुई और 'श्रीराजाधिराज' का मन्दिर उनके गुरुघर कांकरोली में भेंट आ गया। सं० १६३० ज्येष्ठ शु० ११ के दिन से श्रीराजाधिराज की मर्यादा-मार्गीय सेवा-पूजा के स्थान पर पुष्टि मार्ग की रीति से सेवा होने लगी। महाराजश्री गिरिधरलालजी ने भी आवश्यक भेंट और कुछ आभरण (गहने) आदि, जो इस सम्प्रदाय के अनुसार आवश्यक थे, श्रीठाकुरजी के लिये तैयार कराकर समर्पित किये।

सेठ गोविन्ददासजी के कोई सन्तान नहीं थी। इधर राजा लक्ष्मणदासजी के द्वारकादासजी और दामोदरदासजी-नामक दो पुत्र हुए, पर दोनों अधिक अवस्था तक जीवित नहीं रहे। इनके कोई सन्तान न होने के कारण जैन मत के अनुसार सेठ द्वारकादासजी की विधवा स्त्री सेठानी ने गोपालदासजी को और दामोदरदासजी की विधवा स्त्री ने मथुरादासजी को गोद लिया। सेठ गोपालदासजी का भी छोटी वय में अन्तकाल हो गया, अतः उनकी विधवा सेठानी ने भगवानदासजी को गोद लिया है। जो सम्प्रति विद्यमान हैं, और अपने इस प्राचीन

प्रसिद्ध घराने का प्रबन्ध करते हैं। सेठ मथुरादासजी के बाद उनकी स्त्री ने सेठ मनीरामजी के सगे भाई फ़तहचन्दजी के वंश में से सेठ गुलाबचन्दजी के पुत्र को गोद लिया।

इस प्रकार पारिखजी गोकुलदासजी ने जहाँ श्रीद्वारकाधीश को मथुरा-जैसे प्रसिद्ध तीर्थस्थल में विराजमान कर, मन्दिर बनवाकर नगर की शोभा-वृद्धि की, और यात्रियों के लिये एक आकर्षक भक्ति का स्थान बनवाया। वहाँ महाराजश्री गिरिधरलालजी ने उसे पुष्टि-मार्ग के अन्तर्गत कर इस सम्प्रदाय का गौरव बढ़ाया, और मथुरा-जैसे स्थल में तृतीय पीठ कांकरोली का एक प्रसिद्ध स्थान क़ायम किया, जो अन्य सम्प्रदायों के लिये एक स्पर्धा की वस्तु माना जाता है।

मन्दिर का उत्कर्ष और स्थायी प्रबन्ध

श्रीराजाधिराज के मंदिर द्वारा जो परोपकार, साधु-सेवा, अतिथि-पालन और यात्रियों में भक्ति का प्रचार होता है, वह अपना साम्य नहीं रखता। यह कथन अत्युक्ति-पूर्ण न गिना जायगा कि—यदि श्रीद्वारकाधीश राजाधिराज का यह भारतप्रसिद्ध मन्दिर मथुरा में स्थापित न होता, तो उस नगरी की ऐसी शोभा न होती, जो उसे आज प्राप्त हो रही है। इस मन्दिर के समय-समय के दर्शन, उत्सव और मनोरथ सदा से यात्रियों के हार्दिक सन्तोष के कारण बनते चले आये हैं। प्रत्येक दर्शन और समैयों के उत्सवों पर जो अपार जन-समुदाय वहाँ एकत्र होकर आनन्द-विभोर होता हुआ आत्मकल्याण का अनुभव करता है, वह वास्तव में पारिखजी के महान् पुण्यों का परिचायक माना जाना चाहिये। जिस यात्री ने इस मन्दिर में आकर दर्शन नहीं किये, उसकी मथुरा-यात्रा एक प्रकार से अपूर्ण ही मानी जाती है। इसकी स्थायी व्यवस्था भी वास्तव में एक अनुकरणीय प्रथा है। अस्तु।

मन्दिर की रजिस्ट्री

प्रस्तुत देवोत्तर सम्पत्ति के सुप्रबन्ध के लिये महाराजश्री गिरिधरलालजी तथा सेठ लोगों ने नियमानुसार उसकी लिखा-पढ़ी कर सरकारी रजिस्ट्री भी कराई। असल दस्तावेज़ अठारह रु० के स्टाम्प पर विद्यमान है और इसकी रजिस्ट्री ता० १६ मई, सन् १८७३ के दिन की गई। इस दस्तावेज़ में जो शर्तें लिखी गईं उनका सारांश नीचे दिया जाता है—

१—पारिखजी महाराज के समय से इस मन्दिर का राग-भोग, सेवा-पूजा जिस प्रकार चला आया है, उसी प्रकार सदा-सर्वदा चलता रहेगा।

२—श्रीद्वारकाधीश के मन्दिर की सब प्रकार की जायदाद मन्दिर की सम्पत्ति होगी और वह इसके सिवाय अन्य किसी काम में ख़र्च न की जायगी।

३—इसका समस्त प्रबन्ध गोस्वामीजी महाराज के अधीन होगा, वे इसके इन्तिज़ाम के लिये किसी योग्य व्यक्ति को नियत कर इसकी समय-समय पर जाँच करते रहें।

४—मंदिर की समस्त जायदाद इसके मालिक के न तो बटवारे में आ सकेगी और न वह नीलाम या कुर्क़ की जा सकेगी। इसका रुपया किसी निजी ख़र्च में काम न लाया जा सकेगा।

५—मन्दिर का हिसाब सदा साफ़ और सिलसिलेवार रहेगा। इसके सम्बन्धी काग़ज़, दस्तावेज़ आदि लिखा-पढ़ी मन्दिर में ही सुरक्षित रक्खी जायगी।

६—गोस्वामिजी महाराज अपनी इच्छानुसार अपने वंश में से किसी को सेवा-पूजा के लिये नियुक्त कर सकेंगे, उस व्यक्ति को इन सब स्वीकृत नियमों का परिपालन करना आवश्यक होगा।

७—श्रीद्वारकाधीशजी की सेवार्थ जो पोशाक तैयार होती आई है, सदा ही होती रहेगी। वह पाँच साल तक तो मन्दिर के तोशाख़ाने में जमा होती रहेगी और पाँच साल की पुरानी हो जाने के बाद उसे गोस्वामिजी अपनी इच्छानुसार उपयोग में लाने के अधिकारी होंगे।

८—हमारे वंशज यदि वैष्णव-धर्म के माननेवाले होंगे, तो इस बात के सदा अधिकारी माने जावेंगे कि—यदि मन्दिर में स्वीकृत नियमों का यथावत पालन अथवा इनके विरुद्ध कोई बात होती होगी, तो उसका योग्य प्रबन्ध करा सकें। पर वे इस पर अपना स्वामित्व न रख सकेंगे और न इसे वापिस ले सकेंगे।

९—मन्दिर की जायदाद से जो रुपया आता रहेगा, उसमें से २५०००) रु० सदा ही मन्दिर के भाण्डार में इसलिये जमा रक्खा जायगा कि कभी वसूली न हो सकने पर सरकारी मालगुज़ारी के चुकाने के काम में आ सकें। इस रक़म से यदि ज्यादा जमा हो, तो उसमें श्रीठाकुरजी की स्थायी सम्पत्ति बढ़ाई जावे, उसका निजी काम में उपयोग न किया जा सकेगा।

१०—मन्दिर की आमद में से तीन सौ रुपया माहवार कांकरोली के श्रीद्वारकाधीश की सेवा में इसलिये पहुँचता रहेगा कि—उससे दस रुपया रोज़ का भोग उनको लगता रहे।

११—मन्दिर के सुरक्षित स्थान में श्रीठाकुरजी के कुल ज़ेवरात और उत्सव आदि का क़ीमती सामान सुव्यवस्थित और सुरक्षित रक्खा रहेगा। आवश्यकता होने पर काम में लाया जायगा। गोस्वामिजी महाराज की अनुपस्थिति में हमारे वंशजों की उपस्थिति में, यदि वे वैष्णव-धर्मानुयायी होंगे, वह निकाला और ठाकुरजी के उत्सव आदि में काम में लाकर यथावस्थित रख दिया जायगा। इसकी सूचना समय-समय पर गोस्वामिजी अथवा उनके उत्तराधिकारियों को दी जाया करेगी।

१२—इसका जो प्रबन्ध इस समय किया गया है, उसको तीन साल तक देखा जायगा। इसके बाद यदि २५०००) रु० के जमा न होने और किसी प्रकार की सेवा-पूजा में कमी आती नजर आवेगी, तो हम अथवा हमारे वंशज उसको पूरा कर उसे व्यवस्थित कर देंगे।

इस वास्ते यह चन्द कलमे बतरीक़ दस्तावेज़ इस्तक़रार इस्तेमाल जायदाद मनक़ूला व ग़ैर-मनक़ूला मन्दिर के लिख दिये कि सनद रहे और व.क्त हाजत के काम आवे।

मीज़ान कुल क़ीमत तख़मीनी अशियाय मुफ़स्सिले ७६१५०१ रु०

४५०७५४ रु० ज़ेवर मुरस्सः हीरा व पन्ना व चुन्नी वग़ैरह।

१५०००० रु० क़ीमती तफ़सील जमींदारी परगना मांट नौहझील जिला मथुरा।

१५०००० जमई १५२३० रु० साढ़े तीन आने अठारह मौजे।

१८०७४७ रु० तफ़सील देहात माफ़ी वाक़े अमलदारी झालरापाटन, परगना छप्पा, बड़ौदा।

क़ीमती १८०७४७ रु० जमई १४५००) मौजे ११।

एक मंज़िल मन्दिर पुख़्ता व संगीन श्रीठाकुर श्रीद्वारकाधीशजी महाराज मय दुकानात।

तहरीर मिस्ल तारीख़ तीसरी माह मई सन् १८७३ ई० मुताबिक़ वैशाख सुदी ७ सं० १९३० रोज़ शम्बह बक़लम शफ़रउद्दीन साकिन मथुरा।

द० सेठ गोविंददास

गवाहशुद सेठ रघुनाथदास गवाहशुद सेठ लछिमनदास

„ „ मङ्गीलाल वल्द हाथीराम कौम वैश्य मथुरा गवाहशुद नारायणदास वल्द मङ्गीलाल मथुरा

„ „ सुखदेवदास वल्द गुलाबचन्द मथुरा गवाहशुद केशोराम वल्द बिन्दावनदास मथुरा

„ „ सीताराम वल्द दामोदरदास मथुरा

इस दस्तावेज़ की रजिस्ट्री ब नम्बर ६६८ ब सफ़े ३५३ लग़ायत सफ़े ३५६ जिल्द ३३ रजिस्टर नं० १ में की गई। १६ मई सन् १८७३ ईसवी। दस्तख़त सब-रजिस्ट्रार बक़लम धनपतराय मुहर्रिर अव्वल।

वैभव-वृद्धि और लोकोपकार

सं० १९१६ के लगभग महाराजश्री ने कांकरोली में श्रीप्रभु के शैया-मन्दिर में आवश्यक संशोधन कर कला को प्रश्रय देते हुए काच का घुटवाँ काम कराया।

सं० १९१७ के प्रारम्भ में महाराजश्री ने श्रीठाकुरजी के लिये चाँदी का हिंडोला बनवाने का विचार किया। इसके पहिले काष्ठ के हिंडोले में श्रावण का उत्सव मनाया जाता था। चैत्र शु० ६ के दिन १०२६॥। तोला चाँदी सूरत में ११४६॥।)। क़ीमत की ख़रीदकर अधिकारी व्रजभूषणदास-काशीदास के हस्ते बड़ौदा भेजी गई, जहाँ वह तैयार किया जाकर सं० १९१८ माघ कृ० ९ को कांकरोली आया, एवं सं० १९१९ के श्रावण मास में प्रभु के अंगीकार कराया गया।

सं० १९२० के भाद्रपद मास के लगभग महाराजश्री ने संस्थान की गायों की चराई और रक्षा के लिये 'फयावडी' की गोशाला फिर से तैयार कराई, जो वर्षा के कारण गिर पड़ी थी।

इसके बाद आसोटिया की गोशाला के लिये सं० १६२३ में बावडी खुदवाकर पक्की बँधाई। सं० १६२४-२५ में रायसागर का जल सिंचाई के लिये बाग़ों में पहुँचाने के लिये गो-घाट पर नये रहट बनवाये, और सं० २७ में इनकी दुबारा दुरुस्ती कराई गई *।

सं० १६२५ में वृष्टि न होने से मेवाड़ ही नहीं, समस्त राजपूताना में अकाल पड़ गया। इसके कारण लोगों को जल और भोजन मिलना मुश्किल हो गया। इस बीच में हैज़ा भी फैला, जिससे हज़ारों मनुष्य काल-कवलित हो गये। सं० १६२६ में यद्यपि वर्षा अच्छी हुई, पर भूखे मनुष्यों ने कच्चा अनाज ही खाना शुरू कर दिया, जिससे अधिकांश लोगों की मृत्यु होने लगी। इस विपत्ति के समय महाराणा शम्भुसिंहजी ने अच्छी सहायता प्रदान कर अधिकांश जनता की प्राण-रक्षा की †। इस समय महाराजश्री ने भी आवश्यकता से अधिक साहाय्य देकर हज़ारों मनुष्यों का पालन किया। इन वर्षों के बीच कांकरोली में होनेवाले अन्नकूट—जो भोग लगने के बाद भीलों को लुटा दिया जाता है—से ग़रीब जनता को बहुत कुछ सहारा मिला। इधर महाराजश्री ने 'विट्ठल-विलास' बाग़ के मन्दिर और कोट का इमारती काम भी शुरू करवा दिया था, जिसमें कई मनुष्यों को काम मिलने लगा। इस बाग़ के मन्दिर का काम सं० १६२६ के लगभग प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे सं० १६३५ तक चलता रहा, जिसमें कुल १२,५००) रु० लगा। सं० १६३० में वारलीवाडी में नई बावडी महाराजश्री ने बनवाकर जनता के लिये पानी का सौकर्य कर दिया।

महाराजश्री के समय में कांकरोली-नगरी के कई मकान और कुछ महाराजश्री के निजी निवास-स्थान तथा मन्दिर के बहुत-से भाग पक्के बनाये गये थे, जो अभी तक साधारण कच्चे थे। इस प्रकार नगर की शोभा बढ़ी और उसमें व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त होने से जनता की आर्थिक स्थिति भी सुधरने लगी। इसके साथ ही महाराजश्री ने श्रीप्रभु की सेवा में वैभव-वृद्धि की और कई रत्न-जटित आभरण बनवाकर भेंट किये। कहते हैं, उनका विचार था कि—विट्ठल-विलास बाग़ में श्रीद्वारकाधीश को पधराकर विशाल छप्पन भोग का मनोरथ किया जाय, पर वह कार्य-रूप में परिणत न हो सका, और उनका असामयिक गोलोकवास हो गया।

व्यक्तित्व और नित्य-लीला-प्रवेश

इस प्रकार श्रीगिरिधरलालजी महाराज ने अपने जीवन में अनेक प्रकार के वातावरण का पर्यवलोकन किया। अनुभव प्राप्त करने पर भी वे अपनी माता का आज्ञाकारी पुत्र रहे, और उनके परामर्श से ही ठिकाने का प्रबन्ध करते रहे। इन्होंने प्रदेश-भ्रमण कर अपने घर की वैष्णव-सृष्टि को सँभाला और उसे अपने मार्ग का विशेषतया अपने गुरुघराने का आग्रही बनाया।

* प्राचीन रोकड़ से।
† उद० रा० इतिहास ७६४।

उन्होंने विशेष प्रयत्न कर ठिकाने को समृद्ध बनाया और उसकी भावी उन्नति के लिये प्रयास किया। कांकरोली को ऐसा सौभाग्य अधिगत नहीं हुआ कि—वह उनकी अधिक उपस्थिति से लाभ उठाकर और भी गौरव प्राप्त करती। फिर भी जो कुछ हुआ, वह इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। इधर महाराणा शम्भुसिंहजी से मित्रता का व्यवहार कर उनके मन में ठिकाने की प्रतिष्ठा का बीज बोना और इधर मथुरा के राजाधिराज-जैसे प्रसिद्ध समृद्धिशाली मन्दिर पर अपना स्वामित्व स्थापित करना साधारण बात नहीं थी।

सं० १९३५ के प्रारम्भ में महाराजश्री ने गुजरात का प्रदेश शुरू किया। वे भ्रमण करते हुए वसो-नामक ग्राम में पधारे और यहाँ अपने सेवक, बड़ोदा राज्य के अमीन, के घर मुक़ाम किया। उनकी साधारण बीमारी से किसी को यह ध्यान नहीं था कि ऐसा अचिन्त्य प्रसंग आ उपस्थित होगा। श्रावण कृ० २ भौम के दिन महाराजश्री ने इहलोक-लीला संवरण की, और शाश्वत कल्याणस्वरूप श्रीद्वारकाधीश के चरणारविन्द प्राप्त किये ❀।

परिशिष्ट—१

महाराजश्री के द्वारा संस्थापित मंदिर

महाराजश्री ने प्रदेश-भ्रमण करते हुए जिन मन्दिरों की स्थापना की, उनकी नामावली निम्न प्रकार है। यद्यपि इनका समय नहीं मिला है, फिर भी उनका उल्लेख कर देना उचित है—

१	मथुरा	श्रीराजाधिराज द्वारकाधीश का मन्दिर महाराजश्री की संरक्षकता में आया और उसकी व्यवस्था की गई।
२	धमोणज	श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।
३	सिद्धपुर	श्रीद्वारकाधीश का चित्र चौधरी के बाग़ में पधराया, बाद में बालकृष्णलालजी महाराज ने मन्दिर बनवाकर वहाँ स्वरूप पधराया।
४	वसई	श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।
५	बीसनगर, ६ बड़नगर,	७ भादरण में द्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।
८	पाटन	श्रीद्वारकाधीश की चित्र-सेवा पधराई थी, बाद में बालकृष्ण-लालजी महाराज ने स्वरूप पधराया।

❀ महाराजश्री की और्ध्वदैहिक क्रिया में एक प्रत्यक्ष गजदान बड़े चौबे नारायणजी को दिया गया।

६	दरापुरा, १० माकवा श्रीगिरिधरलालजी महाराज की बैठक है।	
११	संखेडा	श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।
१२	बहादरपुर	श्रीगोवर्द्धननाथजी का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।
१३	वायडईडर-राज्य	श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।
१४	धोलका	श्रीमोहनलालजी ठाकुरजी (राजा आशकरण के सेव्य) के मन्दिर की व्यवस्था बाँधी।
१५	हालोल	श्रीछगनमगनलालजी ठाकुरजी पधराकर मन्दिर बनवाया।
१६	डभोई	श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।
१७	वेगूँ मेवाड़, १८ देवगढ़ श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया।	

इनमें से किसी-किसी मन्दिर की व्यवस्था और उसका निर्माण बालकृष्णलालजी महाराज के समय हुआ है। संभव है, कुछ मन्दिरों का नाम रह भी गया हो।

परिशिष्ट—२

श्रीगिरिधरलालजी महाराज के समय आगत राजा-महाराजा तथा उमराव अथवा उनकी भेंट

संवत्	मिती	नाम तथा स्थान
१९०९	द्वि० भाद्र शु० ३	राजा सरदारसिंहजी बीकानेर गादी बैठे, उसकी भेंट आई।
१९१०	पौष सुदी १	श्रीदरबार की ओर से सालाना सामग्री के लिये भेंट आई।
,,	,,	श्रीदरबार सरूपसिंह की ओर से कांकरोली-ठिकाने का क़र्ज़ चुकाने को भेंट आई।
१९१२	चैत्र बदी १० सोम०	जयपुर के गामों की हासिल के जमा।
१९१३	चैत्र सुदी १५	हस्ते महता शेरसिंहजी के श्रीमहाराणा सरूपसिंहजी की ओर से सोनातोल रु० ३०२ भर भेंट।
,,	पौष बदी १	जयपुर के गामों का हासिल सं० १९१२ का। रु० ६०००।
,,	पौष सुदी ३	रावराजा रणबहादुरचन्द्र गाम कोट काँगडा, इलाक़ा जम्बू

		ने आकर धोलपुर परगने का गाम नादौन रु० ३००० का भेंट किया ।
,,	,,	जयपुर के गामों के हासिल उनाली का ३००० रु० ।
,,	,,	,, ,, सं० १६०८, ६, १०, ११ का जमा ।
१६१५	श्रावण सुदी ३ गुरु०	विद्रोही काले लोगों की फ़ौज की भेंट आई ।
,,	भाद्र बदी ६	जयपुर के गामों की हासिल सालाना जमा । सं० १६१४ का ।
१६१६	चैत्र सुदी १० भौम०	राजराणा श्रीपृथ्वीसिंहजी, झालरापाटन आये ।
,,	वैशाख सुदी ४	देवगढ़ रावजी दर्शनार्थ आये ।
,,	चैत्र कृष्ण ६	महारावजी कोटा महाराजकुमार तथा रानीजी-सहित आये ।
,,	चैत्र कृष्ण १४	ठाकरा गुमानसिंहजी, गाम सांगरिया ।
१६१७	चैत्र सुदी १	रावतजी अदीतसिंहजी, गाम वोईडा की ओर से दाजीराज बख्तावरसिंहजी के हरि-शरण होने के समय भेंट ।
,,		जयपुर के गामों की सालाना हासिल सं० १६१६ के ६००१ रु० ।
१६१८	वैशाख कृष्ण १	ठाकर गुमानसिंहजी हरिशरण हुए, तब चाँदी के बासन भेंट।
,,		जयपुर के गामों की सालाना हासिल ६००० रु० ।
,,	पौष बदी ६	महाराणा सरूपसिंहजी के कैलासवास हो जाने पर हाथी भेंट ।
,,	,,	महाराज राणा पृथ्वीसिंहजी झालरापाटनवालों की पुत्री के लग्ननिमित्त भेंट ।
१६१६	...	जयपुर के गामों का सालाना हासिल ६००० रु० ।
१६२१	...	,, ,, ५६४० रु० ।
१६२२	...	,, ,, ५६४० रु० ।
१६२४	...	रावजी रणजीतसिंहजी देवगढ़वाले हरिशरण हुए तब हाथी, घोड़ा, सामग्री के रुपया भेंट ।
१६२७	कार्त्तिक बदी १ और पौष बदी १	महाराणा शम्भूसिंहजी, उदयपुर गादी बैठने बाद प्रथम बार अजमेर जाते समय और वहाँ से लौटते समय कांकरोली दर्शनार्थ आये ।
१६२८	ज्येष्ठ सुदी १	ठाकुर प्रतापसिंहजी के कुँवर गोपालसिंहजी, गाम मोई के विवाह के समय महाराज के पधारने पर भेंट ।

१६३०	कार्त्तिक कृष्ण ६ बुध०	महाराणा शम्भूसिंहजी, राणीजी तथा माजी चारभुजा से वापिस आये।
१६३१	...	रानी रूपकुँवरि बाई अलवर की तरफ़ से गाम की हासिल के जमा दो साल के रु० १००१४.
,,	...	अलवर के गाम का १००० रु० । सालाना हासिल सं० ३१ का जमा
१६३२	ज्येष्ठ कृष्ण १२	महाराणा सज्जनसिंहजी उदयपुर गादी बैठने के बाद, प्रथम दर्शन करने आये।
,,	,, सुदी २	महाराणा सज्जनसिंहजी चारभुजा से वापिस आए।
,,		अलवर के गामों की सालाना भेंट १००० रु०।
१६३३	मार्ग सुदी ११	बाबाजी भगतसिंहजी सोनान्यावाले आये।
,,	पौष सुदी १५	,, ,, की ओर से एक साल की ३६० रु० भेंट।
,,	चैत्र बदी १४	राजाजी गोपालसिंहजी, गाम झाडवा दर्शनार्थ आये।
१६३४	ज्येष्ठ बदी ८	महाराणा सज्जनसिंहजी जनाना-समेत आये।
,,	माघ बदी ३०	,, ,,



नवम प्रकरण

(सं० १९३६ से सं० १९७६)

——:o:——

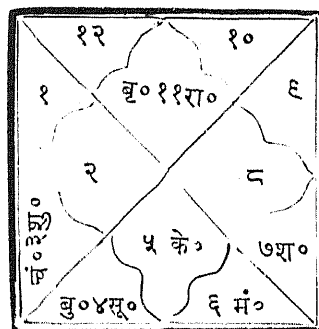
श्रीबालकृष्णलालजी महाराज (ए० ति०)

(प्रा० सं० १९२४, आ० सं० १९३६, नि० सं० १९७३)

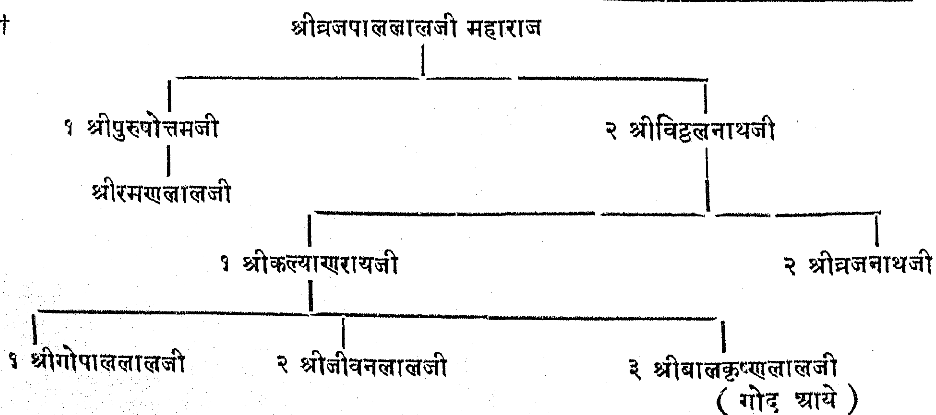
——:o:——

श्रीबालकृष्णलालजी महाराज (द्वि०) का जन्म सं० १९२४ श्रावण कृष्ण १३ सोमवार ❀ के दिन मथुरा में हुआ था। इनके औरस पिता का नाम गो० श्रीकल्याणरायजी महाराज था, जो श्रीदाउजी मदनमोहनजी के मंदिर के अधिपति और गुसाईंजी के छठे पुत्र श्रीयदुनाथजी के वंशज थे †।

जन्म, शिक्षा और संस्कार



❀ जन्मकुंडली—
संवत् १९२४ शाके १७८९ प्रवर्तमाने वर्षे श्रावण कृष्ण १३ तिथौ चन्द्रवासरे इष्ट घटी ३८, ३३ सू० ३, १३, ४९, ४३ लग्न १०, २२, २७, ० श्रीयदुनाथवंशावतंस मथुरास्थ श्रीकल्याणरायात्मज श्रीबालकृष्णलालजी-जन्म

† 



गो० श्रीबालकृष्णलालजी महाराज, कांकरोली
११ ति० प्रा० सं० १६२४ श्रा० कृ० १३

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

सं० १६३२ में इनके पिता ने इनका उपनयन-संस्कार कर आवश्यक अध्ययन कराया। बालकृष्णलालजी में बालकपन से ही अच्छी प्रतिभा थी। वे कलाओं के प्रति अत्यधिक प्रेम रखते थे। साहित्य, संगीत दोनों में अच्छा अभिनिवेश करने के साथ ही उसके रहस्य-वेत्ता बनने की इनकी बड़ी इच्छा रहती थी। फलतः प्रत्येक विषय में यह मनोयोग देने लगे। उस समय सनातन-धर्म के प्रचार और व्याख्यानों का युग था, अतः इन्होंने भी उत्साह होने के कारण तदर्थ प्रत्येक विषय का अध्ययन किया, जिसका आगे चलकर अच्छा परिणाम निकला।

गोद आकर तिलकायित होना

सं० १६३५ में कांकरोली के तिलकायित श्रीगिरिधरलालजी महाराज का गोलोकवास हो गया। उनके कोई सन्तति नहीं थी, अतः उनको गोद लेनेवाली पुरुषोत्तमजी महाराज की धर्मपत्नी श्रीपद्मावती माजी महाराज ने बालकृष्णलालजी को गोद लेकर कांकरोली का तिलकायित बनाने का विचार कर सं० १६३६ में उदयपुर के महाराणा से सम्मति ली।

प्रस्तुत विषय में गिरिधरलालजी की धर्मपत्नी श्रीकमलावती बहूजी का यह विचार था कि—वे किसी अन्य को गोद लें, पर सास की उपस्थिति में उनका यह निश्चय न चल सका और पद्मावतीजी माजी महाराज ने ही अपना अधिकार रखकर इन्हें गोद लिया। सं० १६३६ का० कृ० ७ गुरुवार के दिन महाराज श्रीबालकृष्णलालजी का कांकरोली तिलकायित के स्थान पर विराजना हुआ और महाराणा सज्जनसिंहजी ने कांकरोली आकर राजकीय दस्तूर कर भेंट की। इस समय महाराजश्री की अवस्था केवल १२ वर्ष की थी, अतः ठिकाने की सारी जम्मेदारी माजी महाराज पर ही रही, और वे ही अपनी देख-रेख में समस्त कार्य करने लगीं। उस समय उन्हीं के नाम से प्रबन्ध होता था। इसी दिन उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंहजी द्वारा कांकरोली ठिकाने के लिये प्रबन्धार्थ १० कलमें मिलीं, जिसे हम आन्तरिक शासन की अधिकार-प्राप्ति कह सकते हैं।

महाराजश्री ने माजी महाराज की आज्ञानुसार श्रीद्वारकाधीश की सेवा और कांकरोली ठिकाने का प्रबन्ध करना सीखा। श्रीप्रभु की सेवा वे अत्यन्त मनोयोग के साथ करने लगे, और साथ ही विद्याव्यासंग भी।

विवाह और सन्तति

कुछ समय बाद सं० १६४० चैत्र कृ० ६ बालकृष्णलालजी का प्रथम विवाह हुआ। इनकी इन धर्मपत्नी का नाम श्रीपार्वती बहूजी था। विवाह करने के बाद महराजश्री मथुरा गये और वहाँ से कांकरोली आये। यहाँ उन्होंने विवाह के उपलक्ष्य में विट्ठलविलास-बाग में नगर की गोठ की। सं० १६४२ फाल्गुन मास में बंबई से द्विरागमन कराकर कांकरोली आए। कुछ समय बाद प्रथम पत्नी के दिवंगत हो

जाने पर संवत् १९४९ आषाढ़ शु० ४ सोमवार के दिन गो० मग्नलालजी महाराज की दौहित्री और करंजी-भूपतलालाजी की पुत्री श्रीमती सौंदर्यवती * के साथ विवाह किया। जैसा प्रथम कहा जा चुका है, गिरिधरलालजी महाराज के समय सूरतवालों ने महाराणा की आज्ञा न मानी थी और उनके बुलाने पर वे नाथद्वारा से उदयपुर नहीं गये थे। इसी के परिणाम-स्वरूप मेवाड़बन्दी का उन्हें हुक्म दिया गया था। पर महाराज श्रीबालकृष्णलालजी ने महाराणा फतहसिंहजी से इसका खुलासा कराकर सूरतवालों के लिये श्रीनाथजी की सेवा का सौकर्य कर दिया।

महाराजश्री की द्वितीय धर्मपत्नी का नाम श्रीमती सौन्दर्यवती बहूजी, माजी महाराज है, जिन्होंने महाराजश्री के अनन्तर कांकरोली का प्रबन्ध कर वर्तमान महाराज श्रीव्रजभूषणलालजी की नाबालिगी में ठिकाने को उन्नत बनाया है।

बालकृष्णलालजी महाराज के द्वितीय धर्मपत्नी से निम्न-लिखित सन्तति हुई—

१ श्रीद्वारकेशलालजी	... ...	प्रा० सं० १९६४ आषाढ़ कृ० ६
२ श्रीपुरुषोत्तमलालजी	... ...	प्रा० सं० १९६६ कार्त्तिक कृ० ६
३ श्रीव्रजभूषणलालजी	... ...	,, ,, १९६८ फाल्गुन कृ० २
४ श्रीविट्ठलनाथजी	... ...	,, ,, १९७० माघ कृष्ण ६

श्रीबालकृष्णलाजी महाराज के प्रथम पुत्र श्रीद्वारकेशलालजी का छोटी अवस्था में ही गोलोकवास हो गया। उनका यावल्लब्ध चरित्र आगे लिखा जा रहा है। द्वितीय पुत्र पुरुषोत्तम-लालजी का अपने पिता की उपस्थिति में ही सं० १९६९ चैत्र बदी ९ के दिन देहान्त हो गया। यह भी बड़े सुन्दर और होनहार बालक थे।

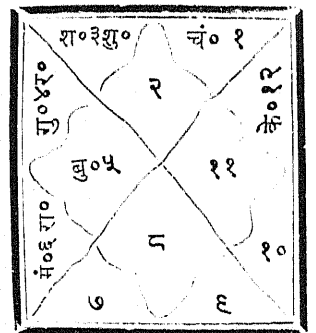
महाराजश्री के तृतीय पुत्र श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज कांकरोली के वर्तमान भाग्यविधाता और तृतीय पीठ के तिलकायित तथा चतुर्थ पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी भी एक उत्साही, बुद्धिमान और उन्नति के इच्छुक नवयुवक हैं। इन दोनों का चरित्र आगे लिखा जा रहा है।

---

* जन्मकुंडली—

पूज्य श्रीसौन्दर्यवती माजी महाराज

संवत् १९४१ शाके १८०६ प्रवर्तमाने वर्षे श्रावण मासे कृष्णपक्षे ७ तिथौ घटी ३३,१८ परं ८ जन्मतिथौ बुधवासरे भरणी ४९,५१ गंज ०,२६ परं वृद्धि बालवकरणे मेषराशौ सूर्योदयात् घटी ४७,३१ समये करंजी भट्ट श्रीभूपतिलालाजी (मन्नुलालाजी) गृहे श्रीसौन्दर्यवती जन्म।



प्रदेश-यात्रा और राज्यसन्मान

सं० १६३६ में पद्मावती माजी महाराज के दिवंगत हो जाने पर महाराजश्री ने कांकरोली का स्वयं शासन करना प्रारंभ किया। गिरिधरलालजी महाराज की पत्नी श्रीकमलावती बहूजी अपनी सास की उपस्थिति में ही सं० १६३८ में कांकरोली छोड़कर मथुरा जा बसी थीं। वहाँ उन्होंने श्रीगोवर्द्धननाथजी के मंदिर में अपना निवास किया, और अन्तिम समय तक फिर कांकरोली नहीं गईं। महाराजश्री ने भी इनके लिये वहीं सब प्रकार की सुविधा प्रदान कर दी। महाराजश्री ने तिलकायित बनने के कुछ समय बाद ही प्रदेश-भ्रमण कर अपनी वैष्णव-सृष्टि को सँभालना शुरू कर दिया। यहाँ हम महाराजश्री की विशेष यात्रा और प्रदेश का वर्णन करेंगे।

सर्वप्रथम सं० १६३७ भाद्रपद में पद्मावती माजीमहाराज चारभुजा की यात्रा करते हुए गुजरात का प्रदेश करने गईं। अन्नकूट का उत्सव कर महाराजश्री भी मार्ग० कृ० १२ सोम को प्रदेश करने पधारे। यह यात्रा पैदल रास्ते हुई, अतः मालूम कराने पर महाराणा ने मार्ग के सौकर्य के लिये उन्हें एक हाथी भेंट किया।

सं० १६३६ के अन्त में महाराजश्री अपना प्रथम विवाह करने बंबई पधारे और विवाह के बाद अहमदाबाद होते उन्होंने मथुरा जाकर राजाधिराज-मंदिर की व्यवस्था की, और बाद में वहाँ से सं० १६४० में भीलवाडा स्टेशन से पैदल रास्ते कांकरोली आये।

सं० १६४० माघ कृ० १० बुधवार को पुनः प्रदेश करने पधारे। जहाँ इन्होंने प्रत्येक गाँव और शहर में धार्मिक सभाओं की धूम मचाकर धर्म का प्रचार करते हुए हजारों वैष्णवों को दीक्षा दी।

सं० १६४१ माघ सुदी ५ के दिन महाराजश्री कांकरोली से उदयपुर पधारे और महाराणा फतहसिंहजी* के माघ शु० ७ के राज्याभिषेकोत्सव में सम्मिलित होकर गुरुघर की ओर से राज्यतिलक का दस्तूर किया। माघ शु० १० के दिन महाराजश्री ने महाराणा को परंपरागत वैष्णव धर्म की दीक्षा देकर कंठी बाँधी और फाल्गुन कृ० ४ को बिदा होकर वे कांकरोली आये। महाराणा फतहसिंहजी के साथ आगे चलकर महाराजश्री का अच्छा सम्पर्क रहा आया। यद्यपि महाराणा अपनी गंभीर प्रकृति और राजनैतिक व्यवहार के कारण किसी को विशेष आत्मीय नहीं बनाते थे, फिर भी कांकरोली के घर के प्रति उनका व्यवहार सदा श्रद्धा-भाव से परिपूर्ण रहा। महाराणा ने प्राचीन प्रथा के अनुसार अपने गुरुघर को सम्मान

---

* इनका जन्म सं० १६०६ पौष शु० २, गद्दीनशीनी सं० १६४१ पौष शु० ६ राज्याभिषेकोत्सव माघ शु० ७ तथा कैलासवास सं० १६८७ ज्येष्ठ कृ० ११ को हुआ था।

प्रदान किया और अपने जीवन में कई बार श्रीद्वारकाधीश के दर्शनार्थ कांकरोली आकर वहाँ की अनेक असुविधाएँ दूर कीं।

सं० १९४१ रावत सवाई मेघसिंहजी ने, बेगम ठिकाना में जितनी भी जमीन यहाँ के रावजी महासिंहजी अथवा महाराणाओं द्वारा अलग-अलग भेंट की गई थी, उन सबकी इकट्ठी सनद आषाढ़ सुदी १५ के दिन लिखकर महाराजश्री के नाम कर दी*।

सं० १९४२ के प्रारंभ में प्रदेश जाकर महाराजश्री कार्त्तिक बदी ५ को वापिस कांकरोली आये और श्रीद्वारकाधीश को नाथद्वारा पधराकर अन्नकूट का उत्सव किया।

सं० १९४४ में ही उदयपुर में महाराणा फतहसिंहजी ने महाराणी विक्टोरिया की पचास-साला जुबिली का बड़ा भारी उत्सव मनाया। ऐसा प्रसिद्ध है कि—इस समय महाराजश्री अपने भाइयों के साथ उदयपुर गये, और महाराणा का आतिथ्य स्वीकार कर जलसा देखा। महाराणा ने महाराजश्री का योग्य सत्कार किया और उदयपुर के दर्शनीय स्थानों का निरीक्षण कराया। इसी वर्ष महाराजश्री मार्ग० शु० २ गुरु के दिन प्रदेश करने पधारे। डूँगरपुर में कुछ दिनों उनका मुकाम हुआ। एक दिन महाराजश्री जब प्राचीन खँडहरों में भ्रमण कर रहे थे, एक टीले के नीचे से उन्हें प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई, जो श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप था। महाराजश्री ने उसे घर लाकर प्रतिष्ठित किया, और यथाविधि सेवा-पूजा चालू की। सं० १९५५ में जब अलवर-नरेश की दादीजी श्रीइन्द्रकुँवरि ने ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षा लेकर अपने यहाँ मन्दिर बनवाया तब यही स्वरूप वहाँ पधरा दिया गया, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

सं० १९४८ माघ मास में यह सोरों क्षेत्र की यात्रार्थ गये, और वहाँ कृष्ण १४ के दिन पुरोहित को वृत्तिपत्र प्रदान किया। इसी वर्ष चैत्र बदी १० को महाराजश्री बेगूँ रावजी के आग्रह पर उनके कुँवर अनूपसिंहजी को वैष्णव-धर्म की दीक्षा देने बेगूँ पधारे। वहाँ रावजी मेघसिंहजी ने महाराजश्री का अच्छा सम्मान किया और उनकी आज्ञा से स्थानीय मन्दिर की सुव्यवस्था की। यहाँ से सं० १९४९ चैत्र शु० १४ को बिदा होकर महाराजश्री कांकरोली आये।

रावत सवाई महासिंहजी ने गिरिधरलालजी महाराज के समय में अपने यहाँ बेगूँ में मंदिर बनवाया, और साम्प्रदायिक सेवा प्रचलित की थी। इस मंदिर का सम्पूर्ण निरीक्षण कांकरोली के महाराजश्री को सौंपा गया। आगे चलकर किसी प्रकार की अव्यवस्था न हो एतदर्थ सवाई मेघसिंहजी ने महाराजश्री बालकृष्णलालजी के नाम सं० १९५१ पौ० शु० १० के दिन एक विस्तृत लिखित पत्र भेट किया, जिसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। इसी वर्ष माघ कृष्ण ३ को रावजी सकुटुम्ब कांकरोली दर्शनार्थ आये।

* ता० नं० ४२

सं० १९५० के भाद्रपद मास के प्रारंभ में महाराजश्री ने व्रज चौरासी कोस की यात्रा की। इस समय साथ में इनके भाई श्रीगोपाललालजी महाराज, श्रीजीवनलालजी महाराज, गिरिधरलालजी महाराज, श्रीमधुसूदनलालजी महाराज आदि प्रायः सभी निकटवर्ती आत्मीय विद्यमान थे। इस समय की यात्रा में इन्होंने अपने नाम के अनुरूप खूब ही दान-पुण्य किया था। यथाविधि यात्रा समाप्त कर अन्नकूट के अवसर पर यह कांकरोली आये।

सं० १९५० में महाराजश्री अपने भाई काशीस्थ गोपाल-मंदिर के अधिपति गो० श्रीजीवन-लालजी महाराज के आग्रह पर काशी गये और यहाँ श्रीगोपाललालजी ठाकुरजी की सेवा तथा विविध मनोरथ कर तीर्थ-यात्रा की। यहाँ रहकर महाराजश्री ने अच्छी साहित्यिक प्रगति की, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। इसी वर्ष इन्होंने अपने भाइयों के साथ बड़ी सजधज के साथ बहुत सा रुपया व्यय कर बुढ़वामंगल के मेला में एक नई ही रंगत पैदा कर दी। कहते हैं कि—महाराजश्री की ओर से चारों ओर कपड़े रँगने का मुफ़्त प्रबन्ध कर दिया गया था। मेला देखनेवाला कोई भी व्यक्ति विना गुलाबी रंग के कपड़े पहिने नहीं आ सकता था। चारों ओर एक ही रंग दिख रहा था। इस प्रकार महाराज ने अपने रंग में समस्त काशी को रँग-कर जैसी वाहवाही लूटी वैसी आज तक किसी को भी नहीं मिली।

सं० १९५४ में काशीवाले श्रीजीवनलालजी महाराज के माघ शु० १४ के दिन पुत्र-जन्म हुआ, जिसका समाचार कांकरोली आने पर पूर्णिमा के दिन महाराजश्री बालकृष्णलाल-जी काशी पधारे और यहाँ छट्ठी के मंगलमय प्रस्ताव में सम्मिलित होकर वहाँ बड़ा उत्सव मनाया।

सं० १९५५ के मध्य में महाराजश्री सपत्नीक अलवर पधारे और यहाँ अलवर-नरेश की दादीजी इन्द्रकुँवरीजी के आग्रह पर श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर सेवा प्रचलित की। दादीजी महाराज ने श्रीप्रभु के लिये वहाँ विशाल मंदिर बनवाया था। सं० १९५४ कार्त्तिक बदी २ को मुक़ाम अलवर से लिखे गये श्रीकमलावती माजी और महाराजश्री के प्रति एक पत्र से ज्ञात होता है कि—दादीजी इस मंदिर को महाराजश्री और उनकी माता की इच्छा-नुसार बनवा रही थीं और उसके बनते समय देख-रेख के लिये उन्होंने एक मनुष्य कांकरोली से भी बुलवाया था। अतः यह मंदिर सं० १९५५ तक तैयार हो गया और उसमें स्वरूप की प्रतिष्ठा करने के लिये महाराजश्री को कार्त्तिक बाद आहूत किया गया और पौष शु० ७ के दिन पाटोत्सव किया गया था। सं० १९६० आश्विन शु० १३ रविवार के दिन राज्य की ओर

से इस मंदिर की सेवा-पूजा के स्थायी प्रबन्ध की लिखा-पढ़ी की गई* । इस स्थान पर विराजमान श्रीठाकुरजी की सेवा, आभरण आदि की आवश्यक वस्तुएँ कांकरोली से भेजी

---

* श्रीरामजी

श्रीश्री मेरी डंडवत मालुम होय
ये भेट पत्र नजर है सो मंजुर फरमावे ।

सही

सीधश्री सरवोपमां वीराजमान लायक पुज्य श्रीगुसाईजी म्हाराज श्री५ बालकृष्णलालजी जोग्य अलवर थी दादीजी म्हाराज इंदरकुँवरजी केन डंडवत मालूम होय अठा का समाचार आपकी कृपा करि भला छै । आपका सदा सरवदा आरोग्य चाहिजे जी अप्रंची हम श्रीदुवारकानाथजी म्हाराज विराजमान कांकडोली की गादी के सेवक है उसके मुताबिक हमने श्रीदुवारकानाथजी के सेवा के विचार से यहाँ मुकाम अलवर म्हल चौक में श्रीदुवारकाधीस म्हाराज का मंदिर निरमाण कराया और आपसे अपने सेव्य ठाकुरजी म्हाराज कूँ यहाँ पधराने के वासते तथा आप यहाँ पधार करि संप्रदाय की रीत मुजब मंदिर प्रतिष्ठा वा आयंदा सेवा पूजा का क्रम चलू करने के वासते प्रार्थना करी जीस पर आपने अपने सेव्य स्वरूप श्रीदुवारकाधीसजी म्हाराज यहाँ पधराये और आपने यहाँ पधार कर प्रतिष्ठा वगैर का उतसव पोस सुदी ७ संवत् १९५५ कूँ बड़े आनन्द से कराया और सेवा पूजा भोगराग उतस्वादिक की रीत संप्रदाय की रीत मुताबिक जारी करके अपनी तरफ से अधिकारी मुखीया सेवक टहलवा मुकरर कीये जीससे हमारा संपूरण मनोरथ सिध हो गया ज्यो के श्रीदुवारकाधीसजी म्हाराज के भोगराग के वासते मुदायमी बंदोबसत उस वकत न्हीं हो सका ईस सबब से उस वकत कोई लीखा-पढ़ी न्हीं हुई । अब राज से रुपया २५० ढाई सै माहवार मुदायमी मुकरर हो गए हैं और आयंदा भी कीसी तोर सै आमदनी ज्यादा आवै ईस वासते हसब तफसील जैल ये मंदिर बतोर मालकान आपकी भेट करते हैं ।

१. सेवा, शृंगार व रागभोग आचार वीचार मंदिर ताइवा महसब कायदे वलभकुल संप्रदाय व रिवाज मुरवजै मंदिर श्रीदुवारकाधीसजी म्हाराज बाकै कांकडोली कै हसब हूकुम आपकै जारी रहैगा ।

२. ये मंदिर हमेस्या तालकै आपकै या ज्यो कोई गदीनसीन आपका श्रीदुवारकाधीसजी म्हाराज बाकै कांकडोली का होगा उनकै रहैगा यानै हमेस्या मालक मंदिर टीकाई गादीनसीन रहैंगे ।

३. मंदिर वा जायदाद मुतअलकै मंदिर मनकूला व गैरमनकूला भेट है उसकूँ कीसी हालत मै मुनतकील करने का अखतीयार न्हीं है ।

४. आपकूँ व आपके जायनसीन कूँ अखतीयार है गोलक की आमदनी जो श्रीठाकुरजी म्हाराज के सनमुख भेट आती है वो श्रीदुवारकाधीसजी म्हाराज वीराजमान कांकडोली को ले जावै ।

५. मंदिर के काम करनेवाले अधिकारी वगैरे से लेकर मुखिया भीतरिया सेवावाले सब मुलाजमान की बहाली बेतरफी का अखतीयार आपकूँ वा आपके जानसीन कूँ हर हालत में रहैगा ।

६. श्रीम्हादेवजी म्हाराज ज्यो ईस मंदिर के नीचे वीराजै हैं ऊनके पुजारी कूँ तनखा रुपिया ६।।।) पोणे सात माहवार हमेस्या ईन २५०) माहवार मुकररै राज सै देनी पड़ैगी ओर पुजारी मजकूर की बहाली बरतरफी का अखतीयार आपकूँ न्हीं होगा ।

७. ज्यो मुबलीग २५०) माहवार मंदिर खरच के वासतै राज सै मुकरर हुवे है वो अगर कीसी हालत

गई थीं, जिनका मूल्य दो हज़ार रु० के लगभग अलवर दादीजी साहब के नाम लिखा गया है। इस स्थान में आवश्यक प्रबन्ध तथा सेवा-पूजा और भेट पधरावनी हो जाने पर महाराजश्री माघ कृष्ण ७ के दिन वापिस कांकरोली आये।

सं० १९६० (कार्त्तिकादि सं० १९५९) वैशाख बदी ८ के दिन महाराजश्री को रावत सवाई मेघसिंहजी ने बेगूँ पधराकर बड़ी श्रद्धा के साथ उनका स्वागत-सत्कार किया। इस समय वहाँ के कुँवर अनूपसिंहजी को यज्ञोपवीत में महाराजश्री ने गायत्री की दीक्षा दी। इन्हें वैष्णव मंत्र की दीक्षा महाराजश्री के द्वारा पहिले ही दी जा चुकी थी। इसी समय वहाँ श्रीव्रज-गोपालजी ठाकुरजी के छप्पनभोग का मनोरथ किया गया, जिसका प्रबन्ध महाराजश्री की देख-रेख और आज्ञानुसार हुआ। रावजी मेघसिंहजी ने महाराजश्री को बिदा करते समय जमीन भेट की और उसका ताम्रपत्र लिख दिया ❋।

मैं कीसी वकत बंद हो जावैगे तो उस वकत खास हमारी जानिब से मंदिरजी के खरचा का पुखता बंदोबसत करेंगे और हमसे बी न हो सकै तो उस हालत में आपकूँ वा आपके जानसीन कूँ अखती-यार है के चाहे आप श्रीठाकुरजी म्हाराज ममदूह कूँ यहाँ राखै चाहै ओर कहीं जीहाँ आप चाहै वहाँ पधरा ले जावै उस वकत हम मुजाहम न्हीं होंगे।

१९६० मी० आसोज सुद १३ रवीवार मु० ता० ४ अकतूबर सन् १९०३ ईसवी।

द० गंगाबकस द० लाला सुखदेव मा०हुकम कै लिखा गया।

कितने ही वर्ष बाद महाराजा अलवर की अभिरुचि बदल जाने से यह मंदिर राज्य में ज़ब्त कर लिया गया, जिसकी पुनःप्राप्ति के लिये कांकरोली से प्रयत्न किया जा रहा है।

❋ ता० नं० ४९ श्रीव्रजगोपालजी श्रीसुदर्शनजी

दसगत रावत सवाई मेघसिंह का
हात का रामसही का बदल

स्वस्तिश्री कॉंकडोलीजी श्रीश्रीश्रीगोसवामीजी श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीबालक्रसनजी माहाराज के चरणारवन्दो में बेगु से सेवग रावत सवाई मेघसींगजी की साष्टांग डंडवत मालम होवे अप्रंच बेगम कुँवर अनोपसिंघ का जनेव हुवो ओर राज की आग्या से अठ छप्पन भोग हुवो जीमराज को पदारवो हुवो जी म ई मुजब ज्मीं भेट करी गई.............................

१०० कवर अनोपसींघ जनेव लीदी जीवगतऊपदर १०० सो की गाम चेची में। ७० बोर को कुडो पीवल बीगा १० दस कर नानज हेमाव्रत ३० रेबाडी का कुडामह थी पीवल ज्मीं बी० ६ कर बलव्रत साकलोद ५ का पाच की जीरा रुपया ३० तीस..........
..............................१०० अखरे रुपया चीतोडी..............................

५० वदा की भेट म कुडो १ गाम कसोर पुरा में धाकड जेचन्द का नाम को कर धाकड रामचन्द पीपडो। ४६ पीवल बी० ९।४ द्रः रु० ५।४ अक साखी बी० २।।४ अखरे पचास चीतोडी

१५० जम रुपय्या डोडसो का ऊपत की जमीं राज के भेट करी ऊप्र लखी मुजब जा काकडोली

इसी वर्ष वैशाख कृ० ११ गुरुवार के दिन महाराजश्री के भ्राता काशीवासी गो० श्रीजीवनलालजी महाराज का नित्य लीला-प्रवेश हो गया *। यह महाराजश्री के समान ही गुणी, विद्वान् और कलाप्रिय साहित्यिक व्यक्ति थे। श्रीगोपाललालजी ठाकुरजी की आरती करते-करते इनके ३७ वर्ष की वय में असामयिक सहसा निधन से महाराजश्री को भ्रातृवियोग का असह्य दुःख उठाना पड़ा। शोकापनोदन (मातमपुरसी) के लिये वह ज्येष्ठ कृ० ३ को कांकरोली से काशी गये, और बाद में मथुरा होते हुए कार्त्तिक कृ० १२ को सनवाड़ स्टेशन से वापिस घर आये। (इस समय तक सनवाड़ स्टेशन का नाम 'कांकरोली रोड' नहीं पड़ा था)

सं० १६६१ भाद्रपद मास में महाराजश्री ने अपने अन्य भ्राताओं के साथ द्वितीय बार व्रज चौरासी कोस की यात्रा की। इसमें उन्होंने यात्रियों के लिये विशेष रूप से सुविधाओं का ध्यान रखकर आवश्यक प्रबन्ध किया था। गिरिराज आदि स्थानों पर विविध मनोरथ किये गये। जब यात्रा का मुक़ाम भरतपुर राज्य के डीग नामक स्थान में हुआ, तब भरतपुर-महाराजा ने आकर महाराजश्री तथा परिकर का स्वागत किया, और दर्शन कर भेंट चढ़ाई। महाराजश्री ने अपनी यात्रा के सभी स्थलों के फोटू उतरवाये, जिसमें भरतपुर-नरेश भी एक चित्र में उपस्थित हैं। यह अलबम द्वारकेश-चित्रशाला में संगृहीत है। इस यात्रा में महाराजश्री तथा उनके भाइयों ने स्थान-स्थान की रासलीलाएँ कराकर व्रजलीलाओं का अनुभव और विशेष रूप में दान-पुण्य किया था।

सं० १६६७ मार्ग० कृष्ण २ के दिन महाराजश्री महाराणा से मिलने के लिये उदयपुर पधारे। महाराणा ने प्राचीन प्रथा के अनुसार उनका स्वागत-सत्कार किया। यहाँ कुछ दिनों निवास कर और महाराणा से बिदा होकर माघ शु० १ को कांकरोली आये। इस यात्रा में महाराणा से बहुत कुछ वार्तालाप कर ठिकाने की प्रबन्ध-सम्बन्धी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझाई गईं।

गाम सदी का हासल तावे मुख्या आवेगा जीरे सुप्रद कर दी जावगा सो हासल भोग मुखया वसुल करत रहगा। आप दत्त परदत्त,·································प्रवानगी श्री हजुर होकम सु दसगत चोधरी हजारीमल समत १६५६ बैसाख सद १

* इस समय बचऊ चौबे (उपनाम रसीले कवि) ने 'जीवनलालशोकाष्टक' बनाया, जिसमें से एक सवैया यहाँ दिया जाता है—

गीत कवित्त कथा कहनी सुनि बाढत हाय हिये दुख दूना ;
नाच तमासा कला नट को हमै सर्कस थेटर भावै कहू ना।
साँची 'रसीले' कहै दसा आपनी औरन की गति जानौं कछू ना।
श्रीप्रभु जीवनलाल बिना जग लागे उदास भयानक सूना।

सं० १९६८ में महाराजश्री गुजरात का प्रदेश कर खानदेश में पधारे और आस-पास के ग्रामों में वैष्णव जनता के आग्रह से कुछ समय तक विराजे। यहाँ से बुरहानपुर पधारना हुआ, जहाँ की वैष्णव-सृष्टि उनके दर्शन और वचनामृत के लिये चिरकाल से लालायित हो रही थी। उस समय आषाढ़ मास (पुरुषोत्तम मास) आप कांकरोली जाकर ही करना चाहते थे, पर वैष्णव जनता के अतिशय आग्रह से वहाँ रुक जाना पड़ा और विविध मनोरथ व्याख्यान, प्रवचन तथा कथा आदि के द्वारा आपने वैष्णव-समुदाय को जो आनन्द प्रदान किया, उसका स्मरण कर आज भी वहाँ की वृद्ध जनता गद्गद हो जाया करती है।

इसी वर्ष सम्राट् पंचम जार्ज का राज्याभिषेकोत्सव भारतवर्ष में सर्वत्र मनाया गया। महाराजश्री ने इसी उपलक्ष में मथुरा में राजाधिराज के मंदिर में श्रीद्वारकेश-संस्कृत-पाठशाला की स्थापना की और पं० गयादत्तजी चतुर्वेदी को उसका प्रधानाध्यापक बनाकर आचार्य-परीक्षा तक पढ़ाई का प्रबन्ध कराया। इसी समय राजाधिराज के मंदिर के प्रबन्ध के लिये महाराजश्री ने सेठ लक्ष्मणदासजी को ऑनरेरी अधिकारी बनाया, पर उनका काम ठीक न देखकर पुनः नई व्यवस्था की।

इसी वर्ष महाराजश्री कांकरोली आये और श्रीद्वारकाधीश प्रभु को अन्नकूट पर नाथद्वारा पधराकर बाद में गुजरात का भ्रमण करने अहमदाबाद गये। यहाँ फाल्गुन कृ० २ के दिन तृतीय पुत्र श्रीव्रजभूषणलालजी का जन्म हुआ। इस प्राकट्योत्सव के कारण वैष्णव समाज ने अत्यन्त आनन्द मनाया। आस-पास के आवश्यक ग्रामों में भ्रमण और श्रीप्रभु के लिये सेवार्थ द्रव्य एकत्र कर महाराजश्री सं० १९६९ भाद्र कृ० ६ सोमवार को कांकरोली आये।

सं० १९७० पौष बदी २ के दिन महाराजश्री सकुटुम्ब पुनः अहमदाबाद पधारे। जहाँ माघ कृ० ९ के दिन चतुर्थ पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी का जन्म हुआ। इस वर्ष समीपवर्ती प्रान्त में भ्रमण और धार्मिक प्रचार कर महाराजश्री सं० १९७१ दीपावली के पूर्व कांकरोली पधारे।

स्थान-निर्माण और छप्पनभोग का मनोरथ

महाराजश्री के समय में कांकरोली में कई प्रकार की उन्नति हुई। जहाँ वह विद्या, कला और धर्म-प्रचार के प्रेमी थे, वहाँ ठिकाने की श्रीवृद्धि और विशाल भवनों के बनवाने के भी आग्रही थे। श्रीद्वारकाधीश प्रभु के विविध मनोरथ करने में उनके समान उस समय अन्य कोई नहीं था।

सं० १९४१ में महाराजश्री ने 'पायगा' बनवाकर ठिकाने की घोड़ा-गाड़ी, रथ आदि सवारियों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया और सं० १९४३ चैत्र सुदी २ के दिन 'बारलीबाडी' नामक स्थान में गनगौर घाट नामक स्थान बनवाया। कांकरोली में रहने पर महाराजश्री गनगौर

की सवारी बड़ी धूमधाम से निकाला करते थे। पर अभी तक यहाँ उसके लिये कोई ऐसा स्थान नहीं था। इस स्थान में एक ही वर्ष उत्सव हो पाया था कि द्वितीय वर्ष जलसा की तैयारी में वहाँ अग्नि का प्रकोप हो गया, जिसकी वरणी बैठाकर शान्ति की गई।

इनके पितृचरण महाराज श्रीगिरिधरलालजी ने 'विट्ठल-विलास बाग' में मंदिर बनवाने का उपक्रम किया था, जिसके लिये प्रतिवर्ष सुविधानुसार व्यय किया जाता था। वे चाहते थे कि—उनके सामने ही यह मंदिर तैयार हो जाय और वहाँ श्रीप्रभु को पधराकर विशाल छप्पन-भोग का मनोरथ किया जावे, पर उनकी यह अभिलाषा पूर्ण न हो सकी थी। उनके अनन्तर इन महाराजश्री के समय में भी पद्मावती माजी महाराज ने अपने पति की इच्छानुसार उक्त कार्य चालू रक्खा। सं० १९३५ तक इस मंदिर के तैयार होने में १२,५०० रुपया लगा था। सं० १९४३ श्रावण सुदी १३ के दिन इसकी वास्तु-शान्ति हुई।

इसी वर्ष आश्विन कृष्ण १० के दिन छप्पनभोग के मनोरथ के लिये श्रीद्वारकाधीश प्रभु 'विट्ठल-विलास बाग' में पधारे। इस समय महाराजश्री ने वैष्णववर्ग को दर्शनार्थ आहूत कर उनके लिये सब प्रकार का प्रबन्ध किया। बाग में प्रभु के विविध मनोरथ और छप्पनभोग के दर्शन के लिये महाराणा फतहसिंहजी से विशेष आग्रह किया गया, जिससे वे आश्विन शुक्ल १३ के दिन उदयपुर से कांकरोली आये। इसी दिन बड़े अपूर्व ढंग एवं सुव्यवस्था के साथ छप्पन भोग का मनोरथ हुआ *, जिसमें हजारों यात्रियों ने दर्शनों का आनन्द प्राप्त किया। महाराणा ने

* काशीवासी श्रीकृष्णलालजी (रससिन्धु कवि) ने छप्पनभोग की सवारी का एक कवित्त बनाया था, जो इस प्रकार है—

चलत निसान आगे घोड़ा और हाथी तावै साँडनी-सवार भागे सजे खूब बेस हैं ;
कहै 'रससिन्धु' चारु नालकी हू पालकी हू महाजान जामजान देखे सब देस हैं।
कोतल कतार घोड़ा बाजा अँगरेजी साथ पलटन सिपाही सो अति ही सुभेस हैं ;
पीछे झुंड हाथिन के बहुत सवार घोड़े, विट्ठल-विलास में पधारे द्वारकेस हैं।

"इसी छप्पनभोग में आर्य-कुल-कमल-दिवाकर हिन्दुपति महाराणा श्रीफतहसिंहजी उदयपुराधीश पधारे थे। गोस्वामीजी ने श्रीमहाराणा से नवनीतजी का भी परिचय कराया। उस अवसर पर श्रीमहाराणा की प्रशस्ति में नवनीतजी ने यह कवित्त भेट किया, जिसके पुरस्कार में १०१ सरूपशाही रुपये महाराणाजी की ओर से मिले—

'प्रगट प्रतच्छ तच्छ कुहर-कलेस काट, लच्छ-लच्छ कंज-दीन मंजु भे प्रकाशवान ;
चक्रवाक अच्छ खोल लोल मे बिहार किये, दच्छ-भौंर दारिद हटायो कर सुद्ध सान।
स्वच्छ ह्वै सुरच्छन की पच्छ भये द्वारकेस, स्वच्छता हटाय बैन करत पियूष-दान ;
पूरब उदयपुर में उदयो अनन्त आज फतेहसिंह दूलह दिनेस सो बिराजमान।'

'पद्मराग' (स्व० पं० पद्मसिंहजी शर्मा रचित)"

भी इस उत्सव की सामग्री के लिये १००० रु० भेंट किया। दीपावली का उत्सव भी बाग में किया गया और अन्नकूट के दिन श्रीप्रभु वहाँ से नाथद्वारा पधारे। इस प्रकार कार्त्तिक शु० २ शुक्रवार के दिन प्रभु को बाग से पुनः अपने मन्दिर में पधराकर महाराजश्री ने अपने पिता गिरिधरलालजी की आन्तरिक अन्तिम अभिलाषा की पूर्ति की।

सं० १६४५ कार्त्तिक सुदी १२ को महाराजश्री ने मंदिर के आगे भव्य विशाल दरवाजा (नगारखाना) की नींव डालकर उसे बनवाया, जिससे मंदिर की शोभा चौगुनी हो गई। यहाँ पहिले कच्चा दरवाजा तो था, पर चालू 'नगारखाना' नहीं था। सं० १६४१ में जब बेगूँ रावजी सकुटुम्ब दर्शनार्थ कांकरोली आये, तब उन्होंने अपने ठिकाने के 'किशोरपुरा' गाम की आमदनी इस नगारखाने के सालाना खर्च के लिये भेंट कर दी थी। सं० १६५४ में उस्ता मगनलाल की देख-रेख में पांडे भगवानदासजी की तरफ़ से दरवाजे की छतरियाँ तैयार कराई गईं, और उन पर सोने के कलश चढ़ाये गये।

सं० १६५१ फाल्गुन शु० १३ के दिन श्रीद्वारकाधीश प्रभु को महाराजश्री ने पुनः विट्ठल-विलासबाग में पधराया। होली तथा डोल के उत्सव के बाद चैत्र कृष्ण १० के दिन द्वितीय छप्पनभोग का मनोरथ हुआ। सं० १६५२ चैत्र सुदी २ के दिन प्रभु बाग से वापिस कांकरोली के मंदिर में पधारे। इस बार भी बाग में अन्य मनोरथ किये गये, पर गोपाष्टमी का उत्सव चैत्र सुदी १३ के दिन गोवर्द्धन-चौक में हुआ। 'सिंह-पोल' के आगे सीढ़ियों पर भव्य चाँदी के बँगले में विराजमान श्रीप्रभु के आगे गोशाला की समस्त गायें सज-सिंगार कर चौक में हाजिर की गईं, और हजारों नर-नारियों ने इस अभूतपूर्व मनोरथ के दर्शन किये।

अकाल और प्लेग के समय साहाय्य दान

"सं० १६५६ में मेवाड़ में भीषण अकाल पड़ा जिसका कारण समय पर वर्षा का न होना था। बोई हुई फ़सल के बिलकुल सूख जाने से अनाज का भाव बहुत ऊँचा चढ़ गया, इस कारण ग़रीब लोग शाक, पात एवं वन्य पशु आदि खाकर ही निर्वाह करने लगे। घास के अभाव में उन्होंने पशुओं को हथियाथूहर के पत्ते और दरख्तों की छालें खिलाना शुरू कर दिया। बहुत-से क्षुधातुर मनुष्यों ने अपने बच्चों को भी बेचकर पेट भरना शुरू कर दिया, जिससे राज्य में सर्वत्र हाहाकार मच गया। ऐसे संकट के समय महाराणा ने अपनी ग़रीब प्रजा को बचाने की यथासाध्य चेष्टा की। बाहर से अन्न मँगाकर खैरातखाने खोले, और इमदादी काम जारी किये गये। यथासाध्य व्यापारियों को मदद दी गई। परंतु ये सब उपाय निष्फल हुए। इस घोर दुर्भिक्ष में लाखों मनुष्य और पशु मर गये, और मेवाड़ की बहुत हानि हुई *।"

* उदयपुर रा० इति० पत्र ८४६।

इस अकाल के समय में चारो ओर की प्रजा की रक्षा के लिये महाराजश्री ने अपना बहुत सा द्रव्य व्यय किया। बाहर से अनाज मँगवाया जाने लगा। कांकरोली में सायंकाल होते भात और गेहूँ की घूघरी तैयार कराई जाती और सूरजपोल दरवाज़े से लेकर आसोटिया तक भुखमरों को पंक्तिवार बैठाकर प्रतिदिन वितरण की जाती थी। रात्रि में इस प्रकार अन्न वितरण कराने के आंतरिक हेतु से कई भले घर के आदमी भी क्षुधा शांत कर अपने जीवन की रक्षा कर पाये, जो प्रतिष्ठा के ख्याल से दिन में किसी के आगे अपना हाथ पसार नहीं सकते थे। यद्यपि इस प्रकार महाराजश्री ने बहुत से अपाहिजों, बालकों तथा अनाथ स्त्रियों और मनुष्यों की रक्षा की, पर दुर्भिक्ष ने जो तांडव नृत्य दिखलाया, उसकी याद आज भी लोगों को विकल कर देती है।

"दूसरे वर्ष यथेष्ट वृष्टि होने से फ़सल तो अच्छी हुई, पर अच्छी तरह पक भी नहीं पाई थी कि लोगों ने उसे खाना आरंभ कर दिया, जिससे हैज़ा, पेचिश आदि रोगों की शिकायत उठ खड़ी हुई। इस अकाल और बीमारियों से सं० १९४७ में मेवाड़ में जो जन-संख्या १८४५००८ थी, वह घटकर दस वर्ष में सिर्फ़ १०१८८०५ रह गई *।"

इसी प्रकार सं० १९६१ में मेवाड़ में प्रथम बार प्लेग का भयंकर प्रकोप होने पर महाराजश्री ने जनता की बहुत कुछ रक्षा का प्रबंध किया। यह रोग पहिले कोठारिये के पास राजियावास नामक गाँव में शुरू हुआ और शनैः-शनैः सारे मेवाड़-राज्य में फैल गया। राज्य की ओर से हिदायतें जारी की गईं, पर लोगों के ध्यान न देने से मेवाड़ में हज़ारों आदमी प्रतिदिन मरने लगे। इस भयंकर बीमारी ने कांकरोली पर भी अपनी दृष्टि डाली और यहाँ भी हज़ारों मनुष्य मरे। प्रायः सभी लोग बाहर खेतों में जा बसे, केवल श्रीद्वारकाधीश प्रभु ही कांकरोली में विराजमान रहे, और उनकी सेवा-पूजा यथावस्थित इसी मन्दिर में होती रही।

सं० १९६३ में महाराजश्री ने प्रभु की सेवा के सौकर्य के लिये मंदिर के पीछे बालभोग की विशाल इमारत बनवाई। जिसके दूर से ही देखने पर कांकरोली और उसके मंदिर की शोभा चतुर्गुण होकर दृष्टिपथ में आने लगी। श्रावण शु० १३ के दिन इसकी वास्तु-शान्ति की गई।

इस प्रकार महाराजश्री के समय में कांकरोली की अच्छी श्रीवृद्धि हुई। यू० सी० आर० की लाइन खुलने पर कुछ समय के बाद सनवाड स्टेशन का नाम महाराजश्री के परामर्श से जन-सुविधा के लिये 'कांकरोली रोड' रक्खा गया और कांकरोली में पोस्ट-आफ़िस क़ायम किया गया। स्थानीय राजप्रासाद का नक़शा इन्हीं की इच्छानुसार तैयार होकर उसका अधिकांश भाग इन्हीं की उपस्थिति में पूरा हुआ था। यह दर्शनीय होने के साथ मेवाड़ के ठिकानों में

* उदयपुर रा० इति० पत्र ८४६।

सबसे अधिक उच्च एवं भव्य तथा विशाल भवन है। यात्रियों की सुविधा के लिये कांकरोली में धर्मशालाओं का निर्माण कराकर और प्रत्येक आगत यात्री को निःशुल्क महाप्रसाद मिलने की व्यवस्था कर महाराजश्री ने सम्प्रदाय में एक अनुपम आदर्श की स्थापना की। जहाँ तक ध्यान है, यात्रियों के लिये बिना मूल्य प्रसाद मिलने का सौकर्य भारत के किसी भी देवस्थान में नहीं है। महाराजश्री ने प्रभु की सेवा के लिये कांकरोली तथा निझरणा नामक स्थान में विशाल गोशालाएँ बनवाईं और महाराणा से निवेदन कर गोचर भूमि के लिये निझरणा का जंगल – जिसे बीडा कहते हैं—लिया। स्वकीय ग्रामों में शासन की देख-रेख के लिये समय-समय पर जाकर किसानों की पुकार सुनी तथा उनके कष्ट दूर किये। महाराजश्री के समय में ही नियमित ज्युडीशियल कोर्ट और पुलिस की स्थापना की गई, जिससे प्रजा की रक्षा और न्याय की सुविधा हुई।

सं० १९६४ में महाराजश्री की धर्मपत्नी श्रीमती सौन्दर्यवती बहूजी—सम्प्रति श्रीमाजी—महाराज के सीमन्त प्रस्ताव के लिये वैशाख बदी अमावस्या के दिन गोवर्द्धन-चौक में एक विशाल मंडप का मुहूर्त किया गया। बहुत समय के बाद ऐसा अवसर आने के कारण महाराजश्री ने इस प्रस्ताव को बड़े अच्छे ढंग और शान-शौकत के साथ किया। जिसमें अधिक संख्या में जातीय बन्धु एकत्र हुए, और कई गायक-गायिकाएँ आमन्त्रित की गईं। कहते हैं—इस अवसर पर सूरत का प्रसिद्ध 'रजाक बैन्ड' भी बुलाया गया था। बड़े उत्साह के साथ इस प्रस्ताव के सम्पन्न हो जाने पर आषाढ़ कृष्ण ६ के दिन महाराजश्री के प्रथम पुत्र का प्राकट्य हुआ। बड़ी धूमधाम के साथ उनकी छठी और बरही का प्रस्ताव हुआ और बालक का नाम 'श्रीद्वारकेशलालजी' रक्खा गया। इसी वर्ष महाराजश्री ने श्रीप्रभु के शय्या-मंदिर की दीवार, छत तथा दरवाजे आदि में काँच और उस पर चाँदी की फ्रेम का काम कराया, जिसमें २५५८ तोले चाँदी लगी और २५३२ रु० के लगभग खर्च हुआ।

श्रीमथुरेशजी का उत्सव

सं० १९६५ में कोटास्थ प्रथम पीठाधीश्वर गो० श्रीरणछोड़लालजी महाराज ने श्रीमथुरेशजी को नाथद्वारा बड़ी धूमधाम के साथ पधराया। उक्त महाराजश्री की इच्छा थी कि—श्रीनाथजी के पास अधिक से अधिक स्वरूप पधराकर सब प्रकार के मनोरथ किये जायँ। परन्तु श्रीनाथजी के पास श्रीमथुरेशजी, श्रीविट्ठलनाथजी तथा श्रीद्वारकाधीशजी और श्रीनवनीतलालजी ये ४ स्वरूप ही पधार सके। अस्तु उन्होंने नाथद्वारा में विविध मनोरथ कर अपने सद्विचार को कार्यरूप में परिणत किया। कार्त्तिक मास में नाथद्वारा में अन्नकूट का उत्सव हुआ। जिसमें श्रीनाथजी के पास मथुरेशजी, विट्ठलनाथजी, द्वारकाधीशजी तथा नवनीतलालजी ये चार स्वरूप पधारे। यहाँ कोटा के

तिलकायित गो० श्रीरणछोड़लालजी महाराज ने श्रीनाथजी तथा नवनीतलालजी के यहाँ मथुरेशजी के विविध मनोरथ किये। लालबाग में भी दोनों स्वरूपों को पधराकर मनोरथ किये गये।

इस पुण्य आयोजन के बाद बालकृष्णलालजी महाराज ने रणछोड़लालजी महाराज से मथुरेशजी को द्वारकाधीश के पास कांकरोली पधराने का आग्रह किया, जिसके परिणाम-स्वरूप मार्गशीर्ष ४ के दिन मथुरेशजी सवारी के साथ कांकरोली पधारे। महाराजश्री ने बड़े उत्साह और हर्ष के साथ सोने-चाँदी के फूल बरसाकर प्रभु को मन्दिर में विराजमान किया। इस समय दर्शन करने के लिये उदयपुर से महाराणा फतहसिंहजी भी कांकरोली आये। उन्होंने कांकरोली में सम्पन्न हुए मनोरथों के दर्शन किये और सेवार्थ द्रव्य भेट किया। कांकरोली और कोटा के दोनों तिलकायितों ने बड़े हर्ष के साथ दोनों स्वरूपों की सेवा कर विविध मनोरथ किये। मार्गशीर्ष शु० १२ के दिन मंदिर में गोवर्द्धन-पूजा के चौक में मंडप में दोनों स्वरूप विराजे और दीपावली का मनोरथ हुआ। इस प्रकार कांकरोली में द्वारकाधीश के साथ मथुरेशजी ग्यारह दिन तक एक ही सिंहासन पर विराजे और दोनों स्वरूपों की साथ ही सेवा हुई। यहाँ से मथुरेशजी पुनः नाथद्वारा पधारे। मार्गशीर्ष शुक्ल १४ के दिन द्वारकाधीश भी नाथद्वारा पधारे और वहाँ छप्पनभोग का मनोरथ लालबाग में बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। पौष कृष्ण ७ के दिन मथुरेशजी से बिदा होकर द्वारकाधीश प्रभु कांकरोली पधारे।

इस प्रसंग में तिलकायित गोवर्द्धनलालजी ने जब नवनीतलालजी के उक्त छप्पनभोग के उत्सव में द्वारकाधीश को नाथद्वारा पधराने का आग्रह किया, तब महाराजश्री ने यह कहकर निषेध कर दिया कि—नवनीतलालजी यदि कांकरोली पधारें, तो हमारे प्रभु नाथद्वारा पधार सकते हैं। समय की स्वल्पता के कारण अंत में यह निश्चय हुआ कि—द्वारकाधीश के मन्दिर नाथद्वारा में ही नवनीतलालजी को पधराकर उत्सव किया जाय और बाद में द्वारकाधीश भी उनके छप्पनभोग के मनोरथ के लिये लालबाग में पधारें। फलतः महाराजश्री ने अपने मंदिर में नवनीतलालजी और द्वारकाधीश का साथ में मनोरथ किया। यहीं तिलकायित गोवर्द्धनलालजी महाराज ने सब स्वरूपों को छप्पनभोग का निमंत्रण देकर पधारने का आग्रह किया, जिसके बाद लालबाग में तीनों स्वरूपों का छप्पनभोग का मनोरथ किया गया, और बाद में नवनीतलालजी के मंदिर में भी सब स्वरूपों के मनोरथ समाप्त हो जाने पर महाराजश्री ने द्वारकाधीश को कांकरोली पधराया।

सं० १९६६ वैशाख कृष्ण ७ के दिन महाराजश्री ने विट्ठल-विलास बाग में बड़ी सजावट

के साथ द्वारकाधीश तथा मथुरेशजी का खसखाना का मनोरथ किया, जिसमें रायसागर से नहर लाकर खूब जल भरवाया गया था। इस समय मथुरेशजी पुनः कांकरोली पधारे और यहाँ से वे कोटा गये थे।

विद्वत्सम्मान और हिंदी-साहित्यिक प्रचार

महाराजश्री ने सं० १९५० चैत्र कृष्ण ३ के दिन काशी के गोपाल-मंदिर में समस्त विद्वानों की एक महती सभा की, और सभी विषय के पंडितों से विविध विषयों पर, मनोविनोद के लिये, शास्त्र-चर्चा सुनी थी। उन्होंने तथा उनके भाई जीवनलालजी महाराज ने सभा में अपनी विबुध-प्रश्रय वृत्ति का अच्छा परिचय दिया, तथाच उपस्थित विद्वानों का गन्धाक्षत, माला से पूजन कर प्रत्येक को आठ-आठ रुपया, धोती, उपरणा, प्रसाद और अणुभाष्य की पुस्तकें प्रदान की थीं। उस समय की लिखी गई एक नामावली से विदित होता है कि इस सभा में ११६ पंडितों ने भाग लिया था, जिसमें ९२८) रुपया की नक़द दक्षिणा, ३४८) रुपया की पुस्तकें और ४८०) रुपया के वस्त्र आदि सब मिलाकर २०००) रुपया व्यय हुआ था।

काशी में निवास करते हुए महाराजश्री ने हिन्दी-साहित्य को भी विशेष प्रोत्साहित करने का आयोजन किया। वहाँ उन्होंने हिन्दी के तत्कालीन कवियों और विद्वानों का महान् संगठन कर सं० १९५० में माघ शुक्ल पंचमी के शुभ दिन 'काशी-कवि-समाज' की स्थापना की। महाराजश्री इस समाज के अध्यक्ष, और इनके भाई जीवनलालजी महाराज सभापति तथा बाबू रामकृष्ण वर्मा इसके मंत्री थे। समाज के प्रत्येक मास के अधिवेशन में स्थानीय तथा बाहर के कवियों की समस्या-पूर्तियाँ तथा स्वतन्त्र रचनाएँ सुनाई जाती थीं। जिसकी सविस्तर मासिक रिपोर्ट महाराजश्री के पास कांकरोली आती थी। महाराजश्री जब काशी पधारते, तब विशाल अधिवेशन होता और इनकी ओर से कवियों को पुरस्कार-वितरण किया जाता था।

इस समाज की प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय वर्ष तक की वार्षिक समस्या-पूर्तियाँ पुस्तकाकार मुद्रित उपलब्ध होती हैं। इसी समाज की देखादेखी भारत में उस समय कई कवि-समाज और मंडल स्थापित हुए। इस प्रकार महाराजश्री ने साहित्य को जो प्रोत्साहन दिया, वह हिन्दी-काव्य-जगत् के लिये एक ऋण है। दुःख है कि—स्व० पद्मसिंह शर्माजी को छोड़कर हिन्दी के किसी भी इतिहास-लेखक ने महाराजश्री की छिपी हुई इस काव्याभिरुचि पर कुछ भी प्रकाश डालने की चेष्टा नहीं की। महाराजश्री स्वयं भी "कृष्ण" और "कान्ह" इस नाम से कविता करते थे, जिनका संग्रह सरस्वती-भंडार में है। सं० १९५३ पौष बदी १ (ता० २१ दिसम्बर सन् १८९६) के एक विवरण-पत्र के देखने से विदित होता है कि—उस समय इस समाज में अच्छे-अच्छे क़रीब १०० कवियों की कविताएँ आया करती थीं। अयोध्या के

महाराजा सर प्रतापनारायणसिंह बहादुर, गिद्धौर के महाराजा रावणेश्वरप्रसादसिंह, और चन्द्रापुर (रायबरेली) के राजा जगमोहनसिंह-जैसे नरपतियों की समस्याओं के साथ भारत के समस्त प्रान्तीय कवियों की समस्या-पूर्तियाँ आती और पढ़ी जाती थीं *।

महाराजश्री की इस गुणग्राहकता ने कई कवियों को ग्रन्थरचना और प्रकाशन की ओर आकृष्ट किया। फलतः चारों तरफ़ से हिन्दी-साहित्य के प्राचीन और नवीन ग्रन्थ छपने लगे। इस समय महाराजश्री के विशेष कृपापात्र भारतजीवन-प्रेस के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा ने हिन्दी-साहित्य के कई ग्रन्थों के छापने में बड़ा परिश्रम किया। उनके प्रोत्साहन से हिन्दी-रीति-साहित्य के कई ग्रन्थ प्रकाशित किये गये और आवश्यक ग्रन्थों का निर्माण किया जाने लगा। इसी समय के लगभग सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार ने 'अलंकार-प्रकाश' की रचना कर उसे प्रकाशित किया और बड़े प्रेम से महाराजश्री के पास भेंटस्वरूप उसे भेजा। इसी समय के लगभग जोधपुर-नरेश की आज्ञा से रामकर्ण दाधीच ने 'जसवन्त-जसोभूषण' ग्रन्थ का मुद्रण कराया और महाराजश्री के पास उसे प्रेषित किया। इसी प्रकार जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कवि ने 'पंचामृत-रामायण' प्रकाशित कर और लाला मार्कण्डेयलाल (लालकवि गोपागंज-निवासी)

* महाराजश्री की काव्य-प्रियता पर 'काशी-कवि-समाज' में श्रावण बदी १३ मंगलवार सं० १९५४ के अधिवेशन में निम्नलिखित समस्या दी गई, जिसकी पूर्ति ३६ कवियों ने की थी। इनमें से दो पूर्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

सविता अनादर के कोप कुम्हिलानी, मुरझानी, बिना प्रेम आबदानी जासु जर है ;
बिन ही अधार भूमि परी पत खोय, मिल्यो कोऊ बागबान गुनवान ना सुघर है।
महाराज बालकृष्णलाल कांकरोली-पति, रावरे अछत दानबीर कौन डर है ;
धरम-पताको ऐसो दूसरो न ताको सूखी कबिता-लता को एक तू ही बारिधर है।
—बाबू रामकृष्ण वर्मा, सम्पादक 'भारत-जीवन', काशी

बिबुध बिहंगबृन्द बिटप बिसाल तू ही मेधावीन मंडली मराल मानसर है ;
भावुकता-भामिनी के भाल को तिलक भव्य तू ही भूरि भावन सरोज भानुकर है।
'हरिऔध' भाखे तू ही एहो कांकरोली भूप ! कामुक कबीन को कलित कल्पतर है ;
सबिता कुदिन की करालता तें कुम्हलाई कबिता-लता को एक तू ही बारिधर है।
—पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध'

इसी प्रकार "बाजत बधाई चन्द्रशेखर की नगरी" इस समस्या पर भी सभी कवियों ने समस्या-पूर्ति की, जो महाराजश्री के जन्मदिवस के उत्सवार्थ दी गई थी। प्रथम वार्षिकोत्सव में "बालकृष्णलाल की उदारता अनूठी है" और तृतीय वर्षोत्सव की समस्या-पूर्ति "कीरति अखंड महिमंडल मढ़ी रहै" की पूर्तियों में भी कवियों ने महाराजश्री की दानवीरता और गुणग्राहकता का दिल खोलकर परिचय दिया है।

ने 'लक्ष्मीश्वर-विनोद' नामक ग्रंथ छपवाकर महाराजश्री के पास भेजा। कहने का तात्पर्य यह कि जो भी उस समय पुस्तक प्रकाशित होती थी, वह महाराजश्री के पास सम्मत्यर्थ आ जाया करती थी।

कविरत्न पं० नवनीतजी चतुर्वेद ने सं० १६५० में अपनी रचना 'मूर्खशतक' महाराजश्री को भेट की। कवियों के लिये विनोदात्मक होने के कारण महाराजश्री ने उन्हें प्रकाशित कर वितरण कराया। नवनीतजी चतुर्वेद को महाराजश्री ने ही सर्वविध आश्रय देकर अपना राज्य-कवि बनाया था। इनके ऊपर महाराजश्री की जो सुदृष्टि थी, उसका वर्णन स्व० पद्मसिंह शर्माजी ने अपने 'पद्म-पराग' में किया है। इसी वर्ष जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कवि ने भी 'छन्दप्रभाकर' की रचना की और चैत्र शु० ६ के दिन वर्धा से महाराजश्री के नाम पर उसका समर्पण किया। यह ग्रन्थ सं० १६५१ में महाराजश्री की आज्ञा से भारतजीवन-प्रेस काशी में बाबू रामकृष्ण वर्मा के द्वारा सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। उन्होंने भी 'काशी-कवि-समाज' में पठित अपनी समस्या-पूर्तियाँ; अपने उपनाम के अनुसार 'बलवीर-पचासा' नाम से महाराजश्री को समर्पित कर इसी वर्ष पुस्तकाकार पृथक् प्रकाशित कीं। पं० किशोरीलालजी गोस्वामी ने भी महाराजश्री के लिये 'शृंगार-सुधा-विन्दु' नामक एक संस्कृत का खण्ड काव्य बनाया और अपने हाथ से लिखकर भेट किया (स० भंडार, सं० का ६८। १०)

उक्त कवि-समाज के द्वारा 'साहित्य-सुधानिधि' नामक एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता था, जिसका समस्त प्रकाशन-व्यय महाराजश्री की ओर से दिया जाता था। इसके सम्पादक कविवर जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' थे, जो महाराजश्री के अत्यन्त कृपापात्रों में से थे*। इन्हें व्रजभाषा का चसका नवनीतजी कवि के सम्पर्क से ही लगा था। वास्तव में रत्नाकरजी

* श्रीवालकृष्णलालजी महाराज के नाम—बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' का एक पत्रः—

श्रीगोपालो जयति

शिवालय घाट
बनारस
२३। १०। ६४

जय जय श्री १०८ कृपासिंधु,

मैं तो पत्रोत्तर पाने से सर्वथा निराश ही हो चुका था और 'साहित्यसुधानिधि' से भी हाथ उठाना ही निश्चित कर चुका था। परंतु आपके पत्र ने समीर की भाँति आकर दुद्दस को मिटा दिया और उन सघन बादलों को, जो कि इस 'सुधानिधि' को आच्छादित किया चाहते थे, हटा दिया। महाराज साहब ! आप लोगों में न जाने क्या ऐसी शक्ति है कि आप लोगों के एक पत्र-मात्र से जो आनंद प्राप्त होता है, वह कहा नहीं जाता। मैंने लालाजी से सुना था कि आपका शरीर फिर व्यथित हो गया था, इस निमित्त कुशल-पत्र पाने की बड़ी उत्कण्ठा थी। इस कृपापत्र से यह ज्ञात होने से कि अब श्रीशरीर सकुशल है, बड़ा ही हर्ष और आनन्द प्राप्त हुआ।

मैं अपनी दशा क्या लिखूँ, जब वह मन्दिर की चहलपहल याद आती है, चित्त घबराने लगता है,

के व्रजभाषा-साहित्य के गुरु नवनीतजी ही थे । कविवर रत्नाकरजी ने महाराजश्री की आज्ञानुसार काशी-कवि-समाज के ज्ञान-संवर्द्धनार्थ 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर'-नामक पुस्तक बनाई, और सं० १९५४ भा० शु० ५ के दिन प्रकाशित कर सदस्यों को बिना मूल्य वितरण की ।

इस प्रकार महाराजश्री ने जहाँ संस्कृत के विद्वानों को अपना आश्रय दिया, वहाँ हिन्दी के कवियों को भी उन्होंने विस्मृत नहीं कर दिया । ध्यान रखने की बात है कि—हिन्दी-साहित्य के लिये यह वह समय था, जब इसे संस्कृत के विद्वान् 'भाखा' कहकर पुकारा और हेय दृष्टि से देखा करते थे । इधर उर्दू-फ़ारसी युक्तप्रान्त की राज्यभाषा और लोकभाषा बनती चली जा रही थी । ऐसे समय महाराजश्री ने जहाँ संस्कृतज्ञ-समाज का आदर किया, वहाँ हिन्दी-काव्य-कला को भी जीवन प्रदान किया । इसी समय से भारत में साहित्य-गोष्ठियों का जन्म होने लगा और वे संगठित होकर कार्य करने लगीं, जिससे कई साहित्यिक व्यक्ति महाराजश्री के परिचय में आये । साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्तजी व्यास, महाराजश्री के भ्राता गो० श्रीजीवनलालजी महाराज के साथ प्रायः प्रदेश में जाया करते थे । ये उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् उपदेशक और कवि गिने जाते थे । इनकी प्रतिभा और ज्ञान की चारों ओर प्रशंसा थी । जीवनलालजी महाराज के संपर्क के द्वारा इनका परिचय बालकृष्णलालजी से हुआ, और वे दोनों आपस में अत्यन्त घनिष्ठ हो गये । महाराजश्री ने

आँसू घूँटकर रह जाता हूँ । "प्रीतम के संग ही उमंगि उड़ि जैबे कों न, ऐसी अंग अंगनि परन्द पँखियाँ दई ।" आप ही समझिये, कहाँ तो वह धूमधाम और कहाँ यह सन्नाटा, अस्तु, किया क्या जाय, बेबसी है; देखें, अब कब ईश्वर ऐसा अवसर कृपा कर उपस्थित करता है कि आपका दर्शन-लाभ हो ।

साहित्य-सुधानिधि के नंबर और समस्या-पूर्ति की पुस्तकें अभी इसी कारण से नहीं भेजीं कि मुझे यह ठीक निश्चित नहीं है कि इस समय आप कहाँ हैं । यह पत्र अनुमान से कांकरोली भेजता हूँ । इसका उत्तर आते ही तत्क्षण सेवा में भेज दूँगा । साहित्य-सुधानिधि के नवें अंक के साथ एक प्रति हिंडोले की सेवा में भेजी थी । आशा है कि दृष्टिगोचर हुई होगी । कृपा करके सूरसागर जो आपके पुस्तकालय में है, उसके पदों की गिनती अवश्य कराइयेगा और अपने कथनानुसार पठान सुलतान की कुंडलिया का ग्रन्थ भेज दीजिये ।

आपका कृपाकांक्षी
जगन्नाथदास

एक बात और आपको सूचित करना आवश्यक है । आपके पत्र से विदित हुआ था कि फ़ोटो और समस्यापूर्ति का व्यय तो पत्र के साथ ही भेजा जाता है और साहित्य-सुधानिधि की सहायतार्थ कांकरोली से प्रबंध किया जायगा । पर मेरे पास अभी फ़ोटो इत्यादि कुछ भी नहीं पहुँचा । कहीं डाक में तो कुछ गड़बड़ नहीं हुई ? J. N Dass.

व्यासजी की विद्वत्ता की क़दर की और सं० १६५१ में काशी में विद्वानों की महती सभा में उन्हें 'भारतरत्न' की सम्मानोपाधि और एक सुवर्ण-पदक प्रदान किया*।

महाराजश्री की कलाप्रियता

महाराजश्री के लिये यदि संक्षेप में यह कह दिया जाय कि—वे साहित्य, संगीत और कला की प्रतिमूर्ति थे, तो कोई अत्युक्ति न होगी। उन्होंने तत्कालीन सभी प्रसिद्ध पुरुषों के परिचय और चित्र तो प्राप्त किये ही थे, पर जिनसे उन्हें मिलने का संयोग नहीं आ पाया, उनके भी चित्र उन्होंने अपने संग्रह में एकत्रित किये थे।

महाराजश्री को चित्र-संग्रह का भी अच्छा शौक़ था। प्राचीन चित्र, जो कला और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे, उन्होंने एकत्रित किये थे। कई आवश्यक चित्र महाराजश्री ने स्वयं तैयार कराये थे। आज 'द्वारकेश-चित्रशाला' में जो विशाल चित्रों का संग्रह है, वह महाराजश्री की कलाप्रियता का परिचायक है। उन्होंने ऐसी कई सुन्दर दर्शनीय अन्यत्र अनुपलब्ध बहुमूल्य वस्तुओं, प्राचीन स्वर्ण-रजत की मुद्राओं, वस्त्रों तथा अलभ्य ग्रन्थों आदि का संग्रह किया था, जिनका एक संग्रहालय 'द्वारकेश-विश्ववस्तु-संग्रहालय' के नाम से सम्प्रति प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाराजश्री स्वयं भी कविता करते थे। उनका कविता का उपनाम 'कृष्ण' और कान्ह था। इनके रचित पद, कीर्तन तथा कवित्त विद्यमान हैं। महाराजश्री को उर्दू-फ़ारसी का भी अच्छा परिज्ञान था। शेर और ग़ज़लें बनाना और उत्कृष्ट शायरों की कविता का संग्रह उनका एक साहजिक गुण था। उन्होंने अनेक नाटक भी स्वयं अपने हाथ से लिखे थे, जो सरस्वती-भंडार में विद्यमान हैं। प्राचीन और नवीन कविताओं का संकलन चार श्रेणियों में किया था, जिसे उन्होंने फ़र्स्ट, सेकन्ड, इन्टर और साधारण क्लास का नाम दे रक्खा था।

महाराजश्री संगीत और वाद्यविद्या के भी प्रेमी ही नहीं, पारंगत व्यक्ति थे। अच्छे-अच्छे गवैये तथा रंडियाँ भी उनकी मर्मज्ञता के कायल थे। कांकरोली, मथुरा और काशी तीनों स्थानों में से जहाँ कहीं महाराजश्री का मुक़ाम होता था, सभी गुणी जन उनके पास हाज़िरी देने आया करते थे। वह भी विशेषता की क़दर कर उन्हें अपना बना लेते थे।

संगीत और नाट्यकला की प्रियता में महाराजश्री ने बड़ा भाग लिया था। कहते हैं—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी से भी उनका अच्छा परिचय था। भारतेन्दुजी के सहयोग अथवा उनके दृष्टिकोण से महाराजश्री ने स्वयं एक परिमार्जित नाटक-मंडली तैयार की थी, जिसमें कला-दृष्टि से अभिनयात्मक ढंग पर विशेष जोर दिया जाता था। 'द्वारकेश-चित्रशाला'

* उक्त व्यासजी द्वारा लिखित 'बिहारी-विहार की जीवनी' (पत्र ६) से।

कांकरोली में ऐसे तात्कालिक फोटू-चित्रों का संग्रह है, जिसमें महाराजश्री अपने भ्राताओं के साथ नाटकीय वेश-भूषा और भावभंगी से सज्जित खड़े हैं* ।

महाराजश्री साथ में अपनी निजी एक गायक-मंडली भी रक्खा करते थे। जिनमें मुख्य गायक श्रीचन्दनजी चतुर्वेद थे। इन्हें निज़ाम-सरकार ने भी गान-विद्या पर प्रसन्न होकर अच्छा पारितोषिक दिया था। इसी प्रकार चौबेजी गणपतजी लालन उस्ताद आदि वाद्य-विशेषज्ञ महाराजश्री के आश्रित ही थे। जब यह सब मंडली बैठती थी, तब महाराजश्री हारमोनियम बजाते और कभी स्वयं गाते भी थे।

मथुरा-निवासी चतुर्वेद गणेशीलालजी एक लब्धप्रतिष्ठ गायक हो गये हैं, जो जयदेवजी की अष्टपदी और वाल्मीकि-रामायण ही गाया करते थे। इनके गायन पर बड़े-बड़े संगीतज्ञ आश्चर्य किया करते थे। कहते हैं—इन पर भैरवजी प्रसन्न थे। एक बार महाराजा नेपाल ने अपने यहाँ बुलाया और संगीत सुनकर इन्हें बहुत-सा द्रव्य दिया था। जिस समय ये मथुरा आये, इनका स्वागत करने लाखों व्यक्ति पहुँचे। अपनी प्रशंसा सुनकर इन्होंने सारा रुपया कंगाल, फ़क़ीर और साधुओं को दे डाला था। कहने का अर्थ यह कि—ये किसी सेठ, साहूकार और धनी व्यक्ति को कुछ समझते ही नहीं थे, और न किसी के घर जाकर गाना ही जानते थे। ऐसे स्वाभिमानी गुणी ने भी गुणग्राहता से कायल होकर मथुरा में महाराजश्री को अपनी विद्या का चमत्कार दिखलाया था।

इन सब गुणों के साथ महाराजश्री में उत्कृष्ट वक्तृत्व-कला भी विद्यमान थी। बड़ी-बड़ी धार्मिक सभाओं में निःशंक होकर बोलना उनका सहज गुण था। व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालुजी इस विषय में इनके विशेष संपर्क में आये थे। महाराजश्री के उत्साह और पूर्ण साहाय्य से ही 'भारतधर्म-महामंडल' की स्थापना हुई थी। इनके समीप मंडल की रिपोर्ट आया करती थी। इन दिनों आर्य-समाज का विशेष जोर था और चारों ओर उसके साथ शास्त्रार्थ की गूँज उठा करती थी। फलतः महाराजश्री का आश्रय पाकर कई उपदेशकों ने घूम-घूमकर सनातनधर्म-सभाएँ स्थापित कीं और धर्म का प्रचार किया।

सं० १९७२ में मथुरा में अखिल भारतवर्षीय सनातनधर्म-महासम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन हुआ, जिसमें व्याख्यानवाचस्पति पं० दीनदयालुजी का प्राधान्य था। स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी महाराजश्री उनके आग्रह से सभा में सम्मिलित हुए और कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित किया।

सनातनधर्म-सम्मेलन के बाद यहीं पर अखिल भारतवर्षीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन का

* मथुरा-निवासी जवाहरलालजी चतुर्वेदी के द्वारा विज्ञात।

अधिवेशन हुआ, जिसमें महाराजश्री ने भी सम्मिलित होकर संस्कृत-साहित्य के प्रति अपना उत्कट प्रेम दिखाया। इस समय महाराजश्री का स्वास्थ्य विशेष बिगड़ा हुआ था, अतः जैसा चाहिये, वे उसमें भाग न ले सके, फिर भी समागत पंडितों और विद्वानों को उन्होंने सत्कृत किया था।

एक बार स्व० महाराजा बड़ौदा-नरेश श्रीसयाजीराव की अध्यक्षता में विशाल धार्मिक सभा हुई, जिसमें सभी धर्म और मतों के व्याख्याताओं को आमन्त्रित किया गया था। इस समय महाराजश्री भी सभा में पधारे। शु० सम्प्रदाय के प्रखर विद्वान् स्व० मग्नलालजी शास्त्री एम० ए० और महाराजश्री का पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों पर भाषण हुआ, जिससे श्रोतागण अत्यधिक प्रसन्न हुए, और महाराजा सयाजीराव पर भी महाराजश्री के व्यक्तित्व और विद्वत्ता का अच्छा प्रभाव पड़ा।

महाराजश्री ने जहाँ सनातनधर्म, हिन्दी-साहित्य और गायन-विद्या को प्रश्रय दिया, वहाँ उन्होंने अपने साम्प्रदायिक वैष्णव धर्म का भी खूब प्रचार किया था। श्रीमग्नलालजी शास्त्री एम्० ए०, भारत-मार्तण्ड श्रीगट्टूलालाजी, शीघ्रकवि भट्ट श्रीनन्दकिशोरजी शास्त्री, साम्प्रदायिक ग्रन्थों के सर्वप्रथम प्रकाशक और संशोधक पं० रत्नगोपालजी शास्त्री आदि को महाराजश्री ने एतद्विषयक सहयोग देकर भी वैष्णव-धर्म के उपदेशों का जाल-सा फैला दिया था। महाराजश्री के समीप भी एक-दो शास्त्री रहा करते थे, जो अच्छे विद्वान् और शास्त्रार्थी पंडित थे।

इन सब गुणों के साथ महाराजश्री में मुक्त-हस्त होकर दान देने का भी एक गुण था। इसका परिणाम यहाँ तक पहुँचता था कि—कई बार उन्हें अर्थ-संकोच भी उठाना पड़ा। यही कारण था कि आगत गुणियों के आदर-सत्कार, अपनी विलासशील प्रकृति एवं अस्वस्थता के कारण ये अंतिम समय में एक बड़ा ऋण भी छोड़ गये थे।

महाराजश्री का व्यक्तित्व

जैसा कहा जा चुका है, महाराजश्री अपना पृथक् ही वैशिष्ट्य रखते थे। जहाँ वे परम उदार, चतुर-चिंतामणि और गुणग्राहक तथा रसिक व्यक्ति थे, वहाँ पात्रापात्र का विचार रखनेवाले, नीति-विशारद और गुणी एवं श्रीद्वारकाधीश प्रभु के अनन्य सेवाभिलाषी भी थे। जहाँ इनका आदर विद्वान् और कलावन्त करते थे, वहाँ बड़े-बड़े धनी व्यक्ति भी इनकी दानशीलता देखकर अचंभा करते थे। कवि जहाँ अपनी कविता के लिये इनसे प्रशंसा पाते थे, वहाँ स्वयं इनकी मर्मज्ञता और कविता सुनकर विचार-निमग्न हो जाया करते थे। जहाँ इनका ठाठबाट किसी नरेश से कम नहीं रहता था, वहाँ धर्माचार्य भी इनका स्वरूप और विद्वत्ता देखकर गौरव किया करते थे। जहाँ यह स्वकीय आश्रित एवं

स्वीकृत व्यक्ति का निभाव कर लेते थे, वहाँ न्याय करने में कभी हिचकिचाते नहीं थे, फिर भी महाराजश्री के कुछ निकटस्थ व्यक्ति कई मनुष्यों को लोक-व्यवहार में खटका करते थे। अन्त में महाराजश्री ने उनका ऐसा त्याग किया, जिसकी उनको त्रिकाल में भी आशा नहीं थी।

कई बार ऐसे भी प्रसंग आए, जहाँ कुछ लालाटिकों ने महाराणा श्रीफ़तहसिंहजी के मन में भी महाराजश्री के प्रति कुछ विषम भाव भरने की चेष्टा की, पर उन्होंने व्यवहार और नीतिचातुर्य से अपनी वही प्राचीन मान-मर्यादा क़ायम रक्खी और समय पाकर महाराणा के हृदय में सद्भावना उत्पन्न कर दी। धनी-मानी, सेठ-साहूकारों के साथ राजा-महाराजा आदि जिस किसी का भी महाराजश्री से परिचय और सहयोग हुआ, वे सब उनका आदर करते थे। ब्रिटिश गवर्नमेंट की बंबई-हाईकोर्ट ने भी अदालत में किसी भी प्रसंग में अनिवार्य उपस्थिति की महाराजश्री को छूट दे दी थी, और प्रसंग आने पर वह कमीशन भेजकर उनका मन्तव्य लिवाया करती थी।

अस्वास्थ्य और गो-लोकवास

सं० १९७२ के लगभग महाराजश्री का स्वास्थ्य बिगड़ने लग गया, अतः उन्होंने अपनी यात्रा, प्रचार आदि बंद कर दवा करना प्रारंभ किया, पर उससे भी कोई लाभ प्रतीत नहीं हुआ। मथुरा में रहकर बहुत-से प्रसिद्ध डाक्टर, नामी वैद्य राधारमणजी आदि से चिकित्सा कराई गई, पर उससे कोई लाभ न हुआ। अवश्यंभावी अन्तिम समय, किसी रोग को निमित्त बनाकर अपना विषैला प्रभाव शरीर पर प्रतिदिन अधिक-अधिक डालता जाता है। महाराजश्री के लिये भी यही चरितार्थ हुआ। अन्त में स्वकीय वियोग में समस्त परिवार, राज्यकर्मचारी तथा अपार वैष्णव-समाज को छोड़कर सं० १९७३ आषाढ़ बदी ८, तदुपरान्त ९ शुक्रवार को सायंकाल चार बजे श्रीराजाधिराज-मन्दिर मथुरा में महाराजश्री का नित्यलीला प्रवेश हो गया। उन्होंने इस नश्वर देह का त्याग करते हुए अलौकिक कीर्तिरूप से विद्यमान होकर श्रीद्वारकाधीश के चरणकमलों में स्थान प्राप्त किया। इनके इस असामयिक निधन से मथुरा नगरी में अपार शोक छा गया था।

अन्तिम यात्रा में क्या हिन्दू, क्या पारसी, क्या जैन और क्या मुसलमान सभी सम्मिलित हुए थे। वास्तव में महाराजश्री के गोलोकवास हो जाने से समाज में जो स्थान रिक्त हुआ, उसकी फिर पूर्ति नहीं हो सकी। जो आश्रित थे, वे चरितार्थ चलने के लिये नहीं, प्रत्युत महाराजश्री के सौजन्यपूर्ण व्यवहार के लिये; जो गुणी थे, वे दानवृत्ति से नहीं, अपितु उनकी गुणग्राहकता के लिये और सर्वसाधारण प्रख्याति अथवा धनिक होने से नहीं, वस्तुतः महाराजश्री की सहृदयता के लिये विलाप करते थे। महाराजश्री के इस अवितर्कित गोलोकवास से कांकरोली को तो जिस अवस्था का अनुभव करना पड़ा, उसका दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता। इस

अप्रिय समाचार से समस्त भारतवर्ष में एक अप्रत्यक्ष विषाद-घटा छा गई थी, जिसका परिचय सामयिक समाचार-पत्रों से मिलता है॥।

महाराजश्री की और्ध्वदैहिक क्रिया के सम्पन्न हो जाने पर श्रावण शु० १० के दिन उनका परिवार कांकरोली आया। उनके बाद प्रायः एक वर्ष तक उनके ज्येष्ठ पुत्र गो० श्रीद्वारकेशलालजी और तदनन्तर तृतीय पुत्र गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज वर्तमान तिलकायित हुए, जिन्होंने अपनी पूज्य मातृश्री की देखरेख श्रीद्वारकाधीश की सेवा और ठिकाने का कार्य सँभालकर पुनः सुख-साम्राज्य की स्थापना की।

परिशिष्ट—१

महाराजश्री द्वारा संस्थापित मन्दिर

श्रीबालकृष्णलालजी महाराज वैष्णवों की इच्छा का बड़ा ध्यान रखते थे। उनके हृदय में भक्ति-भाव की वृद्धि के लिये वे उपदेश प्रदान कर यत्र-तत्र मंदिर भी बनवाकर ठाकुरजी की सेवा पधरा दिया करते थे। महाराजश्री ने अपने समय में कई मन्दिरों की स्थापना की, जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है—

१ अजमेर एक स्थान पर चित्र-सेवा स्थापित की। २ खंडवा बालकृष्णलालजी ठाकुरजी का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाया। ३ चौपड़ा (खानदेश), ४ धार (मालवा), ५ ऊँभा

* महाराजश्री के गोलोकवास से कविरत्न नवनीतजी चतुर्वेद को जो हार्दिक दुःख हुआ, उसकी शब्दात्मक प्रतिमूर्ति इस प्रकार है—

सूखि गयौ कैधौं कामना को कल्पबृच्छ आज, साहित-सुधा को सुधाकर सौ अथै गयो ;
'नवनीत' कैधौं राजनीति को पुनीत नाह, चाह चित रीति प्रीति पथिक पथै गयो।
कैधौं वेद भेद औ मथैया वाकचातुरी को, आतुरी दिखाय 'कान्ह' कविता कथै गयो ;
है कै बालकृष्ण बालकृष्ण ज्यों बियोगिन कों छाँड़ि बल कृष्ण बालकृष्ण ज्यों रथै गयो ॥१॥

काह एसो दुर्दिन दिसान में दिखाई देत, निर्मल गगन धूलि धुंधरति धारे हैं ;
'नवनीत प्यारे' नर नारिन की कौन कहै, जीव-जन्तु मानौ सब जग के दुखारे हैं।
मथुरा पुरी में का अमंगल सो देखियतु, घनहू तें आज काहे टूटत सितारे हैं ;
आज नित्यलीला के निमित्त बालकृष्णलाल भूतल कों त्यागि गऊलोक कों सिधारे हैं ॥२॥

मानयुत खास बेदब्यास ज्यों पुरान बाँचि साँच पुष्टिमारग को ओज सो उभरिगौ ;
'नवनीत प्यारे' राजनीति को पुनीत बृच्छ अच्छन समच्छ सोक दच्छन में भरिगौ।
हरिगौ सरोज सुख सरस सँगीत ही को, प्रीति परतीति ही को बारिद उघरिगौ।
नेह निरवाहक, सुचाहक सभी को, यह हाय ! गुनगाहक जहान तें निकरिगौ ॥३॥

६ महसाणा, ७ गोभारिया, ८ लागणान, ९ कुकरवाड़ा, १० विलोदरा, ११ टेंटूदन, १२ पिलवाई, १३ मानसा, १४ चराडा, १५ सामरखा, १६ कठलाद, १७ सारसा, १८ तारापुर, १९ घोड़ासर, २० हलधरवास, २१ माकणी, २२ पानवड, २३ वासणा तथा २४ और २५ डभोई में दो स्थानों पर महाराजश्री ने श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाये। २६ सिद्धपुर श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप गिरिधरलालजी महाराज ने चौधरी के बाग में विराजमान किया था। बाद में बालकृष्णलालजी ने सेठ छगन डेरिया के बनवाये हुए मंदिर में प्रभु को विराजमान किया। २७ सोजीत्रा, २८ वसो, २९ महमदाबाद में मदनमोहनजी ठाकुरजी का स्वरूप पधराकर मन्दिर बनवाये। ३० पाटन श्रीद्वारकाधीश का स्वरूप महाराज बालकृष्णलालजी ने पधराकर स्वरूप-सेवा प्रचलित की। पहिले यहाँ इनके पिता गिरिधरलालजी महाराज ने चित्र-सेवा पधराई थी। मंदिर इसी समय बना था। ३१ अलवर श्रीद्वारकाधीश के मंदिर की प्रतिष्ठा की। इत्यादि।

इस प्रकार महाराजश्री ने अपने जीवन में उक्त मंदिरों की संस्थापना कर अधिकांश धार्मिक प्रचार किया, जिससे बहुत कुछ लाभ हुआ। इस सम्प्रदाय में यही ऐसे एक महाराज थे, जिन्होंने वैष्णवों के लिये इतनी अधिक संख्या में मन्दिरों की स्थापना अथच व्यवस्था की। यद्यपि यह सब मन्दिर महाराजश्री की सम्पत्ति के अन्तर्गत हैं, फिर भी इनका प्रबन्ध स्थानीय वैष्णवों के द्वारा ही होता है।

परिशिष्ट—२

महाराजश्री के समय आगत राजा-महाराजा, उमराव अथवा उनकी भेट

संवत्	मिती	स्थान तथा नाम
१९३६	वैशाख कृष्ण १	महाराणा श्रीसज्जनसिंहजी जनाना-सहित आये सो भेट भेजी।
,,	कार्त्तिक कृष्ण ७ गुरु०	महाराणा सज्जनसिंहजी बालकृष्णलालजी महाराज को गादी का दस्तूर करने आये।
१९४०	भाद्रपद कृष्ण १०	देवगढ़ रावजी श्रीकिशनसिंहजी आये। पालना का मनोरथ किया। इसी वर्ष राज्य जयपुर से प्राप्त गाम खालसा कर लिये गये।

१९४२	माघ बदी १२	दरबार सज्जनसिंहजी की बरसी में ईडर के राठौरजा की ओर से शय्या-दान आया।
,,	माघ सुदी १०	सानंद गाम के दरबार राणा श्रीरणमल्लसिंहजी ने सिहाड से भेट भेजी।
,,	,, १२	महाराणा श्रीफतहसिंहजी गादी बैठने के बाद प्रथम ही दर्शनार्थ आये। एक हाथी और द्रव्य भेट किया।
१९४३	आश्विन सुदी १३	छप्पनभोग के मनोरथ के दर्शनार्थ महाराणा फतहसिंहजी आए और सामग्री के लिये द्रव्य भेट किया।
१९४४	मार्गशीर्ष कृष्ण १ मंगल	महाराणा श्रीशंभूसिंहजी की रानीजी दादीजी चौहानजी दर्शन करने आये, सो गहना और द्रव्य भेट।
१९४४	चैत्र बदी ५	बीकानेर महाराजा श्रीडूँगरसिंहजी के गत हो जाने पर महाराजा श्रीगंगासिंहजी की ओर से एक हाथी, एक घोड़ा और द्रव्य भेंट आया।
,,	,, १२	रतलाम परगना के अमरेठ गाम के महाराज राव बहादुर श्रीरघुनाथसिंहजी सकुटुम्ब आये।
१९४५	कार्त्तिक सुदी १२	महाराणा फतहसिंहजी की माजी साहेब राठौरजी (ईडरवाला) महाराजश्री से कंठी बँधवाकर ठाकुरजी का स्वरूप सेवार्थ पधराने आईं।
१९४७	ज्येष्ठ कृष्ण ७	महाराणा फतहसिंहजी आए। इस समय महाराणा ने ६०००० रु० के दो रुक्का वापिस भेट किए, जो भूतपूर्व महाराणा सज्जनसिंहजी ने माजी महाराज पद्मावतीजी से सं० १९३६ कार्त्तिक बदी १२ को कांकरोली की पाल की सुधराई-खाते लिखवा लिये थे। इस समय तक जो नगद रुपया उदयपुर में जमा हो गया था, वह वापिस महाराणा ने दिलवाया और भरपाई करा दी। रोकड़ पाना २१६।
,,	पौष सुदी ८	उदयपुर से महाराणा की श्रीरानीजी राजकुमार-सहित चारभुजा दर्शन करने जाते समय कांकरोली आए।
१९४८	चैत्र सुदी १३	किशनगढ़ महाराजा आए।

१६४६	माघ सुदी १०	महाराणा फतहसिंहजी उदयपुर से जनाना के साथ आए, और फाल्गुन बदी १ को चारभुजाजी गए।
१६५०	कार्त्तिक सुदी १	विजोलिया कुँवरजी आए।
,,	माघ कृष्ण ५	देवगढ़ रावजी श्रीकिशनसिंहजी आए। मंगलभोग से लेकर सेन तक की सामग्री के लिये द्रव्य भेट किया।
,,	फाल्गुन कृष्ण १३	इंदौर-सरकार हुल्कर की तरफ़ से बाई शोभाबाई की ओर से सिरस्ता की गंगाजल की शीशी और भेट आई।
१६५१	माघ कृष्ण ३	बेगम रावजी श्रीमेघसिंहजी सकुटुम्ब आए।
१६५१	चैत्र कृष्ण ४	कानौड रावजी नाहरसिंहजी।
१६५२	वैशाख सुदी ११	बहूजी साहब जेसलमेराजी आए।
,,	श्रावण सुदी १४	अलवरवाले माजी साहब राठौरजी (किशनगढ़ के बाईजी) शृंगार बाईजी आए।
१६५२	फाल्गुन कृष्ण ३	देवगढ़ से ध्रांगधरावाले रानीजी तथा भँवरबाईजी ने नाम सुना तथा भेट चढ़ाई।
१६५३	वैशाख कृष्ण १४	विजोलिया रावजी किशनसिंहजी उदयपुर तलवार बँधाने जाते समय आए।
,,	फाल्गुन कृष्ण ११	इन्दौर हुल्कर सरकार की ओर की गंगाजल की शीशी तथा सिरस्ताई भेट आई।
१६५५	माघ सुदी ३	महाराणा तथा राणीजी और कुँवरजी सहित आये।
१६५८	मार्गशीर्ष सुदी २	बेगम रावजी तथा कुँवरजी आये।
,,	पौष सुदी ८	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी उदयपुर जाते समय कंठी बँधाने (नाम सुनने) आये।
१६६०	चैत्र सुदी १३	कोठारिया रावजी श्रीजवानसिंहजी आये।
,,	मार्गशीर्ष बदी ५	आगरऱ्या ठाकुर श्रीउग्रसिंहजी नाम सुनने आये। कोशीथलवाले भुवाजी सरस कुँवरबाई (गाम पारडीवाले ठाकुर इन्द्रसिंहजी की ठकुरानी) आये और भेट चढ़ाई।
१६६२	भाद्र कृष्ण १४	बड़ी सादड़ी के रावजी आये।
,,	फाल्गुन कृष्ण १	राणागाँव के रावजी के कुँवर रत्नसिंहजी की भेट आई।

१८६२	फाल्गुन कृष्ण ३	देवगढ़ माजी साहिब मेरतनीजी की ओर से सोने का हार भेट आया।
१९६३	चैत्र सुदी १३	कानोड रावजी श्रीनाहरसिंहजी और उनके कुँवर केसरीसिंहजी दर्शनार्थ आये और कुँवरजी के जनेऊ की पहिरावनी आदि भेट की।
,,	श्रावण कृष्ण ३०	बिजोलिया रावजी किशनसिंहजी की तरफ से भेट।
१९६४	कार्त्तिक सुदी ६	विनौता रावजी श्रीविजयसिंहजी आये।
१९६४	पौष कृष्ण १४	उदयपुर महाराणा के दादीजी तथा माजी साहब आये।
१९६५	मार्गशीर्ष सुदी ११	उदयपुर महाराणा फतहसिंहजी मथुरेशजी तथा द्वारकाधीश के मनोरथ के दर्शनार्थ आये और पौष कृष्ण ३ के दिन मनोरथ के लिये ६३२१ रु० भेट किया।
,,	,, १२	बिजोलिया रावजी आये।
,,	,, १३	महाराणा ने चि० श्रीद्वारकेशलालजी को पैर में सोना के लंगर भेट किये।
,,	पौष बदी ३	महाराणा साहब ने मनोरथ के दर्शन कर बिदा होते समय भेट की।
,,	फाल्गुन सुदी १०	बड़ी सादड़ी के राजराणा श्रीदुलहसिंहजी ने कंठी बँधवाकर नाम सुना और भेट की।
,,	चैत्र बदी २	खिड़कीपुर के राणाजी जोधपुरीजी की तरफ से भेट आई।
,,	चैत्र कृष्ण ६	वानसी रावजी श्रीतखतसिंहजी आए।
१९६६	चैत्र सुदी १	मोरवी दरबार सर बाघजी बहादुर आए और भेट की।
,,	,, १५	देवगढ़वाले माजी मेरतनीजी साहब आईं।
,,	आश्विन सुदी ७	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी आये और कंठी बँधवाकर भेट चढ़ाई।
,,	पौष सुदी १५	बदनौर ठाकुर श्रीगोविन्दसिंहजी आए।
१९६७	वैशाख बदी ३०	बनेडा राजाजी श्रीअमरसिंहजी की भेट आई।
,,	आषाढ़ बदी २	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी आए।
,,	श्रावण सुदी ८	बड़ौदा गायकवाड़ सरकार की ओर से गाम सारंजा की सालाना राजभोग की सामग्री के १२११ रु० आए।

१६६८	ज्येष्ठ कृष्ण ३	आउवावाले रानीजी श्रीराजकुँवरबाई तथा थानोरावाले रानीजी (प्रतापकुँवरबाई) आए।
,,	,, ,, ८	देलवाड़ा राज श्रीमानसिंहजी आए।
१६६८	ज्येष्ठ कृष्ण ६	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी आए।
,,	श्रावण सुदी ११	भींडर महाराज श्रीमाधवसिंहजी आए।
,,	भाद्रपद सुदी ११	भरतपुर महाराजा श्रीकिशनसिंहजी सकुटुम्ब। आये।
,,	चैत्र बदी ४	खिलचीपुर महाराज के दादीजी तथा उनके भतीजा आए।
१६६६	प्र० आषाढ़ शु० १५	कानोड रावजी नाहरसिंहजी हरिशरण हुए सो भेंट तथा घोड़ा आया।
,,	भाद्रपद कृष्ण ३०	देवगढ़ रावजी विजयसिंह के माजी महाराज आए।
,,	कार्त्तिक कृष्ण १०	भनाय राजाजी श्रीशार्दूलसिंहजी आए।
,,	फाल्गुन कृष्ण ६, ७	महाराणा फतहसिंहजी आये। उस समय पुन्याहवाचन महाराजश्री ने किया। महाराणा के दोनों बाईजी तथा श्रीराणाजी तथाच महाराजकुमार श्रीभूपालसिंहजी आए। छोटे बाईजी साहब ने १ जोधपुरवाले ने १ हजार का आभरण भेट किया। महाराजकुमार का जन्म दिन फाल्गुन बदी १० को नौचौकी पर हुआ। तब महाराजश्री को पधराये और दूसरे दिन श्रीप्रभु का दिन-भर का मनोरथ किया। एकादशी के दिन बिदा होते सभी ने भेट की।
,,	फाल्गुन कृ० १०	भैंसरोडगढ़ रावजी आये।
१६७०	ज्येष्ठ सुदी १५	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी आये।
,,	आषाढ़ सुदी ३	माजी साहब श्रीमेडतानीजी (देवगढ़वाले) आये।
,,	मार्गशीर्ष बदी ४	झालरापाटन दरबार श्रीजालिमसिंहजी के रानीजी आये। सोना की लंगर जोड़ा १ भेट की।
,,	पौष बदी ४	बिजोलिया रावजी पृथ्वीसिंहजी के उनके पुत्र श्रीकेसरीसिंहजी की गद्दीनशीनी के समय भेट आई।
,,	फाल्गुन शु० १५	भदेसर रावजी श्रीभूपालसिंहजी तथा उनके पुत्र श्रीतखतसिंहजी आये।
१६७१	आषाढ़ सुदी १	देवगढ़ रावजी, उनके कुँवर तथा माजी साहब आये।

१९६७	वैशाख बदी ३०	जेसलमेरदरबार के हरिशरण होने पर १ घोड़ा भेट आया।
१९७२	चैत्र सुदी १४	झाबुआ राजाजी उदयसिंहजी आये।
,,	प्र० वैशाख शु० १५	आमेट रावजी श्रीशिवनाथसिंहजी आये।
,,	फाल्गुन शु० १४	आमेट रावजी अर्जुनसिंहजी आये।

प्राचीन रोकड़ और चौपड़ों से यह उद्धरण लिया गया है, जिसके कार्त्तिकादि संवत् और अमान्त तिथि को यहाँ चैत्रादि और पूर्णिमान्त बतला दिया गया है। जो यहाँ दर्शनार्थ आये, उनका उल्लेख है और जिनकी भेट आई, उसका निर्देश किया गया है।



चि० श्रीद्वारकेशलालजी (द्वा० ति०)

(प्रा० सं० १९६४, ति० सं० १९७३, नि० सं० १९७४)

——:o:——

चि० श्रीद्वारकेशलालजी का जन्म सं० १९६४ आषाढ़ कृष्ण ६ सोमवार * के दिन कांकरोली में हुआ था। यह अपने पिता श्रीबालकृष्णलालजी महाराज के ज्येष्ठ पुत्र थे, और इनकी माता का नाम श्रीसौन्दर्यवती बहूजी महाराज है।

जन्म-संस्कार और शिक्षा

जैसा प्रथम कहा जा चुका है, श्रीद्वारकेशलालजी के अन्य तीन भ्राता और हुए, जिनमें इनसे छोटे श्रीपुरुषोत्तमलालजी का छोटी वय में ही गोलोकवास हो गया। इनके तृतीय भ्राता इनके अनन्तर कांकरोली के तिलकायित-पद पर प्रतिष्ठित हुए, एवं चतुर्थ स्थानीय श्रीमथुरेशजी के मंदिर के अधिपति श्रीगोपाललालजी तथा मथुरा के श्रीमदनमोहनजी-मंदिर के अधिष्ठाता श्रीगोपाललालजी महाराज के स्थान पर विराजमान हैं।

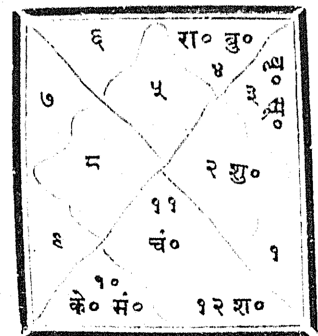
द्वारकेशलालजी के प्राकट्य से महाराज श्रीबालकृष्णलालजी, उनके परिकर तथा वैष्णव-समाज को अत्यन्त हर्ष हुआ, क्योंकि इस पीठ पर तीन पीढ़ी के बाद औरस पुत्र की प्राप्ति हुई थी, अतः स्वभावतः उस समय बड़ा आनंद मनाया गया और श्रीद्वारकाधीश प्रभु का मनोरथ किया गया। छट्ठी और बरही का मंगलमय प्रस्ताव बड़ी सजधज के साथ सम्पन्न हुआ, जिसमें अधिक संख्या में आत्मीय और जाति-बन्धु एकत्रित हुए थे।

इसी वर्ष माघ बदी ८ के दिन इनके पिता बालकृष्णलालजी महाराज प्रदेश-यात्रा करने पधारे, अतः साथ में जाने के कारण गुजरात के वैष्णव-समाज ने इनके दर्शन कर अपने को कृतार्थ माना।

---

* जन्मकुंडली

संवत् १९६४ शाके १८२९ वर्षे प्रवर्तमाने आषाढमासे कृष्ण पक्षे ६ तिथौ चन्द्रवासरे इष्टघटी १० । १५ । सू० २ । १५ । ३५ । ८ लग्न ४ । १२ । ४२ । ३२ समये श्रीबालकृष्णप्रथमात्मज चि० श्री-द्वारकेशलालजी जन्म।





चि० श्रीद्वारकेशलालजी

प्रा० सं० १९६३, आषाढ़ कृष्णा ६

गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ



सं० १९६५ मार्गशीर्ष मास में कांकरोली में मथुरेशजी के पधारने से श्रीद्वारकाधीश के साथ बड़ा भारी उत्सव मनाया गया, जिसमें दर्शनार्थ उदयपुर से महाराणा फतहसिंहजी आये। गुरुघर में औरस पुत्र के जन्म होने के कारण महाराणा ने भी हर्ष प्रकट किया, और प्राचीन परंपरा की प्रथा को चालू रखते हुए, चि० श्रीद्वारकेशलालजी के लिये सोने के लंगर की एक जोड़ी—जिसका वज़न ५३। तोला और मूल्य १७७५) था—प्रदान की। सं० १९६६ माघ शु० १२ के दिन महाराज श्रीबालकृष्णलालजी ने इनका चौल-संस्कार बड़े उत्साह से किया, और प्रदेश-परिभ्रमणार्थ पधारे। यह यात्रा सं० १९६७ कार्त्तिक बदी १३ को समाप्त हुई।

राज्य-मान

सं० १९६७ में इनका अक्षराभ्यास प्रारंभ कराया गया, और यह अध्ययन करने लगे। प्रतिभाशाली और प्रखरबुद्धि होने एवं अभिभावकों की सतर्कता से इनकी विद्या के प्रति अच्छी अभिरुचि हो गई। ये अपनी १० वर्ष की अवस्था में ही लघुकौमुदी तथा पंच महाकाव्यों में से तीन का अध्ययन समाप्त कर चुके थे। साम्प्रदायिक समस्त स्तोत्र इन्हें कंठस्थ थे। श्रीद्वारकाधीश की सेवा में इनकी इतनी अभिरुचि थी कि कभी सेवा का समय नहीं चूकते थे। जहाँ तक बनता, प्रत्येक सेवा और शृंगार स्वयं करते थे। यदि किसी कारण से शंखनाद होने में देर होती और मुखियाजी न आ सकते थे, तो स्वयं स्नान कर सेवा चालू कर दिया करते थे। प्रबन्ध करने और नोकरों-चाकरों की त्रुटि पकड़ने में इतने सतर्क थे कि लोग इनकी इस बात पर आश्चर्य करते थे। इनमें स्वाभाविक कवित्व-शक्ति भी थी। बालकों के लिये इन्होंने एक गीत बनाया था, जो आज भी कांकरोली में बड़े प्रेम से गाया जाता है।

विद्या और सेवा की अभिरुचि

अष्टम वर्ष में ही चि० द्वारकेशलालजी का यज्ञोपवीत-संस्कार कर देने का इनके अभिभावकों का विचार था, पर ज्योतिषियों के कथनानुसार वह दस वर्ष के अनंतर तक टाल दिया गया। क्योंकि इनका यह समय आयुष्य के लिये अनिष्टकारक बतलाया गया था। अस्तु।

पितृ-वियोग

सं० १९७३ आषाढ़ बदी ९ को मथुरा में बाल्यावस्था में ही इनके पितृचरण का गोलोकवास हो गया। जिससे इनकी अभ्युन्नति होने में बहुत कुछ ठेस लगी। अपने पिता की उत्तर क्रिया समाप्त हो जाने पर श्रावण शु० १० को यह कांकरोली आये। इस समय इनकी वय १० के लगभग थी। बाल्यावस्था होने पर भी इन्होंने श्रीप्रभु की सेवा और मंदिर की व्यवस्था पर अच्छा ध्यान देना प्रारंभ किया, जिससे इनसे आगे के लिये बड़ी-बड़ी आशाएँ

बाँधी जाने लगीं। इस समय इनकी मातृश्री का धैर्य, त्याग और सावधानता प्रशंसनीय थी। वे अपनी देख-रेख में समस्त कार्य इनके द्वारा कराने लगीं।

यज्ञोपवीत-संस्कार के अभाव में द्विजत्व-प्राप्ति न होने से यद्यपि श्रीद्वारकेशलालजी इस पीठासन पर अभिषिक्त नहीं हो सके, और इसी कारण महाराणा द्वारा भी राजकीय दस्तूर नहीं किया जा सका, फिर भी पिता के अनन्तर प्राप्त अधिकार से यह इस घर के १२वें तिलकायित माने गए।

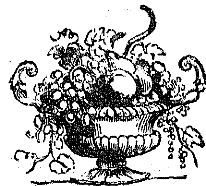
प्रदेश-यात्रा

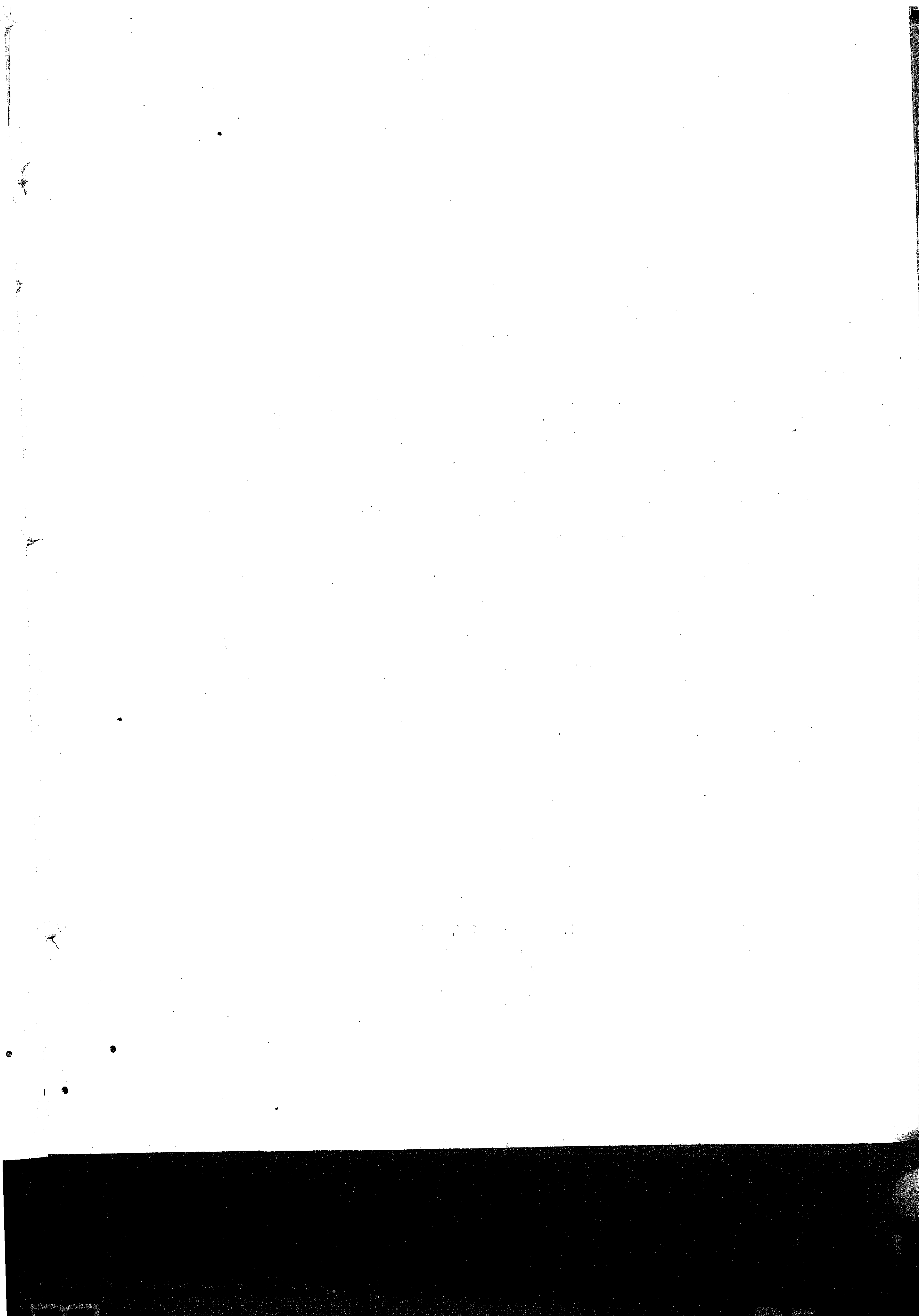
इसी वर्ष माघ शु० १० के दिन द्वारकेशलालजी वैष्णव-समाज के आग्रह एवं आमंत्रण पर गुजरात का प्रदेश करने पधारे और खंभात, नार, तारापुर आदि स्थानों में जाकर वैष्णव-सृष्टि को सँभाला। 'नार' गाम में जब वैष्णवों की एक विशाल धार्मिक सभा इनकी अध्यक्षता में हो रही थी, ये स्वयं भी अपनी शक्ति के अनुसार सिद्धान्तों के ऊपर भाषण देने लगे थे—अतः कुछ उपद्रवी व्यक्तियों ने इनकी बाल्य वय का अनुचित लाभ उठाकर वैष्णवों में असन्तोष पैदा करना चाहा। परन्तु साथ के उपदेशक शास्त्रियों ने उन्हें ऐसा मुँहतोड़ उत्तर दिया, जिससे उन आर्यसमाजियों को विफल-प्रयत्न हो जाना पड़ा। इससे श्रीलालबाबा का जय-जय-नाद होने लगा।

इस प्रकार इस यात्रा द्वारा इन्होंने अपनी छोटी वय में ही कीर्ति-लाभ किया और श्रीद्वारकाधीश की सेवार्थ द्रव्य संग्रह कर ये सं० १९७४ के प्रारंभ में कांकरोली आए।

नित्यलीला-प्रवेश

दैव के विधान से इसी वर्ष (सं० १९७३) इन्हें शीतला का प्रकोप हुआ, जिससे स्वास्थ्य खराब होते-होते अन्त में आषाढ़ कृष्ण १४ सोमवार को इनका भगवल्लीला-प्रवेश हो गया। इनके असामयिक निधन से परिवार और विशेषकर इनकी मातृश्री को जो आन्तरिक विषम वेदना उठानी पड़ी, वह अवर्णनीय थी। एक होनहार प्रतिभा-सम्पन्न बालपीठाधीश्वर के वियोग से वैष्णव-समाज में भी शोक छा गया। इनके अनन्तर इनके भाई गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज सं० १९७६ में तिलकायित-पद पर विराजमान हुए, और इनकी मातृश्री ने सब प्रकार का प्रबन्ध अपने निरीक्षण में चालू किया।







गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज
प्रा० सं० १९६८ फा० कृ० २

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

दशम प्रकरण

(सं० १९७६ से १९९६ वर्तमानकाल)

——:o:——

श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (त्रयोदश ति०)

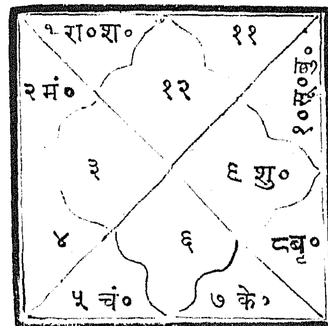
(जन्म-सं० १९६८, ति० सं० १९७६ विराजमान)

——:o:——

जन्म, शिक्षा और संस्कार

गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (च०) का जन्म सं० १९६८ फाल्गुन कृष्ण २ रविवार* के दिन अहमदाबाद में हुआ। आपके पिता श्रीबालकृष्णलालजी महाराज उस समय गुजरात का प्रदेश-भ्रमण करने के कारण वहाँ विराजमान थे। ये उक्त महाराजश्री के तृतीय आत्मज हैं। इनसे प्रथम श्रीद्वारकेशलालजी और श्रीपुरुषोत्तमलालजी दो बड़े भाई विद्यमान थे, और बाद में सं० १९७० माघ कृष्ण ६ के दिन छोटे भाई श्रीविठ्ठलनाथजी का जन्म हुआ। इस जन्मोत्सव के समय अहमदाबाद तथा आस-पास की वैष्णव-सृष्टि में अतिशय आनन्द मनाया गया। जन्मोत्सव के समाचार से कांकरोली में भी उत्साह की लहर दौड़ गई और श्रीद्वारकाधीश प्रभु का मनोरथ किया गया।

सं० १९६९ में इनकी छै मास की वय हो जाने पर महाराज श्रीबालकृष्णलालजी अपनी प्रदेश-यात्रा समाप्त कर भाद्रबदी ६ सोमवार के दिन कांकरोली पधारे। जहाँ जन्म के बाद पहिलेपहिल ही पधारने के कारण पुण्याहवाचन हुआ और नवमी के दिन बड़े उत्साह से आपका अन्नप्राशन संस्कार कराया गया। बालकृष्णलालजी महाराज ने समस्त बालकों के लालन-पालन और शिक्षा आदि की ओर विशेष ध्यान दिया था। पर सं० १९७३ में इनके असामयिक लीला-प्रवेश हो जाने से



* जन्मकुंडली

संवत् १९६८ शाके १८३३ प्रवर्तमाने वर्षे फाल्गुन कृष्ण २ रविवासरे इष्टघटी ६, ४५ सू० ६, २१, २४, ४० लग्न ११, १२, ४८, २७ समये श्रीबालकृष्ण-तृतीयात्मज श्रीव्रजभूषणलालजी जन्म।

व्रजभूषणलालजी महाराज को ४-५ वर्ष की वय तक ही पितृसुख प्राप्त हो सका। इधर सं० १९७४ में बड़े भ्राता श्रीद्वारकेशलालजी का भी दस वर्ष की वय में गोलोकवास हो गया। ऐसी अवस्था में वर्तमान महाराजश्री ही माता श्रीसौंदर्यवती बहूजी महाराज, परिजन, पुरजन एवं वैष्णव-समाज के प्रेम और वात्सल्य के केन्द्र हुए। अतः सभी समुदाय इनकी उन्नति और भावी आदर्शप्राप्ति की आशा बँधाये हुए श्रीप्रभु से इनके चिरंजीवी होने की प्रार्थना करने लगा। यद्यपि इस समय आपके अभिभावक पिता और ज्येष्ठ भ्राता के असामयिक निधन से एक आन्तरिक अशान्ति और चिन्ता व्याप्त हो रही थी, फिर भी आपकी मातृश्री ने अपने पतिवियोग की दारुण व्यथा को हृदय के किसी निभृत कोण में छिपाकर जो धैर्य और गाम्भीर्य प्रकाशित किया, वह एक आदर्श था, और इसका प्रभाव महाराणा फ़तहसिंहजी-जैसे गंभीर प्रकृति के नरेश पर भी पूर्णरूपेण पड़ा था।

ऐसा होने पर भी महाराजश्री की मातृश्री ने इनकी शिक्षा-दीक्षा पर जो ध्यान दिया, वह ऐसी अवस्था और राजवैभव में बहुत कम माताएँ अपनी लाड़ली सन्तान के लिये दिया करती हैं। महाराजश्री की बाल-अवस्था में किसी पुरुष अभिभावक की दृष्टि तो थी ही नहीं, केवल मातृश्री की आन्तरिक दृष्टि और सतर्कता थी। इनके लालन-पालन के लिये बालकृष्णलालजी महाराज के कृपापात्र गिरिराजजी चतुर्वेद नियत थे। वे ही दोनों भाइयों की बाल्यावस्था के खेल-कूद और रहन-सहन में अधिकांश ध्यान दिया करते थे। कहना पड़ेगा कि—इस अवस्था में उक्त स्वर्गीय चौबेजी ने जिस त्याग-भावना और सेवावृत्ति से कष्ट उठाकर सतर्कता रक्खी, वह अपना विशेष स्थान रखती है।

सं० १९७१ माघ शु० १० सोम के दिन महाराजश्री का चौल-संस्कार और अक्षरारंभ का मुहूर्त सम्पन्न किया गया। प्राथमिक अक्षर-परिचयादि की शिक्षा हो जाने पर कुछ समय बाद हिंदी-भाषा के साथ आपके संस्कृताध्ययन के लिये गोधरानिवासी पं० बापूदेव शास्त्री की नियुक्ति की गई, और शब्दरूपावली, अमरकोश आदि प्रारंभिक लघु ग्रंथ पढ़ाए जाने लगे। बाल्यावस्था में ही इनके लिये 'पूत के पाँव पालने'वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। जिससे थोड़े ही वर्षों में महाराजश्री को व्याकरण, काव्य, छन्द आदि विषयों के संस्कृत-ग्रंथ और गणित, भूगोल आदि हिंदी के आवश्यक विषय पढ़ाए जाने लगे।

मुन्सरमात का प्रबंध और सुविधा

महाराज श्रीबालकृष्णलालजी के अनन्तर ही मेवाड़-राज्य के नियमानुसार महाराणा फ़तहसिंहजी ने कांकरोली-ठिकाने पर नाबालिग़ होने के कारण मुंसरमात क़ायम की। इस समय महाराणा ने जिस सौजन्य और सहूलियत से स्थानीय व्यवस्था बँधवाई और समय-समय पर जिन आव-

श्यकताओं की पूर्ति की, उससे उनके गुरुवर के प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव का अपूर्व निदर्शन होता है। महाराणा ने इस समय ठिकाने को पूरा सहारा दिया, और राजकीय कठोर बर्ताव का कभी भी मौक़ा नहीं आने दिया। महाराणा ने बाबू मदनमोहनलालजी और वैद्यराजजी फूल-शंकरजी जैसे योग्य व्यक्तियों को ही इस स्थान पर मुंसरिम बनाकर भेजा, जिन्होंने महा-राजश्री की मातृश्री के निर्देश के अनुसार कार्य किया और उन्हें कोई असुविधा नहीं आने दी। उक्त दोनों ही स्वर्गीय महानुभाव जितने विद्वान्, सरल स्वभाव, साधु प्रकृति के पुरुष थे, उतने ही त्यागी, गंभीर एवं न्यायप्रिय थे।

महाराणा की इस सौम्य दृष्टि का ही परिणाम था कि—महाराजश्री के बाल्य समय में ठिकाना और उसकी प्रजा को न तो किसी अन्याय अथवा कष्ट का शिकार होना पड़ा और न श्रीद्वारकाधीश प्रभु की सेवा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम ही आया। महाराजश्री की इस अल्प-वयस्कता के समय उनकी शिक्षा-दीक्षा पर महाराणा ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। वे योग्यतम तिलकायित बन सकें, इसका सारा उत्तरदायित्व उनकी मातृश्री पर ही छोड़ दिया था।

तिलकायितत्व और यज्ञोपवीत-प्रस्ताव

महाराजश्री के पितृचरण के बाद लगभग एक वर्ष तक इनके बड़े भाई श्रीद्वारकेशलालजी इस पीठ के तिलकायित रहे, पर सं० १९७४ में उनका गोलोकवास हो गया। महाराजश्री की ८ वर्ष की वय हो जाने पर शास्त्रीय नियमानुसार उपनयन का काल आया, जिससे महाराणा ने पूरा सहयोग देकर इस शुभ कार्य को पूरा कराने का प्रबन्ध किया। इधर इस घर के धनी-मानी वैष्णव-समाज ने भी कांकरोली आकर श्रीमाजी महाराज सौन्दर्यवतीजी के आदेशानुसार से सुचारु रूप से उसकी व्यवस्था बाँधी।

सं० १९७६ वैशाख शुक्ल ३ के शुभ मुहूर्त में महाराणा ने भी कांकरोली पधारकर महाराजश्री को तिलकायित की गादी पर विराजमान कर तिलक और भेट का दस्तूर किया। इसके बाद जुलूस के साथ गोशाला के लिये सवारी हुई, जिसमें महाराणा भी सम्मिलित हुए। वैशाख शुक्ल ५ के दिन मंगलमय मुहूर्त में महाराजश्री का उपनयन-संस्कार हुआ, और आपके काका गो० श्रीगिरिधरलालजी महाराज बड़ोदावालों ने गायत्री की दीक्षा दी। इस प्रस्ताव में महाराणा ने बड़े हर्ष से उपस्थित होकर भिक्षा प्रदान करते हुए भक्तिभाव से भेट रक्खी। महाराजश्री के इस उपनयन-संस्कार के उत्सव में कई गोस्वामिबालक, सजातीयवर्ग वृत्तेश्वरी, सेठ-साहूकार, ठिकाने के रावजी, महाराणा के भाईबन्द तथा पंडित, दर्शनार्थी हज़ारों वैष्णव एकत्रित हुए थे। इन सबका समस्त स्वागत-सत्कार का प्रबन्ध संस्थान की ओर से किया गया था, जिसकी आज भी प्रशंसा सुनी जाती है। इस समय सनवाड़-स्टेशन पर उतरकर पैदल रास्ते से कांकरोली आना पड़ता था,

अतः स्टेशन और मार्ग में यात्रियों की सभी सुविधा और रक्षा का प्रबन्ध ठिकाने द्वारा उत्तम ढंग से किया गया था। इस यज्ञोपवीत-प्रस्ताव के समय कांकरोली में महाराजश्री का वरघोड़ा की सवारी निकली, जिसमें अपना राजकीय लवाजमा सम्मिलित कर महाराणा भी महाराजश्री की हाथी की सवारी में उपस्थित हुए।

उपनयन-संस्कार हो जाने के बाद काशीनिवासी पं० काशीनाथजी उपाध्याय ने महाराजश्री को संध्या-वन्दन, नित्यकर्म, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन आदि की शिक्षा दी। यज्ञोपवीत के दिन द्विजत्व संस्कार हो जाने पर महाराजश्री के पितृव्य गो श्रीगिरिधरलालजी महाराज ने श्रीद्वारकाधीश प्रभु के सम्मुख आपको वैष्णव-धर्म ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षा दिया और गोपालमंत्र का अनुष्ठान बतलाया, जिससे वैष्णव-समाज को ब्रह्मसम्बन्ध-दीक्षा देने का अधिकार महाराजश्री को प्राप्त हुआ।

छप्पनभोग का मनोरथ

यज्ञोपवीत-संस्कार के उपलक्ष्य में महाराजश्री की मातृश्री ने श्रीद्वारकाधीश प्रभु का महान् छप्पनभोग करने का विचार किया, जिसमें महाराणा तथा उनके भाई-बन्धु और हज़ारों वैष्णवों को दर्शनों का लाभ मिल सके। अतः इसी वर्ष प्रस्तुत मनोरथ के लिये वैशाख शु० १२ के दिन श्रीप्रभु की सवारी ठाट-बाट के साथ विट्ठल-विलासबाग में पधारी, और वहाँ विविध मनोरथों के बाद ज्येष्ठ कृष्ण ५ के दिन विशाल छप्पनभोग हुआ। उक्त मनोरथ-समारोह के सम्पन्न हो जाने पर ज्येष्ठ कृष्ण ७ को प्रभु की सवारी उक्त बाग से सुन्दर-निवासबाग में पधारी, जहाँ रेवारीजी की ओर से हिंडोले का मनोरथ कराया गया *।

प्रदेश-यात्रा

महाराजश्री के इस प्रकार तिलकायित स्थान पर विराजमान और उपवीत-संस्कार हो जाने से वैष्णव-सृष्टि को बहुत लाभ हुआ। कारण कि बालकृष्णलालजी महाराज के बाद वैष्णवों को ब्रह्मसम्बन्ध-दीक्षा प्राप्त करने की सुविधा नहीं रही थी, अतः अब वैष्णव-समाज महाराजश्री को अपने-अपने प्रदेश में पधारने का आग्रह करने लगा। इधर महाराजश्री के पिताश्री अपने अन्तिम समय में बहुत-सा ऋण छोड़ गये थे, जिसका कारण उनकी अस्वस्थता एवं दानशीलता थी। इसके बाद यज्ञोपवीत-जैसे

---

* यह बाग और यहाँ के माकान इसी वर्ष में बनकर तैयार हुए थे। यहाँ एक सफ़ेद पत्थर का ऊँचा हिंडोला बनवाया गया था। यह बाग और मकान रेवारीजी—बालकृष्णलालजी महाराज के कृपापात्र—ने वैष्णवों से अर्थ-साहाय्य एकत्रित कर बनवाया था। वैशाख कृष्ण १३ को इसकी वास्तु-शान्ति की गई थी।

विशाल समारोह में भी द्रव्य का अधिकांश व्यय हुआ था। अतः इसकी पूर्ति के लिये महाराजश्री अपने भ्राता विट्ठलनाथजी के साथ सर्वप्रथम प्रदेश गये, वैष्णव-वर्ग ने महाराजश्री की स्थान-स्थान पर पधरावनी कर पुष्कल द्रव्य भेट किया और धनी-मानी सेठों ने आवश्यक साहाय्य द्रव्य भेट कर ऋण की चिन्ता से उन्हें उन्मुक्त कर दिया। इस समय महाराजश्री के शुभचिन्तक सेठ डोसाभाई विट्ठलदास, अभिभावक फूफाजी महाराज व्रजनाथलालजी तथा मामाजी महाराज गोपालकृष्णलालजी आदि ने ठिकाने के प्रति बड़ी सावधानी रक्खी और सतत प्रयत्न कर उसे शीघ्र ही किसी आर्थिक संकट से बचा लिया।

यज्ञोपवीत-प्रस्ताव के अनन्तर सं० १९७६ श्रावण शु० ५ के दिन सकुटुम्ब महाराजश्री प्रदेश करने पधारे, और यहाँ वैष्णव-सृष्टि में धार्मिक प्रचार कर कार्त्तिक कृ० ८ को पाटन से कांकरोली आये। इसके बाद अन्नकूट का उत्सव कर मन्दसोर (मालवा) की यात्रा की।

इस समय से महाराजश्री अपनी माता तथा भ्राता श्रीविट्ठलनाथजी के साथ प्रतिवर्ष प्रदेश-परिभ्रमण करने लगे, क्योंकि अपने घर की वैष्णव-सृष्टि को सँभालना, आर्थिक प्रश्न सुलझाना और श्रीप्रभु की सेवा का यथावस्थित क्रम प्रचलित रखते हुए ठिकाने की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना आपके तथा आपके अभिभावकों के सामने सर्वदा से एक समस्या रहती आई है।

जैनियों के मन्दिर का झगड़ा

नित्यलीलास्थ गो० श्रीबालकृष्णलालजी महाराज एक प्रजाप्रिय शासक थे और वे सभी धर्मानुयायियों की धार्मिक भावनाओं को प्रश्रय दिया करते थे। जिसके फलस्वरूप देवस्थान होने पर भी कांकरोली में मुसलमानों को मसजिद बनाने की इजाजत मिल गई थी। इसी तरह कुछ समय बाद कांकरोली-निवासी जैनियों की प्रार्थना पर संस्थान में एक जैन-मंदिर बनवाने की आज्ञा भी नित्यलीलास्थ महाराजश्री ने दी थी। इनके साथ यह शर्त रक्खी गई थी कि—मन्दिर पर न तो शिखर बनाया जाय और न ध्वजा फहराई जाय। इस प्रतिज्ञा के साथ कांकरोली में कुछ वर्ष पूर्व एक छोटा-सा जैन-मन्दिर बनवाया गया और वहाँ नियमानुसार सेवा-पूजा होने लगी।

सं० १९७९ के ग्रीष्मकाल में महाराजश्री बुरहानपुर (मध्यप्रदेश) तथा आस-पास के गाँवों में धर्म-प्रचार करते हुए खँडवा पधारे। इस समय कांकरोली में एक आन्तरिक उपद्रव उठ खड़ा हुआ, जिससे स्थानीय वैष्णव, व्रजवासी और जैनमतावलंबी जनता में पारस्परिक तनातनी बढ़ जाने से राजनैतिक विषम परिस्थिति पैदा हो गई, जो 'घुम्मट का झगड़ा' नाम से प्रख्यात हुई। जिसका वृत्तान्त इस प्रकार सुना जाता है—

महाराजश्री की अनुपस्थिति और बाल्यावस्था का अनुचित लाभ उठाने के लिये कुछ जैन-मतानुयायियों में भीतर ही भीतर विचार होने लगा कि—मंदिर का शिखर बनाकर ध्वजा चढ़ा देनी चाहिये। फलतः जाति एकत्रित कर किसी उत्सव के बहाने कांकरोली में जैनियों का विशाल समुदाय एकत्रित हुआ, और रात्रि में ही शिखर बनाकर ध्वजा चढ़ा लेने का प्रबन्ध कर डाला गया। सहसा एक दिन प्रातःकाल व्रजवासियों ने देखा, तो जैन-मंदिर पर शिखर बनाकर ध्वजा चढ़ाने की तैयारी की जा रही थी।

श्रीद्वारकाधीश के साथ व्रज से आये हुए व्रजवासियों की जाति अपनी प्राचीन मर्यादा की रक्षा और ठिकाने की आन रखने के लिये सदा से प्रसिद्ध है। राज्यकर्मचारियों की ओर से जब तक प्रस्तुत विषय में कुछ कार्यवाही हो, कुछ उपद्रवियों ने बिना परिणाम सोचे एक दम हल्ला बोलकर जैन-मंदिर पर जाकर उसका शिखर और ध्वजा, पताका, तोरण, बन्दवार आदि तोड़ना और लूटना शुरू कर दिया। इधर परस्पर के मनोमालिन्य, आपस की मारामारी-हाथापाई के अशान्तिमय समय में किसी कलहप्रिय मनुष्य ने मंदिर में प्रतिष्ठापित पारसनाथजी की मूर्ति भी ग़ायब कर दी, जिससे जैनियों में खलबली मच गई और बड़े भारी उत्पात की आशंका आ खड़ी हुई। स्थानीय कर्मचारियों के आवश्यक रोकथाम करने पर भी हुल्लड़शाही बढ़ती गई और जैनियों की ओर से द्वारकाधीश के मंदिर पर धावा बोले जाने की अफ़वाह सुनाई पड़ने लगी।

इस आन्तरिक विग्रह का समाचार महाराजश्री के पास खँडवा भेजा गया। महाराणा ने भी सूचना पाते ही आवश्यक सेना-बल भेजकर मंदिर की रक्षा का प्रबंध कर दिया और जैनमंदिर को राज्य के नियन्त्रण में ले लिया। शीघ्र ही महाराजश्री के कांकरोली आ जाने पर उदयपुर से एक कमीशन आया और जाँच-पड़ताल की जाने लगी। इस विषय में गुरुभक्ति के ख़याल से महाराणा कहीं पक्षपात न कर बैठें—इस प्रकार की आशंका से जैनियों ने उनकी न्यायप्रियता से विश्वास उठाकर चारों ओर तार भेजकर जैन-समाज में खलबली मचा दी। इन्दौर के सेठ सर हुकुमचन्द-जैसे धनी-मानी व्यक्ति भी यथेच्छ धन ख़र्च करके इसका आवश्यक प्रतीकार करने को सन्नद्ध हो गये, और जैनियों की स्पेशल ट्रेन आने का इंतिज़ाम होने लगा। पर महाराणा ने संघर्ष बढ़ जाने की आशंका से उन सबका मेवाड़ में आना रोक दिया।

इस उत्तेजना का एक कारण यह भी था कि—जैनियों में इस प्रकार का भ्रम फैल गया था कि—कांकरोली के समीप रायसागर के किनारे, पहाड़ी पर बना हुआ पुराना जैनमंदिर तोड़ा गया है, जिसे दयालशाह ने सं० १७३२ के लगभग बनवाया था। पर जाँच करने पर विदित हुआ कि—यह ग़लत है, कांकरोली के निवासी जैनियों ने ही अपनी शर्त तोड़कर एक नये मंदिर में शिखर बनाया और ध्वजा चढ़ाई थी।

इस वास्तविक रहस्य के प्रकट हो जाने पर वातावरण शान्त हो गया, और बाह्य जैनसमाज की लुब्ध वृत्ति शान्त हो गई। इधर आये हुए कमीशन ने जाँच कर उपद्रवियों पर मुक़दमा चलाया, जो कई वर्षों तक चलता रहा। अन्त में वर्तमान महाराजश्री के पुत्र-प्राकट्य के हर्ष में सं० १९९४ में जैन प्रजा के आपसी समझौता कर लेने से महाराणा भूपालसिंहजी ने उसे उठा देने की तजवीज कर दी है, ऐसा सुना जाता है। इस प्रकार सं० १९७९ से चले हुए इस विषम वातावरण के सं० १९९४ में शान्त हो जाने पर कांकरोली की उभयविध जनता में फिर से सद्भाव और प्रेम का प्रचार हो गया है।

विवाह-प्रस्ताव

सं० १९८० चैत्र शुक्ल ११ के दिन लघुभ्राता श्रीविट्ठलनाथजी के यज्ञोपवीत-संस्कार के अनन्तर महाराज श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज का विवाह-प्रस्ताव नाथद्वारा के तिलकायित श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज के आग्रह से उनकी दौहित्री के साथ निश्चित किया गया। इस समय महाराजश्री की वय यद्यपि १२ वर्ष की थी, और उनका विद्याध्ययन का क्रम प्रचलित था, तथापि मातृश्री के वात्सल्य और नाथद्वाराधीश के अतिशय आग्रह से यह मंगलमय प्रस्ताव निश्चित हो गया और बड़े साज और रंग-ढंग के साथ इसकी तैयारियाँ की जाने लगीं।

सं० १९८० वैशाख शुक्ल ४ के दिन नाथद्वारा में महाराजश्री का विवाह वागरोदी व्रजभूषणलालजी जयपुर-निवासी की आयुष्मती कन्या से सम्पन्न हुआ। जिसमें वैष्णव-सृष्टि का विशाल समुदाय इस शुभ प्रस्ताव का आनन्द लेने के लिये कांकरोली और नाथद्वारा में एकत्रित हुआ। इस समय गोवर्द्धनलालजी महाराज और महाराजश्री की मातृश्री ने मन खोलकर इस शुभ प्रस्ताव को सम्पादित किया, और आगत समाज का स्वागत तथा प्रबन्ध किया।

शास्त्रियों की नियुक्ति और अध्ययन

इसी समय के लगभग महाराजश्री के अध्यापक पं० बापूदेव शास्त्री के कार्यवश कांकरोली छोड़कर अपने स्थान पर चले जाने और महाराजश्री के प्रौढ़ अध्ययन की आवश्यकता होने से प्रतापगढ़-निवासी पं० जगन्नाथ शास्त्री काव्यतीर्थ की नियुक्ति की गई। कुछ समय के अनन्तर प्रतापगढ़ के नरेश द्वारा आह्वान आ जाने पर जब यह भी चले गये, तब संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् विद्याभूषण दतिया-निवासी पं० बालकृष्ण शास्त्रीजी की नियुक्ति हुई। जिन्होंने दोनो भाइयों को साम्प्रदायिक पद्धति और सिद्धान्त की शिक्षा देते हुए उनकी दैनिक चर्या का भी क्रम बाँधा। लगभग तीन वर्ष तक अध्यापन का कार्य करने के बाद वृद्धावस्था एवं प्रदेश के सतत भ्रमण की असामर्थ्य से उन्हें भी इस स्थान को छोड़कर जाना पड़ा। यद्यपि महाराजश्री की

मातृश्री ने उनका केवल निरीक्षण ही पर्याप्त समझा था, पर दतिया-नरेश श्रीगोविन्दसिंहजी के आग्रह के कारण वे यहाँ निवास न कर सके।

संयोगवश सं० १९८१ के प्रारंभ में महाराजश्री तथा उनकी मातृश्री के समक्ष इस इतिहास के लेखक का परिचय हुआ। फलतः पं० बालकृष्ण शास्त्रीजी के छुट्टी लेकर घर जाने के समय दो-तीन मास के लिये महाराजश्री के अध्यापक-पद पर इस व्यक्ति की नियुक्ति की गई। आगे चलकर कुछ ऐसा संयोग जुड़ा कि उपदेश, व्याख्यान और अध्यापन की शैली तथा नियमित दिनचर्या आदि की व्यवस्था से सन्तुष्ट होकर महाराजश्री की मातृश्री ने सर्वदा के लिये महाराजश्री के समीप शास्त्री रूप में इस व्यक्ति की स्थायी नियुक्ति कर दी। कहना न होगा कि—महाराजश्री तथा उनके भ्राता दोनों की विद्याभिरुचि और अभिभावकों की सतर्क-पूर्ण देखरेख से ऐसा फल हुआ, जिससे महाराजश्री की विद्वत्ता की चारो ओर प्रशंसा होने लगी। साम्प्रदायिक तत्त्वज्ञता, व्याख्यान-शैली और व्यवहार-दक्षता आदि सभी गुणों में महाराजश्री ने अपनी छोटी वय से ही योग्यता व्यक्त की, जिससे वे समय पर एक आदर्श न्यायप्रिय, विद्याकला-प्रेमी, उत्तम उपदेष्टा और व्यवहारकुशल विद्वान् और संस्थान के योग्य तिलकायित हो सके। 'मयूर की सन्तति निसर्ग से ही चित्रित हुआ करती है, उसके लिये केवल समय की आवश्यकता होती है', बस यही बात महाराजश्री के लिये चरितार्थ हुई। उनको शिक्षा-दीक्षा आदि के लिये किसी निमित्त की आवश्यकता थी, जिसे पाकर समय ने उन्हें स्वयं योग्यता के सिंहासन पर विराजमान कर दिया।

महाराजश्री और उनके भ्राता की अध्ययन-क्रम की विभिन्नता प्रतीत होने पर सं० १९८२ में किसी द्वितीय सहकारी अध्यापक की आवश्यकता होने लगी। परिणामतः महाराजश्री के मातुलवर्य करंजी श्रीगोपालकृष्णलालाजी महाराज के परामर्श से छै मास के लिये मथुरानिवासी पं० गोपालजी चतुर्वेद की नियुक्ति की गई, और इनके बाद सं० १९८३ में धाफानिवासी पं० जटाशंकर शास्त्रीजी को नियुक्त किया गया।

इस समय से उक्त शास्त्रीजी को महाराजश्री के छोटे भ्राता विट्ठलनाथजी का और इस लेखक को महाराजश्री के अध्यापन का पृथक्-पृथक् भार सौंपा गया, और साथ ही प्रतिवर्ष होनेवाले प्रदेश-परिभ्रमण में महाराजश्री के द्वारा धार्मिक उपदेश, कथा, प्रवचन आदि की व्यवस्था की गई।

सं० १९८५ ईस्वी सन् १९२८ में महाराजश्री ने मथुरा जाकर बनारस-गवर्नमेन्ट-संस्कृत-कालेज की व्याकरण-प्रथमा परीक्षा देकर अच्छे नंबरों से उत्तीर्णता प्राप्त की। यद्यपि पीठाधीश्वर की इस प्रकार परीक्षा देने की नवीनता के कारण कई हितचिन्तक कुमन्य

समीपवर्ती महानुभावों ने इसका विरोध किया, फिर भी अभिभावकों की निश्चल वृत्ति से इसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम न होने पाया। महाराजश्री ने मथुरा हाईस्कूल-केन्द्र में अपने साथ परीक्षा में बैठनेवाले सभी छात्रों को अधिकारी लज्जाशंकरजी के द्वारा पारितोषिक रूप में प्रसाद और द्रव्य बाँटकर अपनी विद्याभिरुचि का परिचय दिया।

इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के बाद महाराजश्री ने व्याकरण-मध्यमा और शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तों के आकर ग्रंथों का अध्ययन किया। इसके साथ में गणित, इँगलिश, हिंदी-साहित्य आदि का अध्ययन कर अन्य सर्वविध आवश्यक परिज्ञान प्राप्त किया।

प्रदेश-परिभ्रमण

सं० १९८१ के शीतकाल और सं० ८२ के ग्रीष्मकाल में महाराजश्री ने कृष्णगढ़, बीकानेर, साँभर, डाकोर, उमरेठ, ठासरा और नन्दीसर तथा सोवालिया और वाडासीनोर की यात्रा और प्रदेश किया। जहाँ आपने धार्मिक जागृति उत्पन्न कर वैष्णव-सृष्टि को सँभाला। स्थान-स्थान पर जनता ने आपका भव्य स्वागत किया और घर-घर पधरावनी आदि कर श्रीप्रभु की सेवार्थ द्रव्य भेंट किया।

सं० १९८३ में महाराजश्री प्रदेश करने बोरसद, बहादरपुर, संखेडा आदि स्थानों में गये, जहाँ वैष्णव-समाज ने आपका जुलूस निकालकर स्वागत किया और कई दिनों तक अपने-अपने स्थानों पर निवास कराकर कथा, उपदेश, व्याख्यानादि का लाभ लिया। इसी वर्ष बहादरपुर में वहाँ की जनता ने श्रीद्वारकाधीश के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया, जिसमें लगभग ७५ हजार रुपया लगाकर उसे भव्य और विशाल बनवाकर महाराजश्री की आज्ञा से उसकी स्थायी व्यवस्था की। वैशाख शु० १५ के दिन नवीन मंदिर में श्रीप्रभु के पधराने का उत्सव महाराजश्री के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। बड़े ठाटबाट से प्रभु की नगर में सवारी निकाली गई और आस-पास से आये हुए हजारों व्यक्तियों को महाप्रसाद लिवाया गया।

इस वर्ष के भाद्रपद मास के अन्त तक बड़ौदा, भरूच, सोजीत्रा, बसो और उसके आस-पास के छोटे-छोटे गामों में पधारकर महाराजश्री ने धार्मिक उपदेश देकर हजारों नर-नारियों को वैष्णव-धर्म की दीक्षा दी। अन्त में वैष्णवों द्वारा समर्पित सेवा ग्रहण कर कार्त्तिक के प्रारंभ में वे कांकरोली आये। इसी वर्ष पौष मास में सूरत में गो० श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज के द्वि० पुत्र चि० मधुसूदनलालजी का यज्ञोपवीत-प्रस्ताव और नाथद्वारास्थ गो० श्रीदामोदरलालजी महाराज के सभापतित्व में सम्पन्न हुए 'बालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा' के अधिवेशन में महाराजश्री अपने विद्वानों के साथ सम्मिलित हुए।

सं० १९८४ के ग्रीष्म-ऋतु में महाराजश्री ने बंबई, औरंगाबाद, बीजापुर, बड़नगर वीस-नगर, अहमदाबाद आदि स्थलों के आस-पास प्रदेश किया। औरंगाबाद के पास उन्होंने

प्राचीन विशाल पर्वतीय गुफाओं का निरीक्षण किया और अपने ऐतिहासिक ज्ञान की अभिवृद्धि की। इसी समय से महाराजश्री को ऐतिहासिक गवेषणा और प्राचीन वस्तु-संकलन से प्रेम हो गया, जिसके कारण अब से प्रत्येक प्रदेश में प्राचीन चित्र, पुस्तक, मूर्तियाँ, मुद्रा और दर्शनीय वस्तुओं का संग्रह किया जाने लगा है।

बड़नगर में प्राचीन मन्दिर के स्थान पर एक सुन्दर नवीन मन्दिर बनवाया गया, और वैशाख शु० ६ के दिन उसके उद्घाटन तथा श्रीप्रभु के पधराने का उत्सव महाराजश्री ने सम्पादित किया। इन सब स्थानों में इसी घर के मन्दिर कुछ प्राचीन काल और कुछ वर्तमान काल में प्रतिष्ठित किये गये हैं, जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है। इस प्रदेश में भी महाराजश्री ने जनता में धार्मिक जागृति पैदा की। अब हम आगे प्रत्येक प्रदेश-यात्रा की इस धार्मिक जागृति और प्रचार का उल्लेख न कर विशेष स्थलों का ही वर्णन करेंगे। इसी प्रकार महाराजश्री की प्रायः प्रत्येक वैष्णव के घर पधरावनी, उनके प्रति स्वागत, भक्तिभाव, आदर-सत्कार का भी विशेष वर्णन न किया जा सकेगा। प्रदेश के प्रत्येक स्थल में जहाँ निवास होता है, कहीं-कहीं तो दिन में पचीस-पचीस और पचास-पचास घरों में प्रतिदिन महाराजश्री की पधरावनी की जाती है, क्योंकि प्रत्येक शिष्य अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने घर पर उन्हें पधराकर उसे पवित्र कराना चाहता है। कई स्थानों पर तो महाराजश्री का दिन-भर एक ही घर में सकुटुम्ब सपरिकर निवास होता है, जिसे साम्प्रदायिक परिभाषा में "तपेली अरोगना" कहते हैं। महाराजश्री और उनके परिकर के भोजनादि हो जाने पर घर का स्वामी श्रद्धा के साथ उनकी पधरावनी करता और भेट चढ़ाता है, तथा समस्त परिकर को यथायोग्य वस्त्रादि से पुरस्कृत करता है। अस्तु।

इसी वर्ष कालोल, हालोल आदि का प्रदेश हुआ। हालोल में भी द्वारकाधीश के प्राचीन मन्दिर के स्थान पर विशाल नया मन्दिर बनाया गया, जिसमें महाराजश्री ने बड़े जुलूस के साथ प्रभु को पधराकर विराजमान किया।

मथुरा में श्रीराजाधिराज (श्रीद्वारकाधीश) के मन्दिर में श्रावण मास में हिन्डोले के समय अच्छी धूमधाम रहती आई है। वहाँ लाखों यात्री जाकर प्रभु के दर्शन करते हैं। मथुरा में यही एक स्थान ऐसा है, जिससे नगरी की शोभा और प्रतिष्ठा है। इस वर्ष सुवर्ण के हिन्डोले का विशेष आयोजन हुआ था। प्रारंभ से लेकर इस समय तक मन्दिर में विशाल सम्पत्ति होते हुए भी सोने का हिन्डोला नहीं था, पर अधिकारीजी लल्जाशंकरजी के सुप्रबन्ध के कारण ऐसा सौकर्य प्राप्त हुआ, जिससे उनके आग्रह पर महाराजश्री ने इस त्रुटि को भी पूर्ण किया। यह सोने का हिन्डोला

राजाधिराज का सुवर्ण-हिन्डोला-महोत्सव

डेढ़ लाख रुपये की लागत का बंबई में तैयार कराया गया और इस वर्ष श्रावण मास के प्रारंभ से इसे प्रभु के विनियोग में लाया गया। सं० १६८४ आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन महाराजश्री सकुटुम्ब हालोल मुक़ाम से इस मनोरथ को सम्पन्न करने मथुरा पधारे।

मथुरा पधारने पर राजाधिराज के सेठों, नागरिकों और राज्यकर्मचारियों के द्वारा महाराजश्री का स्वागत किया गया और जुलूस के साथ उनको मंदिर ले जाया गया। श्रावण कृष्ण प्रतिपद् से ही बड़े साजबाज के साथ सोने के हिंडोले का मनोरथ हुआ, जिसमें लगभग २० हज़ार दर्शनार्थियों ने दर्शन किए। यहाँ रहते समय महाराजश्री ने स्थानीय विद्वानों का आमन्त्रण कर मंदिर में एक विद्वत्सभा की। विद्वानों की शास्त्रचर्चा सुनकर स्वयं उन्होंने अपने हाथ से दक्षिणादि से उनका सम्मान किया। इसी समय मंदिर के अधिकारी पं० लज्जाशंकरजी ने व्यक्तिगत रूप से महाराजश्री को एक अभिनंदन-पत्र भेट किया। दो-तीन दिन मंदिर के विशाल चौक में सार्वजनिक धार्मिक सभाएँ हुईं, जिसमें महाराजश्री तथा विद्वानों के भाषण हुए।

इस उत्सव के अनन्तर श्रावण बदी १० के दिन महाराजश्री मथुरा से कांकरोली जाते समय

कृष्णगढ़-नरेश द्वारा सम्मान

यात्रा-विश्राम के लिये महाराजा-कृष्णगढ़ के अत्यन्त आग्रह से कृष्णगढ़ उतरे। महाराजा श्रीयज्ञनारायणसिंहजी ने स्टेशन पर उपस्थित होकर स्वागत किया और स्वयं छत्र लेकर महाराजश्री के पीछे चौकड़ी में बैठकर उनका शहर में जुलूस निकाला। इस गुरुभक्ति को देखकर नगर-निवासी जन तथा यात्रीगण चकित रह गए। यह महाराजा परंपरा से कट्टर वैष्णव हैं। इनके यहाँ राजमहल के मंदिर में जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य का वह प्राचीन चित्र विराजमान है, जो सिकन्दर लोदी की आज्ञा से 'होनहार' चित्रकार ने बनाया था।

कृष्णगढ़ के मंदिर तथा प्राचीन भवनों का स्वयं निरीक्षण कराकर महाराजा ने राजमहल में बड़ी सजावट कर महाराजश्री की पधरावनी की और श्रद्धा के साथ उनके चरणों को केशर-मिश्रित जल से अभिषेक कराकर महाराजश्री का तिलक, माला, आरती और भेट आदि के द्वारा पूजन किया। इसके अनन्तर महाराजश्री तथा उनके दोनों विद्वानों का धार्मिक उपदेश और व्याख्यान हुआ। अन्तिम दिन बिदा होते समय महाराजा-कृष्णगढ़ ने महाराजश्री तथा उनके विद्वानों तथा परिकर का यथायोग्य सत्कार किया।

सं० १६८४ के शीतकाल में महाराजश्री प्रदेश करते हुए सोजीत्रा, भादरवा आदि ग्रामों में पधारे, जहाँ धार्मिक प्रचार कर द्वा० पुस्तकालय की स्थापना की। चैत्र बदी २ को अहमदाबाद जाकर ठाकुरजी श्रीनटवरलालजी श्यामलालजी के नए मन्दिर में पधराने के उत्सव-समारोह

में महाराजश्री सम्मिलित हुए। यह मन्दिर बड़ी लागत से गो० श्रीरणछोड़लालजी महाराज ने बनवाया था। यहाँ कुछ दिनों निवास हो जाने पर बंबई की यात्रा हुई।

विद्या-विभाग की स्थापना

महाराजश्री ने कांकरोली तथा वैष्णव-सृष्टि में धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार एवं विद्या के विस्तृत विकास के लिये 'विद्या-विभाग' की स्थापना की, और सं० १९८५ संवत्सरोत्सव के दिन नियमित लिखित आज्ञा प्रदान कर उसके संचालन के लिये अपने दोनो शास्त्रियों को अधिकार प्रदान किया। महाराजश्री तथा उनकी मातृश्री की आज्ञा तथा उत्साहवर्धन से विद्या-विभाग कांकरोली ने अपने गत बारह वर्षों के स्वल्प समय में जो उन्नति की है, उसका परिचय और कार्य-विवरण पृथक् प्रकाशित किया गया है। संक्षेप में विद्या-विभाग ने कई स्थानों पर पाठशाला, पुस्तकालय, स्वयंसेवक-मंडल आदि की स्थापना कर सतत सामाजिक एवं धार्मिक उन्नति के साथ शिक्षा के प्रचार में अच्छा क़दम बढ़ाया है। इसी प्रकार संस्थान, जनता की सार्वदेशिक उन्नति तथा कांकरोली आनेवाले यात्री-समाज के ज्ञान-संवर्द्धन के लिये पूर्ण प्रचार किया है। फल-स्वरूप श्रीद्वारकेश-पुस्तकालय, श्रीद्वा०चित्रशाला, श्रीद्वा०व्यायामशाला, श्रीद्वा०विश्ववस्तु-संग्रहालय, श्रीद्वा०कविमंडल, श्रीबालकृष्ण-विद्याभवन आदि दर्शनीय एवं उपयोगिनी कई संस्थाओं की स्थापना इसके द्वारा की गई है, और प्राचीन संस्कृत और हिन्दी-साहित्य की रक्षा अथच प्रकाशन के लिये सरस्वती-भंडार को सुव्यवस्थित कर श्रीद्वा०ग्रन्थमाला का आयोजन किया गया है।

कहने का तात्पर्य यह कि—महाराजश्री ने अपनी विद्याभिरुचि से इसको अपनी जोड़ की एक ही संस्था बनाई है, जो प्रतिदिन अपनी ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करती चली जाती है। क्या भारतीय, क्या पाश्चात्त्य विद्वान् सभी ने—जिन्होंने इसका निरीक्षण किया है, इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अच्छे अभिमत अभिप्राय लिखे हैं *।

शास्त्रार्थ-प्रसंग और धर्म-प्रचार

सं० १९८५ के आषाढ़ मास में जब महाराजश्री धार्मिक प्रचार करते हुए मध्यप्रदेश बुरहानपुर गये, तब वहाँ के वैष्णवसमाज ने उनका स्वागत और सत्कार कर अपनी दृढ़ भक्ति का पूर्ण परिचय दिया। यहाँ धार्मिक सभाओं की बहुलता से चिढ़कर आर्यसमाज ने विद्या-विभाग के शास्त्रियों के साथ शास्त्रार्थ छेड़ दिया, जिसमें कई दिनों तक दोनों ओर से अपने-अपने सिद्धान्त-प्रचार की चर्चा चलती रही। अन्त में आर्यसमाज प्रत्यक्ष शास्त्रार्थ करने में आनाकानी कर गया और उसका

* विशेष परिचय के लिये देखो प्रकाशित विद्याविभाग का कार्य-विवरण।

वातावरण व्याख्यानों द्वारा ही समाप्त हो गया, * इसके प्रथम बंबई के आर्यसमाज से भी विद्याभूमि का शास्त्रार्थ का प्रसंग आ चुका था, और बाद में डभोई में सार्वजनिक सभा में भी कुछ रामानुजसम्प्रदायानुयायियों के साथ भी। पर वह सब अविरोधी धार्मिक प्रचार के द्वारा शांत कर दिया गया। इस प्रकार महाराजश्री ने अपने यात्रा-प्रसंग में स्वयं और अपने शास्त्रियों द्वारा धार्मिक समाज में फैलनेवाले भ्रम को दूर किया और उसके लिये स्थान-स्थान पर शिक्षा-प्रसार की योजना को प्रचारित किया।

बुरहानपुर में आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ के प्रसंग एवं धर्म के प्रचार से सनातन-धर्मजगत् को महाराजश्री की धर्म-प्रचार की अभिरुचि का परिचय मिल गया था, अतः वहाँ से जब खंडवा जाकर व्याख्यान दिये गये, तो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इसके संवाद छपने लगे, जिससे महाराजश्री के लिये जनता की श्रद्धा, भावना की वृद्धि होने लगी।

द्वि० श्रावण में जनता के आग्रह पर महाराजश्री इन्दौर गये, जहाँ जनता के उत्साह ने मूर्तिमान् रूप धारण कर उनका भव्य स्वागत किया। जितने दिन वहाँ निवास हुआ, धार्मिक सभाओं में व्याख्यानों का ताँता-सा लग गया। हज़ारों वैष्णवों ने महाराजश्री से वैष्णव-धर्म की दीक्षा ली और अपने घर उनकी पधरावनी की।

इस प्रकार धार्मिक प्रचार की आवश्यकता और महाराजश्री की अभिरुचि को देखकर इन्दौर-निवासी जनता में नया उत्साह भर गया। परिणामतः स्थानीय 'सनातनधर्मसंरक्षिणी' सभा ने टाउन हॉल में एक विशाल सभा का आयोजन कर महाराजश्री और उनके शास्त्रियों के व्याख्यान कराए। इस सभा का आयोजन प्रसिद्ध वैद्यराज पं० ख्यालीरामजी के द्वारा किया गया था। व्याख्यान के बाद स्थानीय जनता की ओर से उक्त सभा ने महाराजश्री को एक सुन्दर अभिनन्दनपत्र भेट किया, और नगर में उनका अभूतपूर्व जुलूस निकाला। जिसमें राज्य की ओर से लवाजमा और सवारियों का प्रबन्ध किया गया था, जिसके लिये श्रीचिम्मनलाल नानाभाई शाह का—जो आगे चलकर कुछ वर्ष तक कांकरोली के अधिकारी रहे थे—विशेष परिश्रम और दौड़-धूप सराहनीय थी। जिस मार्ग से सवारी निकाली गई, उसमें स्थान-स्थान और दूकानों पर महाराजश्री का जनसमूह ने सत्कार किया और उनकी जय बोलकर अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट की। इस सभा के अनन्तर महाराजश्री ने स्थानीय ब्रह्मचर्याश्रम को आवश्यक अर्थसाहाय्य प्रदान किया, और वहाँ विद्वानों का सत्कार किया।

इन्दौर से यात्रा करने के लिये महाराजश्री उज्जैनपुरी गये, और वहाँ विधिपुरस्सर तीर्थ-यात्रा कर सभाओं में धार्मिक उपदेश देकर वैष्णवसमाज की प्रार्थना पर डभोई पधारे।

* विशेष परिचय के लिये देखो वि० वि० प्रकाशित शास्त्रार्थ।

वहाँ की जनता ने भी अतिशय आह्लाद के साथ स्वागत किया और महाराजश्री के धर्मोपदेश से लाभ उठाया। यहाँ की सभा में कुछ रामानुजसम्प्रदाय के अनुयायियों में भ्रमात्मक धारणा फैल गई थी, जिसे व्याख्यानों द्वारा दूर किया गया। प्रायः डेढ़ मास निवास कर यहाँ से महाराजश्री अपनी इस वर्ष की यात्रा समाप्त कर कांकरोली पधारे।

काशी का ब्राह्मण-महासम्मेलन

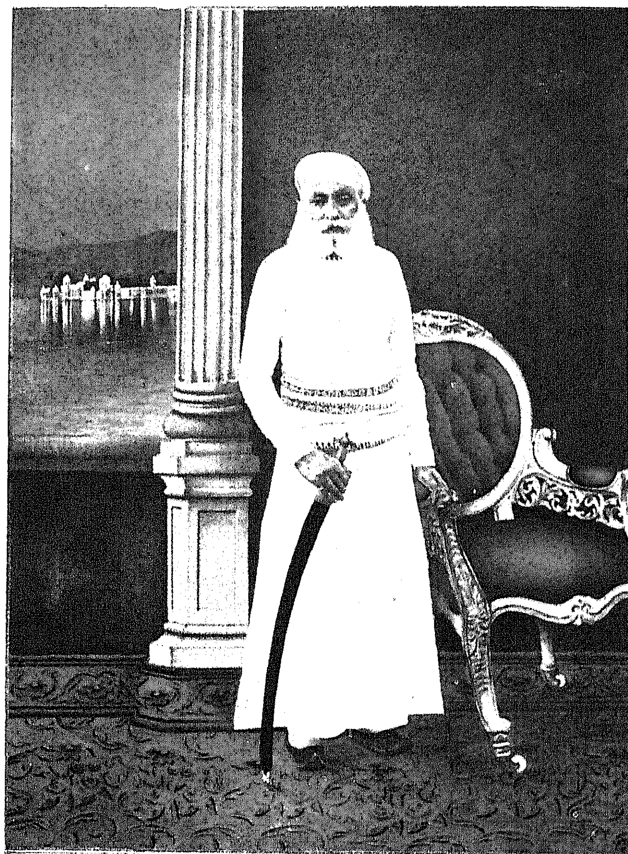
सं० १९८५ में काशी में धर्मप्राण पं० लक्ष्मणशास्त्रीजी द्राविण के अथक प्रयत्न और त्यागभावना के फलस्वरूप 'अखिल भारतवर्षीय ब्राह्मण-महासम्मेलन' के प्रथमाधिवेशन का आयोजन किया गया। इस समय धार्मिक कई समस्याएँ ऐसी उलझी हुई थीं, जिनके लिये समस्त भारतवर्ष के विद्वत्समाज का एकमत होकर निर्णय देना आवश्यक था।

इस संगठन में सबसे बड़ी समस्या थी, धर्माचार्यों का सम्मान-पूर्वक एकत्र सम्मिलन। पर यह उग्र तपस्वी, निःस्वार्थ धर्म-सेवक नीतिचतुर उक्त शास्त्रीजी का ही प्रयत्न था, जो इतिहास में ऐसा अभूतपूर्व समारोह किया जा सका। इसी के फल-स्वरूप चारों सम्प्रदायों के आचार्य और गद्दीधर महन्त तथा प्रख्यातनामा प्रायः सभी विद्वान् काशी में एकत्रित हुए, और धर्म-प्रचार के प्रेमी काशी-नरेश, दरभंगा-नरेश और कृष्णगढ़-नरेश आदि नृपतियों ने स्वयं उपस्थित होकर उसमें आवश्यक भाग लिया।

आमन्त्रण आने पर नाथद्वारा से तिलकायित श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज के प्रतिनिधि-स्वरूप उनके पुत्र श्रीदामोदरलालजी महाराज और कांकरोली से व्रजभूषणलालजी महाराज वल्लभाचार्य-सम्प्रदाय के आचार्य-स्वरूप में विजया दशमी के दिन प्रस्थानित हुए, और स्पेशल ट्रेन से मार्ग में प्रयाग में सविधि तीर्थस्नान करते हुए काशी पहुँचे। स्वागत-सभा की ओर से नगर में उनका बड़ा भारी जुलूस निकाला गया, जिसमें दामोदरलालजी महाराज के साथ नाथद्वारा से आये हुए घुड़-सवारों और सिपाहियों की तड़क-भड़क एवं शान-शौकत देखने लायक़ थी।

महासम्मेलन के खुले अधिवेशन के पूर्व तीन दिन तक विद्वानों की विचार-सभा हुई, जिसमें समयोचित प्रश्नों के लिये शास्त्रार्थ रूप से निर्णय तैयार किया गया। इस समय सभी आचार्यों एवं पंडित-समाज ने सहयोग देकर एक धर्मशास्त्रीय व्यवस्था लिखकर प्रकाशित की। कार्त्तिक कृष्ण ९, १०, ११ इन तीन दिनों तक विशाल अधिवेशन हुआ, जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती। वेद भगवान् की अनुपम सवारी और धर्माचार्यों के भव्य जुलूसों ने काशी नगरी में एक बार फिर प्राचीन धर्मप्रियता का दृश्य दिखला दिया। इस विद्वत्समवाय में म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री, म० म० हाराणचन्द्र शास्त्री, म० म० पंचाननतर्करत्न एवं म० म० लक्ष्मण शास्त्री और उनके सुपुत्र राजराजेश्वर शास्त्रीजी विद्वद्वर की भाषण-शैली के साथ सर्वशास्त्र की पारंगतता

[illegible]



श्रीमन्महाराणा मेदपाटेश्वर स्वर्गीय

श्री फतहसिंहजी महोदय ।

उदयपुर (मेवाड़)

श्री महेश प्रिंटिंग प्रेस–नाथद्वारा (मेवाड़)

दर्शनीय थे। सम्मेलन में उपस्थित प्रखर विद्वानों की सौजन्य-पूर्ण प्रकृति, सादी वेश-भूषा तथा अविच्छिन्न संस्कृत-भाषा का सप्रमाण धारावाहिक भाषण भारत की गौरव-वृद्धि करता था। इस अभिनव एवं अभूतपूर्व समारोह में सम्मिलित होकर महाराजश्री को भारत के प्रायः सभी प्रखर विद्वानों के परिचय एवं दर्शन का अवसर मिला। इस सम्मेलन के अनन्तर फिर ऐसे दर्शनीय समारोह का अवसर नहीं आया, और न निकट भविष्य में उसके आने की संभावना ही है। अस्तु।

इस समारोह के अनन्तर काशी-निवासी जनता ने सभी धर्माचार्यों का यथायोग्य सत्कार किया, और वैष्णव-धर्म के अनुयायियों ने अपने सम्प्रदाय के अधिपति श्रीदामोदरलालजी महाराज तथा व्रजभूषणलालजी महाराज को अपने-अपने घर पधराकर सम्मानित किया। महाराजा हथुवा-नरेश ने रात्रि के दो बजे अपने स्थान पर बड़े सत्कार के साथ पधरावनी की, जो समय की विभिन्नता से अपना विशेषत्व रखती थी।

उदयपुर में राज्य-सम्मान

सं० १९८६ आश्विन शुक्ल ४ के दिन स्व० महाराणा फ़तहसिंहजी के आमंत्रण पर महाराजश्री नाथद्वारा, एकलिंगजी होते हुए उदयपुर पधारे। नगर से लगभग ३ माइल की दूरी पर वर्तमान 'तीन रहट की बावड़ी' नामक स्थान पर महाराणा की ओर से स्वागत की आवश्यक तैयारी की गई। बीच सड़क पर बिछायत की जाकर महाराजश्री के लिये गादी और महाराणा के लिये सम्मुख बैठने को एक आसन पर सफ़ेदी (दोवड़ी) बिछाई गई। जब भी महाराणा महाराजश्री के लिये स्वागतार्थ प्रस्तुत होते हैं, तब उनकी बैठक परंपरा से इसी प्रकार की निर्धारित है। राज्य के नियमानुसार रियासत की पुलिस, छड़ीदार, घोटादार और कांकरोली के मुन्सरिम बाबू मदनमोहनलालजी तथा सम्भ्रान्त पदाधिकारी उपस्थित थे। इधर महाराजश्री के पीछे छड़ी, छत्र और चमर आदि राजकीय चिह्न विद्यमान थे।

महाराणा के आने के कुछ समय पूर्व महाराजश्री अपनी गद्दी पर विराजमान हुए और उनके समीप दोनो शास्त्री और श्रीकृष्ण-भंडार के अधिकारी बैठे। महाराणा की मुलाक़ात में वे ही लोग बैठ सकते हैं, जिनके लिये बैठक की स्वीकृति मिली होती है। उक्त स्थान पर मोटर से आकर बीस-बाईस हाथ की दूरी पर उतरकर महाराणा अपने भाई-बन्धु, आवश्यक कर्मचारी एवं परिकर के साथ महाराजश्री के सामने पैदल पधारे। राजपूती आदर्श की विशिष्ट अभिव्यक्ति के साथ निर्धारित समय (सायंकाल पाँच बजकर पच्चीस मिनट) पर महाराणा का आगमन हुआ और महाराजश्री ने खड़े होकर उनका सम्मान किया। महाराणा ने समीप आकर दोनों हाथ जोड़े और महाराजश्री ने उन्हें आशीर्वाद प्रदान किया।

महाराजश्री के गादी और महाराणा के आसन पर विराजमान हो जाने के बाद महाराणा

ने भेट रक्खी। दोनों ओर से कुशलता और मार्ग-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हो जाने पर महाराणा ने सिंहावलोकन के द्वारा महाराजश्री के समीपवर्ती परिकर का निरीक्षण किया। नगर में पधारने की विनय कर महाराणा बिदा हुए, और महाराजश्री ने चार बीड़ा प्रदान कर उनका सम्मान किया। महाराजश्री की ओर अभिमुख होकर महाराणा पीछे मोटर तक जाकर नित्य-नियम के अनुसार वहाँ से घूमने चले गये।

इस प्रकार अगवानी हो जाने पर महाराजश्री सवारी के साथ नगर में पधारे। प्राचीन प्रथा के अनुसार छड़ी, चमर, नकीब-बोलना आदि राजकीय सम्मान उनके प्रति यथावस्थित रक्खा गया, और महता फ़तहलालजी की बाड़ी में राज्य की ओर से निवासार्थ समस्त प्रबन्ध कराया गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक, जब जिसको समय मिला, और जब तक महाराजश्री का मुक़ाम उदयपुर में रहा, सभी राज्यकर्मचारी, महाराणा के भाई-बन्धु, प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा ठिकाने के रावजी, कवि, पंडित आदि महाराजश्री के समीप उपस्थित होते रहे। दशहरे का अवसर होने से नियमानुसार मेवाड़ के सभी ठिकानों के सरदार उस समय उदयपुर में हाज़िर थे, अतः समय-समय पर महाराजश्री के समीप आकर उन्होंने अपनी-अपनी भक्ति, श्रद्धा, स्वागत एवं सम्मान प्रकट किया।

उदयपुर में महाराणा के प्रबन्ध से महाराजश्री के लिये महत्त्व-पूर्ण सभी स्थानों के निरीक्षण का ख़ास इन्तज़ाम किया गया था। महाराजश्री ने भी नगर, आस-पास और दूर के सभी ऐतिहासिक, प्राचीन एवं नवीन दर्शनीय स्थानों का अवलोकन किया। इस कार्य के सम्पादन के लिये महाराणा की ओर से महताजी फ़तहलालजी निर्वाचित किये गये थे। दरबार के शास्त्री पं० शोभालालजी ने भी 'विक्टोरिया मेमोरियल' में संगृहीत उन सभी वस्तुओं को दिखलाया, जो अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

सनातन धर्म-महासम्मेलन

इन्हीं दिनों उदयपुर में स्थानीय सभा ने एक विशाल सनातन-धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें कई उपदेशक बुलाये गये थे। म० म० पं० गिरिधर शर्माजी चतुर्वेद, पं० अखिलानन्दजी कविरत्न, युक्तिविशारद पं० कालूराम शास्त्रीजी आदि को प्रभावशाली भाषण देने के लिये आमंत्रित किया गया था। इस अवसर पर कार्यकर्ताओं ने महाराजश्री को उसका संरक्षक बनाकर अधिवेशन में पधराया। उन्होंने भी कार्त्तिक कृष्ण ४ और ५ के दिन सम्मिलित होकर अन्तिम दिन एक लिखित भाषण दिया, जिसे उपस्थित विद्वानों और श्रोताओं ने बड़े उत्साह से सुना। यह भाषण बाद में कानौड रावजी तथा महता फ़तहलालजी की ओर से मुद्रित कराया जाकर

विना मूल्य वितरण किया गया। अधिवेशन की समाप्ति पर महाराजश्री ने बाहर से आये हुए उपदेशकों को अपने स्थान पर बुलाकर दक्षिणा वस्त्रादि से सत्कृत किया। जितने दिन उदयपुर में महाराजश्री का निवास हुआ, अधिकांश दिनों में सर्वसाधारण के लिये उनके तथा उनके छोटे भाई श्रीविट्ठलनाथजी के प्रवचन और धार्मिक उपदेश होते रहे।

बापजीराज और महाराणा की मुलाक़ात

कार्त्तिक कृष्ण ८ के दिन बापजीराज—वर्तमान महाराणा—श्रीभूपालसिंहजी महाराजश्री से मुलाक़ात करने उनके निवास-स्थान पर पधारे। इस समय भी महाराणा के समान ही बैठक का प्रबन्ध किया गया था। दोनों ओर से यथा-योग्य व्यवस्था और उचित शिष्टाचार हो जाने के बाद श्रीभूपालसिंहजी महोदय ने भेट रक्खी। सामयिक वार्तालाप के बाद महाराजश्री के शास्त्री और कवियों ने संस्कृत और हिन्दी की कविताएँ महाराजकुमार को सुनाईं। महाराजश्री और बापजीराज की यह मुलाक़ात भी अपने ढंग की उसी राज्य-नियम के अनुसार हुई, जैसी परंपरा से होती चली आई है।

कार्त्तिक कृष्ण ११ के दिन सायंकाल महाराणा स्वयं अपने लवाजमा और आवश्यक परिकर के साथ महाराजश्री के मुक़ाम पर मिलने आये, जिसमें पूर्व-प्रथानुसार प्रबन्ध किया गया था। महाराणा ने महाराजश्री से आवश्यक प्रश्न और प्रबन्ध-सम्बन्धी वार्तालाप कर निर्धारित भेट रक्खी, इसके अनन्तर महाराजश्री के शास्त्री, कवियों ने महाराणा की प्रशंसा और स्वागत-यश आदि के संस्कृत-हिंदी-पद्य सुनाये। पंडितों को खड़े होने का निषेध कर बैठे ही बैठे कविता सुनाने का आदेश देकर महाराणा ने बड़े ध्यान से सुनकर उनका अर्थ पूछा। महाराणा वे कविताएँ अपने साथ ले गये और बाद में उन्होंने पुरस्कार भेजा। लगभग आधा घन्टे मुलाक़ात हो जाने के बाद बिदा होकर महाराणा अपने राजमहल पधारे। इस प्रकार महाराणा ने आकर महाराजश्री के प्रति स्वकीय शिष्टाचार प्रकट किया।

कार्त्तिक कृष्ण १२ को रात्रि में महाराजश्री के निरीक्षणार्थ महलों में दीपावली की विशेष रोशनी की गई। उन्होंने उसका अवलोकन कर बापजीराज श्रीभूपालसिंहजी से महलों में जाकर मुलाक़ात की। यहाँ कुर्सियों पर बैठकर कांकरोली के सम्बन्ध में दोनों का वार्तालाप हुआ। बापजीराज ने भेट धरकर महाराजश्री को बिदा देकर स्वकीय शिष्टाचार प्रदर्शित किया।

कार्त्तिक कृष्ण १३ को महाराजश्री दीपावली और अन्नकूट की सेवा के लिये उदयपुर से कांकरोली आये और नाथद्वारा आदि की सेवा का संयोग पूर्ण कर का० शु० ६ के दिन वापिस उदयपुर पधारे, क्योंकि महाराणा के यहाँ से बिदाई नहीं की गई थी। कांकरोली से आते समय महाराजश्री ने नाथद्वारा और एकलिंगजी में सामयिक दर्शन कर भेट चढ़ाई।

कार्त्तिक शु० ६ रविवार के दिन महाराणा की सूचना पर लवाजमा और राजकीय चिह्नों के साथ राजमहल में महाराजश्री की पधरावनी हुई। 'शिव-निवास' महल में महाराणा की गद्दी के सम्मुख ही महाराजश्री की गद्दी लगवाई गई थी। यह वह मुलाक़ात थी, जिसमें हिंदुवासूर्य महाराणा राजसी ठाट में होते हुए भी अपने गुरु के प्रति सश्रद्ध भक्ति-भाव प्रकट करते हैं। महाराजश्री के सम्मुख आते ही महाराणा ने गद्दी से उठकर कुछ आगे आकर स्वागत किया और उनके विराजमान हो जाने पर उन्होंने भी आसीन होकर नियमानुसार भेंट रक्खी। आवश्यक वार्तालाप के बाद महाराजश्री ने महाराणा को विदा-स्वरूप बीड़ा भिलाए। महाराणा ने भी अभ्युत्थान देकर उन्हें ससम्मान विदा किया।

राजमहल में पधरावनी

राजमहल में पधरावनी का दस्तूर हो जाने पर आसपास के जागीरदार रावजी आदि के स्थानों पर भी महाराजश्री की पधरावनियाँ शुरू हुईं, और सभी ने अपने-अपने स्थानों पर उन्हें पधराकर भक्ति-भाव व्यक्त किया। बेदला, बदनौर, देलवाड़ा, बिजोलिया, सलूम्बर, कानौड, देवगढ़, सादड़ी आदि के सरदारों ने स्वागत का अच्छा प्रबंध किया और महता फ़तहलालजी ने अपने घर पधराते समय बड़ी सजावट की थी। इस प्रकार सुविधानुसार कई दिनों तक यह क्रम चालू रहा। महाराजश्री के बाद इनके मातृश्री और श्रीबहूजी की भी राजमहल तथा सभी ठिकानों में जनाना महलों में पधरावनी की गई।

मार्गशीर्ष कृष्ण १ के दिन महाराणा की मुहूर्त की शिकार का दरबार था, अतः महाराणा ने विशेषतया महाराजश्री को दरबार में पधारने का आमंत्रण दिलाया, और साथ में आज के दरबार की ख़ास पोशाक अमरसाही पाग, पछेवड़ी तथाच रूमाल अपनी ओर से भिजवाकर अपने ख़ास दरजी द्वारा महाराजश्री को धारण करवाई। महाराजश्री ग्यारह बजे राजसी जुलूस के साथ दरबार में सम्मिलित होने के लिये शंभु-निवास के दरबार-हॉल में पधारे, जहाँ राज्यकर्मचारियों ने आगे आकर सम्मान-सहित उनका स्वागत किया। इस दरबार में १६,३२ उमराव और जागीरदार अपने क्रम से यथास्थान बैठे थे और महाराणा विशाल मसनद पर राजसी मर्यादा के साथ विराजमान थे। प्राचीनता के एक भव्य राजपूती परिदर्शन-स्वरूप इस दरबार में महाराजश्री के पधारने पर महाराणा तथा समस्त दरबारी लोगों ने अभ्युत्थान देकर उनके प्रति स्वागत-सम्मान प्रकट किया। महाराणा के प्रणाम करने पर महाराजश्री ने आशीर्वाद दिया। सम्मुख बिछी हुई गद्दी पर महाराजश्री के विराजमान हो जाने के बाद महाराणा ने भी आसीन होकर उनसे कुशल प्रश्नादि किये।

राजदरबार में आमन्त्रण

शिकार की सवारी के ठीक समय पर महाराजश्री ने महाराणा को प्रसादी कुंकुम से तिलक किया, और मुक्ताक्षत लगाकर माला पहिनाई। इसके बाद महाराणा ने भी महाराजश्री

को माला पहिनाई। शिकार की सवारी का समय समीप आया जान महाराजश्री महाराणा से बिदा होकर मोटर द्वारा चिड़ियाखाना पधारे, और वहाँ से महाराणा की ओर से किये गये इन्तिज़ाम से उनकी सवारी का जुलूस देखा, जो अपनी पृथक विशेषता रखता था। सवारी में भी महाराणा ने सामने होकर निकलते समय घोड़े पर बैठे बैठे ही महाराजश्री को प्रणाम किया और सवारी आगे चलाई। सवारी के आगे निकल जाने और निश्चित स्थान पर पहुँच जाने पर महाराजश्री ने दूर से शिकार का हाका देखा, जिसके लिये महाराणा की ओर से इन्तिज़ाम करा दिया गया था।

आज ही सायंकाल को महाराजकुमार बापजीराज श्रीभूपालसिंहजी महाराजश्री से फिर मिलने के लिये उनके स्थान पर आये और बाक़ायदा मुलाक़ात ली। प्रणाम, भेट, वार्तालाप आदि का दस्तूर हो जाने पर महाराजश्री ने उन्हें बिदा दी।

महाराणा से बिदाई और अधिकार-प्राप्ति

मार्गशीर्ष कृष्ण ३ मंगलवार के दिन महाराणा ने महाराजश्री के घर पर पधारकर उदयपुर से बिदाई का राजकीय दस्तूर किया। महताजी की बाड़ी में ही पूर्व-प्रथा के अनुसार बिछायत आदि का प्रबन्ध किया गया था। महाराणा ने मध्याह्न में आकर नियमानुसार प्रणाम कर महाराजश्री के आगे भेट रक्खी। आशीर्वाद, कुशल-प्रश्नादि हो जाने पर प्रथम महाराजश्री की ओर से बिदाई के दस्तूर में श्रीद्वारकाधीश के प्रसादी सेला, पटका, गदल आदि वस्त्र तथा माला-बीड़ा के द्वारा महाराणा का सम्मान किया गया और बाद में महाराणा ने भी अपने नियमानुसार प्रथम महाराजश्री को और बाद में उनके भ्राता को दुशाला उढ़ाकर भेट रक्खी। इसी प्रकार उन्होंने श्रीमाजी महाराज और महाराजश्री के बहूजी आदि के लिये भी भेट भेजकर प्रणाम मालूम कराया। इस प्रकार बिदाई की प्रथा पूर्ण हो जाने पर नियमानुसार महाराणा के साथ आये हुए विशिष्ट भाई-बंधुओं ने महाराजश्री को भेट रक्खी, उन्होंने भी सेला-पटका बीड़ा प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया।

इस प्रकार महाराणा ने महाराजश्री को उदयपुर बुलाया और राजकीय शिष्टाचार से उनका सम्मान किया। उन्होंने महाराजश्री की योग्यता, विद्वत्ता और वयस्कता का परिचय पाकर मार्गशीर्ष कृष्ण ४ बुध सं० १९८६ तदनुसार ता० २०, ११, १९२९ के दिन कांकरोली से मुंसरमात उठा देने का आदेश निकाला और महाराजश्री को उनके संस्थान के सम्पूर्ण स्वायत्त शासन का अधिकार प्रदान कर अपने गुरुघर के प्रति सद्भावना प्रदर्शित की। आज ही सायंकाल महाराजकुमार श्रीभूपालसिंहजी से गुलाब बाग़ के समीप के मकान में महाराजश्री ने मुलाक़ात कर अन्य आवश्यक वर्तालाप किया।

मार्गशीर्ष कृष्ण ६ के दिन महाराजश्री महाराणा के प्रति स्वकीय शासन-प्राप्ति की कृतज्ञता के प्रकाशनार्थ 'केवड़ा की नाल'-नामक स्थान में पधारे, जहाँ उस दिन महाराणा का शिकार के लिये मुक़ाम था। उचित कुशल-प्रश्नादि हो जाने पर महाराणा को धन्यवाद पूर्वक प्रसादी सेला-बीड़ा आदि प्रदान करते हुए एक अभिनन्दन-पत्र भेट किया गया, जिसे इस लेखक ने पढ़कर सुनाया था। इसी समय महाराणा को 'विद्या-विभाग कांकरोली' द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भी भेट की गईं और उसकी कार्य-प्रणाली से परिचित कराया गया।

मार्गशीर्ष कृष्ण ८ रवि के दिन महाराजकुमार श्रीभूपालसिंहजी महाराजश्री के स्थान पर बिदा होने पधारे, और नियमानुसार दोनों ओर से बिदा का दस्तूर किया गया।

इस प्रकार अपनी सकुटुम्ब उदयपुर-यात्रा में महाराणा द्वारा स्वकीय शासनाधिकार प्राप्त कर धार्मिक प्रचार करते हुए महाराजश्री मार्ग० कृष्ण १२ गुरु (ता० २८, ११, १९२९) के दिन उदयपुर से चलकर एकलिंगजी नाथद्वारा होते हुए कांकरोली आए। इस प्रकार महाराणा फ़तहसिंहजी ने अपनी विद्यमानता में ही महाराजश्री को उदयपुर पधराकर गुरुघर के प्रति प्राचीन मर्यादा का स्वरूप प्रदर्शित किया और वर्तमान समाज तथा राजकर्मचारियों के लिये एक आदर्श की स्थापना की।

म० फ़तहसिंहजी का कैलासवास

सं० १९८७ ग्रीष्मकाल में महाराणा श्रीफ़तहसिंहजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया, जिससे महाराजश्री उनकी कुशल-वृत्ति का समाचार लेने और मिलने के ज्येष्ठ कृ० ८ के दिन उदयपुर गए। दोनों भ्राताओं ने 'शंभु-निवास-महल' में महाराणा से मिलकर उनके स्वास्थ्य-समाचार पूछे। महाराणा इस समय अत्यन्त अशक्त होने से पलँग पर लेटे थे, और महाराजश्री के लिये समीप ही कुर्सियों पर छोटी गादी बिछा दी गई थी। महाराजश्री के इस सौजन्य से महाराणा बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने कृतज्ञता तथा उचित शिष्टाचार के अभाव में स्वकीय असमर्थता प्रकट की। इसके बाद महाराजश्री महाराजकुमार श्रीभूपालसिंहजी से मिले। इस सामयिक शिष्टाचार एवं समवेदना-प्रकाशन से महाराजकुमार के हृदय पर जो श्रद्धा का भाव उदित हुआ, उससे आगे अच्छा प्रभाव पड़ा, दोनों की अत्यन्त घनिष्ठता हो गई। इस समय की रुग्णता से महाराणा का शरीर ठीक नहीं हुआ, और वह आदर्श राजर्षि, प्रसिद्ध हिन्दुवाँ-सूर्य सं० १९८७ ज्येष्ठ बदी ११ के दिन सर्वदा के लिये आँखों से ओझल हो गया, जिससे मेवाड़ क्या समग्र भारतवर्ष में शोक की एक लहर छा गई। महाराणा के देवलोक हो जाने पर ज्येष्ठ शु० ६ के दिन महाराजश्री ने उदयपुर जाकर श्रीभूपालसिंहजी—वर्तमान महाराणा—के पास प्रीतम-निवास महल में हार्दिक समवेदना प्रकट करने के लिये बैठने का दस्तूर किया।

इसी वर्ष और इसी मास में ज्येष्ठ बदी १२ के दिन राज्य के नियमानुसार श्रीभूपालसिंहजी राज्यासन पर आसीन हुए। गुरुघर की प्रथानुसार महाराजश्री अपने भ्राता श्रीविट्ठलनाथजी महाराज के साथ ज्येष्ठ शु० ८ बुधवार के दिन कांकरोली से उदयपुर पधारे। पूर्व प्रथा के अनुसार 'तीन रेहट की बावड़ी' पर महाराणा की ओर से स्वागतार्थ रत्नसिंहजी सुराणा उपस्थित हुए, जिन्होंने भेंट धर कर महाराणा की ओर से प्रणाम मालूम किया और राज्य से आई हुई चार घोड़ों की बग्घी में विराजमान कराकर महाराजश्री को मुक़ाम पर पधराया।

राज्या-भिषेकोत्सव

ज्येष्ठ शु० ६ (ता० ५, जून १६३०) के दिन श्रीभूपालसिंहजी के राज्याभिषेकोत्सव के लिये महाराजश्री इस समय की निर्धारित पोशाक अमरसाई पाग, जामा और समयोचित आभूषणों से सज्जित हो राज्य की ओर से आई चौकड़ी में बैठकर प्रातःकाल महलों में पधारे। इस समय महाराजश्री के साथ नौबत, निशान, चमर-छत्र, मोरछल आदि सभी राजकीय चिह्न विद्यमान थे। 'गणेशड्योढ़ी' तक लवाजमा के साथ जाकर ऊपर बड़े दरीखाना में पहुँचने पर उपस्थित सभी जागीरदार और राज्यपदाधिकारियों ने महाराजश्री का स्वागत किया। कुछ समय बाद वे इस महोत्सव के विशाल प्रांगण में अपने लिये परंपरा से निर्धारित उस विशेष स्थान में गद्दी पर विराजमान हुए, जिसे 'पानेरी की ओवरी' के सामने 'बड़ा चौकठा' कहते हैं। यहाँ से उन्होंने राज्याभिषेक की क्रियाकलाप का निरीक्षण किया। कहना न होगा कि—यहाँ भी महाराजश्री के राज्यचिह्न चमर, मोरछल आदि विद्यमान थे, जिन्हें महाराणा के सिवा अन्य कोई भी धारण नहीं कर सकता था।

आवश्यक देव-पूजनादि के उपरान्त सर्वप्रथम एकलिंगजी के महन्तजी ने महाराणा को आशिका बँधाई और बाद में परम्परा से चले आये हुए गुरुघर के तिलक का क्रम आया। इस समय महाराजश्री के विराजने के स्थान पर महाराणा आये और उनकी गद्दी के आगे 'दोवटी आसन' पर आसीन हुए। आवश्यक प्रणाम-आशीर्वाद और कुशल-प्रश्न के अनन्तर उक्त तिलक की प्रथा सम्पादित की गई, जिसमें महाराजश्री ने महाराणा को प्रसादी कुंकुम और मुक्ताक्षत लगाकर गद्दल, चीरा, पटका, सेला और माला धारण कराकर चार बीड़ा प्रदान किये, जिसे उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्ति से स्वीकार किये। इसके बाद नाथद्वारा के तिलकायित श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज की ओर से उनके मुखिया ने दस्तूर हाज़िर किया, क्योंकि प्राचीन प्रथा के अनुसार उनकी उपस्थिति इस समय नहीं हो सकती थी।

गुरुघर द्वारा राज्यतिलक

इस प्रकार राज्याभिषेकोत्सव के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त महाराजश्री ने बिदा ली,

जिसमें महाराणा ने दो नारियल और मुहरें भेट चढ़ाकर उनका आशीर्वाद लिया। आज सायंकाल नियमानुसार महाराणा की सर्वप्रथम 'हरिया' की सवारी हुई, जिसे देखने के लिये उनकी ओर से महाराजश्री के लिये विशेष प्रबन्ध किया गया था।

ज्येष्ठ शु० १३ के दिन सायंकाल महाराणा श्रीभूपालसिंहजी महाराजश्री के स्थान पर बिदा होने आये। नियमानुसार आवश्यक प्रबन्ध हुआ, और कुशल-प्रश्न, भेट आदि के अनन्तर महाराजश्री के शास्त्री एवं कवियों ने अपनी-अपनी सामयिक कविताओं के द्वारा महाराणा को दीर्घायुष्य और शासन-समृद्धि का आशीर्वाद दिया। आवश्यक वार्तालाप हो जाने पर महाराणा और महाराजश्री, पूर्व-पद्धति से परस्पर बिदा का दस्तूर कर अपने-अपने स्थान पर पधारे *।

महाराणा का कांकरोली में प्रथम पदार्पण

सं० १९८७ कार्त्तिक शु० ५ के दिन 'मावली - मारवाड़' यू० सी० आर० लाइन के उद्घाटनार्थ और राज्याभिषेक के बाद प्रथम ही श्रीद्वारकाधीश के दर्शनार्थ महाराणा श्रीभूपालसिंहजी का स्पेशल ट्रेन से कांकरोली स्टेशन पर शुभागमन हुआ। नवचौकी होकर राजभोग के दर्शन के समय महाराणा मंदिर में पधारकर गोवर्द्धन चौक में मोटर से उतरे। यद्यपि यहाँ से पैदल ही ऊपर जाने का रिवाज है, पर महाराणा के श्रीअंग में स्थायी अस्वास्थ्य होने से वे ताम-झाम के द्वारा कान्हतिवारी के आगे आये। सिंहपोली पर उन्होंने अपने राज्यचिह्न दूर करवा दिये और तलवार भी अपने पास के व्यक्ति को सौंप दी।

'कान्हतिवारी' में महाराणा के आते ही महाराजश्री ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और कुशल-प्रश्न करते हुए उनको मंदिर के चौक में साथ लाये। श्रीप्रभु के दर्शन में कुछ समय का विलंब होने से महाराणा जमीन पर ही बैठे, क्योंकि ठाकुरजी के मन्दिर में किसी को आसन बिछाया नहीं जा सकता। दर्शन खुलने पर मणि कोठा के बाहर बैठकर महाराणा ने श्री के दर्शन किये और सम्मुख भेट रक्खी। इसके बाद चौक में महाराजश्री के द्वारा प्रसादी माला बीड़ा लेकर वह श्रीमथुरेशजी के और छोटे द्वारकाधीश के दर्शनार्थ गये, जहाँ महाराजश्री के भाई श्रीविट्ठलनाथजी ने माला पहिनाकर चार बीड़ा प्रदान किये। इन दोनों मन्दिरों में इसी

* इस प्रकार की प्राचीन प्रथा से सम्पन्न होनेवाले राज्याभिषेक की रीति-रिवाज एवं महाराणा तथा महाराजश्री के आगत-स्वागत देखने का पहिला ही अवसर साथ में उपस्थित होने से इस लेखक को प्राप्त हुआ, जिससे प्राचीन ऐतिहासिक उन प्रसंगों का स्पष्टीकरण होता है, जो इस गुरुवर और उदयपुर-नरेश से सम्बन्ध रखते आये हैं।

समय महाराणा को उक्त महाराजश्री ने बिदा का दस्तूर करते हुए प्रसादी वस्त्रादि प्रदान किये, और महाराणा ने भी भेट धरकर उन्हें भी दुशाला उढ़ाया। मध्याह्न में महाराजश्री के आग्रह पर प्राचीन प्रथा को आदर देते हुए महाराणा ने मन्दिर में ही अपने मुक़ाम पर तलाब की शोभा देखने के बाद महाप्रसाद लिया। यद्यपि ऐसे समय महाराजश्री स्वयं अपने हाथ से उनको महाप्रसाद परोसते हैं, पर इस समय पिंडरू (जनना शौच) होने के कारण वे ऐसा न कर सके। महाराणा के अरोगते समय उनके सामने ही बैठे हुए आवश्यक पूछताछ वार्तालाप की।

सायंकाल महाराणा बिदा होने के लिये महाराजश्री की बैठक में पधारे। जहाँ वे अपनी स्थानीय गद्दी पर बैठे, और महाराणा परंपरानुसार दोबटी पर। पास में महाराजश्री तथा महाराणा के वही व्यक्ति बैठे थे, जिन्हें इस समय बैठक प्राप्त थी। प्रणाम-आशीर्वाद होने और भेट आदि धर चुकने के बाद स्थानीय विद्वान् और कवियों ने महाराणा के स्वागतार्थ कविताएँ सुनाई, जिस पर उन्होंने पारितोषिक प्रदान करवाया। वार्तालाप के बाद महाराजश्री और महाराणा की ओर से परस्पर नियमानुसार बिदाई का दस्तूर किया गया और महाराणाश्री प्रभु के दर्शन कर सायंकाल उदयपुर पधारे।

इस प्रकार महाराणा भूपालसिंहजी ने भी राज्याभिषेक के अनन्तर और बाद में कई बार कांकरोली आकर अपनी गुरुघर की मान-मर्यादा की पुनरावृत्ति की और सौजन्य के द्वारा इस ठिकाने के बहुत कुछ उलझे हुए मामलों को सुलझाया। राज्याभिषेक के अनन्तर प्रथम दर्शनार्थ आने पर ऐसा नियम है कि— महाराणा ठिकाने के लिये कुछ स्थायी भेट करते चले आये हैं। फलतः श्रीभूपालसिंहजी ने भी ऐसी बहुत-सी सुविधाएँ इस ठिकाने को प्रदान कीं, जिनका यहाँ उल्लेख करने से लेख-विस्तर होगा।

महाराणा की वैष्णव-धर्म-दीक्षा

प्राचीन परंपरा के अनुसार राज्याभिषेक होने के पूर्व कुँवर पदे में अथवा उसके अनन्तर प्रत्येक महाराणा इस घर के तिलकायित से वैष्णव-धर्म की दीक्षा लेता आया है, जैसा कि पूर्व-चरित्रों में कहा जा चुका है।

इसी प्रकार महाराणा भूपालसिंहजी ने भी दीक्षा लेना अपना आवश्यक धर्म समझा, और इस कार्य को गुरुघर कांकरोली में ही सम्पन्न करने का विचार कर समय निर्धारित किया। तदनुसार महाराणा के यथायोग्य स्वागत-सत्कार के लिये नगरी की आवश्यक सजावट की गई।

सं० १९८९ कार्त्तिक शु० ८ के दिन मध्याह्न में महाराणा का राजनगर में शुभागमन हुआ। वे आवश्यक परिकर और राज्य-चिह्नों के साथ सायंकाल पाँच बजे कांकरोली में

श्रीद्वारकाधीश के दर्शनार्थ पधारे। निर्दिष्ट स्थान 'कान्हतिवारी' में महाराजश्री तथा उनके भ्राता विट्ठलनाथजी ने आगे आकर उनका स्वागत किया। पारस्परिक शिष्टाचार के अनन्तर दर्शन खुलने पर महाराणा ने दर्शन कर श्रीप्रभु के सम्मुख भेट चढ़ाई और नियत समय तक दर्शन का आनन्द लिया। महाराजश्री ने मंदिर से प्रसादी माला बीड़ा प्रदान कर उनका सम्मान किया। इस प्रकार लगभग छ दिनों तक महाराणा सुविधा के अनुकूल राजनगर से प्रतिदिन एक-दो दर्शन करने पधारते रहे। दर्शनों के बीच में जितना समय खाली रहता, उनके समय वह अपने लिये नियत रायसागर के तट स्थित बँगले में विराजमान होकर उसकी प्राकृतिक शोभा का निरीक्षण किया करते थे।

का० शु० ११—(प्रबोधिनी) के दिन रेवारीजी द्वारा वैष्णव-साहाय्य से बनवाई गई कांकरोली की नवीन गोशाला में महाराजश्री के साथ महाराणा का पधारना हुआ, जहाँ महाराणा की ओर से ही गायों के लिये थूली का प्रबंध किया गया था। लगभग ५०० सुन्दर और स्वस्थ गायों का निरीक्षण कर महाराणा अत्यन्त हर्षित हुए और अपनी उदयपुर की गोशाला के लिये दो सुन्दर दर्शनीय विजार ले जाने की इच्छा व्यक्त की, जिसे महाराजश्री ने बड़े हर्ष से पूरा किया।

कार्त्तिक शु० १२ शुक्रवार के दिन महाराणा का दीक्षा लेने का मुहूर्त राज्य-ज्योतिषियों द्वारा निकाला गया था। मन्दिर के समीप ही 'श्रीभूपाल हॉल' (सम्प्रति विद्याविभाग) को विशेष सजाकर उत्तराभिमुख महाराजश्री की गद्दी और उनके सम्मुख ही महाराणा का आसन लगाया गया। ठीक १० बजे महाराजश्री के पास महाराणा आये और समयोचित शिष्टाचार के बाद दोनों भ्राताओं को उन्होंने प्रणाम कर भेट रक्खी। इस समय महाराणा अपने राजोचित वेश में और महाराजश्री अपने वैष्णवोचित आवश्यक वेश में विराजमान थे। महाराजश्री के पास उनके दोनो शास्त्री तथा अधिकारीजी और महाराणा के पास उनका आवश्यक परिकर और पुरोहितजी उपस्थित थे। दीक्षा के समय महाराणा तथा दोनो महाराजश्री और एक पुरोहितजी ही वहाँ विद्यमान रहे। नियत मुहूर्त पर महाराजश्री ने महाराणा को 'अष्टाक्षर-मन्त्र' की दीक्षा देकर कंठी बाँधी। इसके बाद आवश्यक परिकर के उपस्थित हो जाने पर महाराणा ने गुरु-भेट चढ़ाई, और बाद में नियमानुसार गाँव भेट करने अथवा उसके स्थान पर अन्य आवश्यकता की पूर्ति कर देने का वचन दिया। महाराजश्री ने प्रसादी ४ बीड़ा देकर उन्हें सत्कृत किया। मध्याह्न में नियमानुसार महाराणा ने मन्दिर का महाप्रसाद लिया, जिसमें महाराजश्री ने बड़े प्रेम के साथ उनके लिये स्वयं परोसा और समीप बैठकर मनोरंजन करते हुए शिष्टाचार किया।

इसी दिन महाराणा ने विद्या-विभाग में पधारकर द्वा० पुस्तकालय एवं द्वा०

चित्रशाला की दर्शनीय पुस्तकों, प्राचीन चित्रों तथा अन्य वस्तुओं का निरीक्षण किया, और वेद की प्राचीन पुस्तकें इस लेखक से निकलवाकर देखीं। इन्हें देखकर महाराणा ने हर्ष और उत्साह के साथ उत्तम अभिप्राय प्रकट किया और चित्रशाला की व्यवस्था देखकर उसे मेवाड़ की अद्वितीय संस्था बतलाया। कार्त्तिक शु० १३ के दिन ही सायंकाल दोनों ओर से नियमानुसार बिदाई का दस्तूर हो जाने पर महाराणा उदयपुर पधारे।

व्रजमंडल-परिक्रमा

सं० १९८९ में महाराजश्री ने प्राचीन प्रथा के अनुसार ८४ कोस की व्रज-यात्रा करने का विचार कर समस्त वैष्णव-समाज को उसकी सूचना और आमन्त्रण-पत्र भेजे। यात्रा का समस्त प्रबन्ध मथुरा-राजाधिराज मन्दिर के अधिकारी पं० लज्जाशंकरजी के तत्त्वावधान में कराया गया। कहना न होगा कि—महाराजश्री की व्रजयात्रा के लिये हज़ारों वैष्णव बहुत समय से बाट जोह रहे थे। अतः निश्चय हो जाने पर चारो ओर से मथुरा में भीड़ एकत्रित होने लगी। यद्यपि ग्रीष्म काल के आधिक्य और वर्षा के अभाव से पहिले मथुरा के कलेक्टर ने इजाजत नहीं दी, पर अधिकारीजी के प्रयत्न से यह प्रतिबन्ध दूर कर दिया गया।

इस यात्रा में जनसमूह के अधिक रूप में एकत्रित होने की संभावना से अतिशय सतर्कता और व्यय करके सब प्रकार का प्रबन्ध किया गया। सफ़ाई, रोशनी, समाधान, सेवा और रक्षा तथा निवास आदि की व्यवस्था के लिये अलग-अलग विभाग स्थापित किये गए, जिनमें योग्य कर्मचारियों को पूर्ण सत्ता दी गई थी। पुलिस, अस्पताल, पोस्ट-ऑफ़िस और स्वास्थ्य-रक्षा के महकमों का विशेष सरकारी इन्तिज़ाम था। उदयपुर के 'प्रताप स्वयंसेवक-दल' ने यात्रा में जनता की बहुत परिश्रम से सेवा की। इस सेवा-भाव की परा काष्ठा उस समय हो गई, जब यात्रा में हैज़े का रोग बहुत कुछ सावधानी रखने पर भी फैल गया था। इस दल के स्वयंसेवकों ने निर्भय होकर लावारिस अथवा असहाय व्यक्तियों का अन्तिम संस्कार किया। इस प्रकार यात्रा में सभी आवश्यक कार्यों के लिये कर्मचारियों ने बड़ी तत्परता बतलाई, जिससे उपस्थित यात्रि-समाज को कष्ट का अनुभव नहीं करना पड़ा। जान-माल की रक्षा के लिये जिस सतर्कता का प्रयोग किया गया, वह वास्तव में अभिनन्दनीय था।

सर्वविध आवश्यक प्रबन्ध हो जाने के अनन्तर महाराजश्री अपने परिकर के साथ भाद्रपद शु० १ गुरुवार के दिन कांकरोली से प्रस्थानित हुए और बीच में एक दिन कृष्णगढ़ में विश्राम कर भाद्र० शु० ३ के दिन प्रातः मथुरा पहुँचे। स्टेशन पर अपार जन-समाज ने उपस्थित होकर स्वागत किया और महाराजश्री का जुलूस निकाला। जनता के आग्रह करने पर भी महाराजश्री यात्रा के निमित्त पधारने के कारण व्रजभूमि को

प्रणाम कर पैदल ही जुलूस के साथ प्रधान मार्ग से अपने निवास-स्थल राजाधिराज के मन्दिर में पधारे। एक विशेषता इस समय से यह हुई कि—जहाँ प्रतिदिन प्रचंड सूर्य का आतप्र जन-समाज को विकल कर देता था, और जिसके कारण यात्रा की एक अनिश्चितता-सी अनुभासित होती थी, वहाँ महाराजश्री के आने के दिन से ही मथुरा में घनघटाएँ उठने लगीं, जिससे मनुष्यों को वर्षा-ऋतु की आशा होने लगी।

भाद्र० शु० ५ के दिन प्रातःकाल महाराजश्री, उनके भ्राता, स्वजन-सम्बन्धियों ने विश्रान्त घाट पर श्रीमहाप्रभुजी की सेवा-पूजा की और यमुनाजी का पूजन करते हुए यात्रा का नियम और संकल्प लिया। महाराजश्री के अनन्तर अन्य यात्रियों ने भी "नियम संकल्प" लिया, और यात्रा प्रारंभ की।

भाद्र० शु० ६ के दिन मथुरापुरी की अन्तर्ग्रही परिक्रमा बड़े उत्साह के साथ सम्पन्न हुई, जिसमें लगभग ६-७ हज़ार यात्रियों ने भाग लिया। इस परिक्रमा में महाराजश्री तथा यात्रिवर्ग ने प्रायः सभी मंदिरों में जाकर भेट-पूजा चढ़ाई, और यात्रा-नियम ग्रहण करने की विधि पूर्ण की। प्रारंभ में जहाँ ग्रीष्म के आतप से मार्ग में पैर रखना मुश्किल था, वहाँ परिक्रमा में ऐसी वृष्टि हुई कि जन-समाज को गलियों में से निकलना मुश्किल हो गया। इस दैवी परिवर्तन से यात्रा की सफलता और महाराजश्री की महानुभाविता पर लोगों की दृष्टि जम गई। प्रतिदिन यात्रा के सभी स्थलों से अच्छी बरसात होने के समाचार आने लगे, जिससे जलकष्ट और रोगोपद्रव उठ खड़े होने की आशंका सर्वथा लुप्त हो गई।

भाद्र० शु० ७ के दिन मथुरा से यात्रा का मुक़ाम उठा और निर्दिष्ट स्थलों के लिये प्रयाण प्रारंभ हुआ। निश्चयानुसार यात्रा के विविध स्थलों पर—जो लगभग एक दूसरे से पाँच या सात कोस की दूरी पर हुआ करते थे—एक दिन पहिले ही डेरा-तम्बू लगवाने का प्रबंध कर दिया जाता था। महाराजश्री, उनके कुटुम्बियों, परिकर तथा कर्मचारियों एवं यात्रियों के लिये अलग-अलग निवास-स्थल नियत कर दिए गए थे। प्रत्येक स्थल पर लगभग ५०० से ६०० की संख्या में तम्बू, डेरे, छोलदारियाँ लग जाया करती थीं। अधिकांश वैष्णववर्ग ने सुविधानुसार अपना-अपना स्वयं प्रबंध कर लिया था। इस यात्रा में लगभग ७००० की संख्या में जन-समाज साथ चलता था, जिसके भोजन आदि सामग्री के लिये सभी प्रकार की दूकानें साथ में रहा करती थीं।

यात्रा में नित्य-क्रम के अनुसार प्रातःकाल ७ बजे मुक़ाम उठता और मध्यवर्ती स्थलों में दर्शन, स्नान, आचमन, पूजन, दान आदि करते हुए मध्याह्न अथवा सायंकाल के पूर्व अपने नियत मुक़ाम पर पहुँच जाता था। रात्रि को विविध स्थलों की लीला के निदर्शक प्रसंग

रासमंडली द्वारा दिखाए जाते थे, और दिन में समाज यथासाध्य भजन-कीर्तन आदि कर समय यापन करता था। निर्धारित क्रम के अनुसार यात्रा के मुक़ाम पर एक ख़ास नगर बस जाया करता था, और उसके उठ जाने पर वहाँ उजाड़ नज़र आता था। यात्रा में कई दिनों तक तो अतिशय वृष्टि होने से यात्रियों को बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी, पर जल का सर्वत्र सौकर्य हो जाने से किसी प्रकार की व्याधि होने की संभावना नहीं रही।

आश्विन कृष्ण ४ के दिन गिरिराजजी में महाराजश्री ने दान का मनोरथ किया, जिसमें गिरिराजजी के पूजन के बाद उन्हें भोग लगाया गया। इस समय सारा यात्री-समुदाय दर्शनों को उलट पड़ा, जिसके लिये कर्मचारियों ने तथा स्वयंसेवकों ने बड़ी सावधानी से काम किया। आश्विन कृष्ण ५ के दिन चिर प्रतीक्षित 'कुनवाड़े' का मनोरथ हुआ। जिसमें नाना प्रकार की सामग्री गिरिराज प्रभु को भोग लगाई गई। यात्रा में यही सबसे बड़ा मनोरथ हुआ, जिसके दर्शनार्थ लगभग १०००० जन-समाज एकत्रित हुआ था। इस समय इतनी बहुत सामग्री बनाई गई थी कि स्थान-संकोच के कारण भोग में एक साथ नहीं आ सकी, और भोग लगाकर यथास्थान रखवा देनी पड़ी थी। बाद में यह सब प्रसाद समस्त आगत यात्रियों में योग्यतानुसार वितरण किया गया और लगभग बारह हज़ार मनुष्यों को भोजन कराया गया।

इस स्थल पर तीन-चार दिन से यात्रा में हैज़े का प्रकोप शुरू हो गया, जिसके लिये बड़ी सावधानी बरती जाने लगी। स्वास्थ्य-विभाग की सतर्कता से इसका ज्यादा प्रसार नहीं हो पाया, फिर भी यात्रा के पीछे-पीछे इसका अनुगमन होता ही रहा। इसमें विशेष असावधानी उन यात्रियों की थी, जो समय-असमय चाहे जैसा भोजन करने की त्रुटि करते थे।

इस प्रकार नियमित सभी स्थलों की यात्रा करते हुए कार्त्तिक कृष्ण ६ के दिन यात्रा की पूर्ति और मथुरा में पुनः प्रवेश हुआ। सप्तमी के दिन मथुरापुरी की बाह्य परिक्रमा की गई, जिसमें सवारी और जुलूस का प्राधान्य रहा। इसके बाद विश्रांत घाट पर महाराजश्री ने नियम-समाप्ति की विधि पूर्ण की। यात्रा में महाराजश्री की ओर से खूब दान-पुण्य किया गया और समस्त चौबे अभ्यागत ब्राह्मणों को प्रारंभ दिन से अन्त तक भोजन पेटिया दिया गया। इसके बाद कार्त्तिक कृष्ण ८ के दिन मथुरा के विद्वानों की सभा की गई, जिसमें महाराजश्री ने उपस्थित सभी विद्वानों का दक्षिणादि से सत्कार किया। महाराजश्री ने यात्रा की समाप्ति पर कर्मचारियों को उनकी प्रबन्ध-कुशलता से प्रसन्न होकर यथायोग्य पारितोषिक और स्वर्ण-रजत-पदक आदि प्रदान किए।

कार्त्तिक कृष्ण १० के दिन महाराजश्री ने मथुरा से प्रस्थान कर एक दिन जयपुर में विश्राम किया, और कार्त्तिक कृष्ण १२ सं० १९८९ मंगलवार के दिन वे कांकरोली वापिस आये। इस यात्रा में लगभग अस्सी हज़ार रुपया व्यय हुआ।

काशी, कलकत्ता और जगदीश-यात्रा

सं० १९९१ के प्रारंभ में महाराजश्री ने सविधि काशी की यात्रा की, और वहाँ जातीय प्रस्ताव में सम्मिलित हुए। जगदीश-यात्रा का विचार हो जाने से वे सकुटुम्ब, सपरिवार यहाँ से कलकत्ता गये, जहाँ वैष्णवों के आग्रह से उनको लगभग डेढ़-दो मास निवास करना पड़ा। इधर श्रीजगदीश की रथयात्रा का विशेष दर्शनीय उत्सव भी उसी समय के आसपास आता था। अस्तु। कलकत्ता की वैष्णव जनता ने नगर के दर्शनीय स्थानों के परिभ्रमण कराने के साथ महाराजश्री का भव्य स्वागत-सत्कार कर अपने-अपने घर पधरावनियाँ कीं।

रथयात्रा का समय समीप आ जाने पर आषाढ़ शुक्ल पक्ष के प्रारंभ में महाराजश्री जगदीश गये और वहाँ सविधि, सपरिकर यात्रा के स्थलों में स्नान, दान आदि किया। स्नान-यात्रा के बाद पट खुलने पर प्रथम बार श्रीप्रभु के दर्शन-चरणस्पर्श कर उनकी भेट करते हुए सश्रद्ध भेट चढ़ाई।

श्रीजगदीश की रथयात्रा का महोत्सव समग्र भारत में प्रसिद्ध है। इस समय जो जनसमुदाय वहाँ एकत्रित होता है, उसकी संख्या का अनुमान लगाना बुद्धि से बाहर की बात हो जाती है। महाराजश्री ने प्रभु की इस अनुपम भव्य रथयात्रा, जनकपुर जाकर वहाँ के उत्सव का अवलोकन, एवं विशाल गगनचुम्बी रथ पर चढ़कर प्रभु के चरणस्पर्श आदि किये, और प्रभु के 'अटका' के लिये द्रव्य भेट करते हुए वहाँ के पंडा-पुरोहितों को दान-दक्षिणा प्रदान की। यहीं गुच्छिकार श्रीकृष्ण पुरोहित के वंशजी के पास अपने कुल के प्राचीन पुरुषों के हस्ताक्षरों का अन्वेषण किया, जिसमें श्रीवल्लभाचार्य के प्रथम पुत्र श्रीगोपीनाथजी की यात्रा का वह पत्र भी सहसा मिल गया, जिसका अभी तक पता नहीं था और न पुरोहित को ही जिसकी ख़बर थी। इस पत्र से वल्लभाचार्य के उस शास्त्रार्थ का पता लगता है, जो सं० १५४५ में जगदीशपुरी में हुआ था *। यहाँ की यात्रा समाप्त कर महाराजश्री वापिस कलकत्ता आये और वहाँ कुछ समय रहकर बम्बई पधारे।

सन्तति-प्राकट्य

सं० १९९२ आश्विन मास में आश्विन शु० १३ के दिन महाराजश्री की धर्मपत्नी श्रीचन्द्रलता बहूजी का सीमन्त-प्रस्ताव हुआ। इस प्रस्ताव के पूर्व मन्दिर के गोवर्द्धन चौक में प्राचीन कच्चा मंडप हटाया जाकर पक्का विशाल मंडप

* यह पत्र वल्लभाचार्य के चरित्र पत्र २६ में इसी इतिहास में प्रकाशित किया गया है।

बनवाया गया, जिसमें इस प्रकार के सभी उत्सव और सभा आदि सम्पन्न हो सकें। इस समय तैयार हो जाने पर उसमें आश्विन शु० ८ के दिन श्रीप्रभु को पधराकर विशाल मनोरथ किया गया, जिसमें हज़ारों वैष्णवों ने दर्शन किये। इसी समय आगत वैष्णव-समाज और यात्रियों की सुविधा के लिये कांकरोली में 'द्वारकेश-स्वयंसेवक-मंडल' की स्थापना की गई, जिसने बड़ी तत्परता से इस शुभ अवसर पर काम किया। इस प्रस्ताव के बाद मार्गशीर्ष अमावास्या के दिन महाराजश्री के चि० कन्या का जन्म हुआ, जिसका नाम श्रीनवनीतप्रिया बेटीजी रक्खा गया।

सं० १९९४ में आश्विन शु० ८ के दिन महाराजश्री के प्रथम पुत्र का प्राकट्य हुआ, जिसमें बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। बालक का षष्ठीपूजन तथा नामकरण का प्रस्ताव बड़े उत्साह से महाराजश्री की मातृश्री ने सम्पन्न कराया और बालक का नाम चि० श्रीगिरिधरगोपाल रक्खा गया। महाराणा की ओर से भी नियमानुसार राज्य का दस्तूर आया। इस घर में बहुत समय बाद तिलकायित के पुत्र-प्राकट्य से चारों ओर आनन्द का विस्तार हो गया। वास्तव में इस समय के हर्ष-उत्साह की परंपरा ने जो मूर्तिमान् रूप धारण किया, वैसा आज तक देखने-सुनने में नहीं आया। चि० बालक के जन्म के अनन्तर जो सभी प्रकार के उत्सव-समारोह हुए, उनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

मनोरथ-समारोह और छप्पनभोग

पुत्र-प्राकट्य-हर्ष के उपलक्ष्य में महाराजश्री की मातृश्री ने श्रीद्वारकाधीश प्रभु के विविध मनोरथ करने का विचार किया, जिससे तदर्थ तैयारियाँ की जाने लगीं। निश्चय हुआ कि—विट्ठल-विलास बाग़ में प्रभु को पधराकर अभूतपूर्व छप्पनभोग किया जाय। सर्वत्र इसकी निमन्त्रण रूप में छपी सूचनाएँ भेजी गईं, जिससे हज़ारों वैष्णवों के आने की संभावना से उनके निवास और भोजनादि की व्यवस्था की जाने लगी। महाराजश्री के अनुज गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराज ने अपनी अध्यक्षता में स्थानीय तथा बाहर के द्वा० स्वयंसेवक-मंडलों का संगठन किया, और यात्रियों के स्वागत, निवास तथा भोजन और दर्शन कराने की सुव्यवस्था की।

इस महोत्सव में कांकरोली आने के लिये महाराणा से प्रार्थना की गई, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इस समय लगभग ६००० वैष्णवों का समुदाय कांकरोली में बाहर से आया। बाग़ के चौगान में महाराणा से डेरा-तम्बू आदि की सहायता लेकर और स्थानीय मकानों का प्रबन्ध कर वैष्णवों के रहने की सुविधा की गई। आगत जन-समाज को सभी प्रकार की सुविधा हो, एतदर्थ महाराजश्री ने पृथक्-पृथक् विभागों की स्थापना की और उनकी देख-रेख का भार स्वयं अपने ऊपर रक्खा।

सं० १९९४ कार्त्तिक कृष्ण ११ (प्रबोधिनी) के दिन प्रातःकाल बड़े भारी जुलूस और सवारी के साथ श्रीद्वारकाधीश प्रभु विट्ठल-विलास बाग़ में पधारे। वहाँ आज से प्रारंभ कर प्रतिदिन भाँति-भाँति के मनोरथ किये जाने लगे। महाराणा—जो इस उत्सव-समारोह के लिये पहिले ही कांकरोली आ गये थे—बीच के अवकाश के दिनों में सकुटुम्ब चारभुजाजी की यात्रा समाप्त कर प्रभु के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। इस समय महाराणा बीकानेर-नरेश की स्वर्णजयन्ती के उत्सव पर बीकानेर जाने के निश्चय से कांकरोली अधिक न ठहर सके और आवश्यक दर्शन कर महाराजश्री से बिदा हुए। इसी प्रसंग में महाराणा ने विद्या-विभाग के संस्थासमुद्घाटन-समारोह में जो भाग लिया था, उसका वर्णन पृथक् रूप में किया जा रहा है।

महाराजश्री के उत्साह और मातृश्री की प्रेरणा से कई दिनों तक बाग़ में प्रभु के नाना प्रकार के मनोरथ-उत्सव हुए, जिनसे वैष्णव-समाज के आनन्द का पारावार नहीं रहा। मार्गशीर्ष कृष्ण ६ के दिन विशाल छप्पनभोग का मनोरथ किया गया, जिसमें बाग़ के मन्दिर का विशाल चौक महाप्रसाद के टोकरों से भरा हुआ था, और जिसके बनाने के लिये कई दिनों से विशेष आयोजन तथा देखरेख रक्खी गई थी। उक्त दिन श्रीप्रभु चाँदी के विशाल बँगला में विराजमान हुए और लगभग चार घंटे तक हजारों यात्रियों ने दर्शन किये। इस समय की भीड़ का कोई ठिकाना नहीं था। इस उत्सव के बाद दूसरे दिन आगत समस्त यात्रियों को महाप्रसाद लिवाया गया। मनोरथ-समारोह में प्रायः सभी प्रकार के उत्सव बड़ी सजावट के साथ सम्पन्न हो जाने पर श्रीप्रभु मार्गशीर्ष कृ० १२ के दिन पुनः मन्दिर में पधारे।

विद्या-विभाग का संस्था-समुद्घाटन

जैसा पहिले कहा जा चुका है, इसी पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में महाराजश्री की आज्ञा और साहाय्य से विद्या-विभाग के संस्थासमुद्घाटन-महोत्सव का आयोजन किया गया। इस समय उक्त संस्था को दस वर्ष पूर्ण हुए थे, अतः उसका 'दशाब्दी-महोत्सव' करने का प्रबन्ध किया जाने लगा। महोत्सव के प्रधान मन्त्री महाराजश्री के लघु भ्राता गो० विट्ठलनाथजी महाराज ने संस्थाओं के उद्घाटन का कार्यारंभ महाराणा के करकमलों द्वारा कराने का प्रयत्न किया और स्वयं उदयपुर जाकर उनसे विचार-विनिमय कर उसकी तिथि निश्चित की। यद्यपि विद्या-विभाग के अन्य सम्पादित होनेवाले उत्सवों के आयोजन के साथ यह समारोह भी पौष मास में करने का निश्चय किया गया था, पर उस समय महाराणा की उपस्थिति कांकरोली में न हो सकने के कारण उनके प्रदत्त समय के अनुसार वह कार्त्तिक मास में ही निर्धारित किया गया।

अपनी यात्रा के कार्य-क्रम के अनुसार महाराणा कार्त्तिक शुक्ल पक्ष में कांकरोली

आये और चारभुजा की यात्रा की। वहाँ से लौटकर श्रीद्वारकाधीश प्रभु के उत्सवों के दर्शनार्थ तथा उद्घाटन-समारोह को सम्पादित करने के लिये उन्होंने चार-पाँच दिन कांकरोली राजनगर में निवास किया।

कार्त्तिक शु० ११ के दिन सायंकाल ५ बजे महाराणा ने 'श्रीबालकृष्ण-विद्याभवन' का समुद्घाटन किया। यह भवन बालकों के अध्ययन के लिये महाराजश्री ने अपने और वैष्णव-वर्ग द्वारा प्रदत्त द्रव्य-साहाय्य से लगभग १३००० रु० लगाकर बनवाया था। इस समय आवश्यक सजावट कराकर भवन में महाराणा को पधराकर महाराजश्री ने स्वागत किया, और आवश्यक वक्तव्य के अनन्तर उन्हें एक अभिनन्दनपत्र समर्पित किया। महाराणा ने लगभग १ घंटे तक बालकों के व्यायाम-सम्बन्धी खेल देखे और भवन का चाँदी का ताला अपने हाथ से खोलकर उसका निरीक्षण किया। यद्यपि उस समय यह भवन पूरा बन नहीं पाया था, फिर भी इसकी विशालता देखकर वे अतिशय प्रसन्न हुए। अन्त में महाराणा की ओर से उनके प्राइवेट सेक्रेटरी बाबू रामगोपालजी ने महाराजश्री के अभिनन्दनपत्र का उत्तर पढ़कर सुनाया और उचित स्वागत-सत्कार होने पर यह कार्य समाप्त हुआ।

कार्त्तिक शु० १२ के दिन पूर्वनिश्चयानुसार महाराणा ने 'श्रीद्वारकेश-व्यायामशाला' में आकर 'श्रीद्वा०शु०ब्रह्मचर्याश्रम' का समुद्घाटन किया। यहाँ भी महाराजश्री ने सपरिकर महाराणा का यथोचित स्वागत किया। समयोचित वक्तव्य के अनन्तर महाराणा के कर-कमलों द्वारा बालकों को वस्त्र, पुस्तक तथा पात्रादि प्रदान किये गये, और उन्होंने स्थान पर जाकर संस्था के बोर्ड का परदा अपने हाथ से खोलते हुए इस आयोजन को पूर्ण किया।

इसी दिन सायंकाल विट्ठल-विलास बाग में प्रभु के दर्शन कर महाराणा ने निश्चयानुसार 'सुखपाल के बँगला' नामक स्थान में आकर श्रीद्वा०बालिका-विद्यालय का उद्घाटन किया, जहाँ गो० श्री० विट्ठलनाथजी ने आवश्यक परिचय देकर महाराणा की सौजन्य-व्यवहार की प्रशंसा की। महाराणा ने बालिकाओं द्वारा बनाई हुई कसीदा आदि की कला देखकर अतिशय प्रसन्नता प्रकट की, और अपने हाथ से बालिकाओं को पारितोषिक देते हुए संस्था के नाम का समुद्घाटन किया।

जहाँ तक ध्यान है, महाराणा ने अपने हाथ से किन्हीं अन्य संस्थाओं का उद्घाटन नहीं किया है, पर यह कांकरोली का सौभाग्य था कि—उनके द्वारा यहाँ तीन-तीन संस्थाओं का उद्घाटन-समारोह सम्पन्न हुआ। महाराणा विद्या-विभाग के कार्य-कलाप से अच्छे प्रकार परिचित तो थे ही, इधर महाराजश्री के प्रति उनकी सद्भावना ने भी ऐसा संयोग उपस्थित कर दिया। उदयपुर के प्रधान राज्य-कर्मचारियों ने, जिन्होंने इस महान् कार्य की संयोजक-समिति के सदस्य बनकर

अपना सहयोग देते हुए परोक्ष रूप से साहाय्य दिया था, उनमें प्राइम मिनिस्टर तेजसिंहजी महता, रेवन्यु-कमिश्नर पं० कमलाकरजी दुबे, वैद्यराज पं० रविशंकरजी, महताजी फ़तहलालजी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। महाराणा ने महाराजश्री से बिदा होने के बाद विद्या-विभाग के लिये ३००० रुपया चित्तौड़ी सहायता रूप में प्रदान किया।

विद्या-विभाग का दशाब्दी-महोत्सव

पूर्व-निश्चय के अनुसार इसी वर्ष 'विद्या-विभाग का दशाब्दी-महोत्सव' करने का समय पौष कृष्ण ६ के दिन से निर्धारित किया गया, और एतदर्थ एक सप्ताह का कार्य-क्रम तैयार हुआ। आगत व्यक्तियों, विद्वानों तथा कवियों के स्वागत आदि के लिये विद्या-विभाग की संयोजक-समिति के द्वारा पृथक्-पृथक् उपसमितियाँ बनाई गईं, एवंच सम्पन्न होनेवाले अलग-अलग कार्यों के अर्थ तद्विषयों के विज्ञ व्यक्तियों को कार्य-भार सौंपा गया।

पौष कृष्ण ६ के दिन से मन्दिर के विशाल चौक में बनाए हुए भव्य मंडप में रात्रि के समय से इस महोत्सव का कार्यारंभ हुआ। प्रथम तीन दिन के धार्मिक व्याख्यान-समारोह में कई महोपदेशकों ने अपने भाषण द्वारा सुन्दर विषयों का प्रतिपादन कर धर्म के अनेक जटिल प्रश्नों को सुलझाया, और जनता को उत्साहित किया। इसके बाद अखिल भारतवर्षीय 'हिंदी-कवि-सम्मेलन' हुआ, जिसमें चारों ओर के प्रख्यात कवियों ने भाग लेकर अपनी काव्य-धारा बहाकर महोत्सव को सफल बनाया। कवि-सम्मेलन के दो दिनों में ही 'संस्कृत-कवि-सम्मेलन' का आयोजन भी किया गया, जिसमें बाहर से कई विद्वानों ने भाग लेकर संस्कृत-साहित्य और उसकी काव्य-कला का चमत्कार बतलाया। एक दिन 'श्रीद्वारकेश-विश्ववस्तु-संग्रहालय' का समुद्घाटन हुआ, जिसमें दर्शनीय प्राचीन और नवीन ऐतिहासिक वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया था। इसी सप्ताह में 'श्रीद्वारकेश-हॉकी और वॉलीबाल' के मेवाड़-टूर्नामेन्ट भी किये गए, और स्थानीय द्वा० व्यायामशाला का बड़े अच्छे ढंग से वार्षिकोत्सव मनाया गया। महाराजश्री की ओर से इन सभी कार्यों में जी खोलकर द्रव्य लगाया गया, और प्रत्येक विषय के विज्ञ सर्वश्रेष्ठ पुरुषों का पारितोषिक द्वारा सत्कार किया गया। समागत विद्वानों, कवियों और व्याख्याताओं को यथायोग्य पुरस्कृत कर महाराजश्री ने अपनी विद्याप्रियता और गुणग्राहिता का परिचय दिया। इस उत्सव-समारोह में लगभग दो हज़ार मनुष्यों की उपस्थिति हुई थी।

इस प्रकार का अनुष्ठान, जिसमें धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक एवं विनोदात्मक आयोजन किया गया हो, मेवाड़ में बहुत कम एक साथ सम्पादित किया गया होगा। विद्या-विभाग और उसके इस भव्य समारोह का परिचय उसके मुद्रित कार्य-विवरण से जाना जा सकता है।

श्री द्वा. प्रा. वार्ता :–



(१) चि० लालबावा **श्री यदुनाथजी.** प्रा. सं. १९८८ चैत्र शु० ९ (२) चि० लालबावा **श्री कृष्णकुमार.** प्रा. सं. १९९४ माघ शु० ४
(३) श्री नवनीतप्रियाबेटीजी. (४) चि० लालबावा **श्री गिरधरलालजी** प्रा. सं. १९९४ आश्विन शु० ८

यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि—महाराजश्री के पितृचरण श्रीबालकृष्णलालजी महाराज ने जिस प्रकार साहित्य-कला को प्रोत्साहित किया था, उसी प्रकार उनके आत्मज ने भी किया है।

महाराणा के जन्मदिन पर उदयपुर-यात्रा

सं० १९९५ फा० कृष्ण १० के दिन महाराजश्री महाराणा श्रीभूपालसिंहजी के जन्मदिवसोत्सव में सम्मिलित होने के लिये उदयपुर गए। नियमानुसार महाराणा ने नियत स्थान पर उपस्थित होकर उनकी अगवानी की। भेट आदि रखकर नगर में पधारने का निवेदन करने पर महाराजश्री मुक़ाम पर पधारे।

फा० कृष्ण ११ के दिन (महाराणा का जन्मदिन) प्रातःकाल महाराजश्री अपने लवाजमा के साथ महलों में जाकर मार्कण्डेय-पूजा-समारोह में सम्मिलित हुए। पूजन हो जाने के बाद महाराणा ने उपस्थित होकर महाराजश्री को प्रणाम किया और भेट चढ़ाई। महाराजश्री की ओर से भी उनका यथायोग्य समाधान-सम्मान किया गया। सायंकाल त्रिपोलिया दरवाज़ा पर जन्म-दिन का शानदार दरबार भरा गया, जिसके देखने के लिये महाराजश्री के लिये समीपवर्ती महलों के गोखड़े में प्रबंध किया गया था। राज्य-दरबार में महाराणा की नज़र-भेट हो जाने पर हाथियों की लड़ाई दिखाई गई।

इन्हीं दिनों महाराणा ने अपने समीपवर्ती कौटुम्बिक बालक श्रीभगवतीसिंहजी को गोद लेकर युवराज-पद पर अभिषिक्त किया था, अतः महाराजश्री ने प्रथा के अनुसार नवीन युवराज का सम्मान किया और बधाई दी। युवराजकुमार ने भी यथापद्धति अपनी भक्ति बतलाते हुए प्रणाम, भेट आदि की। फा० कृष्ण १३ के दिन महाराजश्री के स्थान पर महाराणा पधारे और दोनों ओर से यथा-नियम परस्पर बिदाई का दस्तूर हुआ। महाराणा से अनुज्ञा लेकर महाराजश्री कांकरोली आए।

चि० यदुनाथलालजी का उपनयन-संस्कार

सं० १९९६ चैत्र मास में महाराजश्री ने अपने भतीजे चि० श्रीयदुनाथलालजी का यज्ञोपवीत-संस्कार और उसके बाद स्वजातीय 'शुद्धाद्वैत वैष्णव वेल्लनाटीय महासभा' का षष्ठाधिवेशन करने का विचार किया। महाराजश्री के द्वारा कांकरोली में सर्वप्रथम सम्पन्न होनेवाला यही मांगलिक प्रस्ताव था, अतः इसके लिये ख़ूब तैयारियाँ की गईं। इस समय कांकरोली में वैष्णवों, यात्रियों और जातीय व्यक्तियों का महान् समुदाय एकत्रित हुआ, जिसके लिये पृथक्-पृथक् स्वागत-सत्कार की व्यवस्था की गई। चैत्र शुक्ल ९ के दिन बड़े ठाट-बाट से चि० यदुनाथलालजी के जन्मदिन की मार्कण्डेय-पूजा हुई और दशमी के दिन उनका उपनयन-संस्कार। महाराजश्री की मातृश्री ने अपने पौत्र के इस प्रथम प्रस्ताव को बड़े हर्ष और उत्साह से सम्पादित किया और जी खोलकर समागत मनुष्यों

का यथायोग्य सम्मान किया। इसी प्रस्ताव के उपलक्ष्य में मंडप में वैशाख कृष्ण प्रतिपद् के दिन श्रीद्वारकाधीश प्रभु को बड़े ठाट-बाट से पधराकर मनोरथ किया गया, जिसमें हज़ारों यात्रियों ने उपस्थित होकर दर्शन किये।

जातीय सभा का आयोजन

इस महोत्सव के समय महाराजश्री ने जातीय प्रगति का भी आयोजन किया। फलतः चैत्र शुक्ल १०, ११, १२ के दिन शुद्धाद्वैत वै० वे० युवक-मंडल का प्रथम वार्षिक अधिवेशन कांकरोली में किया गया, जिसकी स्वागत-समिति के सभापति का पद महाराजश्री को और अधिवेशन के अध्यक्ष का पद गोस्वामि श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सूरत) के ज्येष्ठ पुत्र गो० श्रीगोविन्दरायजी को समर्पित किया गया था। मंडल के मंत्री गो० विट्ठलनाथजी महाराज के सहयोग से महाराजश्री ने सर्वविध साहाय्य देकर अधिवेशन की सुव्यवस्था की और जातीय आवश्यक प्रश्नों पर विचारकर उन्हें सफल बनाने का प्रयत्न किया।

इसके अनन्तर शु० वैष्णव वे० महासभा के षष्ठ अधिवेशन की तैयारी की गई, जिसकी स्वागत-समिति के सभापतित्व का भार महाराजश्री ने बड़े हर्ष से लेकर इस कार्य का सम्पादन किया। वैशाख कृष्ण २ से लगातार चार दिन तक कांकरोली में महासभा की बैठक हुई, जिसमें सूरतस्थ गो० श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज के सभापतित्व और कामवनस्थ गो० श्रीवल्लभलालजी महाराज के मन्त्रित्व में महासभा ने अपना कार्यकलाप सम्पादित किया। महाराजश्री ने इस समय स्वागत-सम्बन्ध में एक सुललित समयोचित भाषण दिया, जो मुद्रित कराकर वितरण किया गया था।

यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि—महाराजश्री प्रारंभ से ही जाति-हित के कार्यों में भाग लेते और उसे यथाशक्ति साहाय्य प्रदान करते आये हैं। सं० १९७६ में सर्वप्रथम उक्त महासभा की स्थापना हुई और सं० १९७७ वैशाख मास में बम्बई में प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें महाराजश्री ने जातीय विद्यालय-फंड में एक हज़ार रुपया दान दिया था। सं० १९८० के द्वि० अधिवेशन (नाथद्वारा), सं० १९८१ के त्रि० अधिवेशन (बंबई) में भी महाराजश्री उपस्थित हुए, और सं० १९९१ के पंचम अधिवेशन (अहमदाबाद) में उन्होंने विशेष भाग लेकर उसका कार्य संपादित किया था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उसके छठे अधिवेशन का आमन्त्रण महाराजश्री ने कांकरोली के लिये दिया और आवश्यक व्यय कर उसे सफल बनाया।

इसी प्रकार प्रथमाधिवेशन कांकरोली के ठीक एक वर्ष पूर्व जब 'जातीय युवक-मंडल' की स्थापना अहमदाबाद में हुई, उस समय भी महाराजश्री ने उसे आवश्यक अर्थ-साहाय्य प्रदान कर उज्जीवित किया था। महाराजश्री बाल्यावस्था से ही जाति-हित-सम्बन्धी कार्यों में मनोयोग से भाग लेते आये हैं। आज से लगभग ६-७ वर्ष पूर्व नाथद्वारास्थ तिलकायित नि०

श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज के एकमात्र पुत्र श्रीदामोदरलालजी ने संस्थान, जाति, सम्प्रदाय और धर्म के विरुद्ध आचरण कर वैष्णव-समाज, धार्मिक समुदाय, एवं जाति-संघ में एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित कर दिया था, जिसका एक अलग इत्तिवृत है। उनके स्वर्गवासी हो जाने पर तत्पुत्र, नाथद्वारा के एकमात्र उत्तराधिकारी, वर्तमान तिलकायित चि० श्रीगोविंदलालजी महाराज का जातिसम्मेलन का प्रश्न जटिल हो गया। इधर दामोदरलालजी के पूर्व ही उनके पिताश्री का गोलोकवास हो गया था, जो दामोदरलालजी को अपने उत्तराधिकार से च्युत कर अपने पौत्र गोविंदलालजी को तिलकायित निर्वाचित कर गये थे, परन्तु दामोदरलालजी के संसर्ग में कुछ समय तक रहने के कारण अल्पवयस्क होने पर भी उनका प्रायश्चित्त-प्रसंग आ खड़ा हुआ था, और उन्हें नियमानुसार तिलकायित बनाने का प्रश्न जातीय महापुरुषों के हाथ में था निकटस्थ स्वजन होने के कारण महाराजश्री को भी इसके लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ा। जिसके परिणाम-स्वरूप उनके द्वारा प्रायश्चित्त-व्यवस्था तैयार कराई गई। सं० १९९५ के ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष में महाराजश्री मथुरा पधारे और वहाँ से अन्य जातीय महानुभावों के साथ चि० गोविंदलालजी को सोरों ले जाकर गंगास्नान एवं गोकुल में ठकुरानी घाट पर उनका प्रायश्चित्त करवाया। जिससे उनकी जातिव्यवहार्यता सिद्ध हो सकी। इस विषय में महाराजश्री ने आवश्यक व्यय कर नाथद्वारा के साथ सहयोग का बर्ताव किया, जो परंपरा से दोनो ठिकाने के तिलकायितों में होता चला आया है। प्रस्तुत प्रसंग में महाराजश्री को आर्थिक हानि भी उठानी पड़ी, पर साम्प्रदायिक उत्कर्ष रखने के लिये उन्होंने उसकी परवाह नहीं की।

कांकरोली में अन्नकूट का प्रसंग

इसी प्रसंग में तिलकायित श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज के नित्यलीला-प्रवेश हो जाने और दामोदरलालजी के स्वाधिकार से वंचित कर दिये जाने पर नाथद्वारा में श्रीनाथजी की परिचारकी का प्रश्न उठा, जिसके तय हुए विना अन्नकूट के अवसर पर श्रीद्वारकाधीश को नाथद्वारा पधराने की समस्या भी आ खड़ी हुई। बात यह थी कि—किसी गोस्वामिबालक परिचारक की अनुपस्थिति में स्वयं उपस्थित रहते मुखियाजी श्रीनाथजी की आरती आदि करें, ऐसा महाराजश्री नहीं चाहते थे। ऐसा होने देना एक प्रकार से श्रीनाथजी पर से समस्त गोस्वामिबालकों का परंपराप्राप्त स्वत्व का हटाना और साथ ही एक प्रकार का अपमान भी था। परन्तु इसी बात को लेकर नाथद्वारा के तात्कालिक कर्मचारियों में इस प्रकार का एक दुराग्रह हो गया कि—कांकरोलीवाले महाराजश्री को मुख्य सेवा का अधिकार न दिया जाय और उसे मुखियाजी ही पूरा करें।

इस स्वाधिकार की रक्षा के लिये महाराजश्री ने अन्नकूट पर श्रीद्वारकाधीश को नाथद्वारा नहीं पधराया और लगातार तीन वर्ष तक—जब तक मुख्य परिचारक का प्रश्न हल नहीं हो

गया—कांकरोली में ही अन्नकूट का उत्सव किया। प्रथम वर्ष (सं० १९९१) तो अन्नकूट का इतना कम समय रह गया था कि—उसकी सामग्री भी तैयार नहीं की जा सकती थी, फिर भी महाराजश्री ने प्रभु को परिश्रम न हो और समय पर ही उत्सव किया जा सके, एतदर्थ अपने तत्त्वावधान में शीघ्र से शीघ्र सब व्यवस्था करवाई, जिससे नियत दिन ही श्रीद्वारकाधीश प्रभु कांकरोली में ही विराजकर अन्नकूट आरोगे। इस प्रकार सं० १९९१ से लेकर ९३ तक कांकरोली में ही यह उत्सव होता रहा, जो नाथद्वारावालों के लिये एक विषम समस्या हो गई। अन्त में महाराणा के द्वारा इस प्रश्न का निबटारा किया जाकर इन्दौर के गो० श्रीकृष्णरायजी महाराज को परिचारक नियत किया गया और सं० १९९४ से द्वारकाधीश अन्नकूट पर पुनः नाथद्वारा पधारने लगे।

राजाधिराज-मन्दिर में चित्रोद्घाटन

सं० १९९६ प्रथम श्रावण कृष्ण में महाराजश्री मथुरा पधारे। वहाँ श्रीराजाधिराज के मन्दिर में जगमोहन में प्राचीन समय से चित्रकारी की हुई थी, जो बहुत ही प्राचीन हो जाने से अस्पष्ट हो गई थी। वर्तमान अधिकारी पं० लज्जाशंकरजी ने महाराजश्री से आज्ञा लेकर उसका पुनरुद्धार का कार्य कराया और लगभग २०,०००) रु० व्यय कर एक साल में उसे नवीन रूप में तैयार कराया। नाथद्वारा के चित्रकारों के द्वारा वहाँ की कला के अनुसार साम्प्रदायिक ढंग पर यह कार्य सम्पादित किया गया। जिसमें सम्प्रदाय के १० सेव्य स्वरूप, सातों तिलकायित, सपुत्र श्रीवल्लभाचार्य, तथा एक ओर मन्दिर के संस्थापक पारिखजी से लेकर सेठों की वर्तमान परम्परा तक के चित्र चित्रित किये गये हैं। इसी प्रकार प्रारंभ से लेकर वर्तमान समय तक तृतीय पीठ के समस्त तिलकायित चित्रों में प्रतिष्ठापित किये गये हैं। संक्षेप में यह चित्रावली जहाँ संयुक्त प्रान्त में एक ही होने के कारण दर्शनीय है, वहाँ सम्प्रदाय और मन्दिर के इतिहास का चित्रमय परिदर्शन भी है। जहाँ तक ध्यान है, वर्तमान समय में इतिहास, धर्म तथा कला की दृष्टि से ऐसी चित्रकारी भारत में उपलब्ध नहीं है। महाराजश्री ने जहाँ समय-समय पर वैभव-वृद्धि कर श्रीराजाधिराज की प्रतिदिन सेवा में आनेवाले पात्र भी चाँदी और सोने के बनवा दिये हैं, वहाँ उसकी आन्तरिक व्यवस्था को सुचारु रूप से परिमार्जित करने के साथ ही मन्दिर को दर्शनीय और आकर्षक ढंग से सज्जित कर दिया है। इस चित्रकला की प्रतिष्ठा से विशालता के साथ मन्दिर की शोभा भी चौगुनी हो गई है। इस कलात्मक संग्रह के पूर्ण प्रस्तुत हो जाने पर प्रथम श्रावण कृष्ण १२ के दिन महाराजश्री ने मथुरा जाकर बड़े आकर्षक ढंग से इसका उद्घाटन किया। जिसके अवलोकनार्थ विशाल जनसमुदाय उपस्थित हुआ था।

सं० १९९६ पौष शु० १० के दिन सायंकाल महाराजश्री के द्वितीय पुत्र का प्राकट्य हुआ।

द्वि० पुत्र का प्राकट्य और बीकानेर-यात्रा

महाराजश्री के प्रथम पुत्र चि० श्रीगिरिधरगोपाल का एक वर्ष के बाद देहांत हो जाने से परिवार में जो एक उदासीनता छाई हुई थी, वह द्वि० पुत्र चि० श्रीव्रजेशकुमार के जन्म से अन्तर्हित हो गई। महाराजश्री की मातृश्री ने इसे श्रीप्रभु की कृपादृष्टि समझकर बड़े उत्साह से 'छट्ठी' एवं 'बरही' का प्रस्ताव सम्पन्न कराया। इस आनन्द के उपलक्ष्य में महाराजश्री के फाल्गुन कृ० २ के दिन जन्मोत्सव-दरबार में स्वजन संबंधियों और राज्यकर्मचारियों को वस्त्राभरण प्रदान किये गये। इसके साथ ही महाराजश्री की आज्ञानुसार प्रायः एक लाख तीस हजार की वसूली की छूट देने का एलान किया गया, जिससे निर्धन कृषक प्रजा के प्रति उनका अनुराग और वात्सल्य प्रकट होता है।

इसी वर्ष फाल्गुन में उदयपुर-महाराजकुमार श्रीभगवतीसिंहजी के शुभ विवाहोत्सव पर बीकानेर पधारने के लिये महाराणा ने महाराजश्री के पास आमंत्रण-पत्र भेजा, और आग्रह प्रदर्शित किया। तदनुसार फाल्गुन कृ० ५ के दिन महाराजश्री परिकर-सहित बीकानेर पधारे, जहाँ महाराणा की सूचना के अनुसार बीकानेर-राज्य की ओर से स्वागत-निवासादि का प्रबन्ध किया गया। फा० कृ० ६ के दिन बीकानेर में महाराणा उदयपुर और उनके कुमार की भव्य सवारी निकाली गई, जो दोनों राज्यों की विशिष्टता के साथ घनिष्ठता की द्योतक थी। सायंकाल 'राजविलास' में महाराणा के अतिशय आग्रह पर आचार्य-वेश में ही महाराजश्री उनसे मिलने पधारे। फाल्गुन कृ० ७ के दिन 'वरयात्रा' होने के पूर्व नियमानुसार सम्मान एवं मर्यादा-पूर्वक 'राजविलास' में जाकर महाराजश्री ने महाराणा और राजकुमार को आशीर्वादादि प्रदान कर प्रभु से मंगल-कामना की। इसके अनन्तर राज्य की ओर से निर्धारित 'सुखविलास' स्थान में विराजमान होकर महाराजश्री ने अपने भ्राता-सहित 'वरयात्रा' का जुलूस और सवारी देखी, जो आप ही अपनी उपमा थी।

फा० कृ० ८ के दिन महाराणा साहब के मुक़ाम पर पधारकर महाराजश्री ने बिदा का दस्तूर किया, और आवश्यक दर्शनीय स्थानों का निरीक्षण कर नवमी के दिन कांकरोली को प्रस्थान किया। फा० कृ० ११ के दिन महाराणा का जन्मदिन मेवाड़ की सीमा "खांमली घाट" स्टेशन पर मनाया गया। इस निमित्त मध्याह्न में उनकी स्पेशल आने पर महाराजश्री ने कांकरोली स्टेशन पर पधारकर प्रसादी माला, बीडा, वस्त्र और प्रसाद झिलाकर उनका ससम्मान समाधान किया।

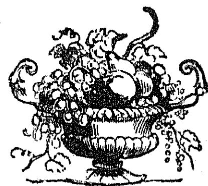
इस प्रकार महाराणा के साथ महाराजश्री को यह प्रथम ही अवसर प्राप्त हुआ, जब उनके आग्रह पर यात्रा की गई हो। महाराणा ने भी समयोचित सम्मान के साथ बाहर भी अपने गुरुघर को गौरव प्रदान किया, जो उनके सौजन्य का निदर्शक है।

महाराजश्री का व्यक्तित्व

वर्तमान महाराजश्री व्रजभूषणलालजी के जीवन-चरित्र के विषय में इन प्रासंगिक कार्यों के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? महाराजश्री नीतिपरायण, प्रतिभासम्पन्न, कलाप्रिय, साहित्य के उन्नायक और विद्याविलासी व्यक्ति हैं, जिनके उक्त कार्यों के द्वारा उनकी मानसिक भावना और अभिरुचि का पता लगता है। वे जहाँ धर्मपरायण, भगवत्सेवा-रसिक और स्वतन्त्रप्रकृति, प्रशान्तचेता हैं, वहाँ कट्टर मातृभक्त और उनकी आज्ञा के परिपालक हैं। वास्तव में उनके वर्तमान जीवन पर जो सात्त्विक, गंभीर और शान्त वातावरण का प्रभाव पड़ रहा है, वह उनकी पूज्य मातृश्री की देन, अथच सत्कार्यों के अनुष्ठान के प्रति जो अभिरुचि है, वह इनका पैत्रिक परंपरा-प्राप्त गुण ही है।

इस स्वल्प समय में भी महाराजश्री के द्वारा ठिकाने की जो उन्नति हुई है, वह एक अभिनन्दनीय कार्य है। मन्दिर की सुव्यवस्था, उसके आवश्यक प्राचीन मकानों का जीर्णोद्धार, नवीन भवनों का निर्माण जहाँ ठिकाने की श्रीवृद्धि करते हैं, वहाँ कई धर्मशालाओं, विद्याभवन और सार्वजनीन संस्थाओं की स्थापना और निर्माण से जनता का उपकार भी हुआ है। नगर में बिजली की रोशनी, लाउड स्पीकर द्वारा जनता को विविध शिक्षा-प्रदान, श्रमजीवियों के लिये रात्रि-पाठशाला, पुस्तकालय और वाचनालय के द्वारा जो जनहित का कार्य किया जा रहा है, वह वास्तव में समयोचित प्रगति है। इन्हीं के समय महाराणा ने रेलवे स्टेशन, चारों ओर यातायात की सुविधा के लिये पक्की सड़कें तथाच राजसमुद्र को 'एम्पीरियल एयरवेज' का स्टेशन बनवाकर जो कांकरोली को अभ्युन्नति का अवसर प्रदान किया है, वह स्मरणीय है। इसी समय यहाँ टेलिग्राफ आफिस खुल जाने से जनता को जो सहूलियत मिल गई है, वह भी एक चिरकांक्षित आशा की पूर्ति है।

वर्तमान महाराणा और महाराजश्री का सहयोग गुरुशिष्य-भाव के होते हुए भी जिस रूप में वर्तमान है, उससे कांकरोली को बहुत कुछ आशाएँ हैं।



परिशिष्ट—१

महाराजश्री के द्वारा संस्थापित मन्दिर

१. पेटलाद श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, श्रीद्वारकेशलालजी को सं० १९७३ में भेट हुआ था। २. चराडा श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, सं० १९७४। ३. सरढव श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, सं० १९७४। ४. बिलोदरा श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, प्रथम यहाँ चित्रसेवा थी, सं० १९७४ में स्वरूप-सेवा पधराई गई। ५. सांगली श्रीद्वारकानाथजी के दो मन्दिर, सं० १९७५। ६. लागणेज श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, सं० १९८०। ७. जैतपुर श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर सं० १९८६। ८. कुकरवाड़ा श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, यहाँ प्रथम चित्रसेवा थी, १९८८ में स्वरूप-सेवा पधराई। ९. टंकारिया श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, सं० १९९४, बाद में बन्द हो गया। १०. कंजरी श्रीद्वारकानाथजी का मन्दिर, सं० १९९४।

इसके अतिरिक्त जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया गया है, उनका नाम-निर्देश महाराजश्री के चरित्र में यथास्थान किया गया है।

परिशिष्ट—२

आगत राजा-महाराजा तथा उमराव अथवा उनकी भेट

संवत्	मिती	नाम
१९७३	कार्त्तिक सुदी ५	लखतर दरबार महाराजा करणसिंहजी।
,,	माघ बदी ११	आमेट रावजी शिवनाथसिंहजी।
१९७४	वैशाख बदी ६	बिजोलिया रावजी केशरीसिंहजी।
,,	ज्येष्ठ सुदी १३	धरयावद रावजी जसवन्तसिंहजी।
१९७४	कार्त्तिक सुदी ५	फ़तहगढ़ माजी साहब चूड़ावतजी तथा मेजा माजी साहब चौहानजी।
,,	,, ,, ११	मेजा रावजी के कुँवरजी तथा खेमसल 'मारवाड़' के ठाकुर साहब।

१९७६	वैशाख कृष्ण २	महाराणा फ़तहसिंहजी आये और महाराजश्री की गादी का दस्तूर किया। बाद में पंचमी के दिन महाराणा तथा रानीजी ने महाराजश्री के यज्ञोपवीत-संस्कार की खोल आदि का दस्तूर किया।
,,	कार्त्तिक बदी ८	कुरावड रावजी।
,,	आश्विन बदी १४	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी।
,,	पौष सुदी १०	,, ,, ,, ,,
१९७७	आषाढ़ सुदी ५	महाराणा फ़तहसिंहजी की ओर से सं० १९७५ से प्रतिवर्ष गायों के चारे के लिये १००० रु० निश्चित किया गया, सो सं० ७५ तथा ७६ का भेट किया गया।
,,	भाद्रपद बदी ११	कृष्णगढ़-नरेश महाराजा यज्ञनारायणसिंहजी।
,,	आश्विन बदी १४	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी।
,,	माघ सुदी ३	उदयपुर महाराणा फ़तहसिंहजी तथा महाराजकुमार भूपालसिंहजी।
,,	माघ सुदी ७	ध्रांगधरा के रानीजी, आमेट रावजी के बाईजी।
,,	फाल्गुन सुदी २	कानोड रावजी केशरीसिंहजी सकुटुम्ब आये, कुँवर को कंठी-बँधाई।
,,	चैत्र बदी १	गोगुन्दा रावजी मनोहरसिंहजी।
१९७८	मार्ग० बदी २	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी।
१९७९	कार्त्तिक सुदी ४	शाहपुरा राजाधिराज नाहरसिंहजी।
,,	माघ सुदी १५	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी तथा उनके माजी साहब।
१९८०	वैशाख बदी १३	गढ़ा डूँगरपुर बाँसवाड़ा रावजी हिम्मतसिंहजी रायसिंहजी तथा उनके माजी साहब।
,,	मार्ग-कृष्ण ६	पीपलाद ठाकुर भरतसिंहजी ने कंठी बँधाई।
,,	पौष सुदी ८	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी जनाना-सहित।
१९८१	वैशाख बदी ३०	बनेडा (शाहपुरा के पास) राजाजी के कुँवर प्रतापसिंहजी।
१९८२	आषाढ़ बदी १४	उनियारा के माजी सीसोसदयानीजी। (गुमानसिंहजी की रानी और बनेडा के बाईजी)
१९८२	आश्विन सुदी १२, १३	देवगढ़ रावजी के कुँवर माजी तथा रानी साहब।
१९८३	पौष बदी २	पोरबन्दर तथा भावनगर के रानीजी।
१९८४	ज्येष्ठ सुदी १४	काँकरवा ठाकुर के कुँवरजी महेन्द्रसिंहजी।

१६८४	श्रावण सुदी ६	आमेट रावजी गोविन्दसिंहजी ।
,,	आश्विन सुदी ३	,, ,, ,, तथा माजी साहब ।
,,	माघ बदी १०	देलवाड़ा रावजी जसवन्तसिंहजी जनाना-सहित ।
१६८५	श्रावण बदी २	भींडर महाराजा मानसिंहजी ।
,,	फाल्गुन सुदी ३	वानसी रावजी तख़्तसिंहजी ।
,,	चैत्र बदी ५	बेगूँ रावतजी सवाई अनूपसिंहजी की तरफ़ से नगद तथा सोना-चाँदी के दागीना भेट ।
१६८६	ज्येष्ठ सुदी ३	आमेट रावजी गोविन्दसिंहजी तथा माजी ।
१६८७	,, १२	गाम मसोदा (जिला अजमेर) के ठाकुर रावजी विजयसिंहजी ।
,,	आषाढ़ बदी १	आमेट रावजी गोविदसिंहजी, केलवा ठाकुर दौलतसिंहजी और ज.लोला ठाकुर ।
,,	,, सुदी १०	खिलचीपुर (रामपुरा) रानीजी तथा माजी साहब ।
,,	ज्येष्ठ सुदी १	महाराणा फ़तहसिंहजी के देवलोक हो जाने पर सामान-सहित घोड़ा-हाथी तथा ३० गाएँ भेट ।
१६८८	आषाढ़ सुदी ४	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी ।
१६८७	कार्त्तिक सुदी ५	महाराणा भूपालसिंहजी ।
१६८८	,, सुदी ३	वांसी रावजी तथा गोगुंदा रावजी ।
,,	फाल्गुन सुदी ४	वनेडा राजाजी अमरसिंहजी ।
१६८६	भाद्र बदी २	हथुवा-नरेश गुरु महादेवप्रसाद आश्रम शाही (जिला सारंग)
,,	कार्त्तिक सुदी ८	महाराणा भूपालसिंहजी । कार्त्तिक सुदी १३ के दिन महाराजश्री से नाम सुनकर कंठी बँधवाई ।
१६६०	फाल्गुन सुदी १२	वोयडा रावजी नाहरसिंहजी ।
१६६१	,, बदी १२	ज्ञानगढ़ रावजी शंभूसिंहजी ।
,,	कार्त्तिक सुदी २	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी ।
,,	,, ३, ४	किशनगढ़-नरेश यज्ञनारायणसिंहजी ।
१६६२	चैत्र सुदी ११	धर्मपुर (जिला सूरत) के महाराणा विजयदेवजी ।
,,	वैशाख बदी ८	सीतामऊ महाराजा रामसिंहजी ।
,,	,, सुदी ५	गाम विदासद के ठाकुर प्रतापसिंहजी हीरासिंहजी ।
१६६१	पौष कृष्ण ६	गाम सावर (जिला अजमेर) के दरबार वंशप्रदीपसिंहजी ।

१९९२	पौष सुदी ७	देवगढ़ रावजी विजयसिंहजी।
,,	,, ८	महाराणा भूपालसिंहजी।
१९९३	कार्त्तिक बदी १४	लखतर दरबार के कुँवरजी गंभीरसिंहजी।
,,	,, सुदी १	बिजोलिया रावजी केशरीसिंहजी।
,,	माघ बदी ३०	दरभंगा-नरेश के भाई बलेश्वरसिंहजी।
,,	माघ बदी ६	लखतर दरबार के बड़ी रानी बड़े कुँवर सकुटुम्ब।
१९९४	कार्त्तिक सुदी ३	भीडर-महाराजा मानसिंहजी।
,,	,, ६	महाराणा भूपालसिंहजी सकुटुम्ब। नाथद्वारा में द्वारकाधीश के अन्नकूट पर दर्शन किए, और फिर यहाँ आकर चारभुजा गये, बाद में विद्या-विभाग की संस्थाओं का उद्घाटन किया।
,,	फाल्गुन बदी ३०	बमबोरा ठाकुर शंभूसिंहजी।
१९९५	कार्त्तिक बदी ६	बनेडा राजाजी अमरसिंहजी।
,,	पौष सुदी ३०	गाम तानाराज रत्नसिंहजी सकुमार।
१९९६	आषाढ़ सुदी ८	उदयपुर महाराजकुमार भगवतीसिंहजी। जो इसी वर्ष महाराज-कुमार बनाये गये*।

परिशिष्ट—३

श्रीलाडिलेशजी (बुरहानपुर) के सम्बन्ध में आख्यायिका और विचार

यह लाडिलेशजी का स्वरूप—जिनका बुरहानपुर के प्रतापपुरा में मन्दिर है—महावन की एक क्षत्राणी वैष्णव को यमुनाजी में प्राप्त हुए थे। उसने ले जाकर उन्हें श्रीवल्लभाचार्य के पास पधरा दिये। इस विषय में ऐसा लिखा है†—

जियादास क्षत्री सूरत का निवासी था। यह वल्लभाचार्य के द्वारा प्राप्त लाडिलेशजी की सेवा चार प्रहर ही कर पाया था कि गत हो गया। इसके बाद उसके पुत्र पुरुषोत्तमदास और छबीलदास ने सेवा की। बाद में उसके मामा कृष्णदास चौपड़ा और उसके भी गत हो जाने पर

* प्राचीन रोकड़ों के आधार पर। † ८४ वैष्णव की वार्ता सं० १६।

उसके मित्र हरिजी और मथुरामल्ल ने साथ रहकर सेवा की। हरिजी ने डेढ़ साल तक सेवा कर इस स्वरूप को गुसाईंजी के घर पधरा दिया था।

विट्ठलनाथजी गुसाईंजी के द्वारा यह स्वरूप तृतीय पुत्र बालकृष्णजी को प्राप्त हुआ और द्वारकाधीश के समीप विराजा।

बालकृष्णजी (तृ० पुत्र) के वंश में उनके तृतीय पुत्र व्रजभूषणजी के पौत्र वल्लभजी* हुए, जिनका जन्म सं० १६७१ फा० शु० १२ है (कहीं १६६१ भी मिलता है)। इनके पुत्र व्रजभूषणजी और गोपालजी हुए। ये 'काका गोपालजी' इस नाम से प्रसिद्ध हुए और बड़े भाई व्रजभूषणजी (प्र०) के साथ कांकरोली आये। इनके पुत्र द्वारकानाथजी के बाद कोई वंश-परंपरा नहीं चली।

इसके बाद कांकरोली के तिलकायित गिरिधरलालजी द्वि० (भवाईवालों) के तृतीय पुत्र वल्लभजी हुए, जिनका जन्म सं० १७८१ वैशाख कृष्ण ६ है। ये कांकरोली के मथुरानाथजी के मंदिर के मालिक हुए। इनके पुत्र गोपालजी (द्वि०) हुए और उनके प्रथम पुत्र श्रीवल्लभजी (द्वि०) हुए, जिनका जन्म सं० १८४३ चैत्र बदी ३ है।

जैसा आगे कहा जायगा, वल्लभजी के किसी उत्तराधिकारी के अभाव में लाडिलेशजी ठाकुरजी को वेरावलवाले गो० गोकुलनाथजी चुराकर ले गये। इन गोकुलनाथजी के पुत्र मगनलालजी महाराज, उनके नृसिंहलालजी महाराज और उनके गोवर्द्धनलालजी महाराज निवास बंबई में था।

तिलकायित व्रजभूषणजी (द्वि०) ने अपने छोटे भाई वल्लभजी को मथुरानाथजी का स्वरूप देकर उनके साथ सं० १७६८ में बटवारा कर लिया था†। इसके बाद तीन पीढ़ी तक इनकी परंपरा बराबर चली आई और बाद में द्वारकेशजी के गोपाललालजी महाराज (लालालहरी) कोटा से गोद आये, और उनके बाद गो० विट्ठलनाथजी महाराज, जो सम्प्रति मथुरानाथजी के मन्दिर के स्वामी हैं।

यदि गिरिधरजी (द्वि०) के तृतीय पुत्र वल्लभजी को बुरहानपुर के इस मन्दिर का संस्थापक माना जाय, तो वह मन्दिर सम्प्रति मथुरानाथजी के अन्तर्गत होना चाहिये, न कि द्वारकाधीश के घर की अधीनता में। अतः ऐसा मानने को विवश होना पड़ता है कि—व्रजभूषणजी (द्वि०) ने इस मन्दिर को बटवारे में अपने भाई वल्लभजी (प्र०) को न देकर अपने स्वामित्व में ही रक्खा, जो उसी समय से परंपरा से इसी घर की अधीनता में चला आया है। उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति में ठाकुरजी के चोरी चले जाने का अवसर काका गोपालजी

* इनके हस्ताक्षर की कई पुस्तकें विद्या-विभाग में विद्यमान हैं, जिनमें सबसे प्राचीन सं० १६८२ भाद्र बदी २ की लिखी पुस्तक (सं० पु० बन्ध ५६, ७) है, जिससे इनका समय इसके बाद माना जा सकता है।

† देखो प्रस्तुत इतिहास, पत्र १७२।

के पुत्र द्वारकानाथजी (ज० सं० १७४८ भा० शु० १) के अनन्तर ही आ सकता है, जो वल्लभजी के पौत्र थे।

एक वल्लभजी (ज० सं० १७१३ कार्त्तिक शु० ७) तृतीय पुत्र बालकृष्णजी के* पंचम पुत्र व्रजालंकारजी के पौत्र और विट्ठलरायजी के पुत्र हुए हैं, परंतु इनकी संतति-परम्परा बराबर चली गई है। इन्हीं विट्ठलरायजी के द्वितीय पुत्र रणछोड़जी के द्वितीयात्मज एक वल्लभजी (ज० सं० १७४६ चैत्र शु० ४) और भी हुए हैं, जिनका वंश नहीं चला। संभव है, इनके बाद उनकी पत्नी (माजी महाराज) ने लाडिलेशजी को बालकृष्णजी की परंपरा होने के कारण कांकरोलीवालों को सौंप दिया हो। फिर भी इसका यथार्थ निर्णय नहीं किया जा सकता, जब तक कि पूर्ण गवेषणा न कर ली जावे।

'गोवर्द्धनलालजी महाराज के ४२ वचनामृत' नामक पुस्तक में लाडिलेशजी के चोरी जाने के प्रसंग का सारांश इस प्रकार दिया है—

"मथुरेशजी के मन्दिर (कोटा) के तिलकायित गोवर्द्धनरायजी के छोटे भाई गोकुलनाथजी किसी खटपट से अलग होकर जूनागढ़ में गुसाईंजी के सेव्य श्रीमदनमोहनजी का मन्दिर बनवाकर रहने लगे। प्रदेश करते हुए वे बुरहानपुर गये और वहाँ मन्दिर में लाडिलेशजी की सेवा करने लगे। यह स्वरूप महाप्रभुजी का सेव्य था। अतः उसे ले जाने का उन्होंने विचार किया। इस समय मन्दिर में कोई गोस्वामिबालक उत्तराधिकारी नहीं था, केवल वैष्णवों की देखरेख ही थी। गोकुलनाथजी ने वैसा ही दूसरा स्वरूप बनवाकर वहाँ रख दिया, और उक्त स्वरूप को एक डोकरी के साथ अपने स्थान बेरावल भिजवा दिया। कुछ दिनों बाद वहाँ से स्वयं भी चले गये, और वेरावल जाकर उन्होंने लाडिलेशजी का मन्दिर बनवाया और सेवा की।"

इस प्रसंग में बुरहानपुर के वैष्णव-समाज द्वारा ज्ञात हुआ था कि—जब गोकुलानाथजी ठाकुरजी को चुराकर रवाना हो गये, तो वहाँ के वैष्णवों ने दूसरे दिन अगले पड़ाव पर जाकर ठाकुरजी को छीन लिया और वापिस मन्दिर में ले जाकर पधराया था। इस प्रकार दोनों पक्षों का कथन है कि—असली ठाकुरजी हमारे पास हैं और दूसरे के पास उनके प्रतिनिधि। वास्तव में क्या ठीक है, कहा नहीं जा सकता। अस्तु।

"लाडिलेशजी को चुराकर ले जानेवाले गोकुलनाथजी के कोई पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने वृद्धावस्था में गोवर्द्धनलालजी (४२ वचनामृतकर्ता) के पितामह द्वारकेशजी को ठाकुरजी देकर वेरावल में रखना चाहा, पर उन्होंने नाथद्वारा में रहकर श्रीनाथजी की सेवा करने के कारण इसे स्वीकार नहीं किया। तब गोकुलनाथजी ने अपना यह मन्दिर और ठाकुरजी लाडिलेशजी

* देखो वंशानुक्रम सं० ३, प्रस्तुत ग्रंथ।

गो० मगनलालजी महाराज को दे दिया, जो सम्प्रति (४२ वचनामृत के रचयिता के समय) सेवा करते हैं।"

उक्त वचनामृत में इस प्रकार उल्लेख किया गया है। स्थानीय वैष्णव-समाज के द्वारा ज्ञात हुआ था कि—इस मन्दिर में बहुत समय तक किसी माजी महाराज (गोस्वामिनी, विधवा बहूजी) ने अपने पति के बाद सेवा की थी, और उनके अनन्तर यह मन्दिर कांकरोली के अन्तर्गत हुआ था। मन्दिर में अब भी माजी महाराज की गद्दी है।

प्रस्तुत वृत्तान्त के सिवा अभी यह तय नहीं हो सका है कि—(१) 'तापीपुरस्थ' इस शब्द को लिखनेवाले वल्लभजी महाराज कौन थे ? (२) बुरहानपुर में मन्दिर की स्थापना किसने कब की ? (३) लाडिलेशजी ठाकुरजी चोरी कब गये, और (४) यह माजी महाराज कौन थे, तथा (५) यह मन्दिर कांकरोली के तिलकायितों की अधीनता में कब आया। फिर भी जो संकेत मिला है, उसका यहाँ उल्लेख कर दिया गया है।

परिशिष्ट—४

तिलकायित महाराजश्री और समकालीन महाराणा

तिलकायित सं०	महाराजश्री	महाराणा
३	गिरिधरजी (प्र०) गोकुल	जगतसिंहजी (प्र०)
	ज० सं० ति० सं० नि० सं०	ज०सं०रा०सं०देवलोक सं०
	१६६२ । १६७० । १७१८,१६	१६६४ । १६८४ । १७०६
४	व्रजभूषणजी (प्र०) आसोटिया	राजसिंहजी (प्र०)
	१७०० । १७१८,१६ । १७५८	१६८६ । १७०६ । १७३७
		जयसिंहजी
		१७१० । १७३७ । १७५५
५	गिरिधरजी (द्वि०) कांकरोली	अमरसिंहजी (द्वि०)
	१७४५ । १७५८ । १८०३	१७२६ । १७५५ । १७६७
		संग्रामसिंहजी (द्वि०)
		१७४७ । १७६७ । १७६०
६	व्रजभूषणजी (द्वि०)	जगतसिंहजी (द्वि०)
	१७६५ । १८०३,४ । १८३३	१७६६ । १७६० । १८०८

		प्रतापसिंहजी (द्वि०) १७८१ । १८०८ । १८१०
		राजसिंहजी (द्वि०) १८०० । १८१० । १८१७
		अरिसिंहजी (द्वि०) १७६७ । १८१७ । १८२६
७	विट्ठलनाथजी १८११ । १८३४ । १८४८, ४६	हमीरसिंहजी १८१८ । १८२६ । १८३४
८	व्रजभूषणजी (तृ०) १८३५ । १८४६ । १८७६	भीमसिंहजी १८२४ । १८३४ । १८८५
६	पुरुषोत्तमजी १८४७ । १८७६ । १६०३	जवानसिंहजी १८५७ । १८८५ । १८६५
		सरदारसिंहजी १८५५ । १८६५ । १८६६
१०	गिरिधरलालजी (च०) १८६८ । १६०८ । १६३५	सरूपसिंहजी १८७१ । १८६६ । १६१८
		शम्भूसिंहजी १६०४ । १६१८ । १६३१
११	बालकृष्णलालजी १६२४ । १६३६ । १६७३	सज्जनसिंहजी १६१६ । १६३१ । १६४१
१२	द्वारकेशलालजी १६६४ । १६७३ । १६७४	फतहसिंहजी १६०६ । १६४१ । १६८७
१३	श्रीव्रजभूषणलालजी (च०) वर्तमान तिलकायित १६६८ । १६७६ । विराजमान	श्रीभूपालसिंहजी वर्तमान महाराणा १६४० । १६८७ । विराजमान

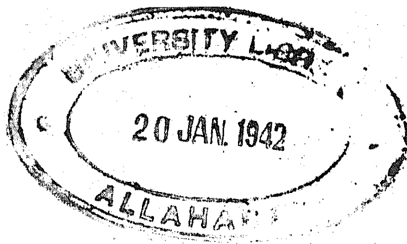
सर्वप्रथम महाराणा जगतसिंहजी (प्र०) गोकुल में महाराजश्री गिरिधरलालजी (प्र०) की वैष्णव-दीक्षा लेकर शिष्य हुए। 'आसोटिया' गाँव इसी समय भेट आया। इसके अनन्तर वर्तमान समय तक सभी महाराणा राज्याभिषेक के पहिले अथवा बाद में उक्त दीक्षा लेते आये हैं, और राज्याभिषेक के समय कांकरोली के तिलकायित उदयपुर जाकर महाराणा को तिलक करते आये हैं, जिसका यथास्थान उल्लेख किया गया है।

——:०:——



गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराज
प्रा० सं० १९७० माघ कृ० ६

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ



श्रीविट्ठलनाथजी महाराज

(जन्म सं० १९७०, विराजमान सं० १९९९)

गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराज का जन्म सं० १९७० माघ कृष्ण ६ भौमवार के दिन * अहमदाबाद में हुआ। जैसा प्रथम कहा जा चुका है, इनकी मातृश्री का नाम श्रीसौन्दर्यवती माजी महाराज है, और पिता का नाम श्रीबालकृष्णलालजी महाराज। यह कुल चार भ्राता थे, जिनमें इनसे बड़े श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज कांकरोली के तिलकायित-पद पर विराजमान हैं, और शेष दो का छोटी वय में ही नित्यलीला-प्रवेश हो गया था। सं० १९७३ में पिताश्री के गोलोकवास के समय इनकी अवस्था लगभग ३ वर्ष की थी।

जन्म और शिक्षा

विट्ठलनाथजी और उनके ज्येष्ठ भ्राता गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज का प्रारंभ से ही साहचर्य रहता आया है, और इसी कारण इनका जीवन-चरित्र धारावाहिक रूप में साथ साथ ही चला जाता है, अतः विशेष प्रसंगों को छोड़कर शिक्षा, अध्ययन, प्रदेश-भ्रमण, यात्रा और धर्मप्रचार के विषय में यहाँ कुछ न कहकर हम पाठकों का ध्यान इनके ज्येष्ठ भ्राता के चरित्र की ओर आकृष्ट करते हैं। साथ रहने के कारण इनकी मातृश्री और अन्य अभिभावकों की जहाँ दोनों भाइयों पर एक-सी ही वात्सल्यमयी दृष्टि रही आई है, वहाँ महाराणा द्वारा प्राप्त सम्मान में भी कुछ खास प्रसंगों को छोड़कर प्रायः समान ही बर्ताव होता आया है। अस्तु। यहाँ आवश्यक बातें लिख देना ही प्रासंगिक प्रतीत होता है।

---

* जन्मकुंडली—

संवत् १९७० शाके १८३५ प्रवर्तमाने वर्षे माघ मासे कृष्ण पक्षे ६ तिथौ भौम वासरे इष्ट घटी २४, १० सू० ९, ५, ३० लग्न २, ५, २५ समये श्रीबालकृष्ण चतुर्थात्मज श्रीविट्ठलनाथजी जन्म—



सं० १६७४ कार्त्तिक शुक्ल ८ गुरुवार के दिन श्रीमथुरेशजी (छोटे मन्दिर) की सामयिक अधिष्ठात्री श्रीमहाराणी बहूजी महाराज ने इनको गोद लेकर अपने पति श्रीगोपाललालजी महाराज का उत्तराधिकारी बनाया। यह बहूजी श्रीगोपाललालजी महाराज (जिन्हें 'लालालहरी' और 'बडाल्लावाले' महाराज भी कहते थे) की द्वितीय धर्मपत्नी थीं, और अपने पति के अनन्तर मन्दिर का कार्य चलाती थीं। इनका विचार पहिले महाराजश्री के द्वि० ज्येष्ठ भ्राता पुरुषोत्तमलालजी को गोद लेने का था, पर उनके असामयिक निधन हो जाने से विट्ठलनाथजी महाराज को उन्होंने अपना उत्तराधिकारी बनाया और आवश्यक लिखा-पढ़ी कर महाराणा श्रीफ़तहसिंहजी से इसकी स्वीकृति ली।

गोद जाना

कांकरोली में विद्यमान छोटा मन्दिर—जिसमें श्रीमथुरेशजी का स्वरूप विराजता है—अपनी पृथक् विशेषता रखता है, जिसका प्रासंगिक वर्णन इस प्रकार है—

पूर्व वंशपरंपरा

श्रीमथुरेशजी अथवा मथुरानाथजी के मन्दिर के अधिपति गोस्वामिबालक, तृतीय पीठ के प्रथम तिलकायित श्रीबालकृष्णलालजी महाराज की वंशपरम्परा में है। उनके प्रथम पुत्र की वंश-समाप्ति पर उन्हीं के पौत्र कांकरोली के तृ० तिलकायित गिरिधरजी (प्र०) ने सं० १७१७ में व्रजभूषणजी (प्र०) को दत्तक लिया, जो बालकृष्णजी के तृतीय पुत्र व्रजभूषणजी के पौत्र वल्लभजी (प्र०) के प्रथम पुत्र थे। व्रजभूषणजी के छोटे भाई गोपालजी का जन्म सं० १७१० ❀ आश्विन कृष्ण १४ को हुआ था। सं० १७१७ में इनके भाई व्रजभूषणजी (प्र०) श्रीद्वारकाधीश के घर के तिलकायित हुए, और कौटुम्बिक झगड़े के कारण गोकुल छोड़कर अहमदाबाद और वहाँ से आसोटिया (कांकरोली) आये। यह भी कांकरोली में आकर अपने भाई के साथ रहने लगे। अतः उस समय तक, जब तक इनके बड़े भाई विद्यमान रहे, इन्हें अपना पृथक् मन्दिर स्थापित करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इनके समीप वंशानुक्रम से सेवार्थ श्रीमथुरानाथजी का स्वरूप विराजता था, जो वल्लभाचार्य के सेव्य और 'गोविन्द भल्ला' के ठाकुरजी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सं० १७५८ में व्रजभूषणजी (प्र०) के अनन्तर तत्पुत्र गिरिधरजी (द्वि०) तृतीय पीठ के तिलकायित हुए, जो गोपालजी के भतीजा थे। इसी समय से यह 'काकाजी गोपालजी' इस नाम से और इनके रहने का स्थान 'काकाजी का कोठा' नाम से विदित हुआ, जो आज भी विद्यमान है।

❀ सं० १७२५ का लिखा हुआ इनका जन्म-काल घटनाक्रम से ठीक नहीं जँचता।

काका गोपालजी ने अपने भाई व्रजभूषणजी (प्र०) के गोलोकवासी हो जाने पर आगे कोई वंश में झगड़ा न हो, एतदर्थ अपने सेव्य स्वरूप मथुरानाथजी का अलग प्रबन्ध करने का विचार किया। उन्होंने प्रदेश-परिभ्रमण द्वारा राजा-महाराजाओं से परिचय बढ़ाया और इस प्रकार ज़मीन-जागीर प्राप्त कीः—

ज़मीन, जागीर और गाँव

सं० १७६१ मार्गशीर्ष २ शनिवार के दिन उदयपुर के महाराणा अमरसिंहजी ने महाराजश्री को बडाल्ला (बराडडा) (परगना कोठारिया) नामक गाँव भेट किया।

सं० १७६८ (कार्त्तिकादि १७६७) चैत्र सुदी ३ को कोटा के महारावजी भीमसिंहजी ने मौज़ा गाँवडी (परगना कोटा) भेट किया।

सं० १७७२ वैशाख बदी १० के दिन उदयपुर के महाराणा संग्रामसिंहजी ने जवास्या (परगना गंगार) भेट किया, और इसी वर्ष मार्ग० बदी अमावस के दिन जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंहजी ने लाखनपुरा (परगना लालसोट) भेट किया। यह गाँव सोमवती अमावस्या के दानपुण्य में त्रिवेणी नदी (परगना भोरासा ?) पर संकल्प कर प्रदान किया था, जिससे विदित होता है कि—उस समय महाराजश्री भी जयपुर-नरेश के साथ यात्रा में विद्यमान थे।

सं० १७७३ आश्विन शु० १० गुरुवार के दिन महाराजा दलसिंहजी ने अपने दलसिंहपुरा में से ५१ बीघा ज़मीन महाराजश्री को हरिद्वार में गंगास्नान करते समय संकल्प करके दी, जिससे उनकी उस समय उपस्थिति विज्ञात होती है। इस प्रकार इन्होंने परिश्रम कर अपने ठाकुरजी मथुरानाथजी के सेवा-सौकर्य के लिये आवश्यक जायदाद पैदा कर ली थी।

ऐसा विदित होता है कि—यह काका गोपालजी सं० १७७५—८० तक विद्यमान रहे। इनके कोई सन्तति नहीं थी, अतः गोलोकवासी हो जाने के बाद सम्पत्ति के अधिकारी इनके भतीजे गिरिधरलालजी (द्वि०) हुए, जो उस समय कांकरोली के पंचम तिलकायित थे।

वंश-परम्परा और बटवारा

गिरिधरजी (द्वि०) के प्रथम पुत्र व्रजभूषणजी (द्वि०) नीतिवाले, (जन्म सं० १७६५) द्वितीय पुत्र बालकृष्णजी (ज० सं० १७६८ आषाढ़ शु० ८) और तृतीय पुत्र वल्लभजी (द्वि० ज० सं० १७८१ ज्येo कृष्ण ६) हुए। वल्लभजी (द्वि०) को सं० १७९८ ज्येष्ठ शु० १५ को जयपुर के मदनमोहनजी मन्दिर के गोस्वामि श्रीव्रजोत्सवजी सोमायाजी ने गोद लिया और इसी वर्ष गिरिधरजी महाराज (द्वि०) की इच्छानुसार उनके बड़े पुत्र व्रजभूषणजी (द्वि० नीतिवाले) ने दोनो भाइयों के लिये आपसी बटवारा कर लिखत-पढ़त कर ली *।

* सं० १७९८ मार्गशीर्ष शु० ५ के दिन लिखी गई यह फारकती व्रजभूषणजी (द्वि०) के चरित्र—पत्र १७२—में प्रकाशित की गई है।

इससे विदित होता है कि—इसी समय से मथुरानाथजी का अलग मन्दिर बनना शुरू हुआ। महाराजश्री वल्लभजी (द्वि०) ने व्रजभूषणजी से माँगकर कांकरोली में जमीन ली, जहाँ अपना अलग निवासस्थान भी साथ में बनवाना शुरू किया। इन्होंने प्रदेश परिभ्रमण कर सेवार्थ खूब द्रव्य एकत्रित किया और राजा-महाराजाओं से मिलकर गाँव और जमीनें प्राप्त कीं।

सं० १८०५ में जयपुर के महाराजा ईश्वरीसिंहजी ने गद्दी पर बैठने के बाद सं० १७७२ में दिये हुए अपने पिता के गामों की दाखिल खारिज इनके नाम पर की *। जिससे अवगत होता है कि—इस समय के पूर्व काका गोपालजी का नित्यलीला-प्रवेश हो चुका था।

सं० १८१० ज्येष्ठ सुदी १३ के एक पत्र से विदित होता है कि—इस वर्ष व्रजभूषणजी (द्वि०) ने काकाजी गोपालजी के नाम पर प्राप्त हुए पाँच गाँव क़र्ज़ से निकालकर अपने भाई वल्लभजी (द्वि०) को सौंपे और उनसे ११००१ रु० का खत लिखवा लिया। यह झगड़ा माजी महाराज मित्रवृन्दा बहूजी ने आपस में तय कराया था। †

सं० १८१५ आषाढ़ बदी ५ के दिन कोटा के महारावजी शत्रसालसिंहजी ने भी काका गोपालजी के नाम पर सं० १७६८ में और सं० १७७२ में दिये गये दोनों गाँवों का दाखिल खारिज वल्लभजी (द्वि०) के नाम कर दिया, जिसकी सालाना उपज क्रमशः २५०० और १५०० थी।

वल्लभजी (द्वि०) के सं० १८२६ ज्येष्ठ कृष्ण १ के दिन पुत्र गोपालजी (द्वि०) का जन्म हुआ। ये बड़े प्रतापी हुए। इन्होंने प्रदेश परिभ्रमण कर अच्छा द्रव्य एकत्रित किया। ऐसा प्रसिद्ध है कि—इन्होंने कोटा का भ्रमण कर वहाँ के नरेश से घनिष्ठता बढ़ाई, जिसके फलस्वरूप इन्हें बहुत-सी जागीर मिली थी। जिसमें से कई गाँव इन्होंने श्रीनाथजी के लिये भेंट कर दिये थे।

श्रीगोपालजी महाराज (द्वि०) के निम्न-लिखित पुत्र हुए—

१ वल्लभजी (तृ०)	प्रा० सं० १८४३ चैत्र कृष्ण ३
२ व्रजवल्लभजी	,, ,, १८४६ चैत्र कृष्ण १३
३ व्रजपालजी	,, ,, १८६० वैशाख शु० ५

इनमें वल्लभजी (तृ०) अपने पिता गोपालजी (द्वि०) के अनन्तर मथुरानाथजी के मन्दिर के अधिपति हुए, और व्रजपालजी जयपुर के मदनमोहनजी के मन्दिर में गोद चले गये।

वल्लभजी (तृ०) के सं० १८७५ माघ शु० ५ के दिन पुत्र द्वारकेशजी का जन्म हुआ। जो

* लिखित परवाना सं० १८०५ प्र० भाद्रपद सुदी ५ का है।
† व्रजभूषणजी (द्वि०) के चरित्र-पत्र १८० में मुद्रित पत्र।

अपने पिता के बाद मन्दिर के मालिक हुए और उसकी वैभव-वृद्धि की। इनके कोई पुत्र नहीं हुआ अथवा जीवित नहीं रहा। अतः अपने अन्तिम समय में इन्होंने कोटा की गोस्वामि-परम्परा से गोपाललालजी को गोद लिया।

श्रीगोपाललालजी महाराज का प्राकट्य सं० १८१२ भाद्रपद कृष्ण १४ को हुआ था। ये आगे चलकर 'लाला लहरी' नाम से प्रख्यात हुए। अपनी इच्छानुसार काम करना और उसके परिणाम की ओर ध्यान न देना यह इनकी विशेषता थी, अतः स्वजन-सम्बन्धी इन्हें इस नाम से संबोधित किया करते थे। ये संगीत और वाद्यविद्या के पारंगत थे। सितार बजाने में उस समय इनके समान कोई व्यक्ति नहीं था। ये महानुभाव और चमत्कारी पुरुष थे और प्रदेश में कई व्यक्तियों ने इनके कुछ चमत्कार देखे थे, ऐसा कहा जाता है। अपने जीवन के विशेष समय में इन्होंने श्रीनाथजी की परिचारकी की सेवा की, और 'हरिभक्तिचन्द्रिका' नामक सेवा-शृंगार का एक ग्रन्थ लिखवाया, जो सरस्वती-भंडार कांकरोली में विद्यमान है।

इनके सामयिक कांकरोली के तिलकायित श्रीगिरिधरलालजी महाराज (च०) हुए।

बडाल्ला जाकर बसना

सं० १८३० में इनसे और गोपाललालजी महाराज से आपसी झगड़ा हो गया। कांकरोली के तिलकायितों को महाराणा की ओर से जो सम्मान प्राप्त है, वह इस छोटे मन्दिर के महाराजश्री को नहीं है, क्योंकि श्रीद्वारकाधीश का घर महाराणा का गुरुघर है। इस कारण एक समय मान-मर्यादा के प्रश्न को लेकर दोनों में तनातनी बढ़ गई और कुछ समीपवर्ती मनुष्यों ने दोनों ओर अशान्ति फैलाकर अपना मतलब निकाला।

कांकरोली के तिलकायित अथवा ठाकुरजी की सवारी में प्राचीन प्रथा के अनुसार नगाड़ा-निसान चलता आया है। चमर, छत्र, छड़ी, घोटा आदि राजकीय चिह्न कांकरोली के महाराजश्री के अतिरिक्त कांकरोली में अन्य किसी को रखने का अधिकार नहीं है। जहाँ तक दोनों मन्दिरों के गोस्वामिबालकों में सौजन्य-पूर्ण भ्रातृभाव विद्यमान रहता आया, तब तक यह समस्या उपस्थित नहीं हुई। पर इस समय किन्हीं बातों को लेकर बड़े मन्दिरवाले महाराज श्रीगिरिधरलालजी और छोटे मन्दिरवाले महाराज श्रीगोपाललालजी में मनोमालिन्य बढ़ गया।

महाराज श्रीगोपाललालजी ने गिरिधरलालजी की देखादेखी कांकरोली में अपनी भी सवारी निकालना और राज्य-चिह्न धारण करना शुरू कर दिया। मन्दिर के चौक में जहाँ महाराजश्री या महाराणा को छोड़कर किसी अन्य को सवारी में बैठकर आने का मान प्राप्त नहीं है, वहाँ एक दिन गोपाललालजी ने अपनी सवारी सजाकर उपस्थित की। यह बात गिरिधरलालजी

महाराज को उचित नहीं जँची। इसकी रोक करने पर गोपाललालजी महाराज ने बुरा माना और अपनी जबरदस्ती बतलाई, जिससे मामला बढ़ गया। जिसके फलस्वरूप नियमानुसार महद्राजसभा उदयपुर में इसका मुक़दमा चलना शुरू हुआ। इसी झगड़े के कारण श्रीगोपाललालजी महाराज ने अपने ठाकुरजी मथुरानाथजी को कांकरोली के मन्दिर से ले जाकर 'बडाल्ला' गाम में विराजमान किया, जो महाराणा अमरसिंहजी के समय में प्राप्त हुआ था। यहाँ मन्दिर और आवश्यक मकान महाराजश्री ने बनवा लिये थे। यह मुक़द्मा उदयपुर में कई वर्ष तक चलता रहा। इस बीच में गोपाललालजी महाराज ने सं० १६३६, आश्विन मास के लगभग एक और भी उपद्रव उठाया। चालीस-पचास हथियारबन्द सिपाहियों को लेकर वे कांकरोली पर चढ़ आये और उन्होंने अपने स्थान पर अधिकार जमाना चाहा। उपद्रव की आशंका से कांकरोली-मन्दिर के दरवाजा आदि बन्द करवा दिये गये, जिससे एक अशान्ति पैदा हो गई, पर गिरिधरलालजी के शान्त स्वभाव से बखेड़ा आगे बढ़ने नहीं पाया। इस प्रकार के अनियमित कार्य के लिये उदयपुर महद्राजसभा से गोपाललालजी के नाम द्वि० आसोज सुदी १५ गुरुवार को एक आदेश आया, जिसमें अपनी इस हरकत से बाज़ आने के लिये उनको सम्बोधित किया गया था। सं० १६३६ तक यह मुक़द्मा चलता रहा। अन्त में महाराणा के हुक्म से आपसी समझौता कराने के लिये मेहता तखतसिंहजी नियत किये गये। उन्होंने दोनों से मिलकर आपस में कुछ बातें तय कराकर मथुरानाथजी को वापिस कांकरोली के मन्दिर में पधराने का प्रबन्ध करा दिया। जिसके परिणाम-स्वरूप इसी वर्ष श्रावण कृष्ण १२ के दिन मथुरानाथजी बडाल्ला (बराडडा) से वापिस आकर कांकरोली के अपने प्राचीन मन्दिर में विराजे।

यद्यपि गोपाललालजी महाराज ने दो विवाह किये थे, पर किसी से पुत्र-सन्तति नहीं हुई।

गोपाललालजी का लीला-प्रवेश और उत्तराधिकार

प्रथम पत्नी श्रीमित्रवृन्दा बहूजी से एक कन्या श्रीहरिप्रिया बेटीजी का जन्म हुआ, पर द्वितीय पत्नी (शुभलक्ष्मी) उपनाम महाराणी बहूजी से कुछ भी सन्तति नहीं हुई। हरिप्रिया बेटीजी का विवाह बागरोदी मोहनलालाजी के साथ हुआ। इनके भी कोई सन्तति नहीं हुई थी। इन्हें महाराज श्रीगोपाललालजी ने छोटे द्वारकाधीश का मन्दिर और कुछ सम्पत्ति प्रदान की, परन्तु अन्तिम समय में किसी उत्तराधिकारी के अभाव में उन्होंने भी अपनी सम्पत्ति और यह मन्दिर महाराजश्री विट्ठलनाथजी को सौंप दिया, जिससे सं० १६७५ वैशाख शु० ११ भौमवार के दिन महाराजश्री के नाम इसकी लिखा पढ़ी हुई।

सं० १६५३ में गोपाललालजी महाराज का नित्यलीला-प्रवेश हो जाने पर उनकी द्वि०



चि० श्रीयदुनाथजी
प्रा० सं० १९८८ चै० शु० ६

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस, लखनऊ

पत्नी महाराणी बहूजी इस जागीर और मन्दिर की मालिक हुईं *, और उन्होंने सं० १६७४ कार्त्तिक शु० ८ गुरुवार के दिन श्रीविट्ठलनाथजी महाराज को गोद लेकर अपने पति के कुल को प्रतिष्ठित किया।

मथुरा के मदनमोहनजी-मंदिर का स्वामित्व

सं० १६७५ वैशाख शु० ३ (ता० २३-५-१६१८) के दिन विट्ठलनाथजी को मथुरा-वाले श्रीगोपाललालजी महाराज की बहूजी श्रीमती लावण्यवती बहूजी ने अपने पति की सम्पत्ति और श्रीमदनमोहनजी दाऊजी का मन्दिर प्रदान कर उसका उत्तराधिकारी नियत किया। श्रीगोपाललालजी कांकरोली के तिलकायित बालकृष्णलालजी महाराज के बड़े भाई थे। यद्यपि बालकृष्णलालजी कांकरोली के घर में दत्तक आ गये थे, पर सहोदर भाई होने से दोनों का प्रेम अत्यन्त घनिष्ठ था। गोपाललालजी महाराज के कोई सन्तति नहीं थी, अतः वह अपने उन्हीं भाई के पुत्र को गोद लेने का विचार कर रहे थे। इस बीच में सं० १६७३ में बालकृष्णलालजी और उनके कुछ समय बाद गोपाललालजी का भी नित्यलीला-प्रवेश हो गया, जिससे यह कार्य पूरा न हो सका, इसके पहिले ही कांकरोली में महाराणी बहूजी ने विट्ठलनाथजी को गोद ले लिया था, अतः यह दूसरे ठिकाने गोद नहीं जा सकते थे। अतः मथुरावाली श्रीलावण्यवती बहूजी महाराज ने अपने पति की इच्छा के अनुसार इन्हीं के नाम पर बख्शिशनामा कर अपना उत्तराधिकारी बनाया।

शिक्षा, विवाह और सन्तति

सं० १६७५ माघ शु० ५ के दिन विट्ठलनाथजी का विद्याभ्यास शुरू हुआ और यह अपने बड़े भाई के साथ हिन्दी, संस्कृत, गणित आदि का अभ्यास करने लगे। सं० १६८० चैत्र-शु० ११ के दिन कांकरोली में इनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ, जिसमें बड़ा उत्सव मनाया गया। अहमदाबादवाले इनके काका श्रीमधुसूदन-लालजी ने इन्हें गायत्री और ब्रह्म-सम्बन्ध की दीक्षा दी। इस उत्सव के निमित्त श्रावण बदी ६ के दिन विट्ठल-विलास बाग में मथुरानाथजी तथा छोटे द्वारकाधीश को पधराकर उत्सव किया गया।

सं० १६८१ में यद्यपि महाराजश्री की वय ११ वर्ष की थी, पर नाथद्वारा के तिलकायित गोवर्द्धनलालजी महाराज के आग्रह पर मातृश्री को इनका विवाह वहाँ जाकर करना पड़ा। फलतः

* श्रीमथुरानाथजी छोटा मन्दिर के अन्तर्गत निम्नलिखित स्थानों पर मन्दिर विद्यमान हैं, जिनका यहीं से प्रबन्ध होता है:—१ बड़ोदा—श्रीमथुरानाथजी, २ नाथद्वारा—श्रीगोपाललालजी, ३ चकलासी—श्रीमथुरानाथजी, ४ धरमज—श्रीमथुरानाथजी, ५ पारोला—श्रीद्वारकानाथजी।

करंजी श्रीबलदेवलालाजी की आयुष्मती कन्या के साथ……उत्साह से विवाह सम्पन्न हुआ। सं० १९८४ में द्विरागमन हुआ और समयानुसार सन्तति हुई । जिसमें से निम्न-लिखित विद्यमान है —

१ चि० लालजी यदुनाथजी १९८८ चैत्र शु० ६ । २ चि० माधुरी बेटीजी १९९२ ।

३ चि० कृष्णकुमार १९९४ माघ शु० ४ ।

व्यक्तित्व

महाराजश्री की शिक्षा-दीक्षा के विषय में हम पृथक् कुछ न कहकर पाठकों का ध्यान उनके बड़े भ्राता के चरित्र की ओर आकृष्ट करते हैं, क्योंकि यह पहिले कहा जा चुका है कि—इस विषय की सावधानी उनके मातृश्री ने उसी प्रकार रक्खी है, जिस प्रकार अपने ज्येष्ठ पुत्र की । फिर भी इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि महाराजश्री में वे सब गुण विद्यमान हैं, जो वर्तमान काल के एक होनहार नवयुवक धर्माचार्य में होने चाहिये । कथा, प्रवचन, धर्मोपदेश आदि एवं विद्या-सम्बन्धी कार्यकलाप की पूर्ति के लिये तो यह एक उत्साह की प्रतिमूर्ति हैं ।

सं० १९९४ में कांकरोली में जो साहित्यिक, धार्मिक और कलात्मक समारोह हुआ था, उसका सारा आयोजन इन्हीं के प्रधान मन्त्रित्व से सम्पादित हुआ था । महाराणा भूपालसिंहजी-जैसे मान्य महापुरुषों को कांकरोली-संस्था-समुद्घाटन के लिये ले आना इन्हीं के प्रयत्न का फल था ।

इनके समय में जिस प्रकार कांकरोली के मथुरानाथजी का मन्दिर आमूल नवीन बनकर तैयार हुआ है, उसी प्रकार मथुरा का मदनमोहनजी का मन्दिर भी एक बड़ी लागत लगाकर विशाल और भव्य रूप में बनाया गया है । जिसमें बड़े मनोरथ एवं उत्साह के साथ प्रभु को पधराकर विराजमान किया गया है । इस समय भागवत की १०८ साप्ताहिक पारायणें बैठाकर जो मथुरा में धार्मिक वातावरण उत्पन्न किया था, वह भी स्मरणीय था ।

जैसा पहिले कहा जा चुका है—यह अपने बड़े भ्राता श्रीव्रजभूषणजी महाराज के साथ ही प्रदेश-यात्रा और परिभ्रमण करते हैं, यद्यपि इनकी भी पृथक् शिष्यसृष्टि है, और उसमें धार्मिक प्रचार की आवश्यकता है, फिर भी मातृश्री के वात्सल्य से कांकरोली में ही आपका विशेष निवास रहता है । अतएव क्या यात्रा, क्या भ्रमण, क्या राज्य-सम्मान—सभी में दोनों भ्राताओं का प्रायः साहचर्य रहता है । इस कारण हम अन्य सब विशेषताओं के लिये यहाँ पृथक् वर्णन करना आवश्यक एवं उचित नहीं समझते । कांकरोली के साथ विशेष सम्बन्ध न होने के कारण मथुरा के श्रीगोपाललालजी और उनके मदनमोहनजी तथा दाउजी के मन्दिर का विशेष ऐतिहासिक वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ।

अब हम अन्त में इस प्रकरण को समाप्त करते हुए श्रीद्वारकाधीश प्रभु से अंजलिबद्ध-पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि—वे अपने संस्थान की उन्नति, उत्कर्ष और सौष्ठव के लिये कांकरोली के वर्तमान तिलकायित गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज तथा उनके भ्राता गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराज को सकुटुम्ब-सपरिकर स्वस्थ, प्रसन्न एवं उत्कर्षाभिमुख रहने का बल प्रदान करें। महाराजश्री के समय में जहाँ अन्य शुभोदर्क आयोजनों का अनुष्ठान हुआ है, वहाँ इस इतिहास के संकलन और प्रकाशन का भी। अन्य कई सदाशाएँ अपने हृदय के अन्तस्तल में रखकर समय-समय पर उनके कार्यरूप में परिणत होते रहने का मनोरथ लेकर इस लेख से विराम ग्रहण करता हूँ। शुभम्।

